धन्यवाद

कर्त्तव्य-कौमुदी दूसरे भाग का यह हिन्दी अनुवाद जिस सजधज और सुन्दरता के साथ पाठकों को उपलब्ध हो रहा है उसमें मुख्य कारण नीचे लिखे सज्जनों की दानशीलता है।

१—श्री पन्नालाल जी सा० नाहर ३००) रु०

२—श्री घेवरचंद्र जी सा० चोपड़ा २५०) रु०

३—श्री रङ्गरूपमल जी सा० श्रीमाल २००) रु०

इस उदारता और साहित्य रसिकता के लिए समिति उक्त महानुभावों को कोटिशः धन्यवाद देती हुई आभार स्वीकार करती है।

निवेदक—

धी० के० तुरखिया

मंत्री, जैन साहित्य प्रचारक समिति,

अजमेर तथा ब्यावर।

प्रस्तावना

संसार के सब प्राणियों से मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है। किन्तु उसकी श्रेष्ठता तभी हो सकती है, जब कि वह अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान करके उन पर चले। विद्वानों ने मनुष्य जीवन के चार विभाग किये हैं। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। इन चार विभागों अथवा आश्रमों के आदि के दो आश्रमों में आदरणीय कर्त्तव्य-कर्मों का बोध 'कर्त्तव्य-कौमुदी' के प्रथम ग्रन्थ में आगया है। द्वितीय ग्रन्थ के दो खण्ड किये गये हैं, उनमें शेष दो आश्रमों के कर्त्तव्य कर्म वर्णित हैं। संक्षेप में कहा जाय तो प्रथम ग्रन्थ जीवन के प्रवृत्ति विभाग को विशुद्ध बनाने के लिए निर्माण किया गया और यह दूसरा ग्रन्थ जीवन के निवृत्ति विभाग को विशुद्ध करने के लिए रचा गया है।

जीवन स्वयं प्रवृत्तिरूप है और प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति अनिवार्य है। यदि मनुष्य प्रवृति का अन्त करके निवृत्ति की सिद्धि नहीं करता है तो प्रकृति स्वयं प्रवृत्ति करने की शक्ति का ह्रास करती है और उसे निवृत्त करती है। ऐसी स्थिति में सुज्ञ दीर्घदर्शी मनुष्य प्राणी का कर्त्तव्य है कि प्रवृत्ति को इतनी विशुद्ध तथा निष्काम करना चाहिए जिससे कि परमनिवृत्ति के आध्यात्मिक लाभ आत्मा को प्राप्त हो जायँ। इसके लिए जीवन की तृतीय और चतुर्थ अवस्था—वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम का सदुपयोग करना आवश्यक है। वासनाओं का त्याग कर वन में जाकर निवास करना और आत्मचिन्तन करना यह वानप्रस्थाश्रम शब्द का तात्पर्यार्थ है। परन्तु इस प्रकार का जीवन आधुनिक काल में लुप्तप्राय होगया है। यह काल का प्रभाव है। ऐसी

परिस्थिति में मनुष्य जनता के बीच में रह कर भी वानप्रस्थ जीवन किस प्रकार बना सकता है, इसका बोध ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में कराया है। प्रवृत्ति को निष्काम बनाकर निवृत्ति की आध्यात्मिक साधना के मार्ग इस खण्ड के पृथक् पृथक् परिच्छेद में दिखाये गये हैं। इसी तरह प्रवृत्ति को विशुद्धतर करते करते चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करके सर्वथा त्याग का आश्रय ले आत्मचिन्तन, आत्मध्यान और अन्त में मुक्ति का वरण करने की सीढ़ी का क्रम दूसरे खण्ड के भिन्न भिन्न परिच्छेदों में दिखाया है। यद्यपि ग्रन्थ में प्रयोग की हुई परिभाषाएँ जैन हैं, तो भी जिस प्रकार एक ही गिरि-शिखर पर चढ़ने के लिए पृथक् पृथक् मार्ग होते हैं, इसी प्रकार निवृत्ति की आध्यात्मिक साधना के भो पृथक् पृथक् मार्ग होते हैं। उन मार्गों को ग्रन्थकार ने जैन परिभाषा में दर्शाया है, तथापि अन्य धर्मों के मार्गों में और इस ग्रन्थ में दिखाये गये मार्गों में कितना साम्य है तथा ग्रन्थ में प्रदर्शित तत्त्व विषय में कितने बड़े परिमाण में समानता है, इसे दिखाने का यत्न विवेचन में किया गया है। ग्रन्थकार ने बहुधा सूत्ररूप में अपना वक्तव्य दर्शाया है, उसे सरल बनाने और जनता के लिए उपयोगी स्वरूप निरूपण करने का कार्य विवेचनकार पर निर्भर रहता है। यह कार्य जिस प्रकार प्रथम ग्रन्थ में यथाशक्ति किया गया, उसी प्रकार इस ग्रन्थ में भी यथाशक्ति किया गया है। और भिन्न भिन्न धर्मों के अभ्यास का एवं साधुओं तथा पण्डितों का आश्रय लिया गया है, इससे विवेचन सुगम हुआ, एवं ग्रन्थ का वक्तव्य साम्प्रदायिक न बनकर सर्वमान्य बना है ऐसा मुझे विश्वास होता है।

द्वितीय ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित रूप में देखने की आशा रखने वाले वाचकों को प्रथम ग्रन्थ के प्रकाशित होने के

पश्चात् बड़े लम्बे अर्से में इसे प्रसिद्ध हुआ देखकर आश्चर्य अवश्य होगा। पण्डित मुनि श्री शतावधानी रत्नचन्द्रजी महाराज के "अर्धमागधीकोश" की रचना के कार्य में संलग्न रहने के कारण यह द्वितीय ग्रन्थ बहुत दीर्घकाल के अनन्तर लिखा गया तथा विवेचन में भी बहुत समय लग गया। ये दो खास कारण इसके शीघ्र प्रकाशन में बाधक हुए हैं। वह वाचकों का क्षमा प्रार्थी है।

इस द्वितीय ग्रन्थ का प्रकाशन देश के वर्त्तमान वातावरण में मंगल कार्यों का एक अंग है। मोरबी निवासी श्री डाह्यालाल मकन जी जौहरी मोरबी के स्थानकवासी संघ के एक सभ्य हैं। आप स्वयं शैवमतानुयायी होते हुए भी जैन धर्म का सम्पर्क रख कर जैन जीवन के अंशों का अपने जीवन में वैसे ही व्यवहार में उपयोग करने के प्रेमी तथा पक्षपाती हैं। लखधीरवास में उन्होंने भारी रक़म लगाकर एक मकान बनावाया है। देश के वर्त्तमान समय के वातारण में उस मकान के शुभ वास्तुनिमित्त जीमनवार में अधिक व्यय करना अनुचित समझकर उन्होंने इस ग्रन्थ की गुजराती प्रथम आवृत्ति की सब प्रतियाँ तथा प्रथम ग्रन्थ की उतनी ही प्रतियाँ मोरबी के अपने जातिबन्धुओं के प्रत्येक घर में भेट देना उचित समझा है। एक जैन मुनि के ग्रन्थ का ऐसा उदार प्रचार जैनत्व के प्रेमी एक शैव सद्‌गृहस्थ के द्वारा किया जाय, यह मुझे भी अत्यन्त प्रिय मालूम दिया है।

'कर्त्तव्य-कौमुदी' ग्रन्थ केवल जैनों के लिए ही नहीं लिखा गया है, वह तो प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का बोध करवाने के लिए लिखा गया है। तथा जैनेतर धर्मों के सद् अंशों को ग्रहण करते हुए उनके लिखने में उदार दृष्टि से काम लिया गया है। इस उदार दृष्टि का मूल्य श्री डाह्यालाल मुकन जी जौहरी सरीखे

एक तटस्थवृत्ति के सुशिक्षित गृहस्थ की तरफ से आँका जाय तो किसे सन्तोप जनक न होगा ?

अजमेर के मुनि सम्मेलन के प्रसंग से श्रीमान् शतावधानी मुनिरत्न श्री रत्नचन्द्र जी महाराज का शुभागमन इधर उत्तर प्रान्त में हुआ। जयपुर और अलवर चातुर्मास होने के पश्चात् अमृतसर में चातुर्मास हुआ। वहाँ 'पूज्य सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति' के उत्साही मंत्री श्रीयुत हरिजसरायजी ने भावनाशतक हिन्दी विवेचनसहित उक्त समिति द्वारा प्रकाशित करवाया तथा इस 'कर्तव्य-कौमुदी' ग्रन्थ को अत्यन्त उपयोगी समझ कर हिन्दी भाषा भाषियों के हितार्थ हिन्दी अनुवाद करवाया। यह ग्रन्थ उसी समिति द्वारा प्रकाशित होने वाला था, लेकिन महाराज श्री का वहाँ से विहार हो जाने के कारण न हो सका। यहाँ उत्साही सज्जनों की प्रेरणा व आर्थिक सहायता से 'जैन साहित्य प्रचारक समिति' के द्वारा उसका प्रकाशन हुआ है।

यह अपूर्व ग्रन्थ सम्पूर्ण मानव समाज के लिए हितावह है। सब धर्मों के अनुयायी इससे लाभ उठा सकते हैं, तथा श्रीमान् धीमान् और सेवापरायण प्रत्येक अवस्था वाले मनुष्यों का कर्त्तव्य बोध कराने वाला यह ग्रन्थ प्रत्येक गृहस्थ के हृदय और भवन को प्रफुल्लित एवं अलंकृत करने के लिए अनुपम रत्न है। आशा है कि प्रत्येक जाति व प्रत्येक धर्म के अनुयायी लोग इस मानवधर्म के प्रकाशक ग्रन्थ का अध्ययन करके अपने मानव जीवन सफल बनाने में कृतकार्य होंगे।

निवेदक—
पं० रमानाथ जैन शास्त्री, न्या०
आचार्य न्यायतीर्थ।

ता० ८-६-३६
अजमेर

अनुक्रमणिका





पन्नालाल जी सा० नाहर, अजमेर



घेवरचन्द चोपड़ा
जनरल-मरचैन्ट
नयाबाजार, अजमेर
रत्नचेन्द्र जतनचन्द्र
आपके सुपुत्र हैं

* ओं नमोवीतरागाय *

* कर्त्तव्य-कौमुदी

द्वितीय ग्रन्थ

कर्त्तव्य कौमुदी के प्रथम ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने जिस प्रकार इष्ट देव का मंगलाचरण किया है, उसी तरह इस द्वितीय ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी ग्रन्थकार मंगलाचरण करते हैं। इहलोक और परलोक के श्रेय के लिये मनुष्य को जो कर्त्तव्य करने चाहियें, उन कर्त्तव्य कर्मों का इन दोनों ग्रन्थों में उपदेश किया गया है, उस उपदेश का आधार पूर्णतया सर्वदेशीय मानव धर्म के उपदेश पर निर्भर है।

प्रथम ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने जैन मुनि होने के नाते अपने इष्टदेव पंचमकाल के शासनपति श्री महावीर स्वामी का स्तवन किया था। ग्रन्थ के हेतु और अपने दृष्टि विन्दु की विशालता का दिग्दर्शन कराते हुए वे इस द्वितीय ग्रन्थ के प्रारम्भ में सामान्यरूप से सर्व धर्म को अभीष्ट तत्त्व का स्तवन करते हैं। जो विशाल दृष्टि वाले हैं, केवल मुमुक्षु भाव से जगत् में सत्य को ढूँढने वाले हैं और स्वानुभूत सत्य का जगत् कल्याण के लिए उपदेश देने वाले हैं, उनकी तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' यही एक भावना होती है!

भवबीजाङ्कुरजलदा, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

अर्थात् जगत् की चौरासी लाख योनियों में जीव को भ्रमण कराने वाले अँकुर को पोषने वाले जो रागादिक दोष हैं, वे दोष जिसके नष्ट हो गये हैं, वह चाहे ब्रह्मा हो, अथवा विष्णु हो, शंकर हो अथवा जिन हो, कोई भी हो, उसको नमस्कार है। इसी प्रकार की विशाल दृष्टि से ग्रन्थकार मङ्गलाचरण करते हैं।

शार्दूलविक्रीडितम्

मङ्गलाचरणम् ॥१॥

यस्माद् गौतमशङ्करप्रभृतयः प्राप्ता विभूतिम्परां।
नाभेयादिजिनास्तु शाश्वतपदं लोकोत्तरं लेभिरे॥
स्पष्टं यत्र विभाति विश्वमखिलं देहो यथा दर्पणे।
तज्ज्योतिः प्रणमाम्यहं त्रिकरणैः स्वाभीष्टसंसिद्धये॥

भावार्थ—जिस ज्योति से श्री गौतमबुद्ध, शंकर आदि महापुरुष विभूति को प्राप्त हुए, और प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव स्वामी आदि जिनेश्वर लोकोत्तर शाश्वत पद को प्राप्त हुए, जिस ज्योति के अन्दर अखिल विश्वमंडल, दर्पण में देह प्रतिबिम्बवत्, स्पष्ट रीति से भासमान होता है, उसी ज्योति को मैं मन, वचन और काया से अपनी अभीष्ट वस्तु की सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूँ॥ १॥

विवेचन—आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों ने, योगियों ने और महापुरुषों ने भिन्न भिन्न कल्पनाएँ की हैं। उन कल्पनाओं में जिस वस्तु स्वरूप का विवेचन किया गया है वह यहाँ बहुत ही सरल ढंग से प्रतिपादित किया गया है। साधारण जन-समुदाय भी उस विवेचन को

समझ सकता है। वस्तुतः सर्वज्ञान का सार रूप एक परम विशुद्ध केवल ज्ञान रूप चैतन्य ज्योति इस अखिल विश्व में व्याप्त है, ऐसा वे मानते हैं, वह ज्योति कैसी है? भर्तृहरि कहते हैं कि—

> दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
> स्वानुभूत्येकसाराय, नमः शान्ताय तेजसे॥

अर्थात् जिसकी मूर्ति दिशा और काल इत्यादि से अमर्यादित है अतएव अनन्त और चैतन्य रूप है, जो आत्मानुभव का एक सार रूप है उस अनन्त प्रकाश को मैं नमस्कार करता हूँ। भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक के प्रारम्भ में उस परम ज्योति को नमस्कार करते हुए उसका स्वरूप ऊपर की तरह घटाया है। यहाँ पर भी ग्रन्थकार ने उस 'एकसार' का स्तवन करके स्वाभीष्ट की सिद्धि के निमित्त, उसके आशीर्वाद की याचना की है। इस मङ्गलाचरण के श्लोक में इस परम ज्योति के जो जो गुण दिखाये गये हैं उनमें कितने ही रहस्य छिपे हुए हैं। इस परम ज्योति से गौतम बुद्ध, शंकर आदि महापुरुषों ने जन समाज को आकर्षित करने की विभूति को प्राप्त किया था। इस परम ज्योति से श्री ऋषभदेव आदि चौवीस जिन-तीर्थंकर परिपूर्ण शाश्वत् निर्वाणपद को प्राप्त हुए हैं इतना ही नहीं किन्तु इस परम ज्योति के अन्दर अखिल विश्व स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जिस ज्योति में इतना चैतन्य-सामर्थ्य रहा हुवा है उस ज्योति का एक अणु भी यदि मनुष्य को प्राप्त हो जाय तो उसका कल्याण अवश्य हो सकता है। इसीलिए चैतन्य स्वरूप परम ज्योति का स्तवन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि यह ग्रन्थ-लेखन जो हमारा अभीष्ट है। उसकी संसिद्धि के लिये उस ज्योति का आशीर्वाद हमें प्राप्त हो और इसीलिये 'प्रणमाम्यहं त्रिकरणैः'

मैं मन, वचन, और काया से नमस्कार करता हूँ। ज्योति के परमसामर्थ्य के दृष्टान्त से उसके आशीर्वाद के प्रति अपने विश्वास की पूर्णता ग्रन्थकार ने प्रदर्शित की है॥ १॥

कर्त्तव्य कौमुदी के प्रथम ग्रन्थ का और इस द्वितीय ग्रन्थ का पूर्वापर सम्बन्ध किस प्रकार का है वह निम्न लिखित श्लोक में दिखाया गया है॥

प्रथम ग्रन्थ का इस ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध ॥२॥

पूर्वार्द्धे वयसोर्द्वयोः प्रथमयोर्नीतिः समालोचिता।
सद्योऽयं समयस्तृतीयवयसः कर्त्तव्यसंदर्शने॥
विद्या येन समर्जिता धनमपि प्राप्तं कुटुम्बोचितं।
तेनावश्यतया परार्थनिरतं कार्यं निजं जीवनम्॥

भावार्थ और विवेचन—प्रथम ग्रन्थ में पहिली दो अवस्थाओं में आदरणीय नीति रीति अर्थात् कर्तव्य कर्म की आलोचना की गई थी। अब तीसरी अवस्था के कर्तव्य कर्म का दिग्दर्शन कराने के लिये यह समय उपस्थित हुआ है अर्थात् यह द्वितीय ग्रन्थ लिखा गया है। कर्त्तव्यबोध के लिये मनुष्य जीवन की चार भिन्न भिन्न अवस्थाओं की विद्वानों ने कल्पना की है और प्रत्येक अवस्था के विशिष्ट कर्त्तव्य कर्म का उपदेश किया है। इन चारों अवस्थाओं के कर्त्तव्य कर्म ग्रन्थकार ने प्रथम ग्रन्थ में अनुक्रम से (१) शिक्षण (२) नीति (३) परार्थ (४) त्याग इस तरह बताये हुए हैं। प्रथम ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में सामान्य कर्त्तव्य का बोध किया गया है और दूसरे खण्ड से अवस्था को लक्ष्य करके विशिष्ट कर्त्तव्य का बोध प्रारम्भ किया गया है। इस तरह दूसरे खण्ड में बाल्यावस्था का शिक्षण विषयक बोध तथा तीसरे

खण्ड में युवावस्था का नीति पुरःसर उद्योग-प्रवृत्ति विषयक बोध किया गया है। अब अनुक्रम से तीसरी अवस्था के कर्त्तव्य बोध का विषय उपस्थित होता है, और वह द्वितीय ग्रन्थ के प्रथम खंड में आवेगा तथा चतुर्थ अवस्था के कर्त्तव्य बोध का विषय द्वितीय खंड में आवेगा। प्रथम और द्वितीय अवस्था में जिसने अनुक्रम से विद्योपार्जन तथा धनोपार्जन किया है, और जीवन में अपना और अपने कुटुम्ब का ऐहिक हित साधन किया है, उसको अब आगे बढ़ कर परार्थ में अपने जीवन का सद्व्यय करने के लिये उद्यत होना आवश्यक है ॥२॥

[किसी ग्रन्थ, प्रकरण, किंवा वाक्यों के अर्थ निर्णय करने में कुशल मीमांसकों ने सात वस्तुओं के विचार को आवश्यक माना है यथा—]

उपक्रमोपसंहारौ, अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्तीच, लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

अर्थात् पहले ग्रन्थ का आरम्भ और अन्त में उसके विषय का विचार करना, पीछे अनुक्रम से अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, और उपपत्ति, अथवा उपपादन की जांच करना चाहिए ग्रन्थ के तात्पर्य का जिस तरह निर्णय होता है उसी तरह तात्पर्य निर्णय की दृष्टि से यहाँ भी ग्रन्थकार ग्रन्थ लेखन में उद्यत होते हैं। उपर्युक्त श्लोक में सामान्य प्रस्ताव करने के बाद नीचे के श्लोक में ग्रन्थ के उपक्रम तथा उपसंहार का तारतम्य दिया जाता है।

तीसरी और चौथी अवस्था का कर्त्तव्य-तारतम्य ॥३॥

अभ्यासार्थमिदं चतुर्थवयसो नूनं तृतीयं वयो।
यद्यत्तत्र च सर्वथा भवति तद् देशेन भाव्यं त्विह॥

आद्यस्तत्र महाव्रतानि विषयत्यागः कुटुम्बं जगत्।
साभ्यासोऽत्र लघुव्रतानि विरतिः स्थूला समाजः कुलम्॥

भावार्थ—तीसरी अवस्था विशेषतः चतुर्थ अवस्था के कर्त्तव्य का अभ्यास करने के लिये है, अर्थात् चतुर्थ अवस्था में जो कार्य सर्वथा परिपूर्ण रूप से करना है वही तृतीय अवस्था में परिमित रूप से आदरणीय है। चौथी अवस्था में जब विषयों का सर्वथा त्याग कर अखिल जगत् को कुटुम्बवत् मान कर महाव्रत धारण किये जाते हैं, तब तीसरी अवस्था में स्थूल पापों से निवृत्त होकर समाज को कुटुम्बवत् मानकर लघुव्रत—अणुव्रत धारण किये जाते हैं।

विवेचन—मनुष्य के जीवन की चतुर्थ अवस्था मनुष्यावतार की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। पूर्व कर्म के शुभ योग से कोई तेजस्वी आत्मा ही प्रथम अवस्था में से चतुर्थ अवस्था में कूद पड़ता है, और चतुर्थ अवस्था को यथायोग्य रीति से पार उतारता है परन्तु जो धीरे-धीरे आगे बढ़ने की परिमित शक्तिवाले मनुष्य हैं उनके लिए उत्तरोत्तर अवस्था की सफलता के लिए पूर्व-पूर्व अवस्था अभ्यास का समय पूरा करती है, इस नियम से चतुर्थ अवस्था के लिये अभ्यास का काल तीसरी अवस्था है, पहली दूसरी अवस्था में दैहिक तथा कौटुम्बिक कर्त्तव्य कर्म करने के बाद मनुष्य का कर्त्तव्य क्षेत्र उत्तरोत्तर विशाल बनता जाता है। चतुर्थ अवस्था में उसे ऐसा निवृत्ति धर्म स्वीकार करना है कि जिससे समग्र वसुधा को आत्मवत् देखे, प्रत्येक प्राणी में आत्म तुल्यता का ही भान करे। इस परमयोगी की दशा को प्राप्त करने के पूर्व तीसरी अवस्था में मनुष्य को प्राथमिक चौथी अवस्था पालनी चाहिये। विषय कषाय का सर्वथा त्याग करना,

सम्पूर्ण जगत् में समान भाव का अनुभव करना, योग की साधना और इसी तरह परम योगी पद की प्राप्ति करना, चतुर्थ अवस्था के मुख्य कर्त्तव्य हैं। तीसरी अवस्था में अंशतः कर्त्तव्य पालन कर धीरे-धीरे आगे कूच करना चाहिए अर्थात् स्थूल पापों का त्याग करना चाहिये जिससे आगे बढ़ते-बढ़ते विषय, कषाय का सर्वथा त्याग किया जा सके। देश और समाज की सेवा करना चाहिये जिससे दृष्टि की विशालता बढ़े, और इस तरह से समग्र जगत् किंवा विश्व के ऊपर कुटुम्ब भाव जागृत हो। पृथक्-पृथक् व्रत नियम इत्यादि ग्रहण करना चाहिये जिससे आगे बढ़ते हुए संयमादि धारण करके योग्य साधना के मार्ग पर सरलता से चल सकें। तीसरी और चतुर्थ अवस्था का यह तारतम्य है और यही इस ग्रन्थ के दोनों खण्डों का उपक्रम तथा उपसंहार है॥ ३॥



प्रथम खण्ड

प्रथम परिच्छेद

सम्यग्दृष्टि ॥४॥

सम्यग्दृष्टिविलोकितं हि सकलं सद्धर्मकृत्यं भवेत् ।
सम्यग्दृष्टिरुदाहृता जिनवरैस्तत्त्वार्थरुच्यात्मिका॥
सद्देवः सुगुरुः सुधर्म इति सत्तत्त्वत्रयं कथ्यते ।
ज्ञात्वा तत्परमार्थतः कुरु रुचिं तत्त्वत्रये निर्मले ॥

भावार्थ—धर्म का प्रत्येक अनुष्ठान सम्यग्दृष्टि पूर्वक ही होना चाहिये। तीर्थंकरों ने सम्यग्दृष्टि का स्वरूप तत्त्वार्थ की रुचि रूप बतलाया है। सत्यदेव, सत्यगुरु और सत्यधर्म—ये तीन तत्त्व कहे गये हैं। इन तीनों तत्त्वों का पारमार्थिक स्वरूप समझ कर हे मानव! उसके निर्मल स्वरूप में तू श्रद्धा-रुचि रख।

विवेचन—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्व, या समकित पर जैन धर्म में बहुत जोर दिया गया है, और वैसा ही इसके विरोधी मिथ्यात्व को छोड़ने पर भी। सम्यग्दृष्टि का अर्थ क्या है? रूढ़ार्थ से समकिती और मिथ्यात्वी का यह अर्थ किया जाता है कि जो जैन धर्मानुयायी हैं, वे समकिती कहलाते हैं और जो अन्य धर्मानुयायी हैं, वे मिथ्यात्वी। परन्तु सच तो यह है कि दृष्टि में विषमता रूपी जहर निकल जाने पर तत्त्वार्थ की जो रुचि होती है, वही सम्यग्दृष्टि है और ऐसी रुचि रखने वाले ही समकिती हैं। 'आचारांगसूत्र'

में कहा है कि—'तं आइ ण णिहं ण णिक्खिवए जाणित्तु धम्मं जहातहा' ॥ अर्थात्—धर्म को यथार्थ रूप में समझ कर (श्रद्धा किये पश्चात्) आलसी न होना चाहिए या उसका विरोध नहीं करना चाहिए। यहाँ 'धर्म' शब्द का विशाल अर्थ किया गया है। अन्य धर्मों के उपदेशक या शास्त्रकार भी जिस धर्मश्रद्धा की आवश्यकता बतलाते हैं, वह भी सम्यग्दृष्टि अथवा समकित की ही आवश्यकता का सूचक है। भगवद्गीता (अ० ४ श्लो० ३९) में कहा है कि—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

अर्थात्—श्रद्धावान् व्यक्ति, इन्द्रिय निग्रह के द्वारा ज्ञान के पीछे लगकर, ज्ञान का अपरोक्षानुभव प्राप्त करके, ज्ञान के द्वारा आगे बढ़ता हुआ शीघ्र ही शान्ति प्राप्त करता है। और अंध-श्रद्धा जैसे, श्रद्धा नहीं है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी नहीं है। कारण कि, उसमें तत्त्वार्थरुचि का दर्शन नहीं होता। अनुगीता के गुरु-शिष्य संवाद में ऋषियों ने ब्रह्मदेव से यह प्रश्न किया है कि अहिंसा-धर्म, सत्य-धर्म, व्रत-उपवास, ज्ञान, यज्ञयाग, दान, कर्म, संन्यास आदि अनेक प्रकार के उपायों का अनेक लोग प्रतिपादन करते हैं, परन्तु इनमें से सच्चा उपाय क्या है, यह मुझसे कहिये। शान्तिपर्व में गार्हस्थ्य धर्म, वानप्रस्थ-धर्म, राज धर्म, मातृ-पितृ सेवन धर्म, क्षत्रियों का युद्ध में मर मिटना, ब्राह्मणों का स्वाध्याय आदि अनेक धर्म किंवा स्वर्गप्राप्ति के मार्ग शास्त्रों में बताये गये हैं और उनमें से ग्रहण करने योग्य कौन सा है। यह प्रश्न उञ्छवृत्त्युपाख्यान में आया है। ये भिन्न भिन्न धर्म-मार्ग किंवा धर्म परस्पर विरुद्ध मालूम होते हैं परन्तु शास्त्रकारों की साम्यबुद्धि से जहाँ-जहाँ आत्महित प्राप्ति का सच्चा साधन मालूम

होता है, वहाँ-वहाँ वे अपनी चित्त-वृत्ति को आकर्षित होने में कोई बाधा नहीं देखते। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि के बिना तत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं होता—यह बात जैन-धर्म में ही नहीं, अन्य धर्मों में भी कही गई है। उसी के अनुसार यह जैन-ग्रन्थकार जिनवर के शब्दों का अनुसरण करके कहते हैं कि—*सम्यग्दृष्टिरुदाहृता जिनवरैस्तत्त्वार्थरुच्यात्मिका*—जिनवरों ने 'सम्यग्दृष्टि' को 'तत्त्वार्थ-रुचि' के नाम से परिचित कराया है। अब वे तत्त्व कौन-कौन से हैं? वे तत्त्व तीन हैं—(१) सत्यदेव, (२) सत्यगुरु, (३) सत्यधर्म। इन तीन तत्त्वों पर मनुष्य के धार्मिक-जीवन की आधारशिला रखी जाती है। सत्यदेव कौन है? सत्यगुरु कौन है? सत्यधर्म कौन है?—इसको केवल जानकर, नहीं—उसे परमार्थतः जानकर, उसका पारमार्थिक स्वरूप समझ कर, हे मनुष्य! उसके निर्मल स्वरूप में तू अपनी रुचि रख, कारण कि 'नन्दीसूत्र' में कहे अनुसार—
मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्त परिग्गहिआइं मिच्छसुयं, एयाइं,चेव
मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत परिग्गहिआइं मिच्छसुयं, एयाइं, चेव
सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहिआइं सम्मसुयं॥ अर्थात्—मिथ्याश्रुत के जो-जो शास्त्र हैं, वे मिथ्यादृष्टि से ग्रहण किये जाते हैं, इसलिए मिथ्याश्रुत हैं और वे ही शास्त्र सम्यग्दृष्टि से समभाव से ग्रहण किये जायँ तो वे समश्रुत हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान का सम्यग्दृष्टि में सम्यग्रूप से और मिथ्यादृष्टि में मिथ्यारूप से परिणमन होता है। इसलिए यदि तू सम्यग्दृष्टि को धारण न करेगा तो चाहे जैसा भी ज्ञान तेरे अन्दर होगा, मिथ्यारूप ही हो जायगा—'रुचि' शब्द के द्वारा ग्रन्थकार यही प्रबोध कराते हैं और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को सम्यग्दृष्टि की आवश्यकता होने की सूचना करते हैं।

जैन-धर्म का अनुसरण करने वाले सूत्रों तथा ग्रन्थों में सम्यक्त्व के अनेक भेद तथा उपभेद प्रदर्शित किये हैं। और इसके विपरीत मिथ्यात्व के विषय में भी विस्तृत विवेचन किया गया है। जिसे सम्यग्दृष्टि नहीं प्राप्त हुई, वह हमेशा मिथ्यात्व में में ही भटका करता है। जिसमें 'तत्त्व रुचि' नहीं होती उसमें सच्चे देव, गुरु या धर्म के प्रति वास्तविक श्रद्धा ही नहीं होती, उसमें सच्चे ज्ञान या सच्चरित की सम्भावना नही हो सकती। इसी कारण भिन्न-भिन्न धर्मों के आचार्य मनुष्यों को मिथ्यात्व से बचने के लिए किसी एक ही देव, गुरु या धर्म का अवलम्बन करके जीवन-निर्वाह करने की सूचना कर रहे हैं। 'धर्म-संग्रह' में मानविजयगणि 'सम्यक्त्व' की व्याख्या करते हुए कहते हैं।—

न्याय्यश्च सति सम्यक्त्वेऽणुव्रतप्रमुखग्रहः ।
जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिः श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते ॥

अर्थात्—सम्यक्त्व हो, तो प्रमुख अणुव्रत का स्वीकार करना उचित हो सकता है। इससे जिन भगवान् के कहे हुए तत्त्व पर रुचि तथा श्रद्धा रखना सम्यक्त्व कहलाता है। इसी प्रकार गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं :—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः ॥१८॥६६॥

अर्थात्सब धर्मों को त्याग कर, एकमात्र मेरी शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, घबरा मत। इससे आगे बढ़ कर मात्थी की ईसाई-धर्म की कथा में कहा गया है कि अपने धर्म पर श्रद्धा रखने वाली एक वेश्या और इशु की शरण में जाने वाले एक चोर की भी मुक्ति हो गई थी। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म सम्यक्त्व का उपदेश करने के साथ-साथ मिथ्यात्व का त्याग करने के लिए भी कहता है। अन्तःकरण की निर्मलता,

विचारपूर्ण श्रद्धा और तत्त्व की अभिरुचि आदि गुणों से युक्त जो सम्यग्दृष्टि है, उसके बिना मनुष्य पर अनेक प्रकार के वहम, अश्रद्धा तथा संशयों का भूत सवार हो जाता है। 'अस्थिर-मन' किसी भी प्रकार का सत्कार्य परिपूर्णतः नहीं कर सकता और इसी से गीता में कहा है कि—'संशयात्मा विनश्यति'। जैन धर्म में मिथ्यात्व दो प्रकार का कहा गया है—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर। लोक-व्यवहार के लिए पाखंडी के विरोधी आचरणों को करना लौकिक मिथ्यात्व है, इसी प्रकार स्वधर्म के विरोधी आचरणों को करना लोकोत्तर मिथ्यात्व है। हिंसा का सर्वथा त्याग करने वाले, जैन या वैष्णव धर्म के सिद्धान्त पर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य देवी की मानता के लिए बकरे की बलि चढ़ाएँ, तो वह लौकिक मिथ्यात्व है। कारण कि ऐसी मानता के प्रति उसकी किंचित् श्रद्धा भी उनके स्वमत के प्रति पूर्वश्रद्धा का खंडन करके उन्हें मिथ्यात्व की खाई में जा पटकती है। ऐसे मनुष्य में सम्यग्दृष्टि का होना सम्भव ही नहीं हो सकता और सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति करने से पहले मनुष्य, आत्मा का हित साधन करने के लिए कदापि समर्थ नहीं हो सकता।

[सम्यग्दृष्टि की आवश्यकता का सूचन करने के बाद सुदेव, सुगुरु और सुधर्म —इन तीन तत्त्वों का परिचय कराने के लिए ग्रन्थकार प्रवृत्त होते हैं।]

देव गुरु धर्म लक्षण ॥५॥

देवः कर्मचतुष्टयक्षयकरः सद्धर्मसंस्थापको।
रागद्वेषविघातकश्चिजगतां चेतश्चमत्कारकः ॥
निर्ग्रन्थः समदृग् महाव्रतधरश्चित्तैकनिष्ठो गुरु-
र्धर्मः क्षान्तिदयादिसद्गुणमयो रत्नत्रयद्योतकः ॥

भावार्थ—जो राग द्वेष का सर्वथा क्षय करके ज्ञानावरणी-यादि चार कर्मों का नाश करके सद्धर्म का स्थापन करे और आत्मा के अलौकिक प्रभाव से तीन जगत् के प्राणियों के चित्त को चमत्कृत कर दे, ऐसे अद्भुत सामर्थ्यवान् को सत्यदेव; चित्त को एकनिष्ठ रखने वाले, सम्यग्दृष्टिपूर्ण महाव्रत धारण करने वाले निर्ग्रन्थ को सद्‌गुरु और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्‌चारित्र रूपी तीन रत्नों को प्रकाश देने वाले क्षमा दया आदि सद्‌गुण-समूह को सत्य-धर्म कहा जाता है। (५)

विवेचन— इस श्लोक में ग्रन्थकार ने देव, गुरु और धर्म रूपी तीन तत्त्वों का निरूपण कर दिखाया है और इसी में 'धर्म' मनुष्य को इहलोक से तार कर मुक्ति का परम सुख दिलाने वाला है और इसी से 'धर्म' मनुष्य का सर्वदा का 'सखा'—मित्र माना जाता है। श्रीकृष्ण ने यजुर्वेद के तैत्तिरीयारण्यक में कहा '*धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा । लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति । धर्मेण पापमपनुदति । धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं । तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥*' अर्थात्—धर्म, जगत् के सर्व प्राणियों के लिए आश्रय-रूप है। धर्म क्या है और अधर्म क्या है? इसे समझने के लिए जगत् में लोग धर्मिष्ठ मनुष्यों के पास ही जाते हैं। धर्म से पाप दूर होता है और धर्म में सब कुछ समाया हुआ है। इसलिए धर्म को सर्व श्रेष्ठ माना जाता है। धर्म ऐसी ही अलौकिक वस्तु है और प्रत्येक मनुष्य को उसे धारण करना चाहिये, परन्तु ग्रहण करने का धर्म 'सत्य-धर्म' अथवा 'सुधर्म' होना चाहिये। जगत् में अनेक धर्मों का प्रवर्त्तन हो रहा है और अनेक मत—पंथ विद्यमान हैं। इस काल में—युग में कोई भी दुराचरण ऐसा नहीं है कि जिसे मत-पंथ के संचालकोंने धर्म के नाम से प्रवर्त्तित न किया हो। रूस में रासपुटीन नामक एक धर्म-प्रचारक हो गया है।

वह बड़ा जादूगर था। उसके धर्म का सिद्धान्त यह था कि 'ज्यों बने त्यों अधिक पाप करो, इससे प्रभु के दर्शन होंगे'। इस विलक्षण सिद्धान्त के लिये भी उसके पास 'बाइबिल' का आधार था! बाइबिल* में ऐसा लिखा है कि पापी मनुष्यों पर प्रभु की अत्यन्त दया होती है। इस पर से रासपुटीन ने यह सिद्धान्त चलाया कि प्रभु की दया प्राप्त करनी हो और उसके समीप जल्दी पहुँचना हो तो मनुष्य को अधिक पापी बनना चाहिए। रासपुटीन, अपने मतानुयायी स्त्री-पुरुषों को पाप करने की अधिक अनुकूलता प्राप्त कराने के लिए रात्रि के समय मेले और उत्सवों का आयोजन किया करता था और फिर उनमें अनेक प्रकार के पापाचरण हुआ करते थे। रासपुटीन ने असंख्य भोले-भाले स्त्री-पुरुषों को अपना मतानुयायी बनाकर एक बहुत बड़े पंथ को प्रचारित किया था। इस विशाल जगत् में जब पाप करना ही धर्म का सिद्धान्त बन कर चल सकता है और भोले-भाले मनुष्य ऐसे पंथ में फंस जाते हैं, तब मनुष्य को अपने ग्रहण करने वाले 'धर्म' का चुनाव करते समय 'सत्य-धर्म' को ही ग्रहण करने की सावधानी रखना क्या आवश्यक नहीं है? इसीलिए ग्रन्थकार धर्म की व्याख्या संक्षेप में करते हैं कि रत्नत्रय—सम्यग् ज्ञान सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र्य—इन तीन रत्नों को प्रकाश देने वाला क्षमा, दया आदि सद्‌गुण-समूह ही धर्म है। वैशेषिक-दर्शन ने कहा है कि '*यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः*' अर्थात्—जिससे अभ्युदय और आत्म कल्याण हो, वही धर्म है। 'धर्म-संग्रह' में कहा है—

*अङ्गरेजी में एक कहावत है कि यदि शैतान को भी आवश्यकता हो, तो उसे अपने पाप-कर्मों के सहारे के लिए आवश्यक शब्द 'बाइबिल' में से मिल सकते हैं।

वचनादविरुद्धाद्यनुष्ठानं हि यथोदितम् ।
मैत्र्यादिभावसंमिश्रं सद्धर्म इति कीर्त्यते ॥

अर्थात्—शास्त्र के अविरोधी वचन का अनुसरण करते हुए यथार्थ मैत्री आदि भाव सहित जो आचरण है, वह धर्म कहलाता है । इस पद से समझ में आता है कि धर्मग्रहण करने का हेतु, अभ्युदय, आत्म-कल्याण सदाचरण आदि को सिद्ध करना होना चाहिये । ग्रन्थकार इसी हेतु को दर्शाने के लिए 'त्रिरत्न'—सम्यग् ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की प्राप्ति करने को ही 'सत्य-धर्म' रूप कह कर धर्म का हेतु समझाने के साथ-साथ—धर्म का चुनाव करने की सूचना करते हैं।

सत्य-धर्म की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? यह जानना बाकी रह जाता है । सद्गुरु के बिना सद्धर्म की प्राप्ति संभव नहीं है । इस जगत् में अपने को गुरु कहलाने वाले तो अनेक हैं, परन्तु सद्गुरु विरले ही होते हैं । ग्रन्थकार ऐसे सद्गुरु को खोज निकालने के लिए उसके गुणों का निरूपण करते हुए समझाते हैं कि जो महाव्रतों को धारण करने वाला निर्ग्रन्थ है, जो अपने सदाचरण की छाप अपने शिष्य पर डालता है, समदृष्टि वाला होता है और वह धर्म अच्छा और यह धर्म बुरा—ऐसी बद्धमान्यता वाला नहीं होता, परन्तु जहाँ-जहाँ सारभूत वस्तु होती है, वहाँ-वहाँ से उसे ग्रहण करके उसी मार्ग पर शिष्य को चलाने में उसका हित समझता है, और जो चित्त को एकनिष्ठ रखनेवाला है—दोलायमानचित्त वाला या शंकाशील वृत्ति वाला न हो । जिससे कि शिष्य को वह दृढ़ता के साथ सन्मार्ग पर लगा सके—ऐसे गुणों से युक्त गुरु को सद्गुरु मानना आवश्यक है । जिस प्रकार धर्म मनुष्य के जीवन का अवलंबन है, उसी प्रकार किसी विशिष्ट धर्म का संस्थापक किंवा उसके सिद्धान्तों का प्रवर्त्तक देव भी मनुष्य का लक्ष्य-बिन्दु है । यह

देव सत्यदेव होना चाहिये। जिसमें दिव्यता हो, वह देव कहलाता है, परन्तु दिव्यता भी अच्छी और बुरी दो प्रकार की होती है। अच्छी और बुरी विभूति वाले अनेक देव जगत् में माने जाते हैं। मनुष्य को कैसे देव को अपना अवलंबन रूप मानना चाहिए—इसके सम्बन्ध में ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसने राग-द्वेष का क्षय कर दिया हो, चार कर्मों का नाश कर दिया हो, सद्धर्म का स्थापन किया हो और अलौकिक आत्मिक प्रभाव से परम विभूति से प्राणियों के चित्त को चमत्कृत करके अपने अद्भुत सामर्थ्य का दिग्दर्शन कराया हो, वही सुदेव नाम के योग्य गिना जा सकता है। पुराण में कथित 'सुदेव' का यह व्यापक लक्षण है—

निर्ममो निरहङ्कारो निस्संगो निःपरिग्रहः।
रागद्वेषविनिर्मुक्तं तं देवं ब्राह्मणा विदुः॥

अर्थात्—जो ममता, अहंकार, संग और परिग्रह से रहित और रागद्वेष से मुक्त होता है, ब्राह्मण लोग उसे देव कहते हैं। ये गुण वही देव प्राप्त कर सकता है कि जिसने कर्मों और राग-द्वेष का क्षय करके तपश्चर्या के द्वारा परम विभूति को प्राप्त कर प्राणीमात्र के चित्त को चमत्कृत किया हो। इस प्रकार सत्यदेव, सत्यगुरु और सत्यधर्म की प्राप्ति द्वारा मनुष्य सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर सकता है और इस मार्ग से वह आत्म-हित-चिंतन में आगे बढ़ सकता है। (५)

[अब ग्रन्थकार सामान्य रूप से धर्म का माहात्म्य और धर्म का फल दो श्लोकों में दर्शाते हैं।]

धर्म-महात्म्य ॥६॥

धर्मः कल्पतरुर्मणिर्विषहरो रत्नं च चिन्तामणि—
र्धर्मः कामदुघा सदा सुखकरी संजीवनी चौषधिः।

धर्मः कामघटश्च कल्पलतिका विद्याकलानां खनिः।
प्रेम्णैनं परमेण पालय हृदो नो चेद् वृथा जीवनम् ॥

धर्म-फल ॥७॥

धर्मः कृन्तति दुःखमुन्नतसुखं दत्ते समाध्युद्भवं ।
दुष्कर्माणि रुणद्धि शक्तिमतुलां प्रादुष्करोत्यात्मनः ॥
ज्ञानज्योतिरपूर्वमर्पयति स स्वर्गापवर्गप्रद—
स्तन्नास्तीह महत्समुन्नतिपदं यन्नैव दद्यादयम् ॥

भावार्थ—धर्म, वृक्षों में कल्पवृक्ष के समान है, रत्नों में विष के हरने वाली मणि तथा चिन्तामणि के समान है, पशुओं में काम दुघा धेनु के समान है, औषधियों में संजीवनी औषधि के समान सुखकारक है, पात्रों में कामघट के समान है, लताओं में कल्पलता के समान है, और विद्या-कला की खान के समान है, इसलिए उसका पालन अत्यन्त प्रेम से करना चाहिए, अन्यथा सारा जीवन व्यर्थ है। [६]

आधुनिक समय में धर्म, दुःख को उच्च सुख के रूप में परिवर्त्तित कर देता है, शान्ति-समाधि को उत्पन्न करता है, दुष्कर्मों का नाश करके आत्मा की अतुल शक्ति को उत्पन्न करता है, स्वर्ग और उन्नत दशा को प्राप्त करने वाली ज्ञान-ज्योति को प्राप्त कराता है और इहलोक में उन्नति का एक भी ऐसा उच्च शिखर नहीं है कि जिसे धर्म न प्राप्त करा सके।

विवेचन—धर्म का स्थान कितना उच्च है? धर्म का पालन मनुष्य को किस वस्तु की प्राप्ति कराता है? इन दो प्रश्नों के उत्तर में ग्रन्थकार उपर्युक्त दो श्लोक लिख कर उपमा के द्वारा धर्म के सर्वोच्च पद का दर्शन कराते और धर्म के फल को विशाल प्राप्ति

का स्मरण कराते हैं। जगत् की नैसर्गिक विभूति अनेक प्रकार की है। वृक्ष, पक्षी, पशु, रत्न, पर्वत आदि विभूतियों से जगत् दीप्तिमान है। इन प्रत्येक विभूतियों में भी जो वस्तु सब से उच्च हो और उस उच्च वस्तु के बाद की उच्च वस्तु कल्पनातीत विषय समझी जाय—ऐसा सर्वोच्च पद 'धर्म' का है। वृक्ष अनेक प्रकार के हैं और जगत् में प्रत्येक प्रकार का वृक्ष सौंदर्य तथा उपयोगिता में अपना पराक्रम प्रकट कर रहा है, इसलिए उनमें से कोई भी वृक्ष निरर्थक नहीं है. तो भी वृक्षों के मूल्य में तो न्यूनाधिकता है ही। वृक्षों में सब से अधिक मूल्यवान कल्पवृक्ष माना जाता है, दूसरे वृक्ष केवल फलों द्वारा ही मनुष्य की क्षुधा को शान्त करते हैं, परन्तु कल्पवृक्ष ऐसा है कि उसकी छाया में जाकर खड़े रहने वाले को अपनी इच्छानुसार फल प्राप्त होता है। वृक्षों में कल्पवृक्ष का ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान है, और यही स्थान 'धर्म' का भी है। इसी प्रकार रत्नों में जो सर्वोच्च स्थान विष को हरने वाली मणि और चिन्तामणि का है, वही धर्म का है। चिन्तामणि रत्न में यह गुण है कि वह विपरूप व्याधियों का शमन करके इच्छित सुखों की प्राप्ति कराता है। पशुओं में कामदुधा-गौ का जो सर्वोपरि स्थान है, वही धर्म का है। कामदुधा-गौ मनुष्य को उसकी इच्छानुसार चाहे जब उसे अमृत के समान दूध देती है। औषधियों में धर्म संजीवनी औषधि के समान है। संजीवनी औषधि में यह अद्भुत गुण है कि वह मृत्यु के समीप पहुँचे हुए प्राणी को जीवित कर देती है। पात्रों में जो स्थान कामघट का है, वही धर्म का है। कामघट में हाथ डालने पर जिस प्रकार इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार धर्म भी इच्छित वस्तु की प्राप्ति कराता है। इसी प्रकार, लताओं में धर्म को कल्पलता तथा विद्या-कला की खान का स्थान दिया गया है, वह भी उचित ही है। धर्म के इस माहात्म्य में अत्युक्ति

का लेश भी नहीं है। श्रीमान् देवेन्द्रसूरि जी ने भी कहा है—

जह चिंतामणिरयणं सुलहं नहु होइ तुच्छविहवाणं।
गुणविहववज्जियाणं जियाण तह धम्मरयणंपि॥

अर्थात्—जिस प्रकार धन-हीन व्यक्तियों को चिन्तामणि रत्न का मिलना सुलभ नहीं है, उसी प्रकार गुणरूपी धन से रहित जीवों को धर्म-रत्न भी नहीं मिल सकता। श्रीदशवैकालिक सूत्र में कहा है कि—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सयामणो॥

अर्थात्—धर्म एक उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप रूपी धर्म का सेवन करने वालों को देवता भी नमस्कार करते हैं। धर्म का ऐसा उत्कृष्ट मंगलरूप, उत्कृष्ट वृत्त-रूप या उत्कृष्ट रत्न-रूप पद क्यों है? कारण कि उसका सेवन करने वाले को धर्म अनेक विधि मीठे-मीठे फलों की प्राप्ति कराता है। पहले कहा गया है कि जिसके द्वारा मनुष्य का अभ्युदय और आत्म कल्याण हो, वही धर्म कहा जाता है। 'धर्म' का धात्वनुसारी अर्थ किया जाय तो—

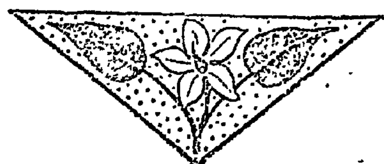
दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून् यस्माद्धारयते ततः।
धत्ते चैतान् शुभस्थाने तस्माद्धर्म इति स्मृतः॥*

अर्थात्—जो प्राणियों को दुर्गति से बचाये और शुभगति में पहुँचाये, वही धर्म कहलाता है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में भी कहा है कि धर्मचर्या के द्वारा मनुष्य उत्तम वर्ण की प्राप्ति करता है। धर्म का फल, इहलोक का क्षणिक—अशाश्वत फल नहीं है कि जिसका उपभोग नश्वर सुख की प्राप्ति कराता है। धर्म तो

---

*धर्मरत्न प्रकरण।

मनुष्य को उच्च प्रकार के गुणों से युक्त बनाता है, उसका अभ्युदय कराता है, उसे दुर्गति से बचाता है, उसे शान्ति-समाधि देकर उसकी आत्मा का कल्याण करता है और अन्त में सद्गति—स्वर्ग-प्राप्ति करा के ज्ञान की अखण्ड ज्योति में लीन करा देता है। ऐसे शाश्वत मीठे फल देने वाले धर्म का महात्म्य कल्पवृक्ष, चिन्तामणि-रत्न, धामदुघा गौ, कामघट, संजीवनी औषधि, कल्पलता या विद्याकला की खान जैसे उपमानों से प्रकट करना भी धर्म की उच्चता की यथार्थ कल्पना के लिए पूरा नहीं है। धर्म का माहात्म्य, मनुष्य की वैखरी वाणी द्वारा बड़े-बड़े उपमानों से भी नहीं प्रकट किया जा सकता, इसी से ग्रन्थकार को धर्म की महत्ता का इतना ही गुणगान करके विश्राम लेना पड़ रहा है। ऐसे उच्च धर्म के सेवन का बोध इहलोक से तिरने वाले महात्माओं ने मनुष्यों के हितार्थ दिया है और अब भी दे रहे हैं, परन्तु ज्यों स्वर्ण-पात्र के बिना सिंहनी का दूध नहीं रह सकता, गुणहीन-मनुष्य रत्न को सुरक्षित नहीं रख सकता, त्योंही सुपात्र के बिना सुधर्म का रखना—प्राप्त करना दुष्कर है। (६–७)



द्वितीय परिच्छेद

सम्यक् चारित्र

व्रत-पालन ॥८॥

विज्ञाय व्रतलक्षणानि निकटे शास्त्रार्थवेत्तुर्मुने-
***रानन्दो निखिलव्रतानि जगृहे भोः स्वीकुरु त्वं तथा ॥**
शक्तिर्नो यदि तावती प्रथमतः सोत्साहमङ्गीकुरु ।
पञ्चाणुव्रतकानि धर्मविधिना सम्यक् समीपे गुरोः ॥

भावार्थ—हे मनुष्य ! भिन्न-भिन्न व्रतों के लक्षणों को शास्त्र-ज्ञान पाये हुए मुनि से पहले जान ले, आनन्द नामक श्रावक ने सब व्रतों को समझ कर जिस प्रकार उन्हें धारण किया, उसी प्रकार तू भी उन व्रतों को ग्रहण कर ले। यदि इन व्रतों को ग्रहण करने की शक्ति तेरे में न हो, तो उत्साह पूर्वक, गुरु के समीप सम्यग् धर्म विधि से पाँच लघुव्रतों को अंगीकार कर ले। (८)

विवेचन—जीवन का नीतियुक्त आचरण ही मनुष्य का चारित्र कहलाता है। चारित्र का संगठन सदाचार से ही होता है। परन्तु सदाचार के लिए यह ज्ञान होना चाहिये कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है और इस ज्ञान से अच्छे आचरणों को ग्रहण करके बुरे आचरणों को त्याग देना चाहिये। इस विधि

---

*आनन्द—आनन्दनामा श्रावकः यः श्रीमहावीरप्रभुसमीपे द्वादशव्रतानि जग्राह ॥

को जैन लोग सम्यक्-चारित्र्य का ग्रहण कहते हैं। इस सदाचरण अथवा सम्यक् चारित्र्य के लिये ग्रहण करने और त्यागने योग्य क्या है? याज्ञवल्क्य स्मृति के आचार नामक अध्याय में कहा है कि—

> अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय—चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, परोपकार, दया, मन का दमन तथा क्षमा—यह नौ बातें सब के लिए धर्म का साधन हैं। इसी प्रकार जैन धर्म में बारह व्रत बताये गये हैं और इन बारह व्रतों को धारण करने से मनुष्य सदाचारी बन सकता है, परन्तु इन धर्म के साधनों किंवा व्रत को धारण करने से पहले ग्रन्थकार एक महत्वपूर्ण बात कहते हैं—'मैं हिंसा न करूंगा' या 'मैं सत्य बोलूंगा' इस प्रकार प्रतिज्ञा करना या व्रत ग्रहण करना जितना सरल है उतना ही कठिन उसका परिपालन करना है। हिंसा अनेक प्रकार की है और अनेक प्रकार से होती है। असत्य भी अनेक प्रकार के हैं और अनेक प्रकार से बोले जाते हैं। प्रतिज्ञा करने वाले को पहले इन सब प्रकारों को समझ लेना चाहिये और फिर प्रतिज्ञा करनी चाहिए, क्योंकि मन से हिंसा होती है वचन से हिंसा होती है और काया से भी हिंसा होती है। मन से हिंसा दूसरे के द्वारा कराई जाती है, वचन से करायी जाती है और काया से भी कराई जाती है, इसी प्रकार मन वचन, काया से हिंसा करने वालेके प्रति सहानुभूति प्रकट करने में भी पातक लगता है। प्रत्येक पाप इस प्रकार अनेक प्रकार से होता है और इन सब पापों या दुराचरणों को त्याग कर सदाचरण करना ही पूर्ण सच्चारित्र्य है। प्रत्येक व्रत या प्रतिज्ञा धारण करने से पहले इस विषय का पूरा ज्ञान प्रतिज्ञा करने वाले

को प्राप्त कर लेना चाहिये और फिर यथाशक्ति प्रतिज्ञा ग्रहण करनी चाहिये। इसके लिये ग्रन्थकार यह शर्त करना चाहते हैं, कि व्रतों के लक्षण शास्त्र-ज्ञान रखने वाले मुनि से समझ कर ही अपने शरीर, शक्ति और स्थिति की अनुकूलताओं पर विचार करके व्रतों का धारण करना चाहिये; कि जिससे उनको भंग करने का अवसर उपस्थित न हो। व्रत धारण करने वाले के हृदय में, व्रत धारण करते समय जो उच्चाभिलाषायें होती हैं, उनके पालन की उसमें सामर्थ्य होनी चाहिये और जब अपने धारण किये हुये व्रतों को वह यथोचित प्रकार से पाल सकता है, तभी सच्चारित्र्य में उत्तरोत्तर आगे बढ़ सकता है और धीरे-धीरे सच्ची मानवता उसमें आने लगती है। इसके विपरीत, उच्च प्रकार का व्रत धारण करके, सामर्थ्य के अभाव से उसे भंग कर देना मनुष्य की वृत्ति को हीन बनाने वाला और उसकी उच्चाभिलाषाओं को क्षय करने वाला है। इस प्रकार एक बार भी पतित हुए मनुष्य को अपनी शक्ति पर इतना अविश्वास हो जाता है, कि वह सच्चारित्र्य की सीढ़ी—निसैनी—पर चढ़ने की कल्पना करने का साहस भी नहीं कर सकता, इसीलिये व्रतों के सम्बन्ध में भली भाँति जानकारी प्राप्त करके यथाशक्ति ही व्रतधारण करने के लिये ग्रन्थकार ने सूचित किया है। वैदिक धर्म में धर्म के नौ साधन बताये गये हैं और जैन धर्म में बारह व्रत। इन व्रतों का धारण किये बिना सुचरितवान या सच्चारित्र्यवान नहीं बन सकता, परन्तु स्थिति और शक्ति इन सब को एक ही साथ अंगीकार करने की आज्ञा न देती हो, तो भी ऊँचे पद पर चढ़ने की इच्छा रखने वाले को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। धीरे-धीरे आगे बढ़ना और ज्यों-ज्यों शक्ति का विकाश होता जाय, त्यों-त्यों नई-नई प्रतिज्ञाओं को अंगीकार करते जाना ही बुद्धिमानी का काम है। जैन धर्म में कहे हुए बारह व्रतों में प्रारम्भिक पाँच

अणुव्रत—लघुव्रत कहलाते हैं। वे सचारित्र्यवान् होने वाले जिज्ञासुओं के लिए ही हैं। ग्रन्थकार ने इन पाँच अणुव्रतों को ग्रहण करने के लिए सूचित किया है और इसके साथ आनन्द नामक श्रावक की ग्रहण की हुई रीति का अनुसरण करना बताया है।

दृष्टान्त—वाणिज्य नामक नगर में आनन्द नाम का गाथापति रहता था। खेती और व्यापार यही दो उसके व्यवसाय थे। वह बड़ा धनवान् और ऐश्वर्यशाली था। उसके पास १२ करोड़ सुवर्ण मुद्राओं के बराबर धन था। ४ करोड़ मुद्राएं वह जमीन में गाड़ रखता, ४ करोड़ सुवर्णमुद्राएं व्यापार में लगा रखता और ४ करोड़ सुवर्ण मुद्राओं को वह घर के कार्यों में लगाये रखता था। उसके पास ४० हजार गौएं थीं। एक बार महावीर स्वामी का उपदेश सुन कर उसे व्रत अङ्गीकार करने की इच्छा हुई। महावीर स्वामी से उसने व्रतों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त की और फिर व्रतों को अङ्गीकार किया। इन व्रतों को अङ्गीकार करते समय उसने सब प्रकार के पापों के द्वार बन्द नहीं किये, कारण कि उसकी शक्ति इतनी विकसित नहीं हुई थी। उदाहरण के लिए, उसने सत्य बोलने की ही प्रतिज्ञा की, परन्तु किस प्रकार? मैं असत्य न बोलूँगा, किसी से न बुलाऊँगा और उसमें मन, वचन और काया को प्रवृत्त न करूंगा। परन्तु कोई असत्य बोले और उस असत्य को अपने मन या वचन से अच्छा मान लिया जाय या उसके प्रति सहानुभूति प्रकट कर दी जाय—सांसारिक व्यवहार में ऐसा बहुत कुछ संभव है—यह सोच कर उसने इस प्रकार प्रतिज्ञा नहीं की। इस दशा में उसे अभी अपनी शक्ति को विकसित करने की आवश्यकता थी, इस लिए उसने इतनी बचत रख ली। धन की, ढोर-डंगरों की, जमीन जायदाद आदि की उसने

मर्यादा बाँध दी, और यह मर्यादा आगे स्थिति और संयोगों का विचार करके ही बाँधी थी। वह समझता था कि यह मृत्तिका-रूप धन का अम्बार आत्मा को चारों ओर से जकड़ने वाले पाप के जालों को छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता। तो भी इन जालों को त्याग कर एक दम दूर भाग जाने की मानसिक शक्ति उसमें नहीं थी! इसलिए उसने बड़े विचार से उसकी मर्यादा निर्धारित कर दी और इस प्रकार तृष्णा की अपरिमितता के सामने बाँध बनाया। इसी प्रकार उसने बारहों व्रतों को यथाशक्ति अङ्गीकार किया। इन व्रतों और प्रतिज्ञाओं का अनुसरण करके उसने चौदह वर्ष विताये। इस काल में उसने अपनी प्रतिज्ञाओं का शुद्ध रूप में पालन किया और इससे भी और आगे बढ़ने के लिए अपनी शक्ति पर उसे अब श्रद्धा उत्पन्न हुई। अब उसने घर को त्याग तथा धर्म स्थानक में रह कर पड़िमाधारी श्रावक बनने अथवा वानप्रस्थावस्था व्यतीत करने का निश्चय किया। उसने व्यवहार के जाल को तोड़ दिया, भोग-विलासों को छोड़ दिया और धर्म-स्थानक में वास करके तपश्चर्या का आरम्भ किया। परन्तु अपनी शक्ति की अपूर्णताओं का विचार करके पूर्ण मुनिव्रत अंगीकार नहीं किया। इसी अवस्था में उसकी मृत्यु हुई, परन्तु सम्यक्-चारित्र्यवान् श्रावक की भाँति उसे अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। आर मर कर स्वर्ग में गये।

इसी प्रकार दूसरा दृष्टान्त गुजरात के राजा कुमारपाल का है। कुमारपाल एक राजा था उसे राज्य की रक्षा, प्रजा का पालन और शत्रुओं के मद का मर्दन करने के लिए अनेक प्रकार के कार्य करने पड़े यह स्वाभाविक था, इसीलिए उसने हेमचन्द्राचार्य के निकट ग्रहण किये हुए व्रतों में अपनी शक्ति और स्थिति का भली भाँति विचार किया था, तो भी इन व्रतों में उसका त्याग और इंद्रियों का दमन प्रतीत होता था।(८)

[व्रतों को अंगीकार करने के सम्बन्ध में इतनी प्रस्तावना करने के बाद अब अनुक्रम से बारह व्रतों के विषय में विवेचन आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले अहिंसा व्रत की व्याख्या की जा रही है।]

अहिंसा-व्रत ॥६॥

रक्ष्या यद्यपि सर्वजीवनिवहास्तत्रापि जीवास्त्रसा--
वैशिष्ट्येन हि तद्वधेऽतिदुरितं तस्मान्निहन्यान्न तान्॥
नाप्यन्येन विघातयेत्कथमपि व्यर्थं न च स्थावरान्।
हिंसात्यागविधायकं व्रतमिदं धर्मेच्छया पालयेत्॥

भावार्थ—यद्यपि इस संसार के स्थावर-जंगम सभी जीवों का रक्षण करना ही सच्चा अहिंसा व्रत है, तथापि व्यवहार के योग से स्थावर जीवों की हिंसा अनिवार्य है, पर त्रस जीवों का रक्षण तो अवश्य करना चाहिये। ख़ास कर त्रस जीवों का वध महापाप का उपार्जन कराने वाला है, इसलिए उनकी हिंसा किसी भी प्रकार न करनी चाहिये, दूसरों से भी नहीं करानी चाहिये। और, स्थावर जीवों की हिंसा भी निष्प्रयोजन न करनी चाहिये। हिंसा का त्याग कराने वाला यह व्रत, धर्म करने की इच्छा से सब को पालना चाहिये। (६)

विवेचन—इस संसार में एकेन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय तक के जीव होते हैं। इन में एकेन्द्रिय वाले जीव स्थावर कहे जाते हैं। कारण कि ऐसे जीव एक जगह से दूसरी जगह तक अपने आप नहीं आ-जा सकते। इनके सिवा दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय तक के जीव त्रस जीव कहलाते हैं। उन्हें किसी भी वस्तु का स्पर्श होने पर सुख-दुख का अनुभव होता है और यह अनुभव मनुष्य अपनी आँखों से कर सकता है।

वनस्पति खनिज पदार्थ इत्यादि जीव एक-इन्द्रिय वाले हैं और वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करके इन पदार्थों में जीव-तत्त्व सिद्ध किया गया है। जब इन पदार्थों में भी जीव है, तब इन जीवों को जीवन रहित करना भी हिंसा है। इसलिए इन स्थावर और त्रस जीवों को जीवन रहित न करने की प्रतिज्ञा ही पूर्ण रूप से अहिंसा व्रत कहा जा सकता है। परन्तु ऐसे अहिंसा व्रत का पालन गृहस्थों के लिए सम्भव नहीं है। इसी प्रकार तृतीय वानप्रस्थ अवस्था व परार्थ जीवन के लिए इस प्रकार की अहिंसा की प्रतिज्ञा दुष्कर है, इसलिए त्रस जीवों की रक्षा करने और उनकी हिंसा न करने के लिए व्यावहारिक रीति से अहिंसा की प्रतिज्ञा का पालन करने को कहा गया है। परन्तु, स्थूल अहिंसा-व्रत की मर्यादा यहीं पूर्ण नहीं हो जाती। 'हिंसा अपने हाथों से न करूँगा'—इस प्रतिज्ञा से भी अहिंसा-व्रत का पालन होता हो तो फिर कसाई लोग भी इस व्रत का पालन कर सकते हैं। कारण कि, पशुओं के माँस का व्यापार करने वाले, पशु को काटने का काम अपने हाथों से तो करते नहीं, दूसरों को पैसा देकर कराते हैं। इस प्रकार की जाने वाली हिंसा भी अपनी निजी हिंसा के समान ही है। इसलिए ग्रन्थकार स्पष्टीकरण करते हैं, कि जीवों की हिंसा स्वत: जैसे नहीं करनी चाहिये, वैसे दूसरों से भी नहीं करानी चाहिये और स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का निष्प्रयोजन मारना-मरवाना नहीं चाहिये। जहाँ तक मनुष्य की देह का बन्धन है, वहाँ तक *'जीवो जीवस्य जीवनम्'* के न्याय से उसे स्थावर जीवों की हिंसा करनी पड़ती है, परन्तु इसमें भी यदि विवेक रखा जाय, तो मनुष्य अनेक प्रकार की सूक्ष्म हिंसाओं से भी बच सकता है। कोई राजा चोरी करके भागे हुए चोर के पीछे-पीछे उसे पकड़ने के लिए अपने सिपाहियों के साथ घोड़े पर बैठ कर जा रहा हो, और मार्ग में नये अंकुर

निकले हुए धान्य के खेत आ जायँ, खेत के दोनों ओर रास्ता हो और उस रास्ते से न जा कर वह अपनी टोली को खेत में प्रवेश कराके उसके पौधों को नष्ट-भ्रष्ट करा दे, तो इसे उस वनस्पति की निष्प्रयोजन हिंसा करना ही कहा जायगा। उसके घोड़े भूखे हों, और निकट दूसरी जगह कहीं घास न हो, ऐसी दशा में यदि उसे खेत में से घास चराना पड़े, तो इससे होने वाली एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा निष्प्रयोजन नहीं कहला सकती, परन्तु यदि घोड़ों के चलने के लिए खेत के बाहर का रास्ता कुछ लम्बा हो और उस खेत में से जाने पर कुछ संक्षिप्त मार्ग मिलता हो, तो इसके लिए सूक्ष्म हिंसा करने के कारण वह पापी ठहरता है।

शंका—हिंसा न तो करनी चाहिये और न करानी चाहिये, अर्थात् जीव को उसके दस प्राणों से हीन नहीं करना चाहिये— इतने ही से यदि अहिंसा-व्रत की पूर्ति होती हो, तो क्या मन या वचन से अहिंसा-व्रत वाला हिंसा कर सकता है?

समाधान—नहीं। मन, वचन और काया, इन तीनों से जीव की हिंसा करना-कराना नहीं चाहिये। वानप्रस्थाश्रमी को ऐसी अहिंसा-व्रत-पालन करने की सूचना देना ग्रन्थकार का हेतु है। और इसके लिए ऊपर के श्लोक में '*कथमपि*' अर्थात् 'किसी प्रकार' शब्द का प्रयोग किया गया है।

मन के द्वारा स्थूल हिंसा किस प्रकार होती है—यह बात कई लोग नहीं समझते। ज्ञान-पूर्वक रस्सी को सर्प मान कर उस पर तलवार का वार करने की इच्छा करना, यह मानसिक हिंसा है, इस से मन पर हिंसा की भाँति ही असर होता है। वार करते समय मन का जो क्षणिक हिंसक भाव हो जाता है, वह भाव ऊपर की दृष्टि से देखने वाले को साधारण-क्षुल्लक

प्रतीत होता है; परन्तु वस्तुतः वह बड़ा असर करता है और ऐसे अनेक क्षणिक भावों का स्थूल परिणाम जब मनुष्य के जीवन पर होता है, तब उसे भान होता है कि उसने जिस बात को साधारण समझा था; उसी बात ने उसका अनिष्ट किया है। कृत्रिम क्रोध दिखाने की आदत के अतियोग से सच्चे क्रोधी स्वभाव के बने हुए मनुष्य जगत् में बहुत बार देखे जाते हैं— यह स्वभाव परिवर्तन, मन पर कृत्रिम क्रोध के आध्यात्मिक प्रभाव का फल है। 'व्यर्थ' शब्द का अर्थ है—'अर्थरहित' अर्थात् निष्प्रयोजन। क्षुल्लक और गृहस्थ को अपने जीवन-व्यवहार में आवश्यकता की पूर्ति के लिये स्थावर का आरम्भ करना पड़ता है, इसलिए उस से उसका त्याग नहीं हो सकता, तो भी अनेक बार अपने शौक की पूर्त्ति के लिए ही अनावश्यक वस्तुओं का उपयोग करते हुए स्थावर जीवों की हिंसा हो जाती है। यह हिंसा 'व्यर्थ' है। उसके बिना हमारे जीवन को कोई हानि नहीं पहुँचती; इसलिए स्थावर हिंसा की भी मर्यादा बाँध लेनी चाहिए। प्रयोजन के बिना स्थावर की भी हिंसा न करनी चाहिए (६)

[अब प्रत्यक्ष हिंसा के बिना होने वाली हिंसा और उसके द्वारा अहिंसा व्रत का खंडन किस प्रकार होता है, इसके कुछ दृष्टान्त दिये जाते हैं।]

अहिंसा व्रत पालन ॥१०॥

पापर्द्धिः पललाशनं च मदिरापानं निषिद्धं ह्यतो.
हिंसातस्त्रसदेहिनां नियमतस्तत्र व्रतभ्रंशनात् ॥
यद्वस्तु त्रसहिंसया समजनि त्याज्यं च तत्सर्वथा।
स्याद्बन्धाद्यतिचारदोषरहितं सेव्यं तथाऽऽद्यं व्रतम् ॥

भावार्थ—मांस भक्षण पाप के पुंज को प्राप्त कराने वाला है तथा मद्यपान भी निषिद्ध है। त्रस जीवों की हिंसा से वह उत्पन्न होता है और उससे अहिंसा व्रत का खंडन होता है। जो वस्तु त्रस जीवों की हिंसा करने से पैदा हो वह सर्वथा त्याग करने योग्य है। इसलिए बन्ध, वध इत्यादि अतिचार के दोषों से रहित रूप में प्रथम व्रत का पालन करना चाहिए। (१०)

विवेचन—मांस भोजन करने वाले बहुत से व्यक्ति अपने हाथ से जीवों का घात नहीं करते, इसी प्रकार मद्य-पान करने वाले, द्राक्ष या महुओं को गला सड़ा कर, उससे उत्पन्न होने वाले जीवों को उबाल कर उसका अर्क नहीं निकालते, बल्कि उनके लिए दूसरे लोग जीव को मार कर मांस की पूर्त्ति करते और मदिरा बनाते हैं, इसलिए मांस-भक्षी और मद्यपी लोग हिंसा के कार्य को उत्तेजन देकर हिंसा के ही भागीदार बनते हैं। यह बात समझी जा सकती है। कोई गृहस्थ अपने नौकर से कहे कि मुझे कस्तूरी-मृग की नाभी ला दे, उस समय यह बात उसकी जानकारी से बाहर नहीं होती कि वह मनुष्य कस्तूरी मृग को मार कर ही उसकी नाभी लायगा, इसलिए वह वचन के द्वारा ही कस्तूरी मृग की हिंसा कही जा सकती है। इसी प्रकार रेशम का, हाथीदांतकी वस्तुओं या बालों या परों वाली टोपियों का व्यवहार करने वाले, अप्रत्यक्ष रूप में हिंसा करने वाले ही कहे जा सकते हैं। जिन्होंने अहिंसा का व्रत ग्रहण किया हो, उन्हें ऐसे हिंसा-जनित पदार्थों का उपभोग—पहले कहे अनुसार—व्यर्थ न करना चाहिए।

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलंच। उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः॥
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा॥

अर्थात्—पांच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया यह तीन

बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—यह दस प्राण कहलाते हैं, और इन प्राणों का वियोग करना ही हिंसा कही जाती है। हिंसा-जनित पदार्थ जीवों के इन दस प्राणों का वियोग करने से ही उत्पन्न होते हैं और इसलिए इन वस्तुओं का त्याग, अणु-व्रत रूप से अहिंसा की प्रतिज्ञा ग्रहण करने वाले को भी करना योग्य है। इसके साथ-साथ यह समझना आवश्यक है कि इन दस प्राणों में से एकाध प्राण का भी वियोग करने कराने में प्रवृत्त या प्रयत्नशील होना—य: भी हिंसा के मार्ग पर जाने के समान है। घाणी—कोल्हू के बैल की आँखों पर टोप चढ़ा कर या उन्हें कपड़े से बाँध कर उसे अंधा बना देना, क्या यह उसकी नेत्रेन्द्रिय को थोड़े समय के लिए भी लूट लेने के समान नहीं है? उड़ते हुए तोते को पकड़ कर पींजरे में बन्द कर देना, क्या यह उसकी काया का बल हर लेने के समान नहीं है? सांप को हांडी में बन्द कर रखना क्या उसके खान-पान और श्वासो-छ्वास रोकने के समान नहीं है? इस प्रकार प्राथमिक हिंसा हो वैसे कार्य भी स्थूल अहिंसा व्रत धारण करने वाला व्यक्ति नहीं रह सकता। इसके लिए जैन धर्म में पाँच अतिचारों का त्याग करने का आदेश किया गया है। यथा

> क्रोधाद् बंधछविच्छेदोऽधिकभाराधिरोपणम्।
> प्रहारोऽन्नादिरोधश्चाऽहिंसायाः परिकीर्तिताः॥

अर्थात्—(१) क्रोध से कड़ा बन्धन बाँधना, (२) कान आदि का छेदना (३) अधिक बोझा लादना (४) प्रहार करना और (५) अन्न जल का निषेध करना—इस प्रकार यह पाँच अतिचार हैं। जीव जब बिल्कुल दस प्राणों से मुक्त हो जाय, तभी उसकी हिंसा हुई कहला सकती है और अहिंसा-व्रत का भंग हुआ कहा जा सकता है परन्तु ऊपर बताये हुए पाँच अतिचार रूपी

दोष अहिंसा के ही हेतु हैं, हाँ उनसे जीव की मृत्यु नहीं होती। एक गाड़ी हाँकने वाला, गाड़ी में जुते हुए बैल को जब क्रोध में भर कर मारता है, तब उसकी अन्तवृंत्ति तो हिंसा का दोष कर ही डालती है परन्तु उसके प्रहार से बैल मरता नहीं। इसलिए बहिवृंत्ति से उसका अहिंसा का व्रत पोषित दीख पड़ता है। वर्तमान सरकार ने मूक प्राणियों को कष्ट न पहुँचाने के लिये कई नियम बनाए है। उनमें इन पाँच अतिचार रूपी दोषों पर लक्ष्य रखा गया है। परों के लिये पक्षियों को न मारने की आज्ञा प्रचारित की है, गाड़ियों में निश्चित प्रमाण से अधिक बोझ — भार न लादने का कानून बनाया है, फिर भी उसमें कई कमियाँ विद्यमान हैं। राजा कुमारपाल ने जब अमारि घोषणा कराई, तब उन्होंने ऐसा नियम बनाया था कि ऐसे अत्याचार प्रजा और उनके हाथों न हो पाँय। [१०]

[अब दूसरे सत्यव्रत के विषय में लिखा जाता है]

सत्यव्रत ॥११॥

हास्यक्रोधभयप्रलोभनभवं ब्रूयात् क्वचिन्नानृतं।
नाप्यन्येन च भाषयेत् त्रिकरणैरेतच्च सत्यव्रतम्॥
अभ्याख्यानपरापवादलपनं विश्वासघातस्तथा।
मिथ्यासाक्ष्यपरप्रतारणमिहान्तर्भाव्यमेतद्विधम्॥

भावार्थ—हँसी-मजाक, क्रोध, भय या लोभ इनमें से किसी भी कारणवश कहीं भी असत्य नहीं बोलना चाहिये और दूसरों से भी नहीं बुलवाना चाहिये। मन, वचन और काया इन तीनों कारणों से असत्य का सेवन न करना ही सत्यव्रत कहलाता है। किसी पर झूठा इल्जाम लगाना, पराई निन्दा करना,

विश्वासघात का काम करना, झूठी गवाही देना, दूसरे को ठगना यह सब दुर्गुण असत्य के ही भाई हैं। इसलिये सत्यव्रत ग्रहण करने वाले को इन सब दोषों का त्याग करना चाहिये। (११)

विवेचन—यथास्थित वस्तु तथ्य बात से विपरीत बात कहना सामान्यतः असत्य कहा जाता है, परन्तु असत्य के अनेक भेद हैं। '*तीव्रसंकल्पजं स्थूलं सूक्ष्मं हास्यादिसंभवम्*' अर्थात् तीव्र संकल्प के द्वारा जो असत्य बोला जाय वह स्थूल असत्य है और हास्यादि कारणों से जो असत्य बोला जाता है वह सूक्ष्म असत्य है। स्थूल असत्य के चार भेद हैं (१) *अभूतोद्भावन असत्य*, अर्थात्—सामा नामक धान्य को चावल जैसा बताना, (२) *भूत निन्हव*, यानी आत्मा नहीं है, पुण्य-पाप कुछ भी नहीं है, यह कहना, (३) *अर्थान्तर असत्य* यानी गाय को घोड़ा कहना और (४) *गर्हाअसत्य*, यानी निन्दा के भय से असत्य कहना। इन सब प्रकार के असत्यों का व्यवहार में अनेक प्रकार से उपयोग किया जाता है। अमुक कन्या और अमुक वर को अच्छा आचरण वाला होने पर भी बुरा बताना, बिगड़ैल घोड़े को अच्छा घोड़ा बता कर अधिक रुपया वसूल करना, खार वाली भूमि को उपजाऊ भूमि बताकर उससे अधिक कीमत पैदा करने का यत्न करना, मरे हुए पिता द्वारा अपने यहाँ रखी हुई धरोहर को हजम करने के लिये उसके पुत्र से उसके विषय में कुछ न कहना, या मैं कुछ नहीं जानता, ऐसा कहना, झूठी गवाही देकर सत्य के हित में अन्याय का निमित्त बनना, साहस पूर्वक अप्रिय बात कहना, किसी का रहस्य जनसमूह में प्रकट करके उसे हानि पहुँचाने का यत्न करना, किसी प्रकार किसी पर ऐब लगाना, चेष्टा

करके किसी की गुप्त बात जान लेना और उसे प्रकट करना, बनावटी दस्तावेज बनाना आदि सब असत्य के ही भिन्न-भिन्न प्रयोग हैं। यह प्रयोग भी मन, वचन और काया, इन तीनों योगों से होते हैं। इस प्रकार असत्यवाद के अनेक उपभेद हो जाते हैं। यह सब संकल्प जनित तीव्र असत्य है। इसके उपरान्त कभी-कभी हँसी के निमित्त भी मनुष्य असत्य बोलने को प्रेरित होता है। पूर्व संकल्प न होते हुए भी क्रोध के आवेश में झूठ बोल दिया जाता है। राजा, अपकीर्त्ति, मृत्यु आदि के भय से भी मनुष्य असत्य बोलने को तैयार हो जाता है. या किसी बड़े लाभ के प्रलोभन से भी वह झूठ बोलने के लिए ललचाता है—इन सब प्रकार के असत्यों का सत्यव्रत ग्रहण करने वाले व्यक्ति को त्याग करना चाहिये। यह उपदेश इस श्लोक में समाविष्ट किया गया है। शुक्र नीति में भी वाचिक-पाप के रूप में केवल असत्यवाद—झूठ बोलने—को ही नहीं माना, पर चुगली, कठोरभाषण आदि को भी वाचिक-पाप कहा गया है—

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते।
संभिन्नालापव्यापादमभिध्यादृग्विपर्ययम्॥

अर्थात्—हिंसा, चोरी तथा अगम्यागमन—यह तीन कथित पाप हैं, और परद्रोह का चिंतन, परधन की इच्छा तथा धर्म में दृष्टि का विपर्यय—यह मानसिक पाप है।

शंका—सत्य से जो विरुद्ध है वह तो असत्य है ही, परन्तु परायी सत्य बात को प्रकट करने में 'असत्यवाद' किस प्रकार आ सकता है?

समाधान—'सत्य' शब्द का शास्त्रीय अर्थ '*सद्भ्यो हितं सत्यम्*' अर्थात्—जो सज्जनों के लिए हितकारक है वह सत्य है,

ऐसा होता है और इसके लिये 'न सत्यमपि भाषेत परपीडाकरं वचः' अर्थात् जिस बात से दूसरों को दुःख हो, सत्य होने पर भी ऐसी बात न बोलनी चाहिये। दुःख पहुँचाने वाला सत्य कैसा अनर्थकारी होता है, इसका एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है।

दृष्टान्त—पुण्यसार नामक एक वणिक एक बार अपनी स्त्री को लाने के लिए ससुराल गया। उसकी स्त्री परपुरुषानुरागिनी हो गई थी, इस लिए वह अपने पति के साथ जाने में आना-कानी करती थी। तो भी पुण्यसार ने हठ करके उसे अपने साथ कर लिया। रास्ते में पुण्यसार को प्यास लगी, इस लिए वह पानी के लिए कुएँ पर गया। वह पानी का लोटा खींच रहा था कि उसी समय उसकी स्त्री ने उसे धक्का देकर कुएँ मे गिरा दिया और खुद अपने पिता के घर लौट आई। पिता ने तुरन्त ही लौटने का कारण उससे पूछा, तो उसने कहा कि मार्ग में हम लोगों को चोरों ने लूट लिया और उनको—उसके पति को मार डाला या क्या किया, मुझे कुछ पता नहीं। मैं तो भाग कर यहाँ तक आई हूँ। यह कह कर वह अपने मैके में रहकर स्वेच्छाचार करने लगी। इधर पुण्यसार कुएँ में पानी थोड़ा होने के कारण डूबा नहीं था। उसे कुछ मुसाफिरों ने खींचकर बाहर निकाला। वह फिर अपने ससुराल पहुँचा और लोगों ने जब मार्ग की सारी घटना का हाल पूछा तो उसने कहा कि मुझे चोरों ने लूटा तो सही, पर जीता छोड़ दिया और मेरी स्त्री यहाँ तक आ गई, यह अच्छा हुआ। इस प्रकार उसने अपनी स्त्री का रहस्य छिपा कर लोगों से सारा हाल कह सुनाया। इससे उसकी स्त्री को अपने वर्ताव के लिए पश्चात्ताप हुआ और पति के सौजन्य के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया। पुण्यसार स्त्री को

लेकर फिर घर आया। दम्पति अब प्रेम पूर्वक रहने लगे। उनके एक पुत्र भी पैदा हुआ। एक बार पुण्यसार भोजन कर रहा था, उस समय हवा के वेग से उसकी थाली में धूल गिरने लगी इसलिए स्त्री ने आकर अपने आँचल की ओट कर ली। उसकी यह पति-सेवा देखकर पुण्यसार को उसका पूर्व-चरित्र याद आया और वह जरा हँस पड़ा। लड़का जरा बड़ा हो गया था, इसलिए उसने एकान्त में जाकर पिता से हँसने का कारण पूछा। उसका बहुत आग्रह देखकर पुण्यसार ने उससे उसकी माता का पूर्व-चरित्र कह सुनाया। एक बार पुण्यसार के लड़के की स्त्री उनके निकट अपनी स्त्री-जाति के प्रति गर्व प्रकट कर रही थी, उस समय उसके पति ने अपनी माता का पूर्व चरित्र उसे कह सुनाया और स्त्री जाति की दुष्टता का उल्लेख किया। वह स्त्री उस समय तो कुछ न बोली परन्तु कुछ समय बाद सास-बहू में लड़ाई हुई, तब बहू ने सास के चारित्रिक मर्म की बात प्रकट करके ताना दिया। यह ताना सुनते ही सास के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि ओह, मेरे पति पुण्यसार ने इतने दिनों तक इस रहस्य को छिपाये रख कर भी अन्त में लड़के की स्त्री से सब कुछ कह कर मुझे ताना सुनने को बाध्य कर दिया! अब मेरा जीना व्यर्थ है, अब मुझे जीकर क्या करना है, ऐसा विचार कर वह फाँसी लगाकर मर गई। यह देख कर पुण्यसार को भी पश्चाताप हुआ कि उसने अपने लड़के से उसकी माता के रहस्य की बात न कही होती तो अच्छा होता। और पुण्य-सार ने भी आत्मघात कर लिया। सच्चा रहस्य—सच्ची बात भी यदि दूसरे को दुख पहुँचाने वाली हो, तो प्रकट करना एक दोष है और भले ही वह असत्य बात न हो, परन्तु सत्यव्रत ग्रहण करने वाले के लिए तो वह त्याज्य ही होनी चाहिए (११)

[अब तीसरे अस्तेयव्रत के विषय में विवेचन किया जाता है।]

अस्तेयव्रत ॥१२॥

वस्तु स्यात् पतितं गृहे पथि वने कस्यापि चौर्येच्छया।
ग्राह्यं तन्न विनाऽऽज्ञया त्रिकरणैर्नाप्यन्यतो ग्राहयेत्॥
ज्ञात्वा स्तेयधनं कथञ्चिदपि तन्नादेयमप्यल्पकं।
साहाय्यं न विधेयमस्य तदिदं दत्तव्रतं पालयेत्॥

भावार्थ—किसी की कोई भी वस्तु घर में पड़ी हो, या मार्ग में या वन में गिर गई हो तो, उसके मालिक की आज्ञा के बिना चोरी के इरादे से मन, वचन और काया इन तीन कारणों से उसे उठाना न चाहिये और न किसी के द्वारा उठवाना चाहिए, इतना ही नहीं परन्तु चोरी का धन या चुराई हुई वस्तु किसी भी प्रकार देख पड़े तो उसे जरा भी न लेना चाहिये। इसी प्रकार चोरी के काम में किसी प्रकार सहायता न करनी चाहिये—इसका नाम *दत्तव्रत—अस्तेयव्रत* है। यह व्रत बुद्धिमान मनुष्य को अवश्य पालना चाहिए। (१२)

विवेचन—प्रथम ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने विद्यार्थियों के धर्म गिनाते हुए '*अचौर्य*' के विषय में कहा है और यहाँ परार्थ जीवन व्यतीत करने वाले को अस्तेय व्रत ग्रहण करने का उपदेश करते हुए, इसके विषय में कुछ विशिष्ट बातें कहीं हैं। विद्यार्थियों के लिए '*अचौर्य*' की *व्याख्या* जो कुछ थी, उससे बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई व्याख्या वानप्रस्थाश्रम में मनुष्य के ग्रहण करने के लिए अस्तेयव्रत की दी गई है। किसी की कोई भी वस्तु उसके घर में या मार्ग में पड़ी हो तो वह चोरी करने के हेतु से न लेनी चाहिये, इतना ही नहीं, लेकिन मन और वचन से भी ऐसी चोरी नहीं करनी, किंवा नहीं करानी चाहिए, यह अस्तेय

व्रत ग्रहण करने वाले की प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जैन-धर्म में इसे 'अदत्तादान' कहते हैं। 'अदत्त' यानी किसी का न दिया हुआ, और आदान यानी ग्रहण करना—किसी का न दिया हुआ ग्रहण करना, यही व्रत की दृष्टि से चोरी है। अस्तेयव्रत की ऐसी विस्तृत व्याख्या होती है।

आहृतं स्थापितं नष्टं विस्मृतं पतितं स्थितम्।
नाददीताऽस्वकीयं स्वमित्यस्तेयमणुव्रतम्॥

अर्थात्—हरण करके लाया हुआ, रखा हुआ, खोया हुआ, भूला हुआ, गिरा हुआ या रहा हुआ, किसी दूसरे का धन ग्रहण न करना—यह अस्तेय नाम का अणुव्रत है। परन्तु इस व्रत को ग्रहण करने वाले के प्रति, इस सम्बन्ध में कई अन्य आदेश भी शास्त्रकारों ने किये हैं। कोई अस्तेय व्रत ग्रहण करने वाला कहे कि मैं चोरी नहीं करता, केवल चोरी के द्वारा आई हुई वस्तुओं का व्यापार करता हूँ या चोर को उसके कार्य में सुविधा कर देता हूँ, या व्यापार में अमुक लाभ प्राप्त करने के लिए कम देता हूँ और अधिक लेता हूँ तो ऐसे सब प्रकारों को शास्त्रकारों ने ही नहीं, राजनीतिकारों ने भी चोरी कहा है और इसके लिए शास्त्रों में दण्ड की व्यवस्था की गई है। वर्तमान सरकार भी ऐसे कार्यों को अपराध मानती है, यह जानी हुई बात है। कहा है कि—

चोरश्चोरार्पको मन्त्री भेदज्ञो क्याणकक्रयी।
अन्नदःस्थानदश्चेति चौरः सप्तविधः स्मृतः॥

अर्थात्—स्वतः चोर, चोर को साधन देने वाला, चोर के साथ मंत्रणा—सलाह—करने वाला, चोर का भेद जानने वाला चुराई हुई वस्तुएँ खरीदने वाला, चोर को अन्न और स्थान

देने वाला—यह सातों प्रकार के व्यक्ति चोर कहलाते हैं। इसीलिए ग्रन्थकार मन, वचन और काया से चोरी न करने और कराने के सिवा चुराई हुई वस्तु न रखने और चोरी में सहायता न करने का उपदेश करते हैं। जैन-धर्म में इसके पाँच अतिचार कहे गये हैं, इन अतिचारों को त्याग कर अस्तेयव्रत ग्रहण करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं। वे अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं—

स्तेनानुज्ञा तदानीतादानं वैरुद्धगामुकम् ।
प्रतिरूपक्रियामानान्यत्वं वा स्तेयसंश्रिता ॥

अर्थात् चोर को आज्ञा देना, चोरी का द्रव्य लेना, राजा की ओर से निषेध किये हुए कामों को करना, किसी एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिला कर बेचना, और झूठे बाट रखना—यह सब अस्तेयव्रत के दोष हैं।

दृष्टान्त—जो दोष ऊपर कहे गये हैं, उनके करने वाले चोरों पर इस समय सभी देशों में कानूनी प्रतिबन्ध लगाया गया है। भारत में अफीम जैसी वस्तु पर बहुत अधिक चुंगी लगाई गई है, इसलिये कुछ लोग मालवा देश से चोरी-छिपे अफीम लाकर बेचते और धन कमाते हैं परन्तु यह चोरी का अपराध सजा के योग्य माना गया है। इस समय अमेरिका देश में शराब का व्यापार बन्द कर दिया गया है और अपने देश में उसका बनाना और दूसरे देशों से आयात करना भी रोक दिया गया है। फिर भी कुछ लोग राज्य नियम के विपरीत चोरी छिपे शराब बनाते, बेचते और पीते हैं, इतना ही बल्कि विदेश से शराब के पीपे पर पीपे स्टीमरों द्वारा आते हैं और सरकारी अहलकारों से खबर मिलने पर ऐसी स्टीमरों का माल जब्त करके दरिया में डुबो दिया जाता है और मँगाने वालों को दण्ड दिया जाता है।

[अब चौथे ब्रह्मचर्य व्रत अथवा शीलव्रत के विषय में विस्तृत व्याख्या की जाती है।]

ब्रह्मचर्य व्रतम् ॥१३॥

स्याद्दार्ढ्यं यदि सर्वथा स्वमनसो ब्रह्मव्रतं गृह्यतां।
नोचेदेकनिजस्त्रियैव सततं सन्तोषवृत्तिर्वरा ॥
संपर्कोऽपि परस्त्रिया न कुधिया कार्यः सदाचारिणा।
स्त्रीपुंसोभयशीलरक्षकमिदं प्रोक्तं चतुर्थं व्रतम् ॥

भावार्थ—यदि मन भली भाँति दृढ़ हो, तो सर्वथा ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना चाहिए। और यदि दृढ़ वृत्ति न हो, तो स्वादर संतोष-वृत्ति रखनी चाहिए; अर्थात्—अपनी स्त्री से ही संतोष रखना चाहिए। सदाचारी मनुष्य को कुबुद्धि से परस्त्री का स्पर्श भी न करना चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों के शील का रक्षण करने वाला यह चौथाव्रत—ब्रह्मचर्यव्रत—शास्त्रकारों ने बतलाया है। (१३)

विवेचन—सामान्य रीति से विद्यार्थी अवस्था और गृहस्थाश्रम पूरा करने के पश्चात् तीसरी अवस्था यानी वानप्रस्थाश्रम में जब मनुष्य प्रवेश करता है, तब यदि उसमें मानसिक दृढ़ता हो तो उसे यावज्जीवन ब्रह्मचर्य धारण कर लेना चाहिए। भोगोपभोग का, युवावस्था का समय व्यतीत हो जाने पर, प्रौढ़ावस्था में यदि मनुष्य दृढ़ विचार करले, तो उसके लिए इस व्रत का ग्रहण करना युवावस्था के समान कठिन नहीं होता। आहार, निद्रा, भय और मैथुन—यह चारों बढ़ाने से बढ़ते और घटाने से घटते हैं। जिस समय विषय वृत्ति घटाने का सुगम्य समय आये, उस समय उसे घटाने का अवसर खो देने वाला व्यक्ति

अपने जीवन का अमूल्य अवसर खो देता है। विषयाभिलाषा जब तक जिस काल तक उत्पन्न होती है, तभी तक उसका दमन करना हितावह है--सच्चा व्रत है। जब वृद्धावस्था में देह जर्जरित हो जाती है. सांगोपांग शिथिल हो जाते और भोग-शक्ति नष्ट हो जाती है, तब *'वृद्धानारी पतिव्रता'* की भाँति ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना, व्रत पालन के सच्चे आध्यात्मिक लाभ को गवाँ देने के समान है। इसलिए, ग्रन्थकार सूचित करते हैं कि यदि मन की दृढ़ता हो, तो इस अवस्था में स्त्री-पुरुषों को ब्रह्मचर्य व्रत करना ही चाहिए। पर, यदि मन निर्बल हो, तो पुरुप को स्वदार-संतोप-व्रत और स्त्री को स्वपति-संतोप-व्रत ग्रहण करना चाहिए। यह सदाचारी स्त्री-पुरुषों का परम धर्म है। इस अवस्था में स्वस्त्री का त्याग करना ब्रह्मचर्य व्रत है। स्वस्त्री के लिए छूट रख कर परस्त्री ग्रहण न करने में भी ब्रह्मचर्य व्रत का समावेश होता है। परन्तु इस व्रत को ग्रहण न करके, पाप के द्वार को खुला रख कर भले ही यह पाप न किया जाय, किन्तु इससे व्रत ग्रहण करने का आध्यात्मिक लाभ मनुष्य को नहीं होता। कहा है कि—

> यः स्वदारेषु संतुष्टः परदारपराङ्मुखः।
> सगृही ब्रह्मचारित्वाद्यतिकल्पः प्रकल्पते ॥

अर्थात् - जो मनुष्य अपनी विवाहित स्त्री में संतुष्ट होकर परस्त्री से विमुख रहता है। वह गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी अवस्था के कारण यति के समान कहलाता है। इस पर से यह समझना है कि अदृढ़ मन वाले को भी स्वदार-संतोष-व्रत ग्रहण करने में पीछे न रहना चाहिए।

शंका—जो स्त्री या पुरुप अपनी आरम्भिक दो अवस्थाओं में कुमार्ग गामी न हुआ हो, यदि वह इस तीसरी अवस्था में

व्रत ग्रहण करे, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं होगा कि उस समय तक उसने यथेच्छानुसार किया होगा और अब ही वह व्रत से बँधना चाहता है ? इससे लोगों में क्या उसकी अपकीर्ति न होगी ?

समाधान—नहीं। जिसने कभी अपवित्र आचरण किया ही नहीं; उसे भी व्रत को ग्रहण करना ही चाहिये; कारण कि अव्रती अवस्था में उन्होंने भले ही परपुरुष-गमन या परस्त्रीगमन न किया हो; परन्तु उन्होंने वाणी और मन से अनेक बार अब्रह्मचर्य का सेवन किया हो, यह सम्भव है। व्रतग्रहण करने से मन और वाणी का यह मार्ग भी बन्द हो जाता है और जब यह दोनों मार्ग बन्द हो जाते हैं, तभी ब्रह्मचर्यव्रत का आध्यात्मिक लाभ—इन्द्रिय-दमन का परम लाभ—प्राप्त होता है। काया से अब्रह्मचर्य का सेवन न करने वाला, इस व्रत को ग्रहण करके मन और वाणी पर भी अंकुश रखने को तैयार होता है और इससे समाज में उसके भूतकाल के जीवन के लिए अपकीर्ति फैलाना सम्भव नहीं होता। ग्रन्थकार कहते हैं कि—'*सम्पर्कोऽपि परस्त्रिया न कुधिया कार्यः सदाचारिणा*' यानी बुरे विचार से परस्त्री का स्पर्श भी सदाचारी पुरुष को न करना चाहिए। इसमें काया के उपरान्त मन को भी संयम में रखने का हेतु समाविष्ट है।

पुनः शंका—जिस पुरुष ने एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह किया हो, वह स्वदार-संतोष-व्रत ग्रहण करने के कारण अपनी सभी स्त्रियों को भोग सकता है या नहीं ?

समाधान—भोग सकता है। 'दार' शब्द संस्कृत है और यह हमेशा बहुवचन में ही व्यवहृत होता है, यानी एक से अधिक

स्त्रियों को ब्याहने वाले राजा लोग भी स्वदार-संतोष-व्रत ग्रहण कर सकते हैं।

पुनः शंका—कोई पुरुष पर स्त्री को ग्रहण न करने का व्रत ले; परन्तु वेश्या के समान सामान्य स्त्री को जो कि परस्त्री-पराई पत्नी नहीं है, वह अमुक समय स्वस्त्री बनाकर रखे, तो उसके स्वदार-संतोषव्रत का खंडन होगा या नहीं?

समाधान—अवश्य खंडन होगा। ऐसी स्त्री 'दार' नहीं कहला सकती; कारण कि वह धर्म-पत्नी नहीं होती—धर्म विधि पूर्वक उसका पाणिग्रहण नहीं किया होता। वर्त्तमान समय में अंग्रेज सरकार के राज्य में; विवाह, तलाक और वसीअत के सम्बन्ध में अनेक विचित्र-विचित्र क़ायदे-कानून बन गये हैं, और उनमें से किसी भी क़ायदे या क़ानून की रू से ऐसी रखी हुई स्त्री को शायद पति की वसीअत मिल जाय, या इस प्रकार रखी हुई स्त्री का लड़का कोर्ट में लड़ कर पिता की मिल्कियत का हिस्सेदार भी हो जाय, पर तो भी धर्म विधि से न ब्याही हुई स्त्री वेश्या के तुल्य ही समझी जाती है। इस प्रकार की अनेक शंकाएँ कुतूहलियों को हुआ करती हैं, इसलिए शास्त्रकार ने इस व्रत के पाँच अतिचार—दोष भी बताये हैं और इस व्रत के ग्रहण करने वाले को उन दोषों का त्याग करना आवश्यक सिद्ध किया है।

> इत्वरान्तागमोऽनात्तागतिः परविवाहनम्।
> मदनात्याग्रहोऽनंगक्रीड़ा च ब्रह्मणि स्मृता॥

अर्थात्—कुछ समय के लिए रखी हुई स्त्री का समागम, किसी की ग्रहण न की हुई न भोगी हुई स्त्री का (अपने साथ विवाहिता कुमारिका अथवा विवाहिता भी अल्पवयस्का बाला का) समागम, पराये विवाह का प्रबन्ध, भोग विलास में तीव्र

अनुराग और अनंग क्रीड़ा—यह ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच दोष हैं। केवल व्रत के विधान से शब्दशः चिपटे रहकर, अनाचार सेवन करने की स्वतंत्रता व्रत ग्रहण करने वाले को न मिले और ऊपर लिखी हुई शंकाओं को उपस्थित करने का कारण न रहे, इसलिए इन दोषों को दिखाया गया है। ब्रह्मचर्य व्रत या स्वदार-संतोष-व्रत का लाभ मनुष्य को तभी मिल सकता है, जब वह इन दोषों से दूर रहे। कुछ समय के लिए रखी हुई वेश्या या अपरिग्रहीत बाला के साथ का समागम अहितकर है—यह स्पष्ट ही है। ज्यों शास्त्रकार इसके लिए मनाई करते हैं त्यों समाज भी इसे अपकीर्तिकर कहता है। अपरिग्रहीत बाला के साथ के समागम को तो सरकारी कानून भी रोकता है। अपनी संतानों के सिवा दूसरों के बालकों का विवाह ठीक करना, गृहस्थाश्रम में व्यवहार के लिए कदाचित कोई आवश्यक मानता हो, तो भी वानप्रस्थावस्था में तो इससे विरक्त होना ही उपयुक्त है। पर स्त्री के सेवन से जैसी शारीरिक और आत्मिक हानियाँ होती हैं, वैसी ही हानियाँ अति स्त्री-सेवन और विषय-क्रीड़ा से होती हैं। 'भावप्रकाश' नामक वैद्यक ग्रन्थ में कहा है कि—

> शूलकासज्वरश्वासकार्श्यपांड्वामयक्षयाः।
> अतिव्यवायाज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेपकादयः॥

अर्थात्—अधिक स्त्री-सेवन करने से शूल, कास, ज्वर, श्वास, कृशता, पांडुरोग, क्षय और हिचकी आदि वात रोग होते हैं। इसी प्रकार आसनादि के द्वारा की जाने वाली अनन्त-क्रीड़ाएँ भी विषयवृत्ति को बढ़ाने वाली और शरीर तथा आत्मा का अहित करने वाली हैं। जिसने अपने जीवन में परस्त्री गमन न किया हो, और ऐसी दशा में भी व्रत धारण न कर सका हो, वह ऐसे दोष करने का स्वातन्त्र्य भोगने को तत्पर रह सकता

है, परन्तु व्रत धारण करने के बाद यह सब दोष उसे त्यागने पड़ते हैं; इसलिए व्रत धारण करने वाले और व्रत धारण न करने पर भी अपने मन से परस्त्री को त्यागने का निश्चय कर लेने वाले मनुष्य के बीच बड़ा अन्तर रहता है। पहले दी गई शंका का विशेष निरसन इस प्रकार होता है। (१३)

[अब ग्रन्थकार दो श्लोकों में शीलव्रत की आवश्यकता दिखलाते हुए उसकी महिमा का गान करते हैं।]

शीलव्रत की आवश्यकता ।१४। ॥१५॥

व्यर्थं मानवजीवनं सविभवं शीलं विना शोभनं ।
व्यर्था शीलगुणं विना निपुणता शास्त्रे कलायां तथा ॥
व्यर्थं साधुपदं च नायकपदं शीलं यदा खण्डितं ।
सेवाधर्मसमादरो न सुलभः शीलव्रतं चान्तरा ॥
पृथ्वी सत्पुरुषं विना न रुचिरा चन्द्रं विना शर्वरी ।
लक्ष्मीर्दानगुणं विना वनलता पुष्पं फलं वा विना ॥
आदित्येन विना दिनं सुखकरं पुत्रं विना सत्कुलं ।
धर्मो नैव तथा धृतः श्रुतधरैः शीलं विना शोभते ॥

भावार्थ—जीवन को शोभित करने वाले शीलगुण के बिना वैभव-सहित मनुष्य-जीवन प्राप्त हुआ हो, तो वह व्यर्थ है। शील—ब्रह्मचर्य के गुण बिना शास्त्र और कला में प्रवीणता प्राप्त की हो, तो भी वह व्यर्थ है। शील को खंडित करके साधु तथा नायक का पद प्राप्त किया हो, तो वह भी व्यर्थ है। शील-व्रत न हो, तो सेवा धर्म का आदर ही नहीं हो सकता। ज्यों

सत्पुरुष के विना पृथ्वी, चन्द्र के विना रात्रि, दान के गुण विना लक्ष्मी, फूल और फल के विना वनलता, सूर्य के विना दिन, सुखकारी पुत्र के विना वंश—कुल शोभित नहीं होता। त्योंही शास्त्रवेत्ता का धारण किया हुआ धर्म भी शील विना शोभित नहीं होता। (१४। १५)

विवेचन—शीलव्रत—ब्रह्मचर्य व्रत धारण न करने वाले का चित्त लालच के वशीभूत हो जाने से उसमें अनेक दोषों का प्रादुर्भाव हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। शीलव्रत, ब्रह्मचर्य न पालने वाले के लिए भी आवश्यक है और वह बन्द द्वार की अर्गला की आवश्यकता को पूरी करता है। इस व्रत के विना अनेक चतुर मनुष्य भी विषय की अन्धकारमयी खाई में पड़े और खराबखराब हो गये हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहा भी है कि—

विषयार्तमनुष्याणां दुःखावस्था दश स्मृताः।
पापान्यपि बहून्यत्र सारं किं मूढ पश्यसि॥

अर्थात्—विषय पीड़ित मनुष्य की दस दुःखद अवस्थाएँ होती हैं, और उनमें अनन्त पाप समाविष्ट हैं। वे दस अवस्थाएँ कौनसी हैं? (१) अमुक स्त्री की अभिलाषा, (२) वह मिलेगी या नहीं, इसकी चिंता, (३) उसका पुनः पुनः रटन, (४) उसका गुण-कीर्त्तन, (५) उद्वेग, (६) विलाप, (७) उन्माद, (८) रोगोत्पत्ति, (९) जड़ता, (१०) मृत्यु। जब विषय-विकार मनुष्य को क्रमशः ऐसी दुर्दशा करता है, तब चाहे कैसा ही चतुर मनुष्य हो, साधु हो, नायक-नेता हो, या ग्रन्थकार कहते हैं कि चाहे 'श्रुतधर' हो; अर्थात्—जिसने अनेक शास्त्रग्रन्थों का पाठ करके अमित ज्ञान भंडार अपने मस्तिष्करूपी संदूक में भर रखा हो, तो भी वह अवनति की खाड़ी में जा गिरे, इसमें कौन

आश्चर्य है ? ऐसे मनुष्यों के ज्ञान और बुद्धि का कोई मूल्य नहीं है, तो उसको इहलोक के पद की, उसके वैभव विलास की, उसकी कीर्ति की क्या कीमत हो सकती है ? विषय-विकार के अधीन हुए बड़े-बड़े राजाओं के राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं और उनके राजमुकुट धूल में मिले हैं। विषयी विद्वानों की विद्या तृण के समान मानी गई है और इहलोक में उन्हें सोने के लिए चटाई भी नहीं मिली है। विषयी धनिकों के धन को विषतुल्य समझ कर, गरीब लोग भी उनके निकट नहीं जाते, और विषयी साधु या धर्माचार्यगण साक्षात् स्वर्ग में ले जाने वाला विमान दिखाते हों, तो भी समझदार लोग उनका मुख देखना भी पसन्द नहीं करते। एक शीलव्रत के बिना मनुष्य के सभी गुण और विशेषताएँ तृण के समान मानी जाती हैं। विषयी मनुष्य को कोड़े मारते हुए कवि ब्रह्मानन्द ने ठीक ही कहा है—

पनघट बैठे पन खोवता है,
मुख जोवता है पनियारियां का।
दिन रैन माया विच भूल गया,
खुशि ख्याल किया नित ख्वारियां का।
चित्र फाट गया बदफैल चले,
वार ठेलता है घरवारियाँ का।
ब्रह्मानन्द कहे तोकूं दुःख लगे,
पण मुख तो आग पेजारियां का।

दृष्टान्त—समुद्रदत्त नाम का एक वणिक अपनी शीलवती नामकी एक स्त्री को छोड़कर, सोमभूति नाम के एक विद्वान् ब्राह्मण के साथ परदेश गया। ब्राह्मण कुछ समय परदेश में रह कर फिर अपने नगर को लौट आया। समुद्रदत्त ने अपनी स्त्री के नाम एक पत्र उसे दिया था, यह मालूम होने पर शीलवती

अपने पति का पत्र लेने के लिए सोमभूति के घर गई। शीलवती की सुन्दरता देखकर सोमभूति की बुद्धि चलायमान हो गई और विद्वत्ता भी जल-बल गई, इसलिए उसने अपनी दुष्ट इच्छा पूर्ण करने की शर्त पर पत्र देना स्वीकार किया। चतुरा शीलवती ने विचार कर कहा कि तुम पहले प्रहर में मेरे घर आना। फिर वह नगर के सेनापति के पास गई और उससे कहा कि सोमभूति मेरे पति का सन्देश-पत्र लाया है, पर मुझे देता नहीं है। सेनापति की बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई और उसने भी कहा कि मेरी इच्छा की पूर्ति करे तो सोमभूति से पत्र दिला दूँ। उसे दूसरे प्रहर में आने का निमंत्रण देकर मंत्री के पास गई। मंत्री ने भी उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वही बात कही इसलिए उसे तीसरे प्रहर का निमन्त्रण देकर शीलवती राजा के पास पहुँची। राजा ने भी वही इच्छा प्रकट की, इसलिए शीलवती ने, उसे चौथे प्रहर में आने के लिए कहा और घर चली आई। उसने अपनी सास को यह समझा दिया कि वे चौथे पहर में उसे बुलावें। पहले पहर में ब्राह्मण आया, उसके साथ खान-पान में ही पहला पहर बिताया। इतने में सेनापति आ गया। उसकी आवाज सुनते ही ब्राह्मण काँपने लगा। शीलवती ने उसे एक बड़ी संदूक के खाने में बन्द कर दिया। इसी प्रकार सेनापति, मंत्री और राजा भी क्रमशः आये और उन्हें भी शीलवती ने सन्दूक के भिन्न-भिन्न खानों में बन्द कर दिया। इस प्रकार चारों को बन्द करके प्रातःकाल वह रोने लगी, इससे उसके परिवार वाले इकट्ठे हो गये। शीलवती ने उनसे कहा कि मुझे खबर लगी है कि मेरे स्वामी की मृत्यु होगई है। इस प्रकार सन्तान के अनुत्पन्न की खबर पाकर उसके कुटुम्बी लोग क्रमशः सेनापति, मंत्री और राजा के पास गये; पर वे कोई भी नहीं मिले। इसलिए, वे राजकुमार के पास गये

और कहने लगे कि समुद्रदत्त सेठ का परदेश में अपुत्रमरण हो गया है, अतएव उनकी सम्पत्ति को आप ग्रहण कीजिए। राजकुमार शीलवती के घर आया और शीलवती ने वह संदूक उसके सुपुर्द करदी। संदूक राजमहल में ले जाकर खुलवाई, तो उसमें से राजा, मंत्री, सेनापति और ब्राह्मण निकले राजा इतना लज्जित हुआ कि वह राज्य छोड़ कर वनवासी हो गया। फिर राजकुमार ने मन्त्री, सेनापति और ब्राह्मण को दंड देकर देश निकाला दे दिया। शीलवती की बहुत प्रशंसा की। व्रत के धारण न करने से, मोह या प्रलोभन के कारण मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट होते देर नहीं लगती और उस समय ब्राह्मण की ऐसी विद्वत्ता, सेनापति का शौर्य, मन्त्री की दक्षता और राजा का अधिकार भी किसी काम नहीं आता। और, कीर्ति के नष्ट होने पर इन सब का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिए इस व्रत को धारण न करने वाला सेवा धर्म में प्रवेश भी नहीं कर सकता—श्लोक और दृष्टान्त का यही हेतु है। (१४। १५)

[इन्द्रिय की पराधीनता में कितना दुःख है इसका आभास कराने के लिये नीचे लिखा हुआ श्लोक दिया जाता है।]

इन्द्रिय-पराधीनता का दुःख ॥१६॥

एकैकेन्द्रियपारवश्यनिहता मत्स्याः पतङ्गा मृगा।
दृश्यन्ते किल दुर्दशामुपगता भृंगाश्च हस्त्यादयः॥
ये पञ्चेन्द्रियकामभोगविवशा नक्तंदिवं लम्पटा–
स्तेषां स्यादिह का दशा परभवे स्थानं च लभ्यं किमु॥

भावार्थ—जब केवल एक-एक इन्द्रिय की पराधीनता से

मारे हुए मत्स्य, पतंग, मृग, भ्रमर और हाथी आदि प्राणी दुर्दशा में पड़े हुए देखे जाते हैं, तब जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों की काम लिप्सा के अधीन होकर रात-दिन विषय-लम्पटता में लीन रहते हैं, उनकी इस भव में क्या दशा होगी और पर-भव में उन्हें कैसा स्थान प्राप्त होगा ? (१९)

विवेचन—जिह्वा के स्वाद के वशीभूत हुई मछली धींवर के जाल में, खाने के लाभ से फँस जाती है और प्राण गँवा देती है। दीपक के प्रकाश पर अनुरक्त होकर आनन्द का अनुभव करते हुए पतिंगा उसमें मिलने के लिये दौड़ता है और उसी में जलकर भस्मीभूत हो जाता है। वाद्य का मधुर-मधुर स्वर सुनकर मुग्ध हुआ कस्तूरी मृग पारधी-बहेलिया के निकट तक चला जाता और अन्त में उसके जाल में फँसकर प्राण गवाँता है। मधुपान का लोभी भ्रमर स्वादेन्द्रिय की पराधीनता में फँसकर कमल में जा घुसता है, और सन्ध्या होने पर कमल मुंदता है इसलिए वह उसमें कैद हो जाता है और सारी रात कैद रहने के बाद कमल के खिलने से पहले ही हाथी सरोवर में पानी पीने को आता है और कमल को उखाड़ कर खा जाता है, और कमल में कैद हुआ भ्रमर भी हाथी के पेट में पहुँच जाता है। हाथी भी हरा-हरा घास चरने के लोभ से शिकारियों के द्वारा बनाये हुए गढ़े में गिर कर प्राण दे देता है—जब यह सब छोटे बड़े प्राणी. कोई जिह्वा के, कोई आँख के, कोई कान के, कोई त्वचा आदि एक-एक इन्द्रिय की पराधीनता के कारण कष्ट उठाते या प्राण गँवाते हैं, तब विषय-लम्पट मनुष्य तो पाँचों इन्द्रियों की पराधीनता का अनुभव करता है। स्त्री का सौंदर्य देखकर नेत्र की, उसकी मधुर वाणी सुनकर कान की, उसके स्पर्श-आलिंगनादि के सुख से त्वचा की, उसके सुकोमल

शरीर और सुगन्धित केशों से निकलने वाली, मदोन्मत्त कारिणी सुगन्ध से नासिका की और उसके हाथ से ग्रहण किये हुये आसव-ताम्बूल आदि से जिह्वा की पराधीनता का अनुभव करने वाले कामीजन अपनी सभी इन्द्रियों की शक्तियों को विषय-काम—की अग्नि में डालकर भस्म कर देते हैं, यह स्पष्ट ही है। ऐसे लोगों की इहलोक और परलोक में दुर्दशा हो तो इसमें कोन आश्चर्य है ?

दृष्टान्त—इह लोक की दुर्दशा दिखाने वाली मुंज राजा की कथा यहाँ उपयोगी होगी। मुंज मालवा देश का राजा था। वह सरस्वती का परम सेवक और विद्वत्शिरोमणि माना जाता था। वह ऐसा वीर था कि कर्नाटक के राजा तैलप को उसने सोलह बार हराया था। वह ऐसा स्वरूपवान था कि उसे लोग 'पृथ्वी वल्लभ' कहते थे। वह गीत पद्यादि कलाओं में निपुण था। ऐसे गुण, ऐसे अधिकार और ऐसी विद्वत्ता के होते हुए भी वह विलास-प्रिय और विषयी था। जिस मुंज ने सोलह बार तैलप को हराया था, उसी अभिमानी मुंज को तैलप ने सत्रहवीं वार के युद्ध में पराजित किया और कैद कर के एक एकान्त स्थान में उसे ले जाकर रखा। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में लिखे अनुसार तैलप की विधवा बहन मृणालवती मुंज की जाँच पूछ करने जब तब उसके पास जाया करती थी, इसी समय दोनों में प्रेम-सम्बन्ध होगया और कैदी की अवस्था में मुंज विषय का भोग करने लगा। इधर मालवा के मन्त्री रुद्रदास ने नगर के बाहर से मुंज के कैदखाने तक सुरंग खुदवाई और उसके द्वारा मुंज के भाग निकलने का प्रबन्ध कर दिया; परन्तु काम के अधीन हुए मुंज ने मृणालवती को भी साथ ले जाने के लिए सब बातें उससे कहदीं और मृणालवती ने दगा करके

मुंज की सब बातें भाई को कह सुनाईं इसलिए मुंज भागते हुए पकड़ा गया। फिर उसे वन्दी के वेश में सारे नगर में घुमाकर, फाँसी देकर मार डाला गया। परन्तु विधि का विधान कैसा अगम्य है? इहलोक से उसका नाश होगया तो भी उसकी दुर्दशा जारी ही रही। कहा जाता है मुंज को फाँसी देने के बाद उसके शव को कुत्ते कौए खागये, और हाड़-पिंजर विखरे पड़े रहे। एक वार एक वणिक लम्बे सफर से लौटकर उस ओर से निकला और उसने मुंज की खोपड़ी को पड़े हुए देखा। उस खोपड़ी पर क्या वीती और क्या वीतेगी ऐसी रेखायें लिखी हुई उसने देखीं। वणिक ने विचार किया कि मुंज पर बहुत कुछ बीती और अन्त में वह मर गया और उसकी खोपड़ी यहाँ मारी-मारी फिरती है, फिर भी अब और क्या वीतना वाकी रहा होगा? इससे उसने कुतूहल के लिए उस खोपड़ी को उठा लिया और लाकर अपने घर में एक सन्दूक में रख दिया। वह वणिक नित्य तीन चार बार सन्दूक को खोल कर उस खोपड़ी को देखता कि देखें उस पर और क्या वीती है। वणिक की स्त्री बड़े आश्चर्य के साथ सोचा करती कि उसका स्वामी परदेश से ऐसा क्या कमा कर लाया है कि जिसे रोज तीन-तीन चार-चार बार देखा करता है और उसे कुछ नहीं बताता। एक बार जब उसका स्वामी बाहर गया तो उसने सन्दूक खोली और उसमें वह खोपड़ी देखी। हड्डी जैसी अपवित्र वस्तु को इस प्रकार रखकर उसे देखते रहने की अपने स्वामी की आदत पर उसे बड़ा क्रोध आया और उसने उसे सन्दूक से निकाल कर, खरल में कूट कर चूरा कर दिया, फिर उसे दूध में मिलाकर रवड़ी वनाई और भोजन के समय अपने स्वामी को परस दी। वह स्वाद ही स्वाद में उसे खा गया। भोजन के वाद उसने जाकर सन्दूक खोली और देखा, तो

खोपड़ी नदारद। उसने अपनी स्त्री से पूछा। स्त्री ने कहा—तुम्हारे ही पास तो है। वणिक न समझ सका, इसलिये उसने पुनः पूछा, तो स्त्री ने अपने क्रोध और खोपड़ी को कूट पीसकर रबड़ी में मिला कर खिला देने की बात कही और कहा कि रबड़ी तुमने खाई है, इसलिए खोपड़ी तुम्हारे ही पास है। यह सुनते ही वणिक का जी मिचलाने लगा और उसे उलटी—कै होगई। सारी रबड़ी बाहर निकल आई। ओह विषय-विलासी मुंज! तू शत्रु के द्वारा कैद होने पर भी विलास में डूबा रहा और बंदी के रूप में घर घर भीख माँग कर फाँसी पर चढ़ा और तेरी हड्डियों का चूरा-चूरा होकर वणिक के पेट में पहुँचा उसमें से भी निकल कर बाहर आगया। इससे भी अधिक इहलोक की दुर्दशा और क्या होगी?

[अब आगे के दो श्लोकों में ग्रन्थकार शीलव्रत पालने का बाह्योपचार बताते हैं।]

ब्रह्मचर्यव्रत पालने की मर्यादा ॥१७॥ ॥१८॥

नैव क्वापि दृशाऽन्ययोषितमहो पश्येदयोग्येच्छया।
दृष्टाचेद्भगिनीयमस्ति जननीत्येवं द्रुतं भाव्यताम्॥
नो हास्यं सममेतया न च कदाप्येकान्तसंभाषणं।
न क्रीड़ा न सहासनं न चलनं कार्यं व्रतारोहणे॥
सेव्यं मादकवस्तु नो रसभृतं भोज्यं न वा नित्यशो-
दध्यान्मोहकवस्त्रभूषणभरं नो वाङ्गशुश्रूषणम्॥
कुर्यादिन्द्रियनिग्रहार्थमुचितं पर्वानुसारं तपो।
यद्यत् किं बहुनास्य शुद्धिजनकं तत्तद्विधेयं पुनः॥

भावार्थ—जिसे ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना हो, उसे किसी भी जगह बुरी इच्छा से पर स्त्री की ओर दृष्टिपात न करना चाहिये। कदाचित् दृष्टि पड़ भी जाय, तो उसके प्रति माता या या बहन की भावना रखनी चाहिए। पर स्त्री के साथ हँसी-मज़ाक, एकान्त में वातचीत, क्रीड़ा कौतुक न करना चाहिए। एक ही आसन पर उसके साथ न बैठना चाहिए, उसके साथ मार्ग में अकेले न चलना चाहिए, मादक वस्तुओं का सेवन न करना चाहिए, प्रतिदिन अच्छे-अच्छे भोजन न करना चाहिए, मनोहर वस्त्र और आभूषणों को न धारण करना चाहिए, शरीर को सजाना सँवारना न चाहिये और इन्द्रियों के निग्रह के लिए पर्व के दिन उचित तप करना चाहिये। अधिक क्या कहा जाय? जिन-जिन बातों से शीलव्रत का उचित पालन हो, उनका अनुष्ठान करना चाहिए। (१७—१८)

विवेचन—एक जगह ब्रह्मचारी की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि *'ब्रह्मचारी स विज्ञयो न पुनर्बद्धघोटकः'* अर्थात् जंजीर से बँधे हुए घोड़े के समान जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे ब्रह्मचारी नहीं कहलाते। जो इच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे ही ब्रह्मचारी कहलाते हैं। यह उक्ति सत्य है। परन्तु, जिनमें मानसिक शक्ति नहीं होती, उनके भाव आस पास के वातावरण से विपरीत हो जाने में देर नहीं लगती और इसलिये कृत्रिम पर निर्दोष उपायों के द्वारा ब्रह्मचर्य को रक्षित रखना, किसी भी प्रकार अयुक्त नहीं है। एक वेश्या के घर के निकट रहकर चातुर्मास व्यतीत करके ब्रह्मचर्य का पालन करना मानसिक शक्ति की परमावधिका सूचक है, यह सत्य है; परन्तु स्वामी नारायण सम्प्रदाय के आदि पुरुष ने निर्देश किया है कि स्त्री जाति की ओर दृष्टिपात करने से मोह उत्पन्न होना संभव

है, इसलिये उसकी ओर दृष्टिपात ही न करना चाहिये और इस प्रकार मानसिक, वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए यह कनिष्ठ श्रेणी की मानसिक शक्ति से भी पालन किया गया शुद्ध ब्रह्मचर्य है—इसमें सन्देह नहीं। इस सम्प्रदाय की शिक्षापत्री में कहा गया है कि—

नैष्ठिकव्रतवंतो ये वर्णिनो मदुपाश्रयाः।

तैः स्पृश्या न स्त्रियो भाष्या न न वीक्ष्याश्च ता धिया॥

अर्थात्—नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को स्त्रीमात्र का स्पर्श न करना, उनसे न बोलना और जान बूझ कर उनके सामने न देखना चाहिये।

तासां वार्त्ता न कर्त्तव्या न श्रव्याश्च कदाचन।

तत्पादचारस्थानेषु नच स्नानादिकाः क्रियाः।

अर्थात्—इन्हें स्त्रियों की बात चीत कभी न करनी चाहिए, न सुननी चाहिये और जिस स्थान में स्त्रियों का आना जाना रहता हो, वहाँ स्नान आदि न करना चाहिये।

न स्त्रीप्रतिकृतिः कार्या न स्पृश्यं योषितोंशुकम्।

न वीक्ष्यं मैथुनपरं प्राणिमात्रं च तैर्धिया॥

अर्थात—इन्हें स्त्री की प्रतिमा न बनानी चाहिये, और स्त्री का धारण किया हुआ वस्त्र भी न छूना चाहिये, और न मैथुनासक्त पशु-पक्षी आदि को जान बूझकर देखना चाहिये।

इस हेतु से ग्रन्थकार ने ब्रह्मचर्य व्रत पालने के कुछ बाह्योपचार बतलाये हैं. जैसे—विषयी दृष्टि से परस्त्री की ओर न देखना चाहिए, परस्त्री के साथ हास्य विनोद न करना चाहिए, काम को उद्दीप्त करने वाले मादक पदार्थों का सेवन न करना चाहिए, एकान्त में परस्त्री के साथ संभाषण न करना चाहिए,

क्रीड़ा-कौतुक न करना चाहिये, परस्त्री के साथ एक आसन पर न बैठना चाहिए, मार्ग में एक साथ न चलना चाहिए, शरीर पर मनोहर वस्त्राभूषण न धारण करना चाहिए, इन्द्रिय-दमन के लिए योग्य तपश्चर्या करनी चाहिए, नित्य अच्छा अच्छा भोजन करके इन्द्रियों को बहकाना न चाहिए. आदि। इस प्रकार बाह्योपचार का पालन करने वालों की स्थिति बँधे हुए घोड़े के समान नहीं होती—यह सहज ही समझा जा सकता है। बाँधा हुआ घोड़ा तो दूसरे के वस में रहता है, और ऐसे बाह्योपचार से ब्रह्मचर्य का पालने वाला अपने व्रत या प्रतिज्ञा के वश में होता है, और व्रत या प्रतिज्ञा उसके मनोनिश्चय की ही फल रूप होने के कारण वस्तुतः उसका ब्रह्मचर्य उसकी स्वाधीनता से ही उत्पन्न हुआ कहलाता है, घोड़े की-सी पराधीनता से नहीं। इस श्लोक में, वानप्रस्थ होने की इच्छा रखने वाले पुरुष को, परस्त्री के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में जो बाह्योपचार सूचित किये गये हैं, वैसे बाह्योपचार एक संसार त्यागी मुनि को. सभी स्त्रियों के सम्बन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र में सूचित किये गये हैं—'*इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेर समाहिठाणा पन्नता। जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभचारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा॥*' अर्थात्—जैन धर्म में श्री स्थविर भगवान् ने ब्रह्मचर्य के दस समाधिस्थान प्ररूपित किये हैं, जिनको श्रवण करने और समझने से साधु संयम और संवर के विषय में सुदृढ़ रह सकते हैं, अपना चित्त स्थिर रख सकते हैं, तीन गुप्ति से सुरक्षित रह सकते हैं, पाँचों इन्द्रियों को वस में रख सकते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं और सदा सर्वदा अप्रमत्त रूप में विचरण कर सकते हैं। वे दस समाधिस्थान इस प्रकार

बताये गये हैं—(१) शयन—आसन के लिए स्त्री, पशु तथा नपुंसक से व्याप्त स्थान का उपयोग न करना चाहिये, ( ) स्त्रियों के विषय की शृङ्गारिक बातें न करनी चाहिएँ, (३) स्त्री के साथ एक ही आसन पर न बैठना चाहिये, (४) स्त्री के सौंदर्य की ओर दृष्टिपात न करना चाहिये और न सौंदर्य का चिंतन ही करना चाहिये, (५) पर्दे या दीवार की ओट से स्त्री का लड़ना-झगड़ना या रोना, गाना, हँसना आदि न सुनना चाहिये, (६) अपने गृहस्थाश्रम में पहले स्त्री के साथ जो भोग-विलास किया हो, उसे स्मरण न करना चाहिये, (७) अधिक घृत से युक्त भोजन न करना चाहिये, (८) अधिक न खाना-पीना चाहिये, (९) अपने शरीर को सजाना न चाहिये, और (१०) शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श की इच्छा न करनी चाहिये। यह दस समाधिस्थान ऐसे हैं कि जिन्हें जैन धर्म या अन्य किसी भी धर्म का साधु-मुनि यथास्थित पाले तो उसके ब्रह्मचर्य व्रत के खडित होने का कभी अवसर ही नहीं आ सकता। ग्रन्थकार ने वानप्रस्थ होने की इच्छा रखने वाले सेवाधर्मियों के लिए साधुओं के योग्य क्लिष्ट बंधनों की योजना न करके, उनके पालन करने योग्य उपचारों का दिग्दर्शन कराने का विवेक प्रकट किया है। (१७। १८)

[अब परिग्रह की मर्यादा बाँधने वाले पाँचवें व्रत के विषय में कहा जाता है।]

परिग्रह-मर्यादा-व्रत ॥ १९ ॥

वस्तूनां धनधान्यभूमिनिलयादीनां जगद्वर्तिनां ।
मर्यादाकरणं मतं व्रतमिदं तृष्णाजये पञ्चमम् ॥

निर्वाहाय कुटुम्बिना सुखतया यावन्मितावश्यकं।
तस्माच्चाधिकसंचये किमु फलं व्यर्थं ह्युपाधिर्भवेत् ॥

भावार्थ—धन, धान्य, जमीन, घर, पशु, नौकर चाकर आदि अनेक वस्तुएँ जगत् में विद्यमान हैं। उनकी मर्यादा-सीमा बाँधना यह पाँचवाँ परिग्रहपरिमाणव्रत कहलाता है। तृष्णा को जीतने के लिए यह व्रत बहुत ही उपयोगी है। हाँ परिवार वाले गृहस्थ को अमुक आवश्यकतायें रहती हैं, इससे परिवार का सुख पूर्वक निर्वाह हो, इसके लिए जितनी आवश्यकता पड़े उतना प्राप्त करना या उसके लिए इतनी छूट रखना तो ठीक है; पर उससे अधिक संचय करने का क्या फल है? वह तो व्यर्थ की उपाधि ही कही जा सकती है। (१६)

विवेचन—*तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदम्* इत्यादि वचनों में उपदेश का भंडार भरा हुआ है; परन्तु उन उपदेशों में अनुसरण करने के मार्ग भी होते हैं। तृष्णा को काट डाल, क्षमाधारण कर; मद त्याग कर—ऐसे उपदेश सामान्य मनुष्यों के लिए मार्ग-दर्शक नहीं होते और इसके लिए धर्माचार्यों ने उनके लिए क्रमानुसार मार्ग निश्चित किए हैं। तृष्णा को काट डालने के लिए परिग्रह की मर्यादा का व्रत उपयोगी है। परिग्रह पाँच प्रकार का होता है। धन धान्य, मामूली धातु के वर्त्तन आदि, पशु, जमीन तथा खेत घर आदि और सोना चाँदी, जवाहिर इन वस्तुओं को परिग्रह के रूप में परिचित कराया गया है, इसका कारण यह है कि संसार में ये वस्तुएँ माया के रूप में ललचाने वाली हैं और ज्यों ज्यों इस माया का अधिक सेवन किया जाता है, त्यों-त्यों मनुष्य उसमें अधिकाधिक बँधता जाता है, प्रवृत्ति के अन्त में मनुष्य को निवृत्त जीवन व्यतीत

करना चाहिए । परन्तु, यह परिग्रह इस प्रकार का है कि जिससे मनुष्य को निवृत्ति भली नहीं लगती और अन्त तक वह संसार के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर रूपी षड्रिपुओं से घिरा ही रहता है। यह पाँचवाँ व्रत इन सबको एक ही साथ त्याग देने को नहीं कहता, परन्तु इन प्रत्येक की मर्यादा निर्धारित करने को कहता है इस प्रकार मर्यादा निर्धारित कर देने से एक लोभी मनुष्य की लोभवृत्ति की भी हद कायम हो जाती है और इससे उसकी तृष्णा आगे बढ़ने के बदले, उसे संतोष का आध्यात्मिक अनुभव होने लगता है। कई लोगों की तृष्णा ऐसी विलक्षण होती है कि अपने जीवन का बहुत थोड़ा समय शेष रहने पर भी, थोड़े से समय में क्रोड़पति हो जाने या राजा बन जाने की उन्हें आशा लगी रहती है और इससे वे मानते हैं कि वे इस पद की प्राप्ति करने के बाद ही परिग्रह की मर्यादा निर्धारित करेंगे; परन्तु कल का भी कोई भरोसा नहीं होता। वे न तो यह पद प्राप्त कर सकते हैं और न व्रत के द्वारा परिग्रह की मर्यादा निर्धारित कर के तृष्णा का निरोध करते हैं और तृष्णा से घिरे हुए ही मौत के मुख में चले जाते हैं। इसी लिए कहा गया है कि कल का काम आज और दोपहर तक करना हो, तो उसे प्रातःकाल ही कर लेना चाहिए, क्योंकि मृत्यु किसी के कुछ करने न करने की प्रतीक्षा नहीं करती। ऐसे लोभी मनुष्यों को समझ लेना चाहिये कि अपने परिवार के निर्वाह आदि के लिए जितना द्रव्य, जमीन जायदाद आदि चाहिए, उसका अन्दाजा करके उसकी सीमा बना दी हो, और इसके बाद जो कुछ द्रव्य प्राप्त हो उसे सत्कार्यों में व्यय करने से ही पुण्योपार्जन होता है और मनुष्य जाति की सेवा हो सकती है। लोभी मनुष्यों से व्रत के बँधन बिना परोपकार नहीं हो सकता। इसलिए अपनी चित्तवृत्ति का दोष समझने वाले बुद्धिमान्

व्यक्तियों को इस लिए भी परिग्रह की सीमा निर्धारित करनी चाहिए कि जिससे सत्कार्य करने का अवसर मिले।

दृष्टान्त—ओंकारेज के निकट एक गाँव में पेथड़ नाम का एक ओसवाल वणिक रहता था। वह बहुत दरिद्र था। उसने धर्मघोष नामक धर्माचार्य से परिग्रहव्रत ग्रहण किया और पाँच लाख रुपयों तक की छूट अपने लिए रखी। यह देखकर धनिक लोग हँसने लगे कि जिसके पास खाने को दाने नहीं हैं, वह पाँच लाख से अपने धन की मर्यादा बाँधता है! कालक्रम से पेथड़ अपने गाँव में बड़ा दुःखी रहने लगा इसलिए वह मालवा देश की ओर रवाना हुआ। उज्जयिनी नगरी में उसने राज्य के मंत्री के यहाँ नौकरी कर ली। एक बार राजा ने बहुत से घोड़े खरीदे और उनकी कीमत चुका देने के लिए मन्त्री को आदेश दिया। मन्त्री ने कहा कि मेरे पास रुपये नहीं हैं। राजा ने उसे कैद करा दिया, इसलिये पेथड़ ने मन्त्री के कारिन्दों से कच्चे हिसाब पर से तुरन्त पक्का हिसाब बनवा कर राजा के सामने उपस्थित किया, इससे राजा प्रसन्न हो गया और उसने पेथड़ को उसकी चतुराई के कारण मन्त्री बना दिया। इस पद पर आसीन होने से पेथड़ को लाखों रुपया प्राप्त हुआ: परन्तु उसने पाँच लाख से अधिक धन अपने पास नहीं रखा और शेष लाखों रुपयों को उसने धर्मस्थान में, लोकोपयोगी कार्यों और अन्य सत्कार्यों में व्यय किया। (१६)

[तृष्णा कितनी अपरिमित है, इसका दिग्दर्शन नीचे लिखे श्लोकों में कराया जाता है।]

तृष्णा-निरोध ॥ २० ॥

नो सौख्येन विना पदार्थकरणे वृत्तिर्दृढा जायते।
सन्तोषेण विना सुखं न लभते राजा धनाढ्योऽथवा॥

सन्तोषो न धनेन संभवति यल्लाभे च लोभोदय-
स्तत्तृष्णामवरुध्य पञ्चमयिदं शीघ्रं गृहाण व्रतम् ॥

भावार्थ—जब तक अपने को सुख नहीं होता, तब तक परोपकार करने की वृत्ति पैदा नहीं होती। राजा हो, या धनाढ्य हो, पर जब तक संतोष उत्पन्न नहीं होता, तब तक सुख नहीं मिलता। धन की प्राप्ति से ही कोई सुख नहीं प्राप्त हो जाता; क्योंकि ज्यों-ज्यों धन की प्राप्ति होती है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। इसलिए, सन्तोष और सुख प्राप्त करने का यही मार्ग है कि तृष्णा को रोक कर ऊपर बताया हुआ पाँचवाँ व्रत तुरन्त स्वीकार करना चाहिए। (२०)

विवेचन—तृष्णा का निरोध भी संतोष प्राप्ति का द्वार है। और, संतोष प्राप्ति के मन्दिर में प्रवेश करने पर ही परार्थ साधना करने की तत्परता मनुष्य में आती है। कूपर कहता है कि—

> It is content of heart
> Gives Nature power to please
> The mind that feels no smart
> Enlivens all it sees.

अर्थात्—जो हृदय संतुष्ट है, वह प्रकृति में आनन्द देखता और जो मन चंचलता या असंतुष्टता से रहित है, उसे जहाँ तहाँ आनन्द का ही प्रकाश दीख पड़ता है। यह आनन्द का प्रकाश तृष्णावाले व्यक्तियों को, अपने जीवन में कभी दिखाई नहीं पड़ता; कारण कि उनकी तृष्णा का अन्त ही नहीं होता और सन्तोष तो उन्हें स्वप्न में भी नहीं मिलता। कई लोग यह मानते हैं कि धन के अधिक प्राप्त होने से उसका सदुपयोग

करने की अधिक सुविधा प्राप्त होती है; परन्तु यह विचार भ्रम-पूर्ण है। सौ रुपये की पूँजी वाला मनुष्य यदि संतोषी हो, तो उनमें से पाँच रुपये भी परार्थ—परोपकार में लगा सकता है, परन्तु नन्यानवे हजार की पूँजी वाले को एक हजार अधिक इकट्ठे करके एक लाख पूरे करने का लोभ होता है, एक लाख हो जाने पर दस लाख की इच्छा होती है, दस लाख हो जाने पर करोड़पति, अरबपति और अन्त में अमेरिका के कार्नेगी बन जाने की लोलुपता पैदा हो जाती है! तृष्णा का अन्त ही नहीं होता। यह सत्य है। स्वामी ब्रह्मानन्द कहते हैं—

एक मिले दस वीस को इच्छत, वीस मिले शत सहस्र चहे है,
सहस्र मिले लक्ष कोटि अरब लौं, भूमि सब कब राजहि पैहे;
जोपि मिले सुरलोक विधी लगि, पूरनता मन में नहिं लैहे,
एक संतोष बिना ब्रह्मानन्द, तेरी क्षुधा कबहूँ नहिं जैहे।

मोतिन पुंज किये अति संग्रह, कंचन के सुखवास हवेली,
कोष भरे धन जोर असंखित, शेष रही सो पृथ्वी में हिमेली;
क्यूं तृष्णा करिके कर्म बांधत, नहिं चले दमरी एक भेली,
ब्रह्म मुनि कहे क्यूं बिललात है, तूं शठ शेर अनाज को बेली।

इसलिए परोपकार करने की इच्छा वाले, और अपना जीवन सुख-संतोष से बिताने तथा चित्त की निवृत्ति का आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने की कामना वाले मनुष्य को अपने सब संयोगों पर विचार करके अनेक प्रकार के परिग्रहों की मर्यादा निर्धारित करना उचित है। तृष्णा के सम्बन्ध में राजर्षि भर्तृहरि यथोचित ही कहते हैं—

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो।
निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः॥

मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः ।
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम् ।

अर्थात्—धन की तृष्णा से जमीन को खोदा, पहाड़ों की धातुओं को गलाया, नदियों के पति समुद्र को छान डाला, बड़े परिश्रम से राजाओं को संतुष्ट किया और मन्त्र-साधन के लिए श्मशान में रातें बिताईं, तोभी फूटी कौड़ी न मिली; इसलिए हे तृष्णे ! अब तू मुझे छोड़ दे। (२०)

[संयम-संग्रह करने की वस्तुओं, अर्थात—परिग्रह की मर्यादा के विषय में कहने के बाद, दिशाओं और भोग्य वस्तुओं की मर्यादा निर्धारित करने के सम्बन्ध में छठे और सातवें व्रत की चर्चा की जाती है।]

दिशाओं और भोग्य वस्तुओं की मर्यादा निर्धारित करने के व्रत ॥ २१ ॥

दिङ्मानेन भवेद् व्रतं सुखकरं षष्ठं तथा सप्तमं ।
भोगाङ्गांशुकभूषणाशनजलौषध्यादिमाने भवेत् ॥
यद्वाणिज्यमपारपापजनकं चाङ्गारकर्मादिकं ।
कर्मादानतया मतं तदखिलं हातव्यमस्मिन् व्रते ॥

भावार्थ—पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओं का मान करने से सुख देने वाला छठा व्रत निष्पन्न होता है और भोग के साधन वस्त्राभूषण, खान-पान औषधि आदि की मर्यादा निर्धारित करने से सातवाँ व्रत सिद्ध होता है। लकड़ियाँ जला कर कोयले बनाना, वनों को कटवाना आदि प्रत्येक पाप जनक कर्मादान रूपी कहे जाने वाले पन्द्रह प्रकार के कामों का त्याग भी सातवें व्रत में किया गया है। (२१)

विवेचन—दिशाएँ दस हैं—चार दिशाएँ, चार उपदिशाएँ और आकाश तथा पाताल। इन दसों दिशाओं के गमनागमन करने और उनमें से भिन्न-भिन्नभोग्यवस्तुओंको मँगवाने की मर्यादा निर्धारित करना इस व्रत का हेतु है। इसी प्रकार खाद्य, पेय, भोग्य आदिवस्तुओंकी मर्यादा बाँधना,यह सातवें भोगोपभोग व्रत का हेतु है। इन दोनों व्रतों को धारण करने वाला एक प्रकार की तपश्चर्या में ही प्रवेश करता है—ऐसा कहा जा सकता है। इससे गमनागमन की वृत्ति का और भोग वस्तुओं के उपभोग की लालसा का अवश्य निरोध होता है। गमनागमन की प्रवृत्ति ज्यों ज्यों अधिक विशाल होती है, त्यों त्यों भिन्न भिन्न प्रकार के पाप बढ़ते हैं। और ज्यों ज्यों भोग्य वस्तुओं का उपभोग बढ़ता रहता है, त्यों त्यों इन्द्रियाँ अधिक बहकती जाती हैं। तीसरी अवस्था के लिए ये कर्त्तव्य योजित किये गये हैं, इसलिए इस अवस्था में पहुँचे हुए मनुष्य को ऐसी मर्यादा बाँधना ही उचित है। कहा है कि—

> जगदाक्रमप्रमाणस्य प्रसरल्लोभवारिधेः।
> स्खलनं विदधे तेन येन दिग्विरतिः कृता॥

अर्थात्—जो मनुष्य इस दिग्विरति व्रत को ग्रहण करता है, वह इस जगत् के आक्रमण करने वाले लोभ-रूपी महासमुद्र का स्खलन कर देता है—यह सत्य है। हजारों मील दूर का ही नहीं, पर लाखों करोड़ों मील दूर के, समुद्र के उस पार के द्रव्य को प्राप्त करने के लोभ को जो छोड़ना नहीं चाहते हों, उन्हें इस दिशाव्रत को अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इतना ही नहीं, पर जिन मुनिजनों ने हमारे भारतवर्ष के समुद्रतट तक का ही दिशामान ग्रहण किया हो, उन्हें समुद्र के उस पार की

भोग्य वस्तुओं का उपभोग भी न करना चाहिए, विदेशी कपड़ा समुद्र के उस पार से आता है, इसलिए मर्यादा निर्धारित की हुई दिशा से बाहर का कपड़ा धारण करना उपयुक्त नहीं है।

परिग्रह की मर्यादा निर्धारित करने से तृष्णा का निरोध होता है, परन्तु जब तक भोगोपभोग के पदार्थों की मर्यादा निर्धारित न की जाय, तब तक मन तथा इन्द्रियों का पूरा निरोध नहीं होता।

सकृत्सेवोचितो भोगो, ज्ञेयोऽन्नकुसुमादिकः।
मुहुः सेवोचितस्तूपभोगः स्वर्णाङ्गनादिकः॥

अर्थात्—एक बार सेवन के योग्य अन्न, पुष्प आदि भोग कहलाते हैं और बार-बार सेवन के योग्य स्वर्ण, स्त्री आदि उपभोग कहलाते हैं। भोग और उपभोग की वस्तुएँ दुनियाँ में सैकड़ों, हज़ारों हैं—उनमें से निर्दोष वस्तुओं को अपने लिए पसन्द करके सदोष वस्तुओं का त्याग करना निग्रह के अभिलाषी मनुष्य के लिए उपयुक्त है। तृतीय अवस्था के सेवा धर्म को ग्रहण करने वाले मनुष्य को भिन्न-भिन्न खाद्य-पेय पदार्थ, पहनने के वस्त्र, मुखवास की वस्तुएँ, वाहन, शय्या; अंगविलेपन के पदार्थ, स्त्री सेवन, शाक-फल-फूल आदि और बुरे रोजगार-व्यापार, जैसे—वनों का कटवाना और उनमें आग लगवाकर कोयला बनवाना, हड्डियों का रोजगार करना, मांस-मदिरा बेचना, घानी-कोल्हू पेलने का काम करना, घोड़े बैल आदि को खस्सी-अख्ता करके बेचना, रोजगार के लिए पशु-पक्षियोंको पाल कर अधिक दाम देने वालों के हाथ बेचना, आदि दूषित कार्यों को त्याग कर अदूषित कार्यों के लिए मर्यादा निर्धारित करनी चाहिए। मील या वस्त्रकारखाना चलाना, यह भी दूषित कर्म है और जैन धर्म की दृष्टि से तो त्याज्य है, परन्तु प्रचलित व्यवहार के

कारण ऐसे कार्यों का सर्वथा त्याग असम्भव है, इसलिए ऐसे कार्यों के लिए भी मर्यादा निर्धारित करना, ऐसी अवस्था में प्रविष्ट व्यक्तियों के लिए हितकर है। (२१)

[अब अष्टम व्रत के विषय में विवेचन किया जाता है।]

निष्प्रयोजन पापनिवृत्तिरूप आठवाँ व्रत ॥२२॥

सम्पद्धानिसुतादिमृत्युसमये चित्ते न शोचेन्मनाक्।
नाऽऽलस्यं यतनाविधावुपचयः शस्त्रायुधादेर्न वा ॥
यत्कस्याऽपि न पापकर्मविषये कुर्यान्मनाक् प्रेरण—
मेतल्लक्षणमष्टमं व्रतमिदं कर्मौघसंरोधकम् ॥

भावार्थ—अपध्यान, प्रमाद, हिंसकशस्त्रसंचय और पापोपदेश—यह चार अनर्थादंड कहे जाते हैं। इनसे निवृत्त होना अर्थात्—चाहे सम्पित्त की हानि हो, चाहे पुत्रादि की मृत्यु हो जाय, फिर भी मन में तनिक भी सोच न करना, जीवरक्षणादि के काम में जरा भी आलस्य न करना, प्राणनाशक शस्त्र और आयुधों का संग्रह न करना और किसी भी पापानुष्ठान के विषय में किसी को प्रेरित न करना—कर्म के समूह को रोकने वाले आठवें व्रत का यही लक्षण है। (२२)

विवेचन—पहले अहिंसा व्रत के विवेचन में कहा गया है कि जब तक आत्मा के देह का बंधन है और जब तक संसार व्यवहार का भार देह के साथ जुड़ा हुआ है तब तक अनेक प्रकार के सूक्ष्म स्थूल जीवों की हिंसा मनुष्य के लिए अनिवार्य है, अर्थात् कई प्रकार से मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा किये बिना चल ही नहीं सकता। इस प्रकार की अनिवार्य हिंसा अर्थदंड—हेतुपुरःसर अन्य जीवों को दिया गया दंड कहलाता

है; परन्तु कई वार मनुष्य अनर्थदंड का आचरण करते हैं—अहेतुक पापाचरण करते हैं—इस प्रकार के अनर्थदंड को कई वार वे जान बूझकर कर डालते हैं, और कई वार विवशता से—गफलत से भी हो जाते हैं। इस प्रकार के अहेतुक—निष्प्रयोजन पापाचरण न हों, इसके लिए यह व्रत बनाया गया है। अपध्यान—दुष्टचिंतन, प्रमाद, हिंसकशस्त्रों का संचय और उनका दान तथा पापकर्म का उपदेश—यह चार प्रकार के अनर्थदंड हैं। जैन शास्त्रों में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ऐसे दो प्रकार के अपध्यान बताये गये हैं। किसी दुःखादि के कारण जोर से चीखना, चिल्लाना, सोच-फिकर करते हुए आँसू बहाना, दीनता पूर्वक वारंवार क्लिष्ट, असंबद्ध भाषण करना और सिर या छाती आदि अंगों को पीटना—यह आर्त्तध्यान के बाह्य चिह्न हैं। रौद्रध्यान अर्थात्—क्रोधपूर्वक भिन्न-भिन्न प्रकार के अनिष्ट ध्यान करना, प्राणियों को शस्त्रों से या मंत्रादि के प्रयोग से मार डालने का विचार करना, किसी का अनिष्ट करने के लिए चुगली करने या पराये दोष प्रकट करने की इच्छा करना, बड़े रोष से धनिकों के मरण या परद्रव्य हरण करने की योजनाओं का चिंतन करना, अपने द्रव्य की रक्षा के लिए शंकित होकर शत्रुओं को मार डालने के विचार किया करना—ये रौद्रध्यान के प्रकार हैं। दुःख के वियोग और सुख के संयोग के लिए मनुष्य दिन रात विचार किया करता है, परन्तु यह विचार सत्मार्ग की ओर करने के बदले जब वह अन्य प्राणियों के अहित द्वारा अपना हित करने की मिथ्या कल्पनाएँ किया करता है, तब वह अपनी चित्तवृत्ति को पाप के पंक में अनर्थक—अहेतुक—निष्प्रयोजन लिप्त करता है और इससे ये दोनों प्रकार अपध्यान, अनर्थदंड देते हैं। अनर्थदंड का दूसरा भेद पापकर्म का उपदेश करना है। सभी को अपने अपने हित और व्यवहार

के लिए, जो भी कुछ करना पड़ता है, किया करते हैं। उन्हें पाप-कर्म करने के लिए अन्य मनुष्य का उपदेश देना, अहेतुक अर्थात्—निरर्थक ही है और इसमें उसकी गणना अनर्थदंड में होती है। उसका तीसरा भेद, हिंसक वस्तुओं—शस्त्रादि का संग्रह करना, या ऐसी वस्तुओं का दान करना है। तलवार, बन्दूक, तीर, छुरा आदि आयुध और चक्की, खरल, गाड़ी, दराँती, करवत आदि सूक्ष्म जीवों का घात करने वाले शस्त्रों का संग्रह करना और दूसरों को देना—यह भी अनर्थदंड है। एक बढ़ई का काम करने वाले मनुष्य को अपने उपयोग के औजार या एक राज्य के संचालक राजा को अपने शस्त्रागार में विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र रखने पड़ें—यह अनिवार्य है; परन्तु इससे लोग ऐसा संग्रह करें या दान करें यह अहेतुक और अनर्थदंड कहा जाता है। प्रमाद, अनर्थ दंड का चौथा प्रकार है। प्रमादी मनुष्य अनेक प्रकार के अहेतुक पाप करता है और इससे उसके ऐसे कार्य अनर्थदंड कहे जाते हैं। जैसे, मद्यपान किया हुआ मनुष्य अनेक प्रकार के दुर्वचन बोलता और लड़ाई झगड़े करता है, विषयी मनुष्य विना बुरे-भले का विचार किये बुरे काम किया करता है; काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के वशी-भूत हुआ मनुष्य अनेक बुरे काम करने में प्रवृत्त होता है, निद्रित अवस्था में भी वह अनेक बुरी चिंतनाएँ किया करता है और राजा, देश, स्त्री आदि से सम्बन्ध रखनेवाली कथा-कहानियों में भी अनेक बुरे प्रसंग आते हैं, ये सब प्रकार प्रमाद रूपी अनर्थदंड के हैं। 'प्रमाद' का साधारण अर्थ आलस्य होता है; परन्तु मन की स्वधीनता का जब जब त्याग किया जाता है, तब तब मनुष्य प्रमादी बनता है और वह अनेक प्रकार के अनर्थदंड करता है। आलस्य आना, मुग्ध होना, कथा-कहानी के रस में डूब कर भान भूल जाना, मादक वस्तुओं में चित्त का

लुब्ध हो जाना, आदि सब प्रसंग प्रमाद के ही हैं। इन प्रसंगों में मन की स्वाधीनता आंदोलित होती है और इससे वे अनर्थ-दंड के कारणभूत बनते हैं। इस कारण, अनर्थदंड के प्रसंगों का त्याग यह एक प्रकार की मानसिक तपश्चर्या है। प्रमाद के वशीभूत होकर मनुष्य साधारण अनर्थदंड तो चलते-फिरते हुए भी करता है। रास्ते में किसी मित्र से मिलने पर तुरन्त उसके साथ बातचीत में किसी स्त्री की सुन्दरता का जिक्र लाना, रात को आलस्य के कारण पानी का लोटा बिना ढके सो जाना और जब प्रातःकाल उसमें कोई कीड़ा-मकोड़ा या चूहा मरा हुआ नजर आय तो पछताना, आलस्य के कारण भोजनगृह में चँदोवा न बाँधना और जब दाल या भात में कोई जन्तु गिर जाय तो ध्यान न देना और जब खाद्य पदार्थ जहरीला हो जाय और उसका अनिष्ट परिणाम हो, तब जागना, आदि अनेक प्रकार से मनुष्य अनर्थदंड करता है। इस व्रत को ग्रहण करने से मनुष्य ऐसे निरर्थक पापों से दूर रहने की वृत्ति को प्राप्त करने में समर्थ होता है। (२२)

[अब नौवें सामायिकव्रत के विषय में कहा जाता है।]

सामायिकव्रत ॥ २३ ॥

रागद्वेषकषायतो विषमता या जायते स्वात्मन—
स्तद्दूरीकरणाय साम्यजनकं सामायिकाख्यं व्रतम्।
कायोत्सर्गसमाधिशास्त्रमननं स्वाध्यायजापश्रुती—
स्त्यक्त्वा न क्रियतां च कार्यमपरं घण्टामितेऽस्मिन् व्रते

भावार्थ—बाह्य प्रवृत्ति में राग द्वेष या कषाय के कारण अपने आत्मा की जो विषय परिणति हुई हो, उसे दूर

करने के लिए समभाव उत्पन्न करने वाले सामायिक व्रत का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात्—प्रतिदिन एक, दो या इससे अधिक सामायिक करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। सामायिक का समय कम से कम दो घड़ी का होता है, उस समय के बीच कायोत्सर्ग करना, आध्यात्मिक शास्त्र का मनन करना; स्वाध्याय करना. माला जपना या शास्त्र श्रवण करना चाहिए, इसके सिवा कोई भी सांसारिक कार्य न करना चाहिए। (२३)

विवेचन—दो घड़ी शुभ ध्यान-पूर्वक एक स्थान पर बैठकर शुभचिंतन, धर्म विचार और वृत्ति को उच्चतर बनाने वाले मनन में समय बिताने को 'सामायिक' कहते हैं। संसारी मनुष्यों को सवेरे से शाम तक अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे कार्यों में समय बिताना पड़ता है और अनेक अच्छी-बुरी वृत्तियाँ उद्भूत—तिरोभूत होती हैं। एक समय क्रोध का प्रसंग आता है, तो दूसरे समय मोह का; किसी क्षण झूठ बोलने का मन होता है, तो किसी समय दंभ की ओर वृत्ति होती है। एक समय दया उत्पन्न होती है, तो दूसरे समय अपना अहित करने वाले का नाश करने की इच्छा होती है। यदि मनुष्य इस प्रकार की विचित्र-विचित्र वृत्तियों में जीवन भर भटकता रहे, तो फिर उसके मन की अधोगति ही होती जाती है। ऐसे व्यवहार रूपी खारे समुद्र में से सम+आय+इक=समत्व का लाभ कराने वाली 'सामायिक' की आवश्यकता केवल जैन धर्म में ही नहीं सूचित की गई है, अन्य धर्माचार्यों ने भी चित्त को समता का परिचय कराने के लिए सन्ध्योपासना, नमाज, प्रेयर आदि की आवश्यकता बतलाई है। मन ही बंध और मोक्ष का कारण है, गीता में श्रीकृष्ण ने ऐसा कहा है। अतएव मन की अधोगति न हो, इसके लिए उसे समता में लीन करने का यत्न करना आवश्यक है। एक जगह कहा है कि—

तप्येद्वर्षशतैर्यश्च, एकपादस्थितो नरः।
एकेन ध्यानयोगेन, कलां नार्हति षोडशीम्॥

अर्थात्—कोई मनुष्य सौ वर्ष तक एक पैर से खड़ा रहकर तप करे, तो भी वह एक ध्यान योग की सोलहवीं कला के योग्य नहीं हो सकता, देह दमन के साथ जब तक मनोदमन नहीं होता, तब तक इस देहदमन का मूल्य स्वल्प ही रहता है। इसलिए उपर्युक्त श्लोक में ध्यानयोग रूपी सामायिक का मूल्य, देहदमन से अधिक आँका गया है। जैन-शास्त्र-ग्रन्थों में तो यहाँ तक कहा गया है कि—

दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवन्नस्स खंडियं एगो।
इयरो पुण सामाइयं करेइ न पहुप्पए तस्स॥

अर्थात्—एक पुरुष दिनों दिन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करे और दूसरा सामायिक करे, स्वर्ण का दान सामायिक की बराबरी नहीं कर सकता। चित्तवृत्ति को स्थिर—सम करना, यह एक मानसिक योग का प्रकार है। दुष्ट विचारों के बजाय एक जगह दो घड़ी बैठे रहने से सामायिक का हेतु पूर्ण नहीं होता, कुछ लोग ऐसा समझते हैं, और इससे सामायिक करने की परवा नहीं करते, परन्तु चित्त को दुष्ट विचारों में प्रवृत्त न करने के लिए धार्मिक विचारों से परिपूर्ण ग्रन्थ का या स्तोत्र का पाठ करने, अथवा माला फेरने आदि विचारों का उपयोग करना चाहिये। इससे चित्तवृत्ति को बुरे मार्ग पर जाने से रोका जा सकता है। वृत्ति को पतित होने से रोक कर, अभ्यास से उसे स्थिर भी किया जा सकता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय!॥

अर्थात्--तुमसे मुझ में भली भाँति चित्त को स्थिर न किया जा सकता हो, तो हे धनंजय! अभ्यास के द्वारा यानी पुनः पुनः प्रयत्न करके मेरी प्राप्ति करने की आशा रखो। सामायिक का—चित्त को स्थिर रखने का लाभ भी अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए, सामायिक का पूर्ण लाभ तत्काल न प्राप्त हो, तो इससे निराश होकर उसका त्याग न करना चाहिये। (२३)

[अब सामायिक करने के समय, और उस समय त्यागने वाले दोषों का बोध कराया जाता है।]

सामायिक व्रत की आवश्यकता ॥ २४॥

प्रातः प्रागशनात् प्रसन्नमनसाऽवश्यं विदध्यादलं।
स्वच्छः शान्तनिकेतने प्रतिदिनं सामायिकं भावतः ॥
त्यक्तव्या विकथा मनस्तनुवचोदोषाः समग्राः स्वतो-
नैर्मल्यं च भवेद्यथा परिणतेः स्थैर्यं च कार्यं तथा ॥

भावार्थ--प्रातःकाल भोजन से पहले, प्रति दिन स्वच्छता के साथ शान्त-निरुपाधिक स्थान में जाकर प्रसन्न मन से, भाव-पूर्वक परिपूर्ण विधिसहित एक सामायिक अवश्य करना चाहिये। सामायिक के समय मन के, वचन के, और काया के दोषों और बुरी बातों को त्याग कर, आत्मा को निर्मल और स्थिर करने वाले अनुष्ठान करने चाहिएँ। (२४)

विवेचन--जिस प्रकार मूर्तिपूजक लोग प्रातःकाल ही देव पूजा या सन्ध्योपासना आदि करते हैं, योगी लोग योग-क्रिया करते हैं, उसी प्रकार चित्त को समवस्थित करने वाला 'सामायिक' भी प्रातःकाल में ही करना अधिक अच्छा है। रात्रि की

निद्रा के बाद मन ताजा और निर्मल हो, तब ऐसी प्रक्रिया मन पर अच्छा असर करती है, इसीलिए ग्रन्थकार ने '*प्रातः प्रागशनात्*' अर्थात् प्रातःकाल भोजन करने से पहले—भूखे पेट—सामायिक करने का सूचन किया है। पेट में भोजन पड़ने पर भोजन के भिन्न भिन्न रस शरीर में चढ़ने लगते हैं और इनसे मन पर रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव होने लगता है, इसलिए खाली पेट ही सामायिक करना विशेष हितकर है। दिन के अन्य भागों में सामायिक करने से कोई भी हानि नहीं है। उपनिषदों में प्रातः, मध्याह्न और सायं—इस प्रकार तीन बार सन्ध्या करने को कहा गया है। और चित्त की शुद्धि के लिए यह उपयोगी है, परन्तु प्रातःकाल, मन की समता के लिए जितना लाभदायक है, उतना दूसरा काल नहीं। इसलिए ग्रन्थकार ने प्रातःकाल में सामायिक को तो '*अवश्यं विदध्यात्*' ऐसा कहा है। उपासना के द्वारा मन और तन के दोषों को मिटाने की चिकित्सा करने वाले डॉ० एप्टन सिंकलेयर और डॉ० मेकफेडन ने भी, क्षुधित अवस्था में मन को आध्यात्मिक लाभ पहुँचाने वाली घटना का विशद वर्णन किया है। इसलिये प्रातःकाल की सामायिक को ही आवश्यक मानना अधिक उपयुक्त है। सामायिक का समय, मन की समता के लिए व्यतीत करने को, दो घड़ी का व्रत लेकर बैठने पर मन, वचन और काया को दुर्वृत्तियों में प्रवृत्त न होने देना चाहिये। इसी के लिए ग्रन्थकार ने इन तीनों के द्वारा होने वाले दोषों को त्यागने का सूचन किया है। सामायिक करके मन में व्यापारादि के, कोर्ट-कचहरी के झगड़े, अपने लाभ के लिए किसी का बुरा करने या ऐसे ही अन्य विचार करना; सामायिक करके वाणी द्वारा बुरी प्रवृत्ति करना, जैसे—दूसरों के साथ व्यवहार की बातें करके उसमें इष्टानिष्ट सलाह देना, यद्वा तद्वा बोलना,

किसी को कलंकित करना या गाली देना और सामायिक करके काया का बुरा व्यवहार करना—यह सब सामायिक के लाभ को गँवाने वाले हैं। वाणी और काया को दुर्वृत्ति में लगाने से मन तो स्वतः ही दुर्वृत्ति में लग जाता है। सामायिक मानसिक समता के लिये है, इसलिये इन तीनों के द्वारा होने वाले अनिष्ट कार्यों को त्यागना ही उचित है। मन को शांति—समाधि या शुभ विचारों से पतित न होने देने के लिए एकान्त में सामायिक करना और धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ना अधिक इष्ट है। मन को दूसरी ओर लगा कर, शरीर के द्वारा सामायिक करने के लिये बैठने या ईश्वराराधन करते हुए मित्रों से वार्त्तालाप करते रहने से, जो मानसिक लाभ होना चाहिये, वह नहीं होता। जो लाभ सूक्ष्मता में है, वह क्रिया की स्थूलता में नहीं। मन, वाणी और काया के ऐसे ३२ दोष जैन शास्त्रों में बताये गये हैं, और उनको टालने के लिये पाँच अतिचार बताये गये हैं—

> कायवाङ्मनसा दुष्प्रणिधानमनादरः।
> स्मृत्यनुपस्थापनं च स्मृताः सामायिकव्रते॥

अर्थात्—मन, वचन और काया से दुराचरण करना तीन, सामायिक में आदर-उत्साह न रखना चार, और व्रत के समय आदि का स्मरण न रखना पाँच—इस प्रकार यह सामायिक के अतिचार-दोष हैं। इन दोषों को टाल कर सामायिक करने से लाभ होता है। उत्साह-आदर से हीन सामायिक व्रत केवल स्थूल होता है, और समय—दो घड़ी का निश्चय किया हुआ समय—पूरा न लगाने से, जल्दबाजी करने से चित्त को पूरी शान्ति नहीं मिलती। (२४)

[अब दसवें देशावकाशिक व्रत के विषय में कहा जाता है।]

देशावकाश-व्रत ॥ २५ ॥

षष्ठे यद्विहिता दिशां परिमितिस्तत्रापि संक्षेपतो ।
द्रव्यादेः परिमाणमादरधिया कृत्वाऽऽस्रवो रुध्यते ॥
प्रोक्तं तद्दशमं व्रतं मुनिवरैर्देशावकाशाभिधं ।
षट्कोट्या प्रतिपालनीयमनिशं कालं यथेष्टं पुनः ॥

भावार्थ--छठे व्रत में दिशाओं का जो परिमाण बाँधा गया हो, उसे संकुचित करके द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से, यदि आदर पूर्वक उसकी फिर सीमा बाँधी जाय और इस प्रकार आश्रव का निरोध किया जाय, तो उसे मुनिगण देशावकाश नाम का दसवाँ व्रत कहते हैं। यह व्रत चार घड़ी, एक रात या एक दिन तक इच्छानुसार ग्रहण करना चाहिये और उसे छः कोटि से ठीक ठीक पालन करना चाहिए। (२५)

विवेचन—पहले छठे व्रत में दिशाओं का परिमाण बाँध कर जो संयम किया गया हो, वह इस दसवें व्रत के ग्रहण करने से अधिक आगे बढ़ जाता है। छठे व्रत का ग्रहण करने वाला, अर्थात्– दिशाओं का माप करके उन दिशाओं के अन्दर ही आने जाने या उनके विस्तार के अन्दर ही से मँगाई हुई वस्तुओं का उपभोग करने की प्रतिज्ञा करने वाला, जीवन-भर या एक से पाँच वर्ष तक की प्रतिज्ञा ले सकता है। परन्तु इस देशावकाशिक व्रत का संयम, रात, दिन; या रात दिन के किसी अंश के बराबर ही होता है इतने समय घर, दुकान या शयनखंड के बाहर जाकर कोई प्रवृत्ति न करनी चाहिए, यह सूचना उसमें है। जिस प्रकार विच्छू के काट लेने पर शरीर के सारे उपांग में उसका विष फैल जाने से बड़ी तीव्र ज्वाला मालूम होती है, दर्द

होता है; परन्तु मांत्रिक अपने मंत्र-प्रयोग से उस जगह का विष बिलकुल दंश स्थान पर ले आता है, इस प्रकार दिशापरिमाण व्रत में जो छूट रखी हो, उसका भी देशावकाशिक व्रत में संक्षेप कर देने के लिए इस व्रत की योजना की गई है। इस से पाप की प्रवृत्ति में मनुष्य संयम रखना सीखता है और ज्यों-ज्यों वह अपने गमनागमन और आवश्यकताओं की दिशाओं को कम से कम करता जाता है, त्यों-त्यों उसकी अन्तर्मुखता को विकसित होने का अवसर मिलता जाता है। जैन शास्त्रों में इस व्रत के लिए पाँच अतिचार कहे गये हैं—

प्रेष्यप्रयोगानयनं पुद्गलक्षेपणं तथा।
शब्दरूपानुपातौ च व्रते देशावकाशिके॥

अर्थात्—नौकर को भेजना, बाहर से कुछ मँगाना, पुद्गल—कंकड़ या कोई अन्य चीज फेंकना, पुकार कर बाहर सुनाना, और अपना रूप दिखाना—यह पाँच अतिचार हैं। मर्यादित स्थान में ही रह कर ये दोष किये जा सकते हैं और यदि देशावकाशित व्रत का हेतु अमुक स्थान में ही काया को अवरोध करना होता, तो इन पाँच दोषों से व्रत का भंग हुआ नहीं कहा जाता। परन्तु, मन वचन और काया के संयम का अनुलक्ष्य करके इस व्रत को ग्रहण करने के कारण, ऊपर बतलाये हुए दोष हो ही नहीं सकते। काया का बंधन तो मनुष्य खटिया पर पड़ा हुआ भी क्या नहीं अनुभव करता? वह उस पर पड़ा हुआ लाखों रुपयों का व्यापार करता है, अनेक छल कपट के प्रयोग करता है, सच-झूठ बोलता है और किसी को त्रास—दुःख देता है, तो किसी से गाली गलौज करता है! क्या ऐसा मनुष्य देशावकाशिक व्रत का धारण करने वाला कहलायगा? कभी नहीं। मन, काया और वाणी को संयम में रखने के लिए

ही यह व्रत है, और इसके लिए ग्रन्थकार अपने श्लोक में अति-चारों का दिग्दर्शन कराने की आवश्यकता न देखते हुए संक्षेप में ही कहते हैं कि *'षट्कोट्या प्रतिपालनीयम्'* अर्थात्—यह व्रत छः कोटि से पालना चाहिए। छः कोटि के मानी क्या हैं? मन, वचन और काया से कोई कार्य न करना और न कराना। सब मिला कर नौ कोटियाँ हैं, और इन छः कोटि में मन, वचन और काया के द्वारा अनुमोदन करना—इन तीन कोटियों को बढ़ाने से नौ कोटियाँ होती हैं। नौ कोटियों से प्रत्येक व्रत ग्रहण करना अत्यन्त इष्ट है। जैन मुनियों को सब व्रत नौ कोटियों से ही करने पड़ते हैं। वे मन, वचन और काया से किसी काम को करने और कराने तथा अनुमोदन करने के तीनों द्वारों को बन्द करके संयम में रखने के लिए बद्धप्रतिज्ञ होते हैं, परन्तु गृहस्थों के लिए अनुमति के व्यापार का त्याग बड़ा कठिन है; बल्कि असंभव है। मन, मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है। परन्तु, वह मर्कट की भाँति है। इस मन के मर्कट को बुद्धि की जंजीर से बाँधा जा सकता है। दुष्कार्यों में लगा हुआ मन वाणी और कार्य द्वारा दुष्ट आचरण करता है, परन्तु जब मनो-व्यापार में दुष्टता सिर उठाने लगे, तभी उसे बुद्धि की जंजीर से जकड़ दिया जाय, तो उसका यह मनोव्यापार रुक जाता है। और यदि रुक न जाय तो भी उसकी वृत्ति वाणी और काया को दुष्टता में प्रवर्त्तित करने की नहीं होती। इस प्रकार गृहस्थ लोग मन, वाणी और कर्म को बुद्धि के योग से संयम में रख सकते हैं। परन्तु मन, वचन और काया से अनुमोदन करने का जो कार्य है, वह तो बुद्धि के बंधनों से जकड़ा नहीं जा सकता। मन, वचन और काया की त्रिविध प्रवृत्तियों को रोकना आवश्यक है; परन्तु इस आवश्यकता को पूर्णरीत्या तो संन्यासी या मुनि लोग ही प्राप्त कर सकते हैं—गृहस्थों के लिए यह संभव नहीं। जो

कार्य अनुमोदना का कार्य बुद्धि पूर्वक नहीं होता, उससे भी जैन धर्म के निश्चयनय की दृष्टि से तो कर्म बंधन होता ही है। परन्तु गृहस्थाश्रम में जो कुछ अनिवार्य है, उसमें यह अनुमोदना का कार्य--व्यापार—इतना स्वाभाविक है कि उसे त्याग कर चलना, अमुक काल के लिए केवल व्रती मनुष्य के लिए व्यवहार नय की दृष्टि से संभव नहीं है और त्यागने की बात संकल्प-विकल्पात्मक मन वाला मनुष्य करे, तो वह केवल बात ही रह जाती है। जो लोग, केवल मन से अनुमोदना हो जाने को क्षन्तव्य मान लेते हैं, वे भूल जाते हैं कि मन की अनुमोदना के साथ वाणी और काया की अनुमोदना हुए बिना रहती ही नहीं। अनुमोदन से मन में प्रसन्नता उत्पन्न हो गई हो और मुख पर उस प्रसन्नता की चेष्टा प्रकट न हो, क्या यह अहर्निश अनेक विकारों के अनुभव करने वाले गृहस्थों के लिए संभव है? "स्वामी, आप जब सामायिक कर चुकेंगे, तब आपको प्यास लगेगी—यह सोच कर यह पानी का लोटा यहाँ रखे देती हूँ और मैं उपाश्रय में व्याख्यान सुनने के लिए जाती हूँ।" यह कह कर पानी का लोटा रख जाने वाली पत्नी के प्रति 'हूँ' कार का स्पष्ट उच्चारण पति के मुख से निकल जाना क्या संभव नहीं है? इस संभव को त्याग कर चलना गृहस्थों के लिए असंभव है, इसलिए इस व्रत के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने छः कोटि से व्रत ग्रहण करने का सूचन किया है। (२५)

[अब ग्यारहवें पौषध व्रत की आवश्यकता सूचित करके, उसे ग्रहण करने का ज्ञान कराया जाता है।]

पौषध-व्रत ॥ २६ ॥

त्यक्त्वा भूषणमाल्यमेकदिवसं कृत्वोपवासं परं।
हित्वा पापकृतिं गृहीतनियमस्तिष्ठेच धर्मस्थले ॥

धर्मध्यानपरायणः शुभमतिस्तत्पौषधाख्यं व्रतं।
ग्राह्यं पर्वदिनेषु दोषरहितं पाल्यं विशुद्धयाऽऽत्मनः॥

भावार्थ—एक प्रातः से लेकर दूसरे प्रातः तक चौबीस घन्टे का उपवास करके, सांसारिक वस्त्र, आभूषण माल्य आदि को त्याग कर, पाप के सभी कामों को छोड़कर, नियमपूर्वक धर्म स्थान में एक अहोरात्रि पर्यन्त धर्मध्यान परायण होकर सद्विचारों में लीन रहना पौषधवृत कहलाता है। मुमुक्षु गृहस्थ को अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या आदि पर्व तिथियों में इस वृत को ग्रहण करना चाहिए। और निर्दोष रीति से *आत्मा की विशुद्धि के साथ पालन करना चाहिए।* (२६)

विवेचन—मन और इन्द्रियों के निग्रह के साथ साथ समभाव पूर्वक आत्माभिमुख होने के जो उपचार पहले प्रदर्शित किये गये हैं—भिन्न-भिन्न व्रतों का ग्रहण, सामायिक और देशावकाशिक व्रत उनके बाद एक विशिष्ट व्रत '*पौषधव्रत*' आता है। सामायिक और देशावकाशिक से आगे बढ़ने वाला यह वृत है। '*पौषं धर्मस्य धत्ते यत्तद् भवेत्पौषधं व्रतम्*' अर्थात्—जिससे धर्म की पुष्टि हो, वह पौषधवृत कहलाता है। इस वृत को भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के जैन भिन्न-भिन्न रीति से करते हैं, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने इस व्रत को एक दिन पालने के लिए कहा है। किसी पर्व के दिन अनेक सामायिकों या देशावकाशिक व्रत के बजाय पौषधव्रत करने में अधिक विशिष्टता है, और इस विशिष्टता की रक्षा करते हुए इस व्रत का पालन करना चाहिए और इसके लिए उस दिन उपवास करके पौषधशाला में एक अहोरात्रि पर्यंत धर्मध्यानपरायण और सद्विचारों में लीन रहना विशेष हितकर है। '*पर्वदिनेषु*' अर्थात्—अष्टमी, चतुर्दशी,

पूर्णिमा अमावस्या आदि पर्व के दिन यह व्रत करने का उपदेश किया गया है। पर्व के दिन तपश्चर्या करने का माहात्म्य जैन तथा जैनेतर शास्त्रों में भी वर्णित किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र की वृत्ति में कहा है—

सर्वेष्वपि तपोयोगः प्रशस्तः कालपर्वसु।
अष्टम्यां पंचदश्यां च नियतः पौपधं वसेत्॥

अर्थात्—सभी पर्वों में तप करना अच्छा है; पर अष्टमी और पूर्णिमा के दिन तो अवश्य ही पौषध व्रत ग्रहण करना चाहिए।

पर्व के दिनों का ऐसा माहात्म्य है, इसलिए आत्माभिमुख होने की विशिष्ट यौगिक क्रियाएँ—पौपधादि—इन्हीं दिनों में करनी चाहिएँ। और इनसे सम्बद्ध प्रतिकूलताओं को जीतकर मानसिक शिथिलता को त्यागना चाहिए। (२६)

[अब अन्तिम अतिथिदान व्रत के विषय में विवेचन किया जाता है।]

अतिथिदान-व्रत। २७॥

ये सन्तोऽतिथयो गृहाङ्गणगतास्तेषां पुरस्कारतो।
योग्यान्नोदकवस्त्रपात्रनिलयं यद्दीयते श्रेयसे॥
एतद् द्वादशकं व्रतं समुदितं निष्कामदानात्मकं।
सेव्यं भावनयाऽशनादिसमये योगे तु दानेन वा॥

भावार्थ—जो सत्पुरुष अतिथि के रूप में, विना पहले से सूचना दिये घर के आँगन में आये हों, उनका उचित सत्कार करके उन्हें योग्य अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि निष्काम भाव से, केवल श्रेय के लिए देना, निष्कामदान-रूप बारहवाँ

व्रत कहा जाता है। गृहस्थों को भोजन के समय भावना भाकर या अतिथि आ जायँ तो उचित सत्कार-दान करके प्रतिदिन यह व्रत पालना चाहिए। (२७)

विवेचन—अ+तिथि = अतिथि, जो किसी तिथि की सूचना दिये या दिलाये विना हमारे घर के आँगन में आ पहुँचे वह अतिथि कहलाता है। 'अतिथि' शब्द का दूसरा अर्थ विद्वान् लोग यह भी करते हैं—

> तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
> अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः॥

अर्थात्—जिस महात्मा ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि सब का त्याग कर दिया हो, वह अतिथि कहलाता है शेष अभ्यागत कहलाते हैं। ऐसे जो अतिथि हमारे आँगन में आ पहुँचें, तो उन्हें आदर के साथ अन्न वस्त्रादि का दान करना, इस व्रत को अतिथि संविभाग व्रत कहते हैं।

> अतिथिभ्योऽशनावासवस्त्रपात्रादिवस्तुनः।
> तत्प्रदानं तदतिथिसंविभागव्रतं भवेत्॥

अर्थात्—अतिथि को अन्न, निवास, वस्त्र और पात्र आदि वस्तुओं का दान करना 'अतिथि संविभाग' नामक व्रत कहलाता है। अतिथि को ऐसी जीवनोपयोगी वस्तुएँ देने में भी ग्रन्थकार दो मुख्य वस्तुओं पर ध्यान खींचते हैं। दान देने के लिए योग्य अतिथि कौन है? क्या तिथि का निर्णय किये बिना जो घर-घर भीख माँगते फिरते हैं वे अतिथि हैं? ग्रन्थकार का कथन है कि सच्चे अतिथि वही हैं, जो अतिथि के सिवाय 'सन्त' होते हैं।

> दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे।
> देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्विकं विदुः॥

अर्थात्—जिसने हमारे प्रति उपकार किया हो, उसको नहीं, पर अनुपकारी मनुष्य को जो दान देश, काल और पात्र देख कर दिया जाता है, वही सात्विक दान कहलाता है। ऐसा सात्विक दान अतिथि को देना ही उचित है। शरीर को हृष्ट-पुष्ट और लाल पीला बनाये हुए वेषधारी साधु जो आलस्य के कारण, पेट भरने के लिए घर-घर 'भिक्षांदेहि' कहते हुए भटका करते हैं, गंडे तावीज देते और लोगों को सताते फिरते हैं, वे सुपात्र अतिथि नहीं कहला सकते दूसरी बात यह कि सुपात्र अतिथि को दान देना तो चाहिए, पर दान में कौन-कौन वस्तुएँ दी जायँ? ग्रन्थकार का कथन है कि *'योग्यान्नोदकवस्त्र-पात्र निलयं'* अर्थात्—अन्न, जल, वस्त्र, पात्र और निवास आदि जो 'योग्य' हो वह देना चाहिए, अयोग्य नहीं। दान की वस्तु में योग्यता कैसे देखी जाय? कोई वस्तु रात को खुली पड़ी रह गई हो, और गृहस्वामी को शक हो कि शायद उसमें किसी जहरी जन्तु की लार गिर गई है और वह खाने के योग्य नहीं रही है, इसलिए वह अतिथि को दे दी जाय—ऐसी वस्तुएँ दान के अयोग्य हैं। इसी प्रकार कोई सड़-बुसगई हो या किसी बुरी चीज के स्पर्श से व्रतधारी अतिथि को अग्राह्य हो, तो ऐसी वस्तुएँ भी दान के लिए अयोग्य हैं। उन्हें अतिथि को देना दोष-युक्त है। ऐसा दान भी केवल 'श्रेयस्' के लिए देना चाहिए, अर्थात्—किसी बदले की इच्छा बिना, निष्काम भाव से देना चाहिए। योग्य वस्तु का दान योग्य पात्र को दिया जाय, पर निष्काम भाव न हो और झुंझलाहट और मत्सर के भाव से दिया जाय, तो वह दान भी निष्फल है। दान के पाँच दोष विद्वानों ने बताये हैं—

> अनादरो विलम्बश्च, वैमुखं विप्रियं वचः।
> पश्चात्तापश्च दातुः स्यात्, दानदूषणपंचकम्॥

'अर्थात्—अनादर, विलम्ब, मुँह बिगाड़ना, अप्रिय बात कहना और पछताना—यह पाँच, दान के दूषण हैं। इन दूषणों को त्याग कर, आहार की निर्दोष वस्तुएँ निष्काम भाव से सुपात्र अतिथि को देना ही सच्चा 'अतिथि संविभाग' व्रत है। अतिथि को दान करने का माहात्म्य, जैन के सिवा जैनेतर धर्मग्रन्थों में भी कहा गया है। ऐसा कहा गया है कि कोई कर्मकांडी, गृहस्थ या वानप्रस्थ हो, और वेदान्त में लिखी विधि के अनुसार नित्य यज्ञ-यागादि और सन्ध्या-तर्पणादि करता हो; परन्तु '*अतिथिर्यस्य भग्नाशः तस्य होमो निरर्थकः*' अर्थात्—जिसके आँगन में आया हुआ अतिथि निराश लौट जाय तो, उसके हवनादि निरर्थक हो जाते हैं। अतिथि दान का यह माहात्म्य जो समझते हैं, वे साधु, संन्यासी या अन्य किसी सन्त को भोजन कराने पर ही स्वतः भोजन करने के व्रत का पालन करते हैं। परन्तु ऐसे व्रत को बाह्योपचार से पालन करने की अपेक्षा, 'सुपात्र का योग मिलते ही मैं उसे दान दूँ' ऐसी भावना के साथ निष्काम बुद्धि को विकसित करने तथा सच्चा योग मिल जाने पर उमंग के साथ दान देने से भी 'अतिथि संविभाग' व्रत का पूर्ण रीत्या पालन होता है।

शंका—अन्न, उदक—जल, वस्त्र, पात्र और स्थान यह पाँचों वस्तुएँ निर्दोष हों, तो उनका सुपात्र को दान करना चाहिए, यह कहा है; पर अतिथि को कुछ द्रव्य की आवश्यकता हो, और वह उसे दिया जाय तो ?

समाधान—द्रव्य—धन यह निर्दोष वस्तु नहीं है और यदि संग्रह के लिए अतिथि को द्रव्य की आवश्यकता हो,तो वह सच्चा अतिथि नहीं है। अतिथि ऐसा सन्त होना चाहिए कि जिसे धन

संग्रह करने की इच्छा न हो, केवल शरीर की रक्षा के लिए जीवन की आवश्यकताएँ एक दिन में एक दिन के योग्य ही हों। जैन साधु या संन्यासी, धन या धातु के पात्र को ग्रहण ही नहीं करते। परन्तु जो दूसरे लोग धन को ग्रहण करते हैं, उसका उपयोग उनके लिए क्या हो सकता है ? शरीर के निर्वाह के लिए भोजन सामग्री खरीदने की अगर उन्हें आवश्यकता हो, और ऐसी दशा में उन्हें सामग्री ही दिला दी जाय, तो उन्हें द्रव्य किस लिए चाहिए ? फिर भी जो द्रव्य की इच्छा से ही अपने को अतिथि के रूप में परिचित कराते हों, वे सच्चे अतिथि नहीं हो सकते, बल्कि संग्रह करने की वृत्ति वाले, बाह्यतः साधु और अन्तर से पूर्ण असाधु होते हैं। उन्हें सुपात्रों में गिनना उचित नहीं कहा जा सकता। (२७)



तृतीय परिच्छेद

सेवा-धर्म

[स्वधर्म में बुद्धि को स्थिर करके और स्वधर्म पालन के बाह्यान्तर नियमों—व्रतों का पालन करके आत्माभिमुख होकर तृतीय अवस्था के कर्त्तव्य-पूर्ण करने चाहिएँ; कारण कि जो महत्त्व के कार्य मनुष्य को इस अवस्था में करने हैं, वे केवल विद्या से नहीं, बल्कि सच्चारित्र्य से ही हो सकते हैं। परार्थ करना, समाज की सेवा करना, परोपकारार्थ जीवन व्यतीत करना; गृहस्थाश्रम में अपने सीमित कुटुम्ब की सेवा करने के पश्चात् सेवा का क्षेत्र बढ़ा कर समाज और जनता को अपना कुटुम्ब मानकर उसकी सेवा के लिए उद्यत होना, ऐसे कर्त्तव्यों की ओर इंगित करके ग्रन्थकार सेवा धर्म की महत्ता का मान करते हैं, सेवा के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का दर्शन कराते हैं, सेवा-पद्धति का सूचन करते हैं और इस प्रकार सेवा करते हुए मनुष्य का आध्यात्मिक हित किस प्रकार साधित होता है, इसका भी दिग्दर्शन कराते हैं। यहाँ वह सेवा धर्म की प्रस्तावना कर रहे हैं।]

सेवा-धर्म ॥२८॥

यद्देशीयजलानिलैर्वपुरिदं संधारितं पोषितं ।
यच्छिक्षाव्यवहारतो निपुणता बुद्धेः समासादिता ॥
यस्माज्जीवनसाधनानि वसनाऽन्नादीनि लब्धानि वा ।
तेषां प्रत्युपकारिणी सुमनुजाः ! सेवा समाश्रीयताम् ॥

भावार्थ—जिस देश के जलवायु से इस शरीर का पोषण हुआ हो, या धारण, जन्म—हुआ हो, 'जिस समाज के शिक्षण

या व्यवहार से बुद्धि में निपुणता आई हो, जिन लोगों से जीवन के साधन— अन्न-वस्त्रादिक—प्राप्त हुए हों, उनके उपकार का बदला चुकाने के लिए, भले मनुष्यों को योग्य प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिए। (२८)

विवेचन—महाभारत के शान्तिपर्व में कहा है कि '*दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमाप्सितम्*'। अर्थात्—दुःख से सभी कोई घबड़ाते—व्याकुल होते हैं और सुख को सब कोई चाहते हैं। जैसे हम सुख के लिये प्रयत्न करते हैं, वैसे ही अन्य भी करते हैं। इस प्रकार यदि सब अपने-अपने सुख के लिये प्रयत्न करें, तो यह एक प्रकार का स्वार्थवाद हुआ। जहां स्वार्थवाद प्रचलित हो, वहाँ परार्थवाद या सेवाधर्म कैसे संभव हो सकता है? बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और उनकी स्त्री मैत्रेयी के संवाद में, मैत्रेयी के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—'मैत्रेयी! स्त्री को पति, उसके 'पति' पद के कारण प्रिय नहीं होता, बल्कि अपने आत्मा की प्रीति के लिए ही प्रिय होता है। इसी प्रकार माता पिता को पुत्र, पुत्र 'पद' के लिए प्रिय नहीं होता, बल्कि अपने स्वार्थ के लिए ही माता पिता उससे प्रेम करते हैं।' '*आत्मनस्तुकामाय सर्वं प्रियं भवति*'—आत्म प्रीति के कारण ही सब वस्तुएँ हमें प्रिय होती हैं। इस प्रकार जहाँ परार्थसाधना प्रकट होती है, वहाँ भी विद्वान् लोग स्वार्थ को घटित करते हैं। 'होब्स' नामक एक अँग्रेज विद्वान् भी प्रत्येक काम में मनुष्य का निकट का या दूर का स्वार्थ प्रतिपादित करता है। मि० ह्यूम अपने एक निबन्ध 'Of the dignity or Meanness of Human Nature" में कहते हैं कि—What say you of natural affection? Is that also a species of self-love? Yes, All is

self-love. Your children are loved only because they are yours. Your friend for a like reason. And your country engages you only so far as it has a connection with your self.' इसका तात्पर्य यह है कि कुदरती प्रेम के वशीभूत होकर कोई प्रेम नहीं करता, बल्कि आत्मप्रीत्यर्थ ही करता है। तुम अपने बच्चों को, मित्रों को या देश को चाहते हो, इसका कारण यह है कि तुम अपने को, अपने आत्मा को चाहते हो। और इस प्रकार स्वार्थ के लिए ही तुम्हारा प्रेम का संबंध है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने करने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि तुम किसी दुःखित व्यक्ति को दुःख से मुक्त करते हो, या उसे धन देते हो, या अपने तन से उसका दुःख काटते हो, इसमें भी तुम्हारा स्वार्थ है। तुम एक मनुष्य को दुखी देख कर दुखित हो जाते हो और तुम्हारा हृदय जलने लगता है। हृदय के इस दाह को दूर करने के स्वार्थ से तुम दुखित व्यक्ति की हर प्रकार सहायता करते हो और अपना स्वार्थ साधते हो। इस प्रकार होब्स, ह्यूम आदि विद्वान् सेवा-धर्म में भी स्वार्थ देखते हैं। वेदांती लोग 'स्व' का अर्थ 'आत्मा करते हैं, और आध्यात्मिक दृष्टि से अपने एक आत्मा में सर्व भूतों का और सर्वभूतों में अपने आत्मा का समावेश कर के स्वार्थ और परार्थ के द्वैतभाव का नाश कर दिखाते और कहते हैं परोपकार यदि स्वार्थ हो, तो भी सारे जगत् के प्रत्येक परमाणु का हित सम्बन्ध उसके साथ है। 'स्वार्थ' शब्द का इतना सूक्ष्म अर्थ करना सुयुक्तिक भले ही हो, परन्तु उससे समाज को उसके हितमार्ग का दर्शन नहीं कराया जा सकता। जो अपने आत्मा में सर्वभूतों और सर्वभूतों में अपने को देखता हो, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के तत्त्व को हस्तामलकवत् देखने वाला या अनुभव करने वाला हो, उसे तो परार्थ या परोपकार करने के उपदेश की भी आवश्यकता

नहीं रहती। उस के ज्ञान चक्षु इतने खुले हुए होते हैं कि वह स्वतः ही उपदेष्टा होकर लोगों को कल्याण के मार्ग पर चलाने के लिए समर्थ होता है। यहाँ ग्रन्थकार तृतीय अवस्था में विहरते मनुष्य को उसका कर्तव्य समझाते हैं और कहते हैं कि मनुष्य को जगत् का ऋण चुका कर ऋणमुक्त बनना चाहिए। जिस देश के जल वायु से मनुष्य के देह का पोषण हुआ हो, जिस समाज के शिक्षण या व्यवहार से बुद्धि का विकास हुआ हो और जिन के पास से निर्वाह के साधन प्राप्त हुए हों, उनका ऋण मनुष्य को किस प्रकार चुकाना चाहिए? ग्रन्थकार कहते हैं कि *'तेषां प्रत्युपकारिणी सेवा समाश्रीयताम्'* अर्थात् उन उपकार करने वालों के प्रति प्रत्युपकार रूप से सेवा करनी चाहिए। इसी लिए कहा है—

> धनानि जीवितं चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
> तन्निमित्तो वरं त्यागो, विनाशे नियते सति॥

अर्थात्—बुद्धिमान् व्यक्ति को परार्थ के लिए धन-जन का उत्सर्ग करना चाहिए। विनाश काल के आजाने से पूर्व ही परार्थ के लिए उनका त्याग करना उपयुक्त है। परार्थ या सेवा धर्म को नीति में स्थान प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि केवल अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर मनुष्य यदि परहित का विचार नहीं करते, तो वे अपना ऋण न चुकाने के कारण अन्त में दिवालिया होजाने की स्थिति में आ जाते हैं। जिस देश के मनुष्य ऐसी स्वार्थ वृत्ति से प्रेरित होकर अपने सम्बन्धियों का, समाज का या देश का हित करने में तत्पर नहीं रहते, वे विनाश के निकट पहुँच जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे अपना कुदरती ऋण न चुका सकने के कारण दिवालिया बन जाने की सीमा पर होते हैं। परार्थ साधना नीति में स्थान पाई है और

जन-समाज को कर्त्तव्य में तत्पर करने के लिए यह स्थान उचित ही दिया गया है। (२८)

[परार्थवृत्ति जगत् में सब ओर किस प्रकार व्याप रही है और उससे विनियम अवसर के अनुसार जगत् के सब जीवों का काम किस प्रकार चलता है, वह नीचे लिखे श्लोक में उदाहरण के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।)

प्रत्युपकार वृत्ति की व्यापकता ॥२६॥

वृक्षाः पोषणकारकाय ददति स्वाद्यं सुपक्वं फलं।
जग्ध्वा शुष्कतृणानि दुग्धममलं गावोऽर्पयन्त्यन्वहम्॥
रे श्वानोऽप्युपकारकस्य निलयं नो विस्मरन्ति क्षणं।
हन्यात्प्रत्युपकारसिद्धनियमं धीमान्मनुष्यः कथम्॥

भावार्थ—वृक्ष, पोषण करनेवाले को पके हुए स्वादिष्ट फल देते हैं। गायें सूखा घास खाकर प्रतिदिन निर्मल दूध देती हैं। कुत्ते भी उपकारी मनुष्य का घर एक क्षण के लिए भी नहीं भूलते। अर्थात—उसके घर का रक्षण करते हैं। इस प्रकार जब चराचर जीवों में भी प्रत्युपकार वृत्ति देखी जाती है, तो क्या बुद्धिमान् मनुष्य प्रत्युपकार के व्यापक नियम का भंग करेगा? कभी नहीं। (२६)

विवेचन—अपने पर उपकार करने वाले के प्रति उपकार करना, प्रत्युपकार वृत्ति कहलाती है। कुछ लोग इसे परोपकार कहते हैं; वास्तव में इसे प्रत्युपकार कहना ही अधिक उपयुक्त है। फल की आशा के बिना उपकार करने का नाम परोपकार है। परन्तु इस प्रकार का निष्काम उपकार करने की शिक्षा, समाज में तभी फैलती है, जब कि लोगों को यह भली

भाँति विवेक करा दिया जाय कि इस परोपकार में वस्तुतः अपना ऋण चुकाने के समान प्रत्युपकार समाविष्ट है। कोई किसी के प्रति उपकार करता है, तो भी उस उपकार करने वाले को यही समझना चाहिये कि वह स्वतः प्रत्युपकार ही कर रहा है, अर्थात् अपना ऋण अदा कर रहा है। वह ऋण अपनी दृष्टि के समीप न होते हुए भी, प्रकृति द्वारा सौंपा हुआ कर्त्तव्य ही प्रत्येक मनुष्य का ऋण है। यह समझकर ही उसे वह ऋण चुकाना चाहिये। इसी प्रकार प्रत्यक्ष उपकार का बदला चुकाने वाला, दूसरे के प्रति उपकार करने वाला भी प्रत्युपकार के द्वारा ऋण ही अदा करता है। इस प्रकार का प्रत्युपकार संसार का प्रत्येक पदार्थ और प्राणी करता है, इसी से संसार का व्यवहार भली भाँति चलता है। यह प्रत्युपकार-वृत्ति कितनी व्यापक है--प्रत्येक वस्तु या प्राणी में अपना ऋण चुकाने का खयाल कितना बलवान है, इसे बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि वृक्ष अपना पोषण करने वाले को पके फल देते हैं, गौएँ अपना रक्षण करने वाले को दूध देती हैं, और कुत्ते भी अपने पालक के घर की रक्षा करते हैं। अब इसी प्रकार दूसरी ओर विचार करें, तो अपने को फल देने वाले वृक्षों को लोग पानी पिलाते और खाद डालते है, दूध देने वाली गायों को घास चारा खिलाते हैं, और घरकी रक्षा करने वाले कुत्तों को रोटी खिलाते हैं। इस प्रकार जानवर और मनुष्य परस्पर एक दूसरे के प्रति प्रत्युपकार करते हैं।

शङ्का—कोई कुत्ता हमारे घरकी रक्षा न करता हो, तो भी हम उसे रोटी खिलायँ, तो क्या वह भी प्रत्युपकार कहलायगा?

समाधान—हाँ! प्रकृति ने एक ही कुत्ते के प्रति ही नहीं, बल्कि कुत्तों की समस्त जाति के प्रति; बल्कि समस्त जानवरों

के प्रति तुम्हारा कर्त्तव्य निश्चित कर रखा है। उस कर्त्तव्य का पालन करते हुए तुम अपना ऋण चुकाते हो। कुत्ते की जाति का; बल्कि समस्त जानवरों का तुम पर जो उपकार है, उसके बदले में मनुष्य जाति को भी प्रत्युपकार करना उचित है। इस ऋण को न चुका कर के जीना कोई जीना, नहीं है। प्रत्युपकार करते हुए जीना ही सच्चा जीना है। कहा है कि—

आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन्को न जीवति मानवः।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति॥

अर्थात्—आत्मार्थ इस संसार में कौन-सा मनुष्य नहीं जीता; पर परोपकारार्थ जीने वाला मनुष्य ही सच्चा जिया हुआ कहलाता है। (२८)

['परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः' ॥ वृक्ष का परार्थ जीवन और उसकी प्रत्युपकार वृत्ति कैसे आदर्श हैं, यह बताने के लिए नीचे के दो श्लोकों में ग्रन्थकार ने अन्योक्ति का अनुसरण किया है।]

वृक्ष का परार्थ जीवन ।३०। ३१॥

त्वं सर्वावयवैर्गदं हरसि भो! निष्पाद्य भैषज्यकं।
पत्रैः पोषयसे सदा पशुगणान् दुर्भिक्षकाले नरान्॥
युज्यन्ते कुसुमानि ते प्रतिदिनं सत्कारपूजाविधौ।
काष्ठं ते कृषिनौगृहान्नपचने त्वग् युज्यते वल्कले॥
यष्ट्याद्यैरपकारिणामपि फलं मिष्टं ददासि द्रुतं।
पान्थानां तु पथः श्रमं हरसि वा त्वं छायया शीतया॥
वृष्ट्याकर्षकवायुशुद्धिजनकः शीताऽऽतपादेः सहः।
केनेदं तव शिक्षितं तरुवर? प्राच्यं परार्थ व्रतम्॥

युग्मम्॥

भावार्थ—हे तरुवर! तू पत्र, मूल, छाल आदि अपने सारे अवयवों से औषधरूप में मनुष्यों के रोगों का हरण करता है, दुर्भिक्ष जैसे समय में मनुष्यों और पशुओं का अपने पत्तों से पोषण करता है, तेरे फूल मनुष्यों का सत्कार करने और पूजा-विधि में नित्य काम आते हैं; तेरी लकड़ियाँ खेती के काम में, नौकाएँ बनाने में, घरों का निर्माण करने में और रसोई पकाने में काम आती हैं; तेरी छाल वल्कल-चीर बनाने में काम आती है, जो मनुष्य डंडे और पत्थरों से तेरा अपकार करते हैं, उन्हें भी तू मीठे फल देता है, तेरी शीतल छाया से मुसाफिरों की थकावट दूर होती है, तू वृष्टि का आकर्षण करता है, वायु को शुद्ध बनाता है, शीत ताप सहन करके भी जनसमाज पर इतना उपकार करता है, यह परमार्थ व्रत तुझे किसने सिखाया? (३०-३१)

विवेचन—इस अन्योक्ति के द्वारा वृक्ष की उपयोगिता का सूचन करके उसके परार्थ जीवन का आभास कराया गया है। वृक्ष के पत्ते, जड़ें, छाल, लकड़ियाँ, फल-फूल और उसमें से झरता हुआ रस-गोंद, लाख आदि सब कुछ मनुष्यों और इतर प्राणियों के उपयोग में आता है। कहा है कि—

> अहोऽप्यांवरंजन्म, सर्वप्राण्युपजीवनम्।
> धन्या महीरुहा येभ्यो, निराशा यान्ति नार्थिनः॥

अर्थात्—वृक्ष सभी प्राणियों के जीवन-निर्वाह के लिए उपयोगी होता है। और आशा करके उसके पास जाने वाला कोई भी प्राणी निराश नहीं होता। परन्तु उसकी इस उपयोगिता के अतिरिक्त उसका परार्थ-जीवन का व्रत कितना कठोर है? उसे पत्थर मारने वाले, उसका अपकार करने वाले को भी वह फल देकर उसके प्रति उपकार ही करता है। अपने परार्थ

जीवन की पूर्ति के लिए वह शीत या उष्ण काल में शीत और ताप सहकर तपस्या करता है और जीवन भर परार्थ ही करता रहता है। जो मनुष्य सच्ची प्रत्युपकार वृत्ति वाले हैं, वे अपने अपकार करने वाले की या उपकार करने में होने वाली कठिनाइयों या तपस्या की परवा किये बिना ही प्रत्युपकार करते रहते हैं। 'स्वार्थोयस्य पराथ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः' अर्थात्—परार्थ ही जिसका स्वार्थ है, ऐसा मनुष्य ही सत्पुरुषों में सदा अग्रणी कहलाता है। वृक्ष का स्वार्थ ही परार्थ है और इससे उसे धन्यवाद देते हुए ग्रन्थकार पूछते हैं कि हे वृक्ष! ऐसा परार्थ व्रत तूने किससे सीखा है? (३०-३१)

[अब प्रकृति के विभूति स्वरूप सूर्यादि की परोपकारिता का वर्णन किया जाता है।]

सत्वस्तुओं का अस्तित्व परोपकार के लिए ही है।३२॥

सूर्यो भ्राम्यति नाशनाय तमसो लोकोपकाराय च।
मेघो वर्षति वाति वायुरमलः कालादिमर्यादितः॥
नद्यो भूमितले वहन्ति नितरां नृणां हरन्त्यो मलं।
सद्भावोद्भवनं परार्थभवनौ प्रायेण विज्ञायते॥

भावार्थ तथा विवेचन—अन्धकार का नाश करने और लोगों को गरमी पहुँचाकर जीवन-निर्वाह कराने के लिए सूर्य परिभ्रमण करता है, वर्षा होती है, निर्मलवायु ऋतु की मर्यादा के अनुसार चलती है, मनुष्यों के मलको दूर करने वाली नदियाँ पृथ्वी के पट पर सर्वदा बहती हैं,—यह सब देखते हुए पृथ्वी पर अच्छी वस्तुओंका अस्तित्व बहुत करके परोपकार के लिए ही है, यह प्रकट होता है। यह तो प्रकृति की जड़ वस्तु की बात

हुई, परन्तु चेतन मनुष्यों में भी सद् वस्तु रूपी सज्जन होते हैं और सूर्य, वर्षा ऋतु आदि की तुलना में सज्जनों का अस्तित्व भी परोपकारार्थ ही प्रतीत होता है। सुभाषितकार तो यहाँ तक कहता है कि—

रविश्चन्द्रो घना वृक्षा, नदी गावश्च सज्जनाः।
एते परोपकाराय, युगे दैवेन निर्मिताः॥

अर्थात्—सूर्य, चन्द्र, वर्षा, वृक्षों, नदियों, गौओं तथा इसी प्रकार सज्जनों को विधि ने इस काल में परोपकार के लिए ही निर्माण किया है। इस उपमान से समझा जा सकता है कि जो स्थान इस जगत् में सूर्य, चन्द्र, आदि दैवी वस्तुओं का है, वही, वैसा ही महत्त्व-पूर्ण स्थान सज्जनों का है, सज्जनों पर जगत् के सभी प्राणियों का उपकार करने का भार रहता है—उपकार के लिये अपना सारा जीवन खपा डालने का भार रहता है। यहाँ तो केवल जीवन की तृतीय अवस्था को ही परोपकार--प्रत्युपकार—सेवा धर्म में अर्पित करने का हेतु है। इस अवस्थामें भी जो इतनी सुजनता न ला सकें, उन पर कटाक्ष करते हुए कहा गया है—

तृणंचाहंवरंमन्ये, नराद्नुपकारिणः।
घासो भूत्वा पशून्पाति, भीरून्पाति रणाङ्गणे॥

अर्थात्—केवल अनुपकारी मनुष्य से तो एक तृण-तिनका भी अच्छा है। कारण कि वह बेचारा घास कहलाकर भी पशुओं की रक्षा करता है और समरांगण में भीरुजनों की रक्षा भी करता है—तात्पर्य यह कि रणक्षेत्र में भीरु वास्तव में घास खाते कहलाते हैं, यह इस तिनका कहलाने वाले घास का ही उपकार है। (३२)

[जानवरों में भी नैसर्गिक परोपकार वृत्ति होती है, अब इसके उदाहरण दिये जा रहे हैं।]

प्राणियों में भी परोपकारवृत्ति ॥ ३३ ॥

कौशेयं रचयन्ति सूक्ष्मकृमयो नक्तंदिवं यत्नतः।
स्वादिष्ठं मधुमक्षिका मधुभरं संचिन्वते सन्ततम्॥
मुक्ता बिभ्रति शुक्तयोऽपि जठरे कस्तूरिकां सन्मृगा।
एतेषामसुधारिणामपि जनुर्लोकोपकारार्थकम् ॥

भावार्थ—कोशके—रेशम के कीड़े रात दिन प्रयत्न करके रेशम तैयार करते हैं, मधुमक्खियाँ सतत उद्योग करके स्वादिष्ट मधुका संचय करती हैं, शुक्तियाँ—सीपियाँ अपने पेट में मोती धारण करती हैं, कस्तूरी मृग कस्तूरी उत्पन्न करते हैं—इन सब प्राणियों का जीवन क्या स्वार्थ के लिए है ? नहीं केवल लोगों के उपकार के ही लिए। (३३)

विवेचन—इस श्लोक में परोपकार करने वाले प्राणियों के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें प्रत्येक प्राणी परोपकार करते हुए अपने जीवन की वलि देता है। रेशम के कीड़े, रेशम का कोश वनाते हैं और जब उन्हें गरम पानी में डालकर उनके जीवन की आहुति दी जाती है, तभी कोश का रेशम उपयोग में आ सकता है। मधु मक्खियाँ दिन रात परिश्रम करके मधु का संचय करती हैं, इसका उन्हें कोई लाभ नहीं होता, पर मनुष्य उस मधु को लेकर उसे खाने के उपयोग में लाते हैं। यह भी मक्खियों का परोपकार है। जब मधु निकाला जाता है, तब अनेक मक्खियों का संहार होता है, अनेक मक्खियाँ मूर्छित हो जाती हैं और अनेक उड़कर भाग जाती हैं।

सीपियों के पेट में मोती उत्पन्न होते हैं, परन्तु जब उसे चीरकर, उसमें के प्राणी को मार दिया जाता है, तभी मनुष्य को मोती प्राप्त होता है। अतएव, लोगों के लिए रत्न पैदा करने वाली मछली का परोपकार भी उसके जीवन की बलि देने पर ही सिद्ध होता है। कस्तूरी मृग की नाभि में कस्तूरी होती है और उसके लोगों के उपयोग में आने से पहले ही मृग को अपने जीवन की बलि देनी पड़ती है। मृग को मारे बिना कस्तूरी प्राप्त ही नहीं हो सकती। ऐसे कृमि, पशु प्राणी परोपकार करते-करते मृत्यु के अधीन हो जाते हैं। इन दृष्टान्तों में लिये गये प्राणियों के जीवन में अनेक दूसरे दृष्टिबिन्दु भी हैं। उदाहरण के लिए मधुमक्खियों की 'उद्यम' की मूर्त्ति रूप से प्रशंसा और खुद मधु का सेवन नहीं करतीं; पर मधु को लेने वाले पर काटने के लिए हमला करती हैं, इसलिए ईर्ष्या से भरी हुई लोभी संग्राहक वृत्ति के कारण उनकी निन्दा की जाती है। कस्तूरी मृग का प्राण लेने वाले पारधी उसे संगीत से लुभाकर जाल में फँसा लेते और मार डालते हैं; इसलिए कान की कामेन्द्रिय द्वारा उसकी पराधीनता के दृष्टान्त से इन्द्रिय निग्रह का बोध भी कराया जाता है। परन्तु, प्रत्येक प्राणी के जीवन की अनेक भिन्न-भिन्न दिशाएँ होती हैं और उनके भिन्न भिन्न दृष्टिकोण होते हैं, इसलिए यहाँ ग्रन्थकार ने अन्य दृष्टिकोणों को गौण रख कर केवल उनके जीवन की परोपकारिता को प्रधान स्वरूप दिया है। ऐसे प्राणियों के सारे जीवन परोपकारिता में बीतते हैं, और मृत्यु भी परोपकार के लिए ही होती है। और मनुष्य को तो विद्यार्थी अवस्था और गृहस्थाश्रम में आधा जीवन बिताने पर तीसरी अवस्था में परार्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए विद्वान् और शास्त्रकार कहते हैं। इतना सेवा-धर्म का पालन न करके भी जो मनुष्य केवल परोपकारशून्य जीवन बिताते हैं, और मुट्ठी बाँध कर आये और

खाली हाथ गये' के समान जीवन पूरा करते हैं; उनके लिए उचित ही कहा गया है कि—'*परोपकार शून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवनम्*' अर्थात्—परोपकार-शून्य मनुष्य को धिक्कार है! (३३)

[इस प्रकार सेवा धर्म की महत्ता और आवश्यकता का वर्णन करने के पश्चात् ग्रन्थकार इस धर्म में प्रवेश करने के द्वारों का निदर्शन कराते हैं।]

सेवा धर्म में प्रवेश करने के द्वार ॥३४॥

सेवाधर्मपुरप्रवेशकरणे द्वाराणि चत्वारि वै।
मैत्री सर्वजनैर्न केनचिदपि क्लेशस्तदाद्यं व्रतम् ॥
मोदोऽन्यस्य सुखेन यस्तदपरं द्वारं तृतीयं दया।
दुःखाऽऽप्तेषु चतुर्थमुग्रकलुषे योपेक्षणाऽऽश्रीयते ॥

भावार्थ—सेवा धर्म रूपी नगर में प्रवेश करने के चार द्वार हैं। किसी के साथ क्लेश-झगड़ा फसाद न करके सबसे मैत्री रखना प्रथम द्वार है, दूसरे को सुखी देखकर खुश होना दूसरा द्वार है, दुखी जीवों पर दया रखना तीसरा द्वार है, और पापी प्राणियों पर भी द्वेष न रखकर उनकी उपेक्षा करना, अर्थात्—समझाने से भी न समझें, तो उनसे तटस्थ रहना चौथा द्वार है। (३४)

विवेचन—'*सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः*' अर्थात्—सेवा धर्म परमगहन और योगीजनों के लिए भी अगम्य है। ऐसे परम गहन धर्म में, जो योगी नहीं हैं ऐसे मनुष्यों के प्रवेश करने का मार्ग सुगम्य कहाँ से हो सकता है? तथापि अभ्यास और आयास के द्वारा प्रत्येक कार्य सिद्ध हो सकता है। सेवा

धर्म भी एक प्रकार का परम योग है। उसके विषय में आध्यात्मिक शास्त्र है, और शास्त्र में बताये हुए द्वार से होकर जाने वाले को यह योग साध्य हो जाता है। जनता की और जगत् के प्रत्येक जीव की सेवा करना भले ही स्थूल कार्य हो; परन्तु सेवा बुद्धि से जब तक अन्तरंग नहीं रँग जाता, तब तक यह स्थूल सेवा-कार्य करने में भी मनुष्य प्रवृत्त ही नहीं होता। ईसाई धर्म में तो सेवाधर्म को प्रभु-प्राप्ति का मार्ग कहा गया है। एक जगह लिखा गया है कि—They asked a great one. "How many ways are there?" He said, "There are as many ways as there are atoms in the Universe, but the best and shortest is Service."

अर्थात्—उन्होंने एक महात्मा से प्रश्न किया कि प्रभु-प्राप्ति के लिए कितने मार्ग हैं? उसने उत्तर दिया कि जगत् में जितने अणु हैं उतने मार्ग हैं, परन्तु 'सेवा' ही सब से उत्तम और संक्षिप्त मार्ग है।—इस पर से समझा जासकता है कि सेवा करने वाला सेवक, सेवा के आध्यात्मिक गुण से हीन हो ही नहीं सकता, और यदि हो भी, तो वह 'सच्चा' सेवक नहीं हो सकता। सेवाधर्म ग्रहण करने वाले का अन्तरंग सेवा में ही लीन होगया—सेवा का ही स्वप्न देखने वाला और निष्काम वृत्ति से, स्वार्थ पर दृष्टिपात भी न करके, केवल परार्थवृत्ति से स्वभाव प्रेरित होकर सेवा मार्ग पर जाने वाला होना चाहिये। सेवा धर्म रूपी नगर में प्रवेश करने के ये चार मार्ग ही शास्त्र में बतलाये गये हैं और ग्रन्थकार ने इस श्लोक में उनका नाम निर्देश किया है। ये चार द्वार भिन्न-भिन्न दिशाओं में नहीं, एक ही दिशा में हैं। और चारों में होकर जाने वाला ही सेवा धर्म रूपी नगर में जा सकता है। वे चार द्वार कौन-से हैं? (१) *मैत्री*—Love towards equals, (२) *प्रमोद*—Love towards

Superiors, (३) *दया-करुणा*—Love towards inferions, और (४) *उपेक्षा-माध्यस्थ्य*—Indifference towards opposition. अर्थात्—समान जीवों के प्रति मैत्री भाव, अपने से बड़ों तथा उच्च गुणों वाले जीवों के प्रति आमोद प्रमोद भाव—उनको सुखी देखकर खुश होने वाली वृत्ति, अपने से छोटे अथवा गुणों में निकृष्ट जीवों के प्रति करुणा भाव और अपने प्रति विरोध प्रकट करने वालों—शत्रुओं आदि के प्रति उपेक्षा भाव अथवा माध्यस्थ्य भाव इन चार गुणों की प्राप्ति करने में जो समर्थ नहीं होते, वे सेवा धर्म ग्रहण नहीं कर सकते. या अगर करते हैं, तो वे सेवा के हेतु को पूर्ण नहीं कर सकते। कोई हमारे समान, कोई हम से बड़े, कोई छोटे और कोई हमारे विरोधी भी होते हैं। जब तक इन चारों प्रकार के जीवों या मनुष्यों के प्रति समान भाव रखने के लिए अन्तरंग का सुधार नहीं किया जाता, तब तक हम सेवा किस प्रकार कर सकते हैं ? इस समान भाव की शिक्षा के लिए ही यह चार द्वार हैं। प्रयत्न पूर्वक इस मार्ग पर बढ़ने वाला, समान भाव धारण करने वाला बन जाता है और फिर उसके हाथ से जो सेवा होती है, वह सच्ची सेवा सिद्ध होती है।

दृष्टान्त—सच्चा नाम का एक माली था। वह और उसकी स्त्री, बूढ़े हो गये, पर उनके कोई सन्तान न हुई। जीवन भर खाने-खर्च करने के योग्य उनके पास धन था। एक साल वर्षा अच्छी तरह न हुई। देश में अकाल पड़ गया। सच्चा ने विचारा कि अब वह वृद्ध हो गया है और इस धन की इतनी आवश्यकता नहीं है, इस लिए उसे इस अकाल के समय लोगों के भले में लगा दिया जाय, तो उसके हाथों कुछ उपकार हो जाय। इस विचार से उसने अपने गांवों की दूरी पर खूब गहरा कुआ

बनवा कर, जानवरों के लिए हौज़ और मनुष्यों के लिए पौसरा बनवाया और वह तथा उसकी स्त्री रात दिन वहां रह कर पथिकों और जानवरों को पानी पिलाने लगे। सच्चा की स्त्री अपने स्वामी के विचारों के अनुकूल मत रखती थी, इस लिए वह भी रात दिन अपने स्वामी के पास रहती और कुए से पानी खींच कर घड़े भरती। सच्चा भी पानी खींचता और पिलाता। परन्तु जो सेवा बुद्धि सच्चा में थी, वह उसकी स्त्री में नहीं थी। कोई डोम या महतर पानी पीने के लिए आता, तो स्त्री नाक भौं सिकोड़ लेती, पौसरे से अलग उसे पानी पिलाने को जाना पड़ता। उनके गांव का कोई पथिक पानी पीने आता और सच्चा की स्त्री ने पहले कभी उसका लड़ाई झगड़ा हुआ होता, तो वह पानी पिलाने के लिये उठती ही नहीं. और सच्चा स्त्री के स्वभाव को जान कर खुद बड़े प्रेम भाव से पानी पिलाता। उनके गांव का कोई सेठ या ठाकुर आता, तो स्त्री बड़ी खुशामद करती और आदर से पानी पिलाती, किन्तु कोई प्यासा जानवर आता और उसकी इच्छा होती, तो पानी पिलाती; नहीं तो नहीं पिलाती। सच्चा को अपनी स्त्री का यह स्वभाव अच्छा न लगता था, पर व्यर्थ झगड़ा न करने के ख्याल से वह चुप रहता। और अपने से जो सेवा हो सकती, वह किया करता था। एक बार एक कुम्हार के दस गधे ईंटें लादे हुए निकले। कुम्हार ने पौसरे पर आकर गधों को पानी पिलाने की इच्छा प्रकट की। स्त्री तुरन्त बोल उठी—मनुष्यों को तो पानी पूरा ही नहीं पड़ता और यह गधों को लेकर आया है! जा लेजा, अपने गांव में जा कर पानी पिलाना। कुम्हार ने कहा कि गधे बहुत प्यासे हैं. थोड़ा पानी पिला दोगी तभी वह गांव तक पहुँचेंगे, वर्ना मर जायेंगे। पर, स्त्री ने एक न मानी। सच्चा को दया आई और वह पानी पिलाने के लिए उठा। उसने पानी की मटकी—घड़ा लेकर हौज़ में.

पानी डालना शुरु किया कि उसकी स्त्री ने हाथ से मटकी छीन ली और उससे भला बुरा कहने लगी। सच्चा बड़ा दुखी हुआ। वह तुरन्त कुए पर गया और पानी खींच कर गधों को पिलाने लगा। गधे बहुत प्यासे थे। पानी खींचते खींचते वह थक गया, पर उसके सेवाभाव ने थकावट की पर्वा न की। पानी पिलाकर वह पौसरे में लौट आया और ज़रा आराम करने के लिए सो गया। तुरन्त उसे बुखार हो आया और रात को मर गया। दूसरी ओर उसकी क्रोधित स्त्री ने फाँसी लगाली थी! उसके मना करने पर भी उसके स्वामी ने गधों को पानी पिलाया था-इससे उस अभिमानी स्त्री को बड़ा क्रोध हो आया था और इसी से उसने यह दुष्कर्म किया था। सच्चा की स्थूल सेवा और उसमें निहित सेवा बुद्धि, कि जिसमें मैत्री, प्रमोद, करुणा तथा माध्यस्थ्य आदि थे और इसके विपरीत उसकी स्त्री की जबरदस्ती की सेवा, कि जिसमें सेवा-बुद्धि सेवा भाव तथा उसके उपयुक्त अंतरंग गुण नहीं थे, उन दोनों का स्वरूप दूसरे दिन प्रातःकाल पथिकों की समझ में आया। सच्चामाली, गरीब-अमीर, छोटे-बड़े डोम महतर या ब्राह्मण, गाय या कुत्ते सभी प्राणियों के प्रति कैसी सेवा भावना रखता था और उनको पानी पिला कर संतुष्ट करता था। उसकी स्त्री पानी पिलाती थी, फिर भी उसकी सेवा में कटुता, मानहीनता आदि अवगुण थे। यह सभी लोग जानते थे। परन्तु एक ही काम करने वाले दोनों जनों की सेवा के दो भिन्न-भिन्न परिणाम हुए देखकर उनका हृदय द्रवीभूत हो गया। गाँव के लोगों ने इकट्ठे होकर दोनों का अग्नि संस्कार किया और जहाँ सच्चा का पौसरा था उसी जगह पक्का चबूतरा बना कर 'सच्चामाली का पौसरा' के नाम से उसका नाम अमर कर दिया। (३४)

चतुर्थ परिच्छेद

सेवाधर्म: मैत्री-भावना

[पहले बताई हुई चार भावनाओं में से प्रथम मैत्री-भावना के विषय में विवेचन किया जाता है। मैत्री स्थापित करने से पूर्व वैर बुद्धि का त्याग करने की आवश्यकता दर्शाते हुए, ग्रन्थकार वैर के अनर्थों का वर्णन करते हैं।]

वैर-त्याग ॥ ३५ ।

वैरं दुःखदवानलोद्भवकरं चिन्तालताम्भोधरो ।
धर्माम्भोजहिमं महाभयखनिः कर्मप्रवाहाऽऽश्रयः ॥
रागद्वेषमहीधराग्रशिखरं विक्षेपवंशोत्सवो ।
मैत्री संश्रयणार्थमुत्क्षिप हृदश्चैतत्समूलं द्रुतम् ॥

भावार्थ—किसी के भी साथ वैर बाँधना दुःखरूपी दावानल का उत्पन्न करने वाला है। चितारूपीलता को सींचने के लिए अंभोधर—मेघ रूप है, धर्मरूपी कमल को जलाने के लिए हिम के समान है, महान् भय की खान है, कर्म के जल-प्रवाह को आश्रय देने वाला है, रागद्वेषरूपी पर्वत का शिखर है, विक्षेप की सन्तति के लिए उत्सव के समान है, इसलिए मैत्रीभावको आश्रित करने के लिए वैर की जड़ को हृदय से जल्दी उखेड़ डाल। (३५)

विवेचन—'वैर बाँधना' परस्पर वैर वृत्ति बढ़ाने वाले काम को कहते हैं। जगत् में वैर बाँधने के परिणाम-स्वरूप बड़े-बड़े

अनर्थ होने के दृष्टान्त मिलते हैं। रावण ने रामके साथ वैर बाँधा, कौरवों ने पांडवों के साथ वैर बाँधा और इसके क्या परिणाम हुए यह जगत् जानता है। दुःख, चिंता, त्रास, पाप, रागद्वेष और कुलपरंपरागत विक्षेपों का इनमें से जन्म हुआ और इससे वैरांध जनों की दुर्गति हुई। गीता में कहा है कि—'*न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति*' अर्थात्—वैर से वैर का शमन नहीं होता, बल्कि बढ़ता है। वाल्मीकीय रामायण में लिखे अनुसार जब रावण की अन्त क्रिया का समय आया. तब रामने विभीषण से वह क्रिया करने के लिए सूचना करते हुए कहा था—'*मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्*' अर्थात्—जब रावण मर गया तभी उसका वैर समाप्त हुआ। जब तक वह जीवित था, तब तक तो उसकी वैर बुद्धि कायम ही थी, अब उसके मरजाने पर हमारा युद्ध का प्रयोजन भी पूरा हो गया। इस पर से समझा जा सकता है कि वैर की अग्नि यदि एक बार प्रज्वलित होगई और उसे नये-नये निमित्तों के द्वारा आहुति मिलती गई तो वह अग्नि जीवन के अन्त तक बुझती ही नहीं। ऐसे भयानक वैर को ग्रन्थकार ने दुःख का दावानल उत्पन्न करने वाला, चिंतारूपी लता को सींचने वाला मेघ, धर्म रूपी कमल को जलाने वाला हिम, भय की खान, कर्म प्रपात का आश्रय, रागद्वेष रूपी पहाड़ का शिखर और विक्षेप की संतति को उत्सव की साधिका के रूप में परिचित कराके उचित ही कहा है। जब तक इस वैर बाँधने की वृत्ति को चित्त में स्थान मिला करेगा, तब तक '*मित्ती में सव्व भूएसु*' सर्व भूतों के प्रति मैत्री धारण करने का चित्तवृत्ति को अवसर ही कैसे मिलेगा? श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि—'*निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव*' अर्थात्—हे पांडव! जो सब

जीवों के प्रति निर्वैर-वैर-रहित होता है, वही मुझे—प्रभु को प्राप्त हो सकता है। इस कथन में भी निर्वैरता के द्वारा मैत्री रूपी समभावना का ही उपदेश है। 'मात्थी' की कहानी में 'ईशु' ने कहा है कि 'तू अपने वैरी पर प्रीति कर' और 'तुझे कोई एक गाल पर तमाचा लगाये, तो उसके सामने अपना दूसरा गाल भी करदे'। जब तक निर्वैरता के द्वारा मैत्री की उपासना नहीं की जाती, तब तक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना, या आत्मौपम्य भाव सिद्ध नहीं होता।

शंका—हमेशा वैर बुद्धि से ही वैर नहीं बँधता! सत्यवादी मनुष्यों के सत्य बोलने या सत्याचरण करने से भी दुर्जन मनुष्य उनके प्रति वैर भाव धारण कर लेते हैं। ऐसे दुर्जनों के वैर को जीत कर मैत्री साधना कैसे हो सकती है?

समाधान—ग्रन्थकार ने यहाँ मैत्री भावना का हृदय में स्थापन करने का बोध कराते हुए कहा है कि वैर की जड़ को हृदय में से जल्दी उखेड़ डाल, और इसमें दुर्जन के वैर को जीतने की विधि भी अन्तर्निहित है। मैत्री की भावना से जिस मनुष्य का हृदय तरबोर होता है; वह दुर्जन के वैर को भी सहन कर जाता है—इतना उस हृदय का आकर्षण होता है। ऋषि मुनियों के विकसित आत्मबल और समवृत्ति के आकर्षण से सिंह-व्याघ्र जैसे हिंसक पशु भी अपनी दुष्टता को भूल जाते हैं, केवल यही आवश्यकता है कि मैत्री भावना हृदय में जड़ी हुई होनी चाहिये। केवल वाणी में ही न होनी चाहिये। हृदय का सद्गुण हमेशा ही दुर्गुण पर विजय प्राप्त करता है। 'धम्म-पद' नामक बौद्धग्रन्थ में भी कहा है—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेनालीकवादिनम्॥

अर्थात्—दूसरे के क्रोध को अपने अक्रोध से—समता से, दुष्टजन को अपनी साधुता से, कंजूस को दान से और असत्य को सत्य से जीतना चाहिये। वस्तुतः दुर्जन के वैर को भी निर्वैरता से—मैत्री-भावना से जीता जा सकता है।

दृष्टान्त—सिंहघोष और अश्वघोष नाम के दो राजा थे। सिंहघोष ने अश्वघोष राजा पर चढ़ाई करके उसका राज्य जीत लिया और अश्वघोष को कैद कर लिया। अश्वघोष का पुत्र रोहिताश्व उस समय प्रवास में गया था। अश्वघोष को कैद करने से उसकी प्रजा ने सिंहघोष के प्रति विप्लव खड़ा किया इसलिए सिंहघोष ने अश्वघोष को शूली पर चढ़ाने का निश्चय किया। जिस समय अश्वघोष को शूली के समीप ले गये, उस समय रोहिताश्व प्रवास से लौट आया और वेष बदलकर शूली के निकट पहुँचा। पिता ने पुत्र को पहचान लिया। प्रकट रूप में तो वह उसके साथ बातचीत नहीं कर सकता था, क्योंकि ऐसा करने से रोहिताश्व पहचाना जाता, पकड़ लिया जाता और मार डाला जाता? इसलिए अश्वघोष ने शूली पर चढ़ते समय जन-समूह को सम्बोधन करके वाग्-विदग्धता पूर्वक पुत्र को समझाया कि—'वैर को बढ़ाना न चाहिये।' पिता की यह शिक्षा मानकर रोहिताश्व चला गया और अश्वघोष को शूली पर चढ़ाकर मार डाला गया। रोहिताश्व जंगल में भटकने लगा। उसे शांति नहीं मिली। पिता को शूली पर चढ़ाकर मार डालने वाले सिंहघोष को किसी प्रकार मारे बिना शांति मिल भी न सकती थी। रोहिताश्व विद्याकलाओं में निपुण था। उसने अब संगीतज्ञ का वेष धारण किया। सिंहघोष की राजसभा में जाकर उसने अपनी संगीत विद्या से राजा को खुश कर लिया और बड़े दूर देश के संगीत विशारद के रूप में अपना परिचय दिया। सिंहघोष ने उसे अपनी राजकुमारी को

संगीत की शिक्षा देने के लिए नियत किया। अपनी विद्या, चातुरी, विनय, सरलता, सज्जनता आदि गुणों के कारण एकाध ही वर्ष में वह राजा का प्रिय पात्र हो गया और राजकुमारी को संगीत की शिक्षा देने के उपरान्त राजा के निजी मन्त्री का काम भी करने लगा। एक बार सिंहघोष शिकार को जाने लगा, तो रोहिताश्व को भी साथ ले लिया। एक मृग के पीछे पड़कर राजा और रोहिताश्व बहुत दूर निकल गये और शिकारी मंडल पीछे रह गया। रोहिताश्व के कहने से विश्राम करने के लिए राजा एक वृक्ष के नीचे उतर पड़ा। रोहिताश्व ने घोड़े के जीन को उठाकर बिछा दिया और राजा रोहिताश्व की गोद में सिर रख कर सो गया। थोड़ी देर में उसे नींद आगई। राजा को यमलोक पहुँचाने का यह अच्छा अवसर देखकर रोहिताश्व ने म्यान में से तलवार निकाली और राजा के सिर के नीचे कपड़े का सिरहाना लगाकर वह उसे मारने के लिए तैयार होगया। क्षण भर वह रुक गया, इसी समय उसे पिता के मरते समय का वह वचन याद आगया—'वैर को बढ़ाना न चाहिये।' यह विचार आते ही उसने तुरन्त तलवार को म्यान में कर लिया। परन्तु उसी समय राजा की नींद खुल गई और उसने उसे तलवार म्यान में करते देख लिया। राजा ने रोहिताश्व से तलवार निकालने का कारण पूछा। रोहिताश्व ने गद्गद् कंठ से अपना अपराध स्वीकार कर लिया, अपना असली परिचय दिया और बताया कि फाँसी पर चढ़ते समय उसके पिता ने क्या उपदेश दिया था। सिंहघोष रोहिताश्व की सुजनता से विजित होगया। उसने सोचा कि इस समय अवश्य ही रोहिताश्व अपना वैर चुका सकता था, परन्तु पिता की शिक्षा को मानकर उसने मेरे समान शत्रु को भी जीवनदान दिया, ओफ! वह कैसा सज्जन है? और मैंने उसके पिता को शूली चढ़ाने की आज्ञा दी, तब भी

उसने अपने पुत्र को वैर न बढ़ाने का उपदेश किया, वह कितना सद्गुणी राजा था ? इससे सिंहघोष को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, और अपने पाप के प्रायश्चित्त-स्वरूप उसने रोहिताश्व को उसके पिता का राज्य लौटा दिया और अपनी कन्या का विवाह भी उसके साथ कर दिया। निर्वैरता से शत्रु को भी जीता जा सकता है, इस दृष्टान्त से यह भली भाँति मालूम हो जाता है। (३५)

[हृदय से वैरभाव का नाश करने के बाद मैत्रीभावना को विकसित करने वाले दूसरे सोपान को दिखाने के लिए ग्रन्थकार अब सब जीवों के प्रति भ्रातृभाव धारण करने का उपदेश करते हैं।]

सब जीवों के साथ भ्रातृभाव ॥ ३६ ॥

भ्रातृत्वेन भवान्तरेषु जनिताः सर्वेऽपि जीवाः पुरा।
नैकोऽप्यस्ति तथाविधो न रचिता येनाऽत्र सम्बन्धिता॥
पुत्राः सन्त्यखिलाङ्गिनो भगवतः कर्त्तृत्ववादे पुन-
रेवंसत्यखिला जनाः समभवन् ते भ्रातरः सोदराः॥

भावार्थ—इस जगत् के सब जीव किसी-न-किसी भव में पहले भाई के रूप मे उत्पन्न हो आये हैं। ऐसा एक भी जीव नहीं है, जिसके साथ हमारा इष्ट सम्बन्ध न रहा हो। जो लोग ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में मानते हैं, उनके मत से तो जगत् के तमाम प्राणी ईश्वर के पुत्र हैं: इसलिए कर्त्तावादी–ईश्वरवादी–और अकर्त्तावादी—अनीश्वरवादी दोनों के मतों से तमाम जीवों को भवान्तर की अपेक्षा से भी सहोदर भाई कहा जा सकता है, अतः भाई के साथ विरोध करना अनुचित है। (३६)

विवेचन—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि यह सृष्टि ईश्वर ने रची है, और कुछ ऐसा मानते हैं कि वह अनादि अनन्त है,

परन्तु दोनों मान्यता वाले यह तो मानते ही हैं कि जगत् के समस्त जीव परस्पर बन्धु के समान हैं। गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि दलपतराय जगत् के समस्त मनुष्यों को 'एक पिता का परिवार' के रूप में परिचित कराते हुए कहते हैं—

'काला गोरा कोई छे, धन हीणा धनवान,
कहो न अधिको कोई ने सघला एक समान।'

परन्तु कवि की इस उक्ति या धर्माचार्यों के उपदेशों का अनुसरण कर के सबको बंधु के समान समझने की समबुद्धि मनुष्य को विकसित करनी चाहिए। तभी उसकी मैत्रीभावना उत्तरोत्तर विकास पा सकती है। जो लोग ईश्वर में सृष्टि के कर्त्तृत्व का आरोपण करते हैं, वे एक पिता के पुत्र के रूप में जगत् के सभी मनुष्यों को मानते हैं। और, अकर्त्तृत्ववादी तो इससे भी आगे बढ़ कर जगत् के जीव-जन्तु मात्र को अपने बन्धु समान सिद्ध करते हैं। यह किस प्रकार? जैन शास्त्र में कहा है—

न सा जाई न सा जोणी। न तं ठाणं न तं कुलं।
न जाया न मुया जत्थ। सव्वे जीवा अणंतसो॥

अर्थात्—लोक में अनंतानंत जीव हैं, और उन प्रत्येक जीव के साथ एक-एक जीव से मा-बाप, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि का सम्बन्ध अनन्तबार हुआ है—ऐसे सम्बन्ध से रहित एक भी जीव नहीं है। ऐसे सम्बन्ध से बँधे हुए जीवों को शत्रु या वैरी समझना बिल्कुल अनुचित, अयुक्तिक है। उनके प्रति प्रत्येक मनुष्य को भ्रातृभाव विकसित करना ही उचित है। इह लोक और परलोक की गणना करके ही जब तक दृष्टि की विषमता को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया जाता, तब तक दृष्टि की विषमता भली भाँति दूर नहीं होती और वसुधा को कुटुम्ब मानने के समान मैत्री-भावना नहीं खिलती।

दृष्टान्त—जो इहलोक और परलोक की गणना नहीं करते, जो वैर को बनाये रख कर यह नहीं समझते कि वैरज्वाला हमारे भावी जन्मों को भी दग्ध करने वाली सिद्ध होगी, उनके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक गाँव में एक धीवर रहता था। किसी काम से शहर जाते हुए रास्ते में नदी के किनारे एक वृक्ष पर उसने पक्षी का घोंसला देखा। उसमें अंडे रखे हुए थे। उसकी इच्छा उन्हें खा लेने की हुई, इसलिए उन्हें लेकर वह शहर की ओर चल दिया। शहर में एक मित्र के यहाँ जाकर उसने अंडे पका कर खाये। उनमें से एक उसने अपने मित्र की लड़की को दिया। लड़की को वह इतना स्वादिष्ट लगा कि, उस दिन से वह पड़ौसी की मुर्गी के अंडे चुराकर लाने लगी और खाने लगी। लड़की को अपने अंडे खाते देखकर मुर्गी को क्रोध आया और उसने ईश्वर से यह प्रार्थना की, कि हे भगवन् अगले जन्म में मैं राक्षसी बनूँ और इस लड़की की सन्तान को खाऊँ, ऐसा वर दो। कुछ समय के बाद लड़की और मुर्गी दोनों मर गई और दोनों ने एक ही घर में जन्म लिया। मुर्गी बिल्ली बनी और लड़की मुर्गी। मुर्गी अण्डे देती और बिल्ली खा जाती। इस प्रकार बहुत समय तक होता रहा। आखिर मुर्गी ने चिढ़ कर ईश्वर से प्रार्थना की, कि हे भगवन्! अगले जन्म में मैं इस बिल्ली और इसके बच्चों को खा सकूँ, ऐसा वर दो। कुछ समय के बाद बिल्ली और मुर्गी दोनों मर गई। बिल्ली हिरनी बनी और मुर्गी सिंहनी। सिंहनी हिरनी और उसके बच्चों को खागई। इस प्रकार पाँचसौ जन्म पर्यंत वे एक दूसरे से वैर चुकाते रहे। अन्त में श्रावस्ती नगरी में, उनमें एक लड़की तथा दूसरी राक्षसी के रूप में पैदा हुई। वहाँ एक दिन बुद्धदेव ने उन्हें देखा और उन्हें यों जन्म जन्मान्तर तक वैर न रखने का उपदेश दिया।' इस पर से समझा जा सकता है कि

वैर और मैत्री करते हुए इहलोक और परलोक उभय का विचार करना बहुत आवश्यक है, कारण कि ऐसे सम्बन्ध अवतार-परंपरा के भी सिद्ध होते हैं। (३६)

[सर्व जीवों के प्रति ऐसा कर्त्तव्य पालन करते हुए किसी बार किसी का अनिष्ट-चिंतन करने के समान दोष होजाय, तो उससे मनकी वृत्ति कलुषित होती है और भावना जितनी ऊँची चढ़ती है, उससे दूनी नीचे गिर जाती है। ऐसा दोष होने पर क्या करना चाहिये ? नीचे के श्लोक में ग्रंथकार उस दोष का निवारणोपाय बताते हैं।]

क्षमा-याचना ।३७।

नानिष्टं मनसाऽपि चिन्त्यमखिलभ्रात्रात्मकप्राणिनां ।
किन्त्विष्टं मनसा धनेन वचसा कायेन कार्यं सदा ॥
येषां क्वाप्यजनि क्षतिः कथमपि त्वत्तोऽज्ञतायां तदा ।
तांस्त्वं शुद्धधिया क्षमापय मुदा सन्ध्याद्वये नित्यशः ॥

भावार्थ—जब प्रत्येक प्राणी भाई के समान है, तब मन से भी उसका अनिष्ट नहीं सोचना चाहिये। बल्कि तन, मन, धन और वचन से सर्वदा उसका इष्ट-भला ही करना चाहिये। हे मनुष्य ! उनमें से किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार, अज्ञान में कोई भी क्षति हुई हो, तो शाम और सवेरे दोनों सन्ध्याकाल सर्वदा शुद्ध बुद्धि से, उससे क्षमा याचना कर। (३७)

विवेचन—पहले बताया गया है कि सर्व मनुष्य प्राणियों के उपरान्त, सब जीवों के प्रति मैत्री भावना विकसित करने के लिए, उन्हें आत्मौपम्य द्वारा निर्वैरता से अपने समान या अपने बन्धु के समान समझना चाहिये। परन्तु व्यवहारी मनुष्य को कभी-कभी अज्ञान में मन, वचन और काया से पर-अहित हो

जाता है। जो जानबूझ कर ही अपने लाभ के लिए दूसरों का अहित करते हैं, उन्हें मैत्री भावना विकसित करने का बोध कराना, किसी कुण्ड में नमक भर कर उसमें गुलाब का पौधा बोने के समान है। परन्तु जिन्होंने गृहस्थाश्रम को छोड़ने का निश्चय किया है, या जो मुमुक्षु किसी भी आश्रम या किसी भी वयस् में आत्मौपम्य दृष्टि या मानसिक समता को उद्बोधित करने की जिज्ञासा वाले हैं, उनसे जब अजान में दूसरों का अहित हो जाता है, तब उसे क्या करना चाहिए, इस श्लोक में ग्रन्थकारने यही बतलाया है। प्रातः और सायंकाल, रात और दिनकी अपनी परिचर्या का स्मरण करके, उसने कौन-कौन अच्छे और कौन-कौन बुरे काम किये हैं, इस पर विचार कर बुरेकामों की आलोचना करना, जिसका अहित किया हो—हो गया हो, उससे सच्चे हृदय से क्षमा-याचना करना, पुनः ऐसा दोष न हो जाय, इसके लिए सावधान रहने का निश्चय करना—इतना मानसिक चिंतन प्रमादवशात: पतित होती हुई मैत्री भावना को पुनः ऊँचा चढ़ाने वाला सिद्ध होता है। पाप का प्रायश्चित्त, एक प्रकार पश्चात्ताप है और क्षमा-याचना, दुष्कृत्य के सच्चे पश्चात्ताप बिना नहीं की जा सकती, इसलिए इस प्रकार क्षमा-याचना से पाप का प्रायश्चित्त ही होता है। जैन धर्म में इस क्रिया को पाप से पीछे हटाने वाला—'प्रतिक्रमण' कहा जाता है। बुद्ध ने भी सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव जगाने के लिए क्षमा-याचाना को आवश्यक माना है।

दृष्टान्त—क्षमापना के कठोर पालन का एक दृष्टान्त है। पाटलिपुत्र के राजा उदायन के रनवास में सुवर्णगुलिका नाम की एक अत्यन्त स्वरूपवती दासी थी। एकबार वह उज्जयिनी के राजा चंद्रप्रद्योत की दृष्टि में पड़ी, और राजा उस पर मोहित हो गया। परन्तु राजा उदायन ने उसकी माँग को स्वीकार नहीं किया।

इसलिए राजा चंद्रप्रद्योत ने उसका हरण करने का निश्चय किया चंद्रप्रद्योत एक बार हाथी पर बैठकर दासी का हरण करने को निकला, परन्तु उदायन के द्वारा पकड़ा गया और कैद कर लिया गया। संवत्सरी का दिन आने पर उदायन संवत्सरी प्रतिक्रमण करने के पहले सबसे क्षमा याचना करके कैदियों के पास भी गया। सबसे क्षमा-याचना करते-करते वह राजा चंद्रप्रद्योत के पास भी गया और बोला—मैंने तुम्हें तुम्हारे अपराध पर न्याय के अनुसार दंड दिया है, पर मेरे मनमें तुम्हारे प्रति कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं है, इसलिए मुझे क्षमा करना। चंद्रप्रद्योत ने कहा—मुझे कैद से मुक्त करके अपनी दासी सुवर्णगुलिका को मेरे साथ ब्याह दो, तभी मैं क्षमा करूंगा। मैं भी श्रावक हूँ, और इससे मुझे प्रतिक्रमण होगा। उदयन ने उसे बहुत ही समझाया, पर वह न माना। अन्त में 'दासीपति' शब्द अपने कपाल पर दगवाने की शर्त पर चंद्रप्रद्योत के साथ सुवर्णगुलिका को ब्याह देना उदायन ने स्वीकार किया और इस प्रकार क्षमायाचना पूर्ण हुई। (३८)

[अब, मैत्रीभाव का विकास कैसे क्रम से करना चाहिए, यह प्रदर्शित किया जाता है।]

मैत्री-क्रम ॥२८॥

मैत्री कल्पलता प्रयाति विततिं शक्तेर्विकाशो यथा।
तस्यास्तिष्ठति मूलमात्मनिलये स्कन्धस्तु सम्बन्धिषु॥
शाखा-देश-समाज-मानवगणे विस्तारमापद्यते।
सर्वप्राणिगणे तदीयशिखरं प्रान्ते जगद्व्याप्नुते॥

भावार्थ—ज्यों-ज्यों मनुष्य की शक्ति का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों मैत्री रूपी कल्पलता विस्तार पाती जाती है। उस

कल्पलता का मूल अपने घर में होता है, इसलिए प्रथम घर से आरंभ होता है। सगे-सम्बन्धियों में उसका तना होता है। देश समाज और मनुष्यमात्र में उसकी शाखाएँ फैलती हैं। उसके अंकुर तो समस्त प्राणीवर्ग में पहुँचते हैं और अन्त में वह लता सारे जगत् में व्यापक हो जाती है। (३८)

विवेचन—यहाँ मैत्रीक्रम का दर्शन एक लता के विस्तार की तुलना से कराया गया है। मैत्री को कल्पलता कह कर ग्रन्थकार ने मैत्री को प्रथम अपने घरसे आरंभ करने के लिए कहा और फिर उसके तने शाखाएँ और अकुर को सगे सम्बन्धी, देश-समाज-मनुष्य प्राणी और समस्त प्राणीवर्ग तक पहुँचाने का सूचन किया है। तात्पर्य यह है कि मैत्री भावना का विकाश क्रमशः होता है। घर-आँगन में मैत्री किंवा दृष्टि की समता को न रख सकने वाला, देश-सेवक या समाज सेवक नहीं हो सकता। और न वह वसुधा को कुटुम्ब के समान मानने वाला साधु या सन्यासी ही हो सकता है। कदाचित् ऐसा मनुष्य देश सेवक या साधु बन जाय; पर उसमें उन पदों के योग्य उत्तम गुण नहीं होते और इनसे वह अपना विहित कर्त्तव्य पूर्ण नहीं कर सकता। वायुयान में बैठ कर उड़ने वाला मनुष्य ज्यों-ज्यों आकाश में ऊँचा चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके दीखते हुए आकाश का वर्तुल अधिक से अधिक बड़ा होता जाता है, उसी प्रकार मैत्री भावना में मनुष्य ज्यों ज्यों ऊँचा चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका मैत्री का वर्तुल बढ़ता जाता है। इसलिए मैत्री भावना विकास करने की इच्छा रखने वाले को अपने घर से ही उसका आरंभ करना चाहिए। तृतीय अवस्था में जिस समय समाज, देश या समग्र जगत् का कल्याण करना होता है, उस समय मैत्री का क्रम सीखने के लिए घर के मनुष्यों से आरंभ

करने वाला मनुष्य, उचित रूप में आगे नहीं बढ़ सकता, इस-लिए गृहस्थाश्रम में ही कौटुम्बिक मैत्री भावना की शिक्षा पूर्ण कर डालना चाहिए जिससे कि फिर तृतीय अवस्था में समाज और देश के प्रति तथा आगे बढ़ते हुए जगत् के प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भावना को शिक्षित करने और *'एतामारुह्य निःश्रेणी ब्रह्मलोके महीयते'* इस निसैनी पर चढ़ते चढ़ते अन्त में ब्रह्म-लोक में पहुँचने का इप्सितार्थ पूरा होता है।

मैत्री भावना का विकास और उसके क्रम के सम्बन्ध में बुद्ध का कथन भी इन विचारों के अनुरूप ही है। बौद्ध ग्रन्थों में मैत्री भावना का विधान करते हुए कहा गया है कि—

अत्तूपमाय सब्बेसं सत्तानं सुखकामितं।
पस्सित्वा कमतो मेत्तं सब्बसत्तेसु भावये॥

अर्थात्—हमारी तरह ही अन्य प्राणी भी सुख की इच्छा करते हैं, ऐसा समझ कर क्रम क्रम से सब के प्रति मैत्री-भाव उत्पन्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेष उपदेश बुद्ध ने 'ककचूपम सुत्त' में किया है। इस उपदेश का तात्पर्य भी क्रमशः मैत्रीभावना का विस्तार करना है।

दृष्टान्त—एक नये ग्रेजुएट के मन में विद्यार्थी अवस्था में ही देश की सेवा करने के विचार रमा करते थे और बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ उसके हृदय में थीं। वह ज्योंही बी० ए० पास हुआ, त्योंही एक बड़े नगर की 'वनिता आश्रम' जैसी संस्था में, सेवा भावना से नौकरी करने के लिए तैयार हो गया। 'वनिता-आश्रम' की संस्थापिका वृद्धा स्त्री के पास वह गया और उसने अपना नौकरी करने का विचार प्रकट किया। वृद्धा ने पूछा—अच्छा, वेतन क्या लोगे? ग्रेजुएट

ने उत्तर दिया—केवल पन्द्रह रुपये। वृद्धा ने पूछा—क्या तुम्हारा विवाह नहीं हुआ? ग्रेजुएट ने कहा—विवाह तो हो गया है। वृद्धा ने फिर पूछा—तब तुम दोनों जने पन्द्रह रुपये में गुजर कर लोगे? ग्रेजुएट ने कहा—मैं केवल सेवा भाव से आपकी संस्था में शरीक होना चाहता हूँ। मुझे धन का लोभ नहीं है। वृद्धा ने पूछा—तब तुम धनी हो? ग्रेजुएट ने कहा—जी नहीं, मैं सामान्य स्थिति वाला हूँ, परन्तु स्त्री के पोषण की स्वार्थी भावना से प्रेरित होकर 'वनिता-आश्रम' जैसी संस्था से अधिक द्रव्य लेना मुझे अपनी सेवा वृत्ति से भला नहीं मालूम होता। स्त्री भी किसी प्रकार अपना निर्वाह कर लेगी। वृद्धा को इस सेवा भावना से बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने कहा—तब तुम कल अपनी स्त्री को साथ लेकर मेरे पास आना। ग्रेजुएट बोला—परन्तु वह तो रोगिणी है, इसलिए न आ सकेगी। वृद्धा ने पूछा—अच्छा कौन रोग है? ग्रेजुएट बोला—यह तो मुझे पता नहीं, पर मेरी माताजी उसकी साल-सँभाल करती है। वृद्धा ने पूछा—दवा किसकी हो रही है? ग्रेजुएट बोला—दवा भी किसी की होती ही होगी! वृद्धा ने फिर पूछा—अच्छा मेरी संस्था में गरीब अनाथ कन्याएँ, विधवाएँ अनेक अशक्त स्त्रियाँ हैं, उनके प्रति तुम समान दृष्टि से रह सकोगे? ग्रेजुएट बीच में ही बोल उठा—अवश्य, देश के दुखी बालकों को देखकर मेरे हृदय में आज से नहीं, बल्कि जब मैं कॉलेज में था, तभी से दुःख होता था, इसी से केवल पेट पूर्ति के लायक ही वेतन लेकर, घर के लोगों को चिन्ता किये बिना, मैं आपकी संस्था में सेवा करने का इच्छुक हूँ। अब आप समझ सकती हैं कि संस्था की बेचारी अनाथ बालाओं, अभागी विधवाओं और अन्य दरिद्र अशक्त स्त्रियों के प्रति मेरी दया-भावना। यह भाषण सुनकर वृद्धा अधिक देर धीरज न रख सकी, बोली—ऐ मिस्टर देश सेवक! मुझे तुम्हारी

सेवा-भावना का तनिक भी विश्वास नहीं है, इसलिए अपनी संस्था में मैं तुम्हें मुफ्त भी रखने के लिए तैयार नहीं हूँ। जो मनुष्य अपनी स्त्री के पेट पालन की चिन्ता नहीं रखता। जिसे अपनी रोगिणी स्त्री के रोग या दवा-दारू की भी खबर नहीं है, जिसे अपनी स्त्री के प्रति प्रेम और कर्त्तव्य का भी ज्ञान नहीं है, उसकी प्रेम-भावना मेरी संस्था की गरीब अनाथ बालाओं और स्त्रियों के प्रति आकर्षित होगी, यह मैं नहीं मान सकती। यह संभव भी नहीं है। प्रकृति ने जिन्हें अपना ही बनाया है, उन्हें जो नहीं चाहता, वह परायों को चाहेगा, यह असंभव है। ग्रेजुएट की आँखें खुल गईं, उसे अपने पहले फर्ज का खयाल हुआ कि सबसे पहले आप्तजनों के प्रति प्रेम-भावना होनी चाहिए, इसके बिना समाज या देश की सेवा व्यर्थ है। इसी प्रकार मैत्री-भावना का विकाश करने के लिए क्रमानुसारी होना आवश्यक है। (३८)

[मैत्री का घात करने वाले प्रसंग के उपस्थित होने पर कैसा व्यवहार करना चाहिए, ग्रन्थकार अब इसके विषय में कहते हैं।]

मैत्री घातक प्रकृति का परिहार। ३९ ॥

वैधर्म्यं यदि तत्त्वनिश्चयधिया तत्त्वं समालोच्यतां।
वैदेश्यं यदि गृह्यतां नवगुणस्तस्मात्स्वयं दीयताम् ॥
वैजात्येऽपि विरोधभावजननं दोषावहं सर्वथा।
भेदेऽपि प्रकृतेर्द्वयोरनुचितं मैत्रीपथोत्सर्जनम् ॥

भावार्थ—दो व्यक्ति या दो समाजों में धर्म भेद हो, तो मैत्री का घात होना सम्भव है; पर वहां भी मैत्री का मार्ग त्यागना न चाहिये; बल्कि धर्म भेद होने पर निश्चय करने की

बुद्धि से तत्त्व की समालोचना करनी चाहिये। जहां देश भेद न हो वहां भी विरोध करते हुए गुणों का विनियम करना; अर्थात् दूसरे में गुण हों तो उन्हें स्वतः लेना और अपने में जो गुण हों, वे उन्हें देने चाहिएँ। जहां जाति भेद हो वहां भी विरोध करना सर्वथा दोष पूर्ण है। और जहां दोनों के स्वभाव में भेद हो वहां भी मैत्री का मार्ग त्यागना उचित नहीं है। (३६)

विवेचन—बहुत बार बाह्य जीवन मनुष्य के अन्तर जीवन पर असर करता है। अर्थात्—कई बार मनुष्य ऐसे संयोगों में आपड़ता है कि उसकी मैत्री भावना डगमगा जाती है. ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिये? ग्रन्थकार इस श्लोक में ऐसे मैत्री घातक प्रसंगों के कुछ उदाहरण देते हैं। दो व्यक्ति या दो समाजों में धर्म भेद हो, तो मैत्रीघात होने का अवसर आजाता है। स्वधर्म का अभिमान रखना, यह एक सद्गुण है; परन्तु यह सद्गुण यदि अन्य धर्मावलम्बी के प्रति द्वेष उत्पन्न करने वाला सिद्ध हो, तो वह दुर्गुण ही कहा जा सकता है। धर्म का अभिमान प्रशस्त होना चाहिये धर्म तत्त्व का अभिमान होना चाहिए। इसके विपरीत अपने धार्मिक सम्प्रदाय, मत, पंथ या गरोह का अभिमान रखना, वृत्ति की क्षुद्रता को प्रकट करता है। इस लिए, धर्माभिमानी मनुष्य को, अपने विपक्षी विधर्मी से किसी प्रकार का मतभेद होने पर, तत्त्व निश्चय करने की बुद्धि से ही तत्त्व की समालोचना करनी चाहिए। और जब वह यह तत्त्व विचार करेगा कि मैं वैष्णव धर्म द्वारा प्रभु प्राप्ति करना चाहता हूँ, तो विपक्षी बुद्धोपासना द्वारा निर्वाण प्राप्ति करना चाहेगा। वस्तुतः दोनों का हेतु जन्म मरण के चक्र को नष्ट करना ही है। जब परमात्मा दोनों का एक ही है तब ऐहिक दृष्टि भेद से मैत्री का त्याग क्यों करना चाहिए? इस प्रकार तत्त्वालोचन करने वाले वीर पुरुष को

प्रशंसा शत्रु भी करता है और उसका अमित्र कोई नहीं होता या रहता। वही सच्चा मनुष्य कहलाता है। '*नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोपि स मतः पुमान्*' ऐसी ही तत्त्व विचारणा के कारण प्राचीन काल में जैन, बौद्ध और वैष्णव धर्मावलम्बी भाई एक ही पिता के घर में एक मत होकर रह सकते थे। यह तो धर्म भेद की बात हुई; जहां देश भेद हो, वहां क्या करना चाहिए? महात्मा गांधी कहते हैं कि स्वदेशाभिमान तभी योग्य कहा जासकता है, कि जब विदेशियों के प्रति द्वेष उत्पन्न ही न हो। देश हित के लिए विदेशियों के साथ युद्ध करना पड़े तो भी इस युद्ध में द्वेष नहीं, पर मित्रता ही कारणीभूत होनी चाहिए। कोई शंका कर सकते हैं कि मित्रता होने पर युद्ध सम्भव ही नहीं होसकता; परन्तु यह भूल है। द्वेषी युद्ध करने वाला, शत्रु से अपनी रक्षा करने के सिवा शत्रु का बहुत कुछ अनिष्ट करता है, उसे मनुष्य से पशु बना देने के लिए वह तरसता है। इसके विपरीत मैत्री भावना वाला देश के लिए युद्ध करने पर भी अपनी रक्षा करके योग्य अवसर आने पर शत्रु से सन्धि कर लेता है। वह न उससे द्वेष करता है और न उसका अनिष्ट करने की चेष्टा ही करता है। बल्कि उसका मित्र बन कर, उस में अपने से जो उत्तम गुण होते हैं, उन्हें ग्रहण करने के लिए तत्पर रहता है। इस प्रकार विदेशियों की ओर देखते हुए, जब गुण ग्रहण को सारभूत मानने तक मनुष्य की दृष्टि जाती है, तब उसे उन के प्रति कभी द्वेष नहीं होता। गत यूरोपीय महायुद्ध के समय फ्रांस और जर्मनी दोनों देशों ने मनुष्य जाति का अकल्याण करने में कोई कसर नहीं रखी। जर्मनी ने हिंसा के लिए अपने विज्ञान शास्त्र का बहुत अधिक उपयोग किया और फ्रांस ने प्रयत्नतः जर्मनी को कुचल कर फिर सिर उठाने योग्य नहीं रक्खा। कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर

जर्मनी और फ्रांस के इन कार्यों को अनिष्ट ही मानते हैं। दोनों देश लोककल्याण का घात करने वाले थे, फिर भी कविवर टैगोर ने उनके प्रति द्वेष नहीं प्रकट किया। वे जर्मन तत्त्वविद् महापुरुषों का परिचय प्राप्त करने के लिए जर्मनी, और फ्रेन्च पंडितों के गुणों का अवलोकन करने के लिए फ्रान्स गये और अमित सम्मान प्राप्त किया और उन तत्त्ववेत्ता और पंडितों को भी सम्मानित किया। इस प्रकार जहाँ परस्पर गुण विनिमय की दृष्टि होती है, वहाँ देशी-विदेशी की भावना टिक ही नहीं पाती और इसीलिए ग्रन्थकार ने ऐसे मैत्री-घातक प्रसंग के उपस्थित होने पर *'गृह्यतां नवगुणास्तस्मा-त्स्वयं दीयतां'* के ऐसे इ, मार्ग को दिखलाया है। जाति भेद उत्पन्न होने पर क्या किया जाय? ग्रन्थकार कहते हैं कि जाति भेद की दृष्टि से देखने पर विरोध भाव पैदा होता है और विरोध भाव दोष पूर्ण ही होता है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। आज कल सभी देशों में भिन्न-भिन्न जातियों के लोग रहते हैं और कितनी ही जातियाँ तो मूल विदेशी होते हुए भी अमुक देश निवासी जातियों की तरह ही स्थापित हो गई हैं, जैसे—हिन्दुस्तान में मुसलमान। जिनके साथ हिलमिल कर रहना उचित है, उनके साथ विरोध भाव करना दोष पूर्ण और हानि-कारक है। ईशु ख्रिस्त भी जाति भेद की दृष्टि का त्याग करके मनुष्य जाति के प्रति समदृष्टि से देखने का उपदेश देते हैं। परन्तु, उनके बहुत से अनुयायी भी आज उनके इस उपदेश को नहीं मानते। दक्षिण अफ्रीका और पूर्व अफ्रीका में जा बसे हुए गोरे एशिया और भारतनिवासी गेहुँए रंग वाले लोगों से ऐसी घृणा करते हैं कि वे उन्हें विजातिद्वेष के कारण वहाँ से निकाल ही देना चाहते हैं। ईशु एशिया निवासी थे, यदि इस समय वे होते

तो उन्हें भी उनके पूर्व और दक्षिण अफ्रीका निवासी गोरे निकाल बाहर करते! इस जाति विद्वेष के कारण उन देशों में दोनों जातियों के बीच उत्पात मचा ही रहता है। एक ही पिता के परिवार-स्वरूप मनुष्य जाति के हित में ये उत्पात क्या कम हानिकारक हैं? और जहाँ दो व्यक्तियों के स्वभाव या प्रकृति में भेद हो, वहाँ तो केवल प्राकृतिक गति को समझ कर ही मैत्री-भावना को स्थिर रखना चाहिए। संसार में स्वभाव भेद आजकल स्थान-स्थान पर और क्षण-क्षण में दृष्टिगोचर होता है और अशान्ति की हवा बहने लगती है। बहुत लोगों की धीरता और स्थिरता ऐसे समय भंग हो जाती है। परन्तु, यदि वे इतना तत्त्व-विचार करें कि '*यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः*' अर्थात्—जिसका जैसा स्वभाव हो जाता है, वह सदा वैसा ही अनिवार्य रहता है, तो मैत्री-भावना के भंग होने का कभी अवसर ही न आये। (३९)

[अब उदाहरणों के साथ यह बताया जाता है कि जुदे जुदे देश के, धर्म के और जाति के मनुष्यों में भी मैत्री कहाँ तक संभव और स्वाभाविक है।]

वैधर्म्यादि होते हुए भी मैत्री का घात नहीं होता ॥४०॥

वैधर्म्येऽपि सहैव तिष्ठति सदा किं द्रव्यषट्कं न वा।
वैदेश्येऽपि चकोरचन्द्रकुमुदे ह्रासो न मैत्र्याः सदा॥
वैजात्येऽपि वने सहैव तरवस्तिष्ठन्ति वल्ल्यादिभिः।
किं त्याज्या मनुजैस्तदा सुखकरी मैत्र्यल्पभेदोद्भवे॥

भावार्थ—धर्मास्तिकायादि छह द्रव्यों के धर्म जुदे-जुदे हैं, फिर भी छहों द्रव्य एक साथ इस जगत् में रहते हैं। कुमुद,

चकोर और चन्द्र, भिन्न देश के हैं, फिर भी उनकी मैत्री में किसी प्रकार कोई कमी नहीं होती। वृक्ष और लताओं में अनेक जातियाँ होने पर भी वे एक साथ एक ही वन में रहते हैं और इन पदार्थों और प्राणियों में धर्म भेद, जाति भेद या देश भेद मैत्री-बाधक नहीं होता। फिर मनुष्य, साधारण मतभेद होने पर, सुखकारिणी मैत्री का त्याग करें, क्या यह उचित कहा जा सकता है? कदापि नहीं। (४०)

विवेचन—इससे पहले के श्लोक में धर्म, देश, जाति आदि की भिन्नता उपस्थित होने पर किस प्रकार मैत्री-भावना से ही युक्त रहना चाहिए, इसकी तत्त्व-विचारणा की गई थी और इस श्लोक में ग्रन्थकार यह समझाते हैं कि तत्त्व-विचारणा की सफलता जगत में कैसे-कैसे उदाहरणों में होती दीख पड़ती है। वैधर्म्य के दृष्टान्त में वे षड्द्रव्यों का उदाहरण देते हैं। धर्मास्तिकाय; अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय— और जीवास्तिकाय यह छह द्रव्य जगत् में एक साथ अस्तित्व रखते हैं। इन द्रव्यों के धर्म एक समान नहीं बल्कि परस्पर विरुद्ध हैं। धर्मास्तिकाय का गुण किसी वस्तु को गतिमान करने में सहायता करना है और अधर्मास्तिकाय का गुण किसी भी वस्तु को ठहरने में सहायता करना है। जिस प्रकार हवा में आक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बोनिक एसिड गैस आदि वायु एक साथ एक ही जगह और हवा के एक परमाणु के अन्दर भी अस्तित्व रखती हैं, उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध गुण वाले होने पर भी यह छहों द्रव्य जगत में एक साथ रहते हैं। इसी प्रकार अजीव पदार्थों में भी विरोध नहीं, बल्कि मैत्री ही रहती है। वैदेश्य के उदाहरण में कुमुद, चन्द्र और चकोर को लिया गया है। कुमुद सरोवर में निवास करता है, चकोर वृक्ष पर रहता है और

चन्द्र आकाश में बसता है। वे तीनों एक दूसरे के लिए परस्पर विदेशी ही हैं, परन्तु उनकी मैत्री कैसी है? जब चन्द्रोदय होता है, तभी चकोर को उल्लास मिलता है। यह जरूर है कि चन्द्र, चकोर और कुमुद की मैत्री एकांगी है। अपने प्रेमी मित्र चकोर और कुमुद को देखकर चन्द्र को कैसा आनन्द होता है यह हम नहीं जानते; परन्तु यहाँ केवल वैदेश्य की दृष्टि से ही मैत्री का अवलोकन करना है, इसलिए मैत्री के दूसरे रुख को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वैजात्य का उदाहरण भिन्न-भिन्न जाति के वृक्षों और वनस्पतियों का लिया गया है। एक वन में सैकड़ों जाति के वृक्ष होते हैं; परन्तु वे एक साथ मैत्री-पूर्वक खड़े रहते हैं। किसी वैजात्य के कारण उनमें कोई कलह नहीं होता। जब अजीव द्रव्यों, प्राणियों और वनस्पतियों में भी ऐसी मैत्री है, तब मनुष्यों में उस मैत्री का न होना क्या उचित है? उन सब की अपेक्षा मनुष्य तो प्रकृति की विभूतियों में सर्वोत्तम है। फिर भी क्या उसे मैत्री की अपेक्षा किसी के प्रति वैर या कलह करना उचित है? एक अँग्रेज कवि कहते हैं कि—

'What good has he gained by his knowledge and skill,
If he strive not for others as much as himself?
No man should consent to inflict or permit
What he knows will give pain to his bitterest foe.

अर्थात्—अन्य सब प्राणियों से मनुष्यों में ज्ञान और बुद्धिमानी अधिक है, फिर भी यदि मनुष्य जिस प्रकार अपने भले के लिए प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वह दूसरे के भले के लिए प्रयत्न न करे, तो उसका ज्ञान और बुद्धिमानी किस काम की? ऐसा कोई भी काम न करना चाहिये या होने देना चाहिये, जिससे अपने कट्टर से कट्टर शत्रु को भी दुःख हो। जिस प्रकार

वनस्पति, प्राणी और पदार्थ मित्र रूप में रहते हैं, उस प्रकार यदि उनकी अपेक्षा ज्ञान और बुद्धिमानी की विशेषता रहने पर भी मनुष्य, उस मैत्री-भावना को समझकर तदनुसार व्यवहार न करे, तो उसकी यह विशेषता भी किस काम की ? तात्पर्य यह है कि इस भावना का अनुसरण न करने वाले मनुष्य का जीवन निष्फल है। (४०)

[अब ग्रन्थकार मैत्री-भावना की एक वैरिणी ईर्ष्या का वर्णन करते हुए जवासा वनस्पति को दृष्टान्त रूप में ग्रहण करते हैं।]

ईर्ष्यारूपी दोष ।४१।।

रे दुर्भागियवासक ! ज्वलसि किं कालेऽम्बुवाहोदये ।
दृष्ट्वा जातिमहोदयं मनसि मे दाहज्वरो जायते ।।
स्यात्कश्चिज्जगतीतले त्वदुपमो निष्कारणं दुःखितो ।
मत्तोऽप्युग्रविषाददग्धहृदया ईर्ष्यालवो मानवाः ।।

भावार्थ—रे अभागे जवासा ! जब वर्षा ऋतु निकट आती है, तब तू क्यों सूख जाता है ? (जवासा उत्तर देता है) "भाई, अपनी जाति का उदय होता देखकर मेरे मन में दाह ज्वर उत्पन्न होता है, इससे मैं जलता हूँ।" इस पृथ्वी पर तेरे जैसा अभागा कौन होगा, जो विना कारण दुःखी हो ? (जवासा कहता है) "जो मनुष्य ईर्ष्यालु हैं, वे मेरी अपेक्षा अधिक दुःखी हैं; उनका हृदय हमेशा खेद और दुःख से जला करता है।" (४१)

विवेचन—ईर्ष्या के उदाहरण रूप में जवासा वनस्पति अच्छी तरह प्रसिद्ध है। यह हमेशा ग्रीष्म ऋतु में हरी रहती है, और जब वर्षा ऋतु में अन्य सब वनस्पतियाँ नवपल्लवित होती हैं,

तब यह सूख जाती है ! यह भी वनस्पति की श्रेणी में है, परन्तु यह अपने अन्य कुटुम्ब-परिवार को वर्षा में प्रफुल्लित होते देख कर सूख जाती है और ग्रीष्म में उसी परिवार को सूखते देख कर स्वयं हरी हो जाती है। कवियों ने दूसरों की संपत्ति देखकर जलने वाले और दूसरों को विपत्ति मे देखकर हर्षित होने वाले ईर्ष्यालु मनुष्य को, इस वनस्पति की तुलना में रखा है। परन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने उससे पृच्छा करके जो उत्तर प्राप्त किया है, वह उससे भी आगे बढ़ जाता है। कवि जवासा से पूछता है कि वर्षा ऋतु निकट आने पर तू सूख क्यों जाता है ? वह इसका उत्तर देते हुए कहता है कि अपनी जाति का उदय होता देखकर मेरे मन में जो दाहज्वर-ईर्ष्या उत्पन्न होती है, उसी से मैं जलता हूँ; परन्तु वह ईर्ष्यालु मनुष्य को अपने से भी अधिक अभागा मानता है और कहता है कि मैं तो केवल बरसात में ही जलता हूँ, पर ईर्ष्यालु मनुष्य जीवन भर रात-दिन हमेशा जला करता है। ईर्ष्यावृत्ति का यह महा अपायकारक परिणाम है। जिसमें यह वृत्ति प्रबल होती है, उसमें मैत्री-भावना कदापि प्रवेश नहीं कर सकती। वह हमेशा सब को ईर्ष्या से देखकर मन में दग्ध हुआ करता है। इस प्रकार ईर्ष्या मैत्री-भावना का घात करने वाली और उसकी प्रचण्ड वैरिणी है। जिसमें यह वृत्ति स्वल्प भी होती है, उसकी मैत्री, प्रमोद, करुणा या माध्यस्थ्यभावना कदापि विकसित नहीं हो सकती; इसलिए जिसमें यह वृत्ति हो, उसे इसका त्याग करना चाहिये और मनुष्य-स्वभाव को, प्राकृतिक रचना को, धर्म के सच्चे दृष्टिबिन्दु से और सर्वत्र तात्त्विक दृष्टि से देखने का अभ्यास करना चाहिये। (४१)

[नीचे के श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि ईर्ष्यालु मनुष्य मैत्री भावना से पराङ्मुख रह कर कैसा दुःखी रहता है।]

ईर्ष्या से सदैव दुःख ।४२॥

भार्या भव्यतरा सुताश्च सुधियः सम्पत् परा कोटित--
ईर्ष्यालुर्न सुखं तथाऽपि लभते दन्दह्यते मानसे ।
नो पश्येत् सुखिनं कदापि कमपि क्वापीह भूमण्डले ।
तर्ह्येवैष भवेत् सुखी परमहो नेदृक्स्थितेः संभवः ॥

भावार्थ तथा विवेचन—ईर्ष्यालु मनुष्य स्त्री अच्छी मिलने, पुत्र के बुद्धिमान् होने, और अपार संपत्ति होने पर भी सुखी नहीं हो सकता, किन्तु दूसरे को सुखी देखकर मनमें जला करता है। ईर्ष्यालु मनुष्य तभी सुखी हो सकता है, जब दुनिया में कहीं भी किसी मनुष्य को कभी सुखी न देखे: परन्तु ऐसी स्थिति होना संभव ही नहीं है; इससे ईर्ष्यालु मनुष्य संपत्तिवान होने पर भी हमेशा दुःखी रह कर दग्ध हुआ करता है। जिस प्रकार अनेक बार मनुष्य क्रोध से पागल हो जाता है, उसी प्रकार ईर्ष्यावृत्ति से भी मनुष्य पर पागलपन सवार हो जाता है और वह हृदय में दग्ध होता है, इतना ही नहीं, परन्तु ईर्ष्यान्ध होकर अनेक अनर्थ भी करता है।

दृष्टान्त—एक ईर्ष्यालु मनुष्य का दृष्टान्त है। पंकप्रिय नामक एक कुम्हार था, उसके पास बहुत संपत्ति थी, सुचरित्र पुत्र था और व्यापार भी अच्छा चलता था; परन्तु उसमें इतनी प्रबल ईर्ष्यावृत्ति थी कि वह किसी भी मनुष्य को सुखी नहीं देख सकता था। व्यापार में किसी को लाभ होने की बात सुनता, तो उसे दुःख होता, किसी की प्रशंसा की बात कान में पड़ती, तो उसे असह्य होती और पड़ौस में या और कहीं किसी को सुखी या विशेष संपत्तिवान देखता, तो ईर्ष्या से जल जाता।

उसकी यह वृत्ति उसे बहुत दुःख देती थी। उसकी स्त्री और पुत्रों ने मिलकर विचार किया कि उसे इस वृत्ति से किस प्रकार मुक्त किया जाय? आखिर उन्होंने निश्चय किया कि उसे जंगल में रखा जाय, जहाँ किसी मनुष्य से उसकी भेंट भी मुश्किल से हो सके। जब पंकप्रिय से यह बात कही गई, तो उसे भी पसंद आई; कारण कि उसने सोचा जंगल में रहने से किसी मनुष्य को न देख सकने से उसे शान्ति मिलेगी।

पंकप्रिय, वन में एक झोपड़ी में अकेला रहने लगा। बहुत समय झोंपड़ी में बिताने से उसकी ईर्ष्या-वृत्ति शान्त होने लगी। इतने में एक रोज़ एक राजा अपने अनुचरों का साथ छुट जाने से उस वन में आ पहुँचा। भूख, प्यास और थकावट से वह बहुत व्याकुल हो गया। पंकप्रिय की झोंपड़ी देख कर वह वहाँ गया। पंकप्रिय ने भोजनादि से राजा का आतिथ्य सत्कार किया। राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसने पंकप्रिय से अपने साथ आने का आग्रह किया; परन्तु पंकप्रिय ने यह निमन्त्रण अस्वीकार किया और उसका कारण बतलाया। राजा ने कहा—"तुम मेरे साथ चलो, मैं ऐसा प्रबन्ध करूँगा कि कोई मनुष्य तुम्हारे आगे किसी की भलाई और प्रशंसा न करेगा।" राजा की यह बात सुनकर पंकप्रिय राजा के साथ चल दिया। एक दिन राजा, रानी के साथ बगीचे में घूम रहे थे। पंकप्रिय भी उनके साथ था। रानी बगीचे के प्रत्येक वृक्ष का नाम और गुण राजा से पूछ रही थी और राजा उसका उत्तर दे रहा था। इतने में बेर का पेड़ आया। उसका परिचय भी रानी ने राजा से पूछा। पंकप्रिय से यह सहन न हुआ! कारण कि रानी एक भील की पुत्री थी। उसका नाम खक्खा था। वह बड़ी रूपवती थी, इसलिए राजा ने मोहित होकर उससे विवाह किया था। जंगल में छोटी से बड़ी

हुई और बेर बीनती फिरने वाली लड़की आज बेर के पेड़ को भी न पहचाने यह पंकप्रिय से सहन न हुआ और वह सिर पीटने लगा। राजा ने ऐसा करने का कारण पूछा, तो वह बोला—

काले बोरां वीणती, आज न जाणे रुक्ख,
पुनरपि अटवी आदरूँ सही न शकूं अणख्ख।

अर्थात्—जो रुक्ख कल तक बेर बीनती फिरती थी, आज वह उसके पेड़ को भी नहीं पहचानती ? मैं फिर जंगल में ही जाकर रहूँगा, पर यह अनहोनी बात नहीं सह सकता।

अस्तु राजा भी समझ गया कि रानी अपने स्वामी से मान कर रही है, उसके लिए भी इस मनुष्य को इतनी ईर्ष्या है। ऐसी दशा में उसके लिए जंगल ही अच्छा है। यह विचार कर राजा ने पंकप्रिय को फिर जंगल में भेज दिया। जंगल में सिंह के भय से वह एक बार एक गढ़े में छिप गया, पर गढ़ा कुछ ऐसा गहरा और सँकड़ा था कि वह उसमें से निकल न सका और बुरी दशा में उसी में मर गया। जहाँ ऐसी तीव्र ईर्ष्या का वास हो, वहाँ मैत्री-भाव का स्वप्न भी कहाँ से हो सकता है ? (४२)



पंचम परिच्छेद

सेवाधर्मः प्रमोदभावना

दूसरे की सम्पत्ति देखकर खुश होना ॥ ४३।४४ ।

कर्त्तव्यव्रतपालने यदि रुचिस्तद्दूरतस्त्यज्यता—
मीर्ष्या लेशमिताऽपि दोषजनिका सेवाकपाटार्गला ।
दृष्ट्वोत्कर्षवतः परान्समुदितान्सन्मानितान्सादरं ॥
मोदस्व त्वमलं विशुद्धमनसा पद्मं यथाऽर्कोदयम् ॥
वृक्षाः पल्लविता लताः पुलकिताः पुष्पैर्वसन्ते यथा ।
श्रुत्वाऽम्भोधरगर्जना गिरितटे मत्ता मयूरा यथा ॥
लब्ध्वा तोयदबिन्दुमेति विपुलं हर्षं यथा चातको ।
दृष्ट्वा बन्धुजनं भवोन्नततरं रोमांचितस्त्वं तथा ॥

भावार्थ—यदि कर्त्तव्य व्रत पालने की इच्छा हो, तो ईर्ष्या को लेश मात्र भी न रहने देना चाहिए; क्योंकि वह अन्य अनेक दोष पैदा करके सेवा के द्वार बन्द कर देती है। बल्कि उसे दूर से ही त्याग देना चाहिए। हे मनुष्य ! दूसरे मनुष्यों को आदर पूर्वक सम्मान प्राप्त करते, उदय पाते, उत्कर्षवान होते देख कर तू अपने निर्मल मन से प्रसन्न हो, जैसे सूर्य को देख कर कमल होता है। वसन्त ऋतु के आने पर जैसे वृक्ष नवपल्लवित होते हैं और लताएं पुष्पित होकर पुलकित और विकम्पित होती हैं, और मेघ की गर्जना सुनकर पर्वत शिखर पर बैठे हुए मत्त मोर प्रसन्न

होते हैं, वर्षा के जल बिन्दु प्राप्त करके जैसे चातक पक्षी हर्षित हो उठता है, इसी प्रकार हे मानव ! तू भी अपने मनुष्य भाइयों को उन्नत होते देख कर रोमांचित हो, अर्थात्—रोमांच कर देने वाली प्रसन्नता प्राप्त कर। (४३-४४)

विवेचन—'प्रमोद भावना' को बुद्ध ने 'मुदिता भावना, अथवा आनन्दवृत्ति कहा है। पराई सम्पत्ति को अपनी से अधिक देख ईर्षा से जलना नहीं, बल्कि प्रमुदित होना, इस भावना का हेतु है। बहुत से व्यवहार कुशल व्यक्ति दूसरों को अपने से अधिक धनवान्, विद्यावान् और पुत्रवान् देख कर बाहर से तो आनन्द प्रकट करते हैं, पर अन्दर से जलते हैं। प्रमोद भावना का हेतु, तो असल में अन्तरंग को आनन्द से रँगना है। '*विधिरेव तानि घटयाति यानि पुमान्नैव चिन्तयति*' ऐसा समझ कर अपने से अधिक सम्पत्तिवान् मनुष्य पर विधि की कृपा देख कर सन्तुष्ट रहना ही सच्ची प्रमोद भावना है। सम्पत्ति का अर्थ यहाँ केवल धनादि स्थूल सम्पत्ति ही समझना नहीं है, सम्पत्ति अनेक प्रकार की होती है। मानसिक सम्पत्ति, शारीरिक सम्पति, आर्थिक सम्पत्ति, कौटुम्बिक सम्पत्ति इत्यादि अनेक प्रकार की सम्पत्तियाँ मनुष्य रखता है और उनमें प्रत्येक का प्रारब्ध तथा पुरुपार्थ ही कारणीभूत बनता है—जो मनुष्य यह तत्त्व समझता है वह अपनी सम्पत्ति की क्षुद्रता से असन्तुष्ट नहीं होता और न पराई सम्पत्ति देख कर जलता ही है; बल्कि आनन्दित होता है कि जिस प्रकार सूर्य को देख कर कमल, बसन्त ऋतु के आगमन से वृक्ष और लताएँ, घन का गर्जन सुनकर मयूर, और मेघागमन से चातक आनन्दित होता है। इन दोनों श्लोकों में प्रमोद वृत्ति के उदाहरण देने के लिए जो पाँच दृष्टान्त ग्रहण किए गए हैं, वे पाँचों इन्द्रियों के उदाहरण स्वरूप हैं। कमल सूर्य के दर्शन से

विकसित होता है, अर्थात्—उसका आनन्द नेत्र द्वारा प्रकट होता है। वृक्षादि वसन्त ऋतु के स्पर्श से नव पल्लवित होते हैं, अर्थात्—उनका आनन्द त्वगिन्द्रिय के द्वारा प्रकट होता है। लताएँ पराग को ग्रहण करके पुष्पित होती हैं, अर्थात्—उनका आनन्द घ्राणेन्द्रिय के द्वारा प्रकट होता है। मोर मेघ गर्जना को कान से सुन कर आनन्दित होता है, अर्थात् उसका आनन्द श्रवणेन्द्रिय के द्वारा ज्ञात होता है। और चातक पक्षी के मुख में जब वर्षा जल की बूँदें पड़ती हैं, तभी उसे आनन्द होता है, अर्थात उसका आनन्द रसेन्द्रिय का आनन्द है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की प्रमोद-भावना इतनी उत्कट होनी चाहिए कि जिससे पराई सम्पत्ति, पराए सद्गुण, पराई महत्ता आदि से उसकी पाँचों इन्द्रियाँ वास्तव में आनन्दित होजायँ।

बुद्ध ने मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा (माध्यस्थ्य) भावना को 'ब्रह्मविचार' कहा है। करणीय मेत्र सूत्त में कहा है कि—

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवंपि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं॥

अर्थात्—जिस प्रकार माता अपने एकलौते पुत्र का परिपालन अपना जीवन लगा कर करती है, उसी प्रकार उसे सभी प्राणियों में अपरिमित प्रेम से अपना मन लगा रखना चाहिए। माता का दृष्टान्त चारों भावनाओं को भली भांति स्पष्ट करता है। माता अपने दूध पीते बच्चे का परिपालन मैत्री से, प्रेम से करती है। वह रोगी होता है, तो करुणा से उसे सहन करती है। विद्याभ्यास करके पुत्र माता से अधिक ज्ञानी और बुद्धिमान हो जाता है, तो माता बड़े आनन्दित हृदय से उस पर हाथ फेरती

है, और कुछ समय बाद जब वह अपनी गृहस्थी स्वतन्त्र रूप से चलाने लगता या माता के मन के विपरीत चलने लगता है तब वह उसकी उपेक्षा करती है, माध्यस्थ्य वृत्ति धारण करती है; परन्तु पुत्रसे द्वेप कभी नहीं करती, मातृप्रेम के गीत अनेक कवियों ने गाये है, इसका कारण यह है कि वह प्रेम ऐसा ही अलौकिक है। वही प्रेमवृत्ति धारण करके महात्मागण जगत् का कल्याण करने के लिये तत्पर होते हैं। ब्रह्मदेव का जो कुछ लोग पिता कहते हैं, वह इन चार मनोवृत्तियों की साक्षात मूर्ति है। नेरंजरा नदी के किनारे भगवान् बुद्ध रहते थे, वहाँ उनके पास ब्रह्मा आए बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में ऐसा लिखा है। इसका तत्वार्थ यही है कि यह चारों मनो वृत्तियाँ, उनके मन में विकसित हुई। (४३-४४)

[नीचे वाले श्लोक में ईर्ष्या तथा प्रमोद के परस्पर विरुद्ध फल का वर्णन किया जाता है।]

ईर्ष्या और प्रमोद का फल ॥ ४५ ॥

ईर्ष्यायाः फलमाप्स्यसि प्रगुणितामीर्ष्यां परेभ्यः पुन
र्मोदस्योत्कटमोदमेव जगतस्त्वं लप्स्यसे प्राञ्जलम् ॥
मोदन्तां मम सम्पदा परजनाः कुर्वन्तु नेर्ष्यामिति ।
वाञ्छा ते मनसस्ततो भज सदा मोदं त्वमीर्ष्यां त्यज ॥

भावार्थ—यदि तू दूसरे से ईर्ष्या करेगा, तो दूसरे भी तुझसे अधिक ईर्ष्या करेंगे, इसलिए ईर्ष्या का फल ईर्ष्या में ही मिलेगा। यदि तू दूसरे की सम्पत्ति से प्रमुदित होगा, तो दूसरे भी तेरी सम्पत्ति देखकर प्रसन्न होंगे। अर्थात् प्रमोद का फल प्रमोद मे ही प्राप्त होगा। यदि तेरी इच्छा यह हो कि तेरी सम्पत्ति देख कर

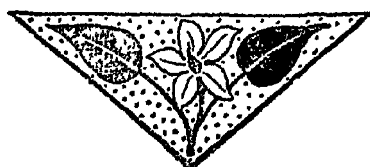
सब प्रसन्न हों, और कोई भी तुझसे ईर्ष्या न करे, तो तूभी ईर्ष्या न कर, और प्रमोद भाव रख।

विवेचन—मनोवृत्ति की उत्कटता में आकर्षण शक्ति होती है। अँग्रेजी में कहा है कि—Every desire is a mental current leaden with power. अर्थात्—ईर्ष्या युक्त मनोवृत्ति चाहे बाह्यतः प्रकट न होती हो, अन्तर में ही छिपी रहती हो; पर उसका आकर्षण दूसरे मनुष्य पर हुए बिना नहीं रहता। एक मनुष्य दूसरे पर ईर्ष्या करता है, इसके परिणाम-स्वरूप दूसरे की ईर्ष्या वृत्ति भी उत्तेजित होती है, इसी प्रकार प्रमोदवृत्ति से प्रमोदवृत्ति उत्तेजित होती है। इस नियम का अनुसरण करके ग्रन्थकार ने ईर्ष्या का फल ईर्ष्या में और प्रमोद का फल प्रमोद में मिलता दिखलाया है। जो सब का कल्याण चाहता है, उसका कल्याण सभी चाहते हैं, महापुरुषों के इस कथन का अर्थ भी यही है।

दृष्टान्त—जो किसी का अकल्याण चाहता है, उसका अपना ही अकल्याण किस प्रकार होता है, इसका एक दृष्टान्त है। दिल्ली के एक मुगल बादशाह ने अपने एक प्रतिनिधि को चीन के बादशाह के पास सन्देश लेकर भेजा। सन्देश-पत्र एक रत्नजटित डिबिया में बन्द करके उसे दिया गया और कुछ धन देकर, अन्य आवश्यक सामग्री और कुछ सेना भी साथ कर दी। उसने जाकर चीन के बादशाह को पत्र दिया और मुगल बादशाह की ओर से भेजी गई भेंट की वस्तुएँ भी पेश कर दीं। उस सन्देश में मुगल बादशाह ने चीन के बादशाह से पूछा था कि हम हिन्दुस्तान के बादशाह दस-पाँच वर्ष ही राज्य करके मर जाते हैं या मारे जाते हैं और आप बहुत वर्ष तक राज्य करते हैं, इसका कारण क्या है? बादशाह ने उस प्रतिनिधि से कहा कि तुम

यहाँ सुख से रहो, बहुत दूर से आये हो, इसलिए आराम करो, मैं बाद में उत्तर दूँगा जिसे लेजाकर अपने बादशाह को देना। उसके लिए एक विशाल वट वृक्ष के नीचे शामियाना खड़ा कर दिया गया और नौकर-चाकर भोजन वाहन के द्वारा अच्छा स्वागत किया गया। दो-एक महीनों के बाद उसने जवाब माँगा, तो बादशाह ने कहा—तुम आराम से रहो, जवाब की अभी कौन जल्दी है। जब फिर दो तीन महीनों के बाद उसने जवाब के लिए याद दिलाई, तो बादशाह ने इस बार भी योंही टाल दिया। तीसरी बार उसने फिर जवाब के लिए कहा, तो बादशाह ने उत्तर दिया—जिस वट वृक्ष के नीचे तुम्हारा शामियाना खड़ा किया गया है, वह जब बिल्कुल सूख जायगा, तब जवाब मिलेगा। इस उत्तर से वह बहुत निराश हुआ। उसे यही प्रतीत हुआ कि वह अब अपने देश न लौट सकेगा। क्यों कि इतना बड़ा वृक्ष क्या सूखेगा? इस प्रकार वे सब खाते, पीते और मौज करते, पर बारंबार वट के वृक्ष की ओर देखते और निःश्वास छोड़ते, कहते—हे प्रभो! कब यह वट का वृक्ष सूखे और हमारा छुटकारा हो। इस प्रकार दिन में सैकड़ों बार वे लोग निःश्वास छोड़ते और वट वृक्ष की ओर देखते। इस प्रकार और भी तीन मास बीत गये, और वृक्ष के पत्ते पीले पड़ने लगे, फिर खिरने लगे और चार-पाँच महीनों में सारा वृक्ष सूख कर गिर गया। वृक्ष की यह दशा देखकर मुगल प्रतिनिधि प्रसन्न हुआ और जवाब के लिए बादशाह के पास गया। बादशाह ने कहा कि उस वृक्ष से ही तुम्हें जवाब मिल गया है। मुगल प्रतिनिधि कुछ भी न समझ सका। इसलिए बादशाह ने कहा—देखो, यह बड़ का वृक्ष पाँच सौ वर्षों से खड़ा था, परन्तु तुम लोगों ने सच्चे दिल से चार-पाँच महीने तक यह कामना की कि वह सूख जाय। और वह सूख गया। इस पर से यह समझना चाहिए कि तुम्हारे

बादशाह के प्रति प्रजा की ऐसी ही कामना रहती होगी। तुम प्रजा के धन का, धर्म का, अन्य सम्पति का ईर्ष्या पूर्वक अपहरण करो तो प्रजा भी तुम्हारे राज्य तुम्हारे राजत्व के प्रति ईर्ष्या करके उनके नष्ट होने की कामना करे, तो इसमें कौन नई बात है ? दूसरे का बुरा करने की इच्छा करने वाले का किस प्रकार बुरा होता है, इस उदाहरण से उसका भली भाँति दिग्दर्शन हो जाता है। ईर्ष्यावृत्ति और प्रमोदभावना के फल को इसी पर से समझ लेना चाहिए। (४५)



षष्ठ परिच्छेद

सेवा धर्मः करुणा भावना

करुणा भावना ॥४६॥

[अब तीसरी करुणा भावना के विषय में विचार किया जाता है।]

कारुण्यं समदृष्टिलक्षणतया ख्यातं जिनेन्द्रागमे ।
मूल धर्मतरोस्तदेव कथितं बौद्धैस्तथा वैदिकैः ॥
श्रामण्यं न तदन्तरेण सुलभं न श्रावकत्वं पुनः ।
सेवाधर्मपथे पदं न चलितुं शक्यं विनैतद्ध्रुवम् ॥

अर्थात्—जैन शास्त्र में करुणा को समदृष्टि के लक्षण के रूप में परिचित कराया गया। बौद्ध और वेदशास्त्र में करुणा को धर्मवृक्ष का मूल बताया गया है। करुणा—दया के बिना श्रामण्य—साधुता और श्रावकत्व प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार करुणा के बिना सेवाधर्म या परोपकार के मार्ग में एक पग भी नहीं चला जासकता है। (४६)

विवेचन—समान प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना और बड़ों के प्रति प्रमोद भावना को हृदय में स्थान देकर, अपने से छोटे, क्षुद्र, साधन शक्ति—सम्पत्ति से हीन व्यक्तियों के प्रति करुणा भावको विकसित करना सेवा धर्म ग्रहण करने वाले के लिए आवश्यक हो जाता है। सेवा-सहायता की जिन्हें वाञ्छा होती है, वे दीन-हीन क्षुद्र प्राणी ही होते हैं। सेवा का निर्माण ही बहुधा ऐसे प्राणियों के लिए होता है। इसलिए एक सेवा धर्मी मनुष्य

को, सेवाधर्म ग्रहण करने के बाद, समान और बड़े मनुष्यों की अपेक्षा छोटे—क्षुद्र प्राणियों के साथ ही अधिक परिचय और सम्पर्क में आना पड़ता है, इसलिए सेवा धर्म में यह भावना सर्वोपरि स्थान ग्रहण कर लेती है। इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि '*सेवाधर्म पथे पदं न चालितुं शक्यं विनैतद्ध्रुवम्*' अर्थात्—सेवा धर्म के मार्ग में करुणा के बिना एक पग भी नहीं चला जा सकता। सभी धर्मों में करुणा का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। अपने और पराये दुःख का निवारण करना, सभी धर्मों में धर्म का सामान्य लक्षण माना गया है और इसीलिए करुणा का उपदेश सर्वत्र देख पड़ता है। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा है—

अद्रोहःसर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मःसनातनः॥

अर्थात्—मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी पर द्रोह न करके, दया और उपकार करना सत्पुरुषों का सनातन धर्म है। अनुशासन पर्व में कहा है—

न हि प्राणात्प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते।
तस्माद्दयां नरःकुर्याद्यथात्मनि तथा परे॥

अर्थात्—जगत् में प्राणी को प्राण से अधिक और कुछ भी प्रिय नहीं है, इसलिए मनुष्यों को अन्य प्राणियों के प्रति आत्मवत् दया रखनी चाहिए।

दीनों के प्रति आत्मवत् दया दृष्टि से व्यवहार करना चाहिए। बुद्ध द्वारा प्रसारित धर्म, करुणा पर ही अवलंबित है और खास कर क्षुद्रप्राणियों के प्रति करुणा ही बुद्ध के संसारत्याग का कारण था। बुद्ध ने सब प्राणियों को सुख के

लिए तड़पते हुए देखा और उनके लिए सुख प्राप्ति का मार्ग खोजने को उन्होंने संसार का त्याग किया था।

जैन धर्म में भी करुणा का स्थान सर्वोपरि है। समकित के पाँच लक्षण बताये गये हैं—सम. संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था। इन में अनुकम्पा ही करुणा है।

दीनदुःस्थितदारिद्र्यप्राप्तानां प्राणिनां सदा।
दुःखनिवारणे वाञ्छा सानुकंपाभिधीयते॥

अर्थात्—दीन, दुखी और दरिद्र प्राणियों के दुःखों का निवारण करने की निरन्तर वाञ्छा ही अनुकम्पा कहलाती है।

दृष्टान्त—श्री महावीर स्वामी की छद्मस्थावस्था के समय की करुणाभावना का एक दृष्टान्त यह है कि वे एक बार कनकखल नामक तपस्वियों के आश्रम से, चंडकौशिक नामक सर्प को प्रतिबोध करने के लिए गये थे। अन्य लोगों ने उन्हें वहाँ जाने के लिए मना किया, तो भी वे वहाँ गये और सर्प की बाँबी के पास कार्योत्सर्ग करके खड़े रह गये। उन्हें देख कर सर्प मुख से विष की ज्वालाएँ फुंकारने लगा; परन्तु महावीर स्वामी पर ज्वालाओं का कोई असर न हुआ। अब सर्प ने महावीर स्वामी के पैर में काट लिया, इससे उनके पैर में से गाय के दूध के समान रुधिर निकलने लगा। महावीर स्वामी बोले—'हे चंडकौशिक जरा समझ विचार कर, बोध ले। यह सुनते ही चंडकौशिक को अपने पूर्वभव का तमोगुण याद आया, और उसके फल स्वरूप, इस जन्म की घटना भी याद आ गई। इससे पश्चात्ताप करता हुआ वह सर्प महावीर स्वामी की प्रदक्षिणा और वन्दना करके, १५ दिनों का अनशन ग्रहण कर मर गया। अपकार करने वाले सर्प जैसे क्षुद्र जीव के

साथ भी अनुकम्पा—करुणा धारण करने का बोध इस दृष्टान्त से प्राप्त होता है। (४६)

[अब करुणा के फल का वर्णन किया जाता है।]

करुणा का फल ॥ ४७ ॥

सर्वेऽपि प्रियजीवनास्तनुभृतो वाञ्छन्ति सौख्यं सदा।
दुःखं कोऽपि न वाञ्छति त्वमिव नो मृत्युं न चानादरम्।
यत्त्वं वाञ्छसि देहि तत्करुणयाऽन्येभ्यो जनेभ्यो मुदा।
त्वं तत्प्राप्स्यसि दैवतो बहुतरं सद्यश्च यद्दीयते ॥

भावार्थ—सभी जीवों को जीव प्रिय है, इसलिए सभी जीव सर्वदा सुख चाहते हैं। कोई भी जीव तेरे समान दुःख की इच्छा नहीं करता, मृत्यु और अपमान को नहीं चाहता। तू जिसकी इच्छा करता हो, वह तू खुश होकर करुणा बुद्धि से दूसरे को दे। तू दूसरे को जो अभी देगा, उसका बदला प्रकृति की ओर से तुझे बहुत मिलेगा। (४७)

विवेचन—प्रत्येक जीव को सुख सर्वदा प्रिय और दुःख अप्रिय होता है। प्रत्येक प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वदा सुख के लिए ही होती है और इसमें जिस ओर से उसे दुःख होना संभव प्रतीत होता है, उस ओर वह नहीं जाना चाहता। जब मानसिक या शारीरिक दुःख ही इतना अप्रिय होता है, तब इन उभय दुःखों का सत्व-स्वरूप मरण किसे प्रिय हो सकता है? *'अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।'* अर्थात्—हे भारत! प्राणिमात्र को मरण अप्रिय—अनिष्ट है। *'प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा।'* अर्थात्—जिस प्रकार अपना प्राण

हमको प्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी होगा—ऐसी आत्मौपम्य बुद्धि से अन्य प्राणियों के सम्बन्ध मे विचार करुणा भावना रखनी चाहिये। ऐसी आत्मौपम्य बुद्धि धारण किये बिना, क्षुद्र किंवा सम्पत्ति हीन प्राणियों के सुख के लिए क्या-क्या चाहिए, इस की कल्पना नहीं हो सकती। और न करुणा की भावना विस्तार ही पासकती है। इसलिए ग्रन्थकार कहते है—'*दुःखं कोऽपि न वाञ्छति त्वामिव*' तेरे समान कोई भी दुःख को नहीं चाहता। शेक्सपीयर कहते हैं कि दया का गुण द्विगुण—दुगुना है। जिसके प्रति दया दिखाकर कुछ दिया जाता है, उसे उससे सुख तथा आनन्द प्राप्त होता है और जो दया दिखा कर देता है, उसे भी संतोष प्राप्त होता है। यह दोनों के सुख-संतोष-आनन्द आत्मौपम्य दृष्टि का ही फल है। ऐसे दान का फल प्रकृति दिये बिना नहीं रहती।

दृष्टान्त—पहले रन्तिदेव नामक एक सोमवंशीय राजा होगया है। वह इतना दयालु था कि परोपकार में इसका सभी धन व्यय होगया, अन्त में वह भूखा रह कर भी गरीबों का पोषण करने लगा। कोई भी अतिथि उसके यहाँ से विमुख नहीं लौटता था। राजा ने एक बार ४८ दिनों तक अन्न जल ग्रहण नहीं किया और ४६ वें दिन ज्यों ही वह भोजन करने बैठा कि तुरन्त ही एक ब्राह्मण अतिथि आगया। रन्तिदेव ने श्रद्धापूर्वक आदर सत्कार करके अतिथि को भोजन कराया। अतिथि के भोजन कर जाने पर बचे हुए को रन्तिदेव खाना चाहता था कि इतने में और एक शूद्र अतिथि आ पहुँचा। उसे भी राजा ने बचे हुए में से भोजन कराया। शूद्र ज्यों ही भोजन करके गया कि कुत्तों से घिरा हुआ एक तीसरा अतिथि भोजन के लिए आखड़ा हुआ और बोला कि हे राजन्! मैं और ये

कुत्ते भूखे हैं, इस लिए हमें भोजन कराइए। यह सुन कर राजा रन्तिदेव बड़े आनन्द के साथ वह बचा हुआ अन्न उसे देकर प्रणाम किया। इस प्रकार सारा भोजन अतिथियों में ही समाप्त होगया। केवल जल रह गया, जह एक मनुष्य के पीने योग्य था। वह पानी पीने के लिए रन्तिदेव तैयार हुआ, इतने में और एक चांडाल आ पहुँचा। उसने कहा कि—हे राजन्! मैं प्यासा हूँ, मुझे पानी पिलाइए। राजा उस चांडाल की दया जनक स्थिति देख कर बहुत दुखित हुआ और बोला—हे प्रभु! मैं तुमसे ऐश्वर्य और मोक्ष की कामना नहीं करता, बल्कि सब प्राणियों के अन्तर में प्रवेश करके उनकी पीड़ा का अनुभव करने की इच्छा रखता हूँ, कि जिससे मेरे दुःखित होने पर भी सब प्राणी दुःख से मुक्त हों। यह कह कर राजा ने उस प्यास से मरते हुए चांडाल को पानी पिलाया। पानी पिलाते ही, वे तीनों अतिथि, जो वास्तव में देवता थे, देव रूप धारण करके राजा के सामने खड़े होगए और बोले—राजा! वर माँगो। परन्तु आत्मौपम्य बुद्धि से—सच्ची करुणा वृत्ति से प्रेरित होकर ही परोपकार करने वाले राजा ने उन्हें नमस्कार किया और कुछ भी न माँगा। दानी कर्ण रोज सवा मन सोने का दान करता था, परन्तु राजा रन्तिदेव का दान करुणावृत्ति में उससे भी बढ़ चढ़ कर कहा जा सकता है। (४७)

[अब स्थूल विभूति की सार्थकता किस बात में है, यह दिखा कर ग्रन्थकार समर्थन करते हैं।]

करुणा के बिना सब निष्फल है। ४८ ॥

किं द्रव्येण फलं न येन करुणापात्रस्य दुःखं हृतं।
किं देहेन न योऽर्पितः क्षितितले त्रस्ताङ्गिनां रक्षणे ॥

किं शक्त्या न ययोद्धृताः करुणया दुःखार्दिताः प्राणिनः
किंबुद्ध्या न ययाङ्कितः शिवपथः कर्मौघविच्छित्तये ॥

भावार्थ—जिस द्रव्य से करुणा रखने लायक मनुष्य का दुःख दूर न किया जा सका, उस द्रव्य का फल क्या है? जिस देह से पृथ्वी के त्रसित प्राणियों का रक्षण न किया जा सका, उस देह का फल क्या? जिस शक्ति से दुखी प्राणियों पर दया करके उनका उद्धार न किया जा सका, वह शक्ति किस काम की? जिस बुद्धि से कर्म के समूह का उच्छेदन करने के लिए मोक्ष का मार्ग न पहचाना, उस बुद्धि का प्रयोजन क्या? कुछ भी नहीं। (४८)

विवेचन—द्रव्य, देह, बुद्धि तथा शक्ति जो कुछ इस जगत् के मनुष्यों की विभूतियाँ हैं, उनका 'स्व' के लिए, अपने लिए उपयोग करना, तो कीट से लेकर हाथी तक के सब जीवों का स्वभाव ही है; परन्तु उनका सच्चा सार्थक्य तो तभी है, जब उनका उपयोग अन्य के लिए—जो उन विभूतियों से रहित होते हैं और जिन्हें उनकी वास्तविक आवश्यकता होती है उनके लिए—किया जाय। जो सच्चे मनुष्य हैं, या सेवा धर्म के तत्त्व को मानने वाले हैं, या साधु हैं, वे अपनी विभूति को अपने सिवा दूसरों के लिए व्यय करने में ही उस विभूति का सार्थक्य मानते हैं, और दुष्ट अज्ञ जन उन्हीं विभूतियों का उपयोग उलटे मार्ग में करते हैं।

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

अर्थात्—दुष्ट पुरुष विद्या का उपयोग विवाद-वितंडा में और सत्पुरुष ज्ञान प्राप्ति तथा ज्ञान दान में करता है, दुष्ट

पुरुष धन का उपयोग मदोन्मत्त बनने में और सत्पुरुष दान में करता है, दुष्ट पुरुष शक्ति का उपयोग दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में और सत्पुरुष दूसरों की रक्षा करने में करता है। इस प्रकार दोनों का मार्ग एक दूसरे के विपरीत है। परन्तु इस श्लोक से यह सिद्ध हो जाता है कि सत्पुरुष विद्या, धन तथा शक्ति जैसी विभूतियों का उपयोग किस अवस्था में मानता है। सेवा धर्म को अँगीकार करने वाले की सब विभूतियाँ सेवापात्र प्राणियों के उपकारार्थ ही होनी चाहियें।

दृष्टान्त—द्रव्य, देह, शक्ति और बुद्धि का उपयोग करुणा पात्रों के लिए करने का दृष्टान्त बल्ख के बादशाह सुल्तान इब्राहीम का है। वे वृद्धावस्था में फकीरों की तरह रहते और इब्न-आदम के नाम से पुकारे जाते थे। एक बार वे एक फकीर दरवेश के साथ यात्रा कर रहे थे। रास्ते में दरवेश बीमार होगया। उसकी सेवा शुश्रूषा में उन्होंने, अपने पास जो कुछ था सब खर्च कर डाला, फिर भी काम न चला, तो उन्होंने अपना टट्टू बेच डाला। दरवेश कुछ अच्छा हुआ और दोनों जने आगे चले। रास्ते में बेचारा दरवेश थक गया, यह देख कर उन्होंने उसे अपने कंधे पर बिठा लिया और तीन मंजिल तक सफर किया। इस प्रकार उन्होंने अपने सर्वस्व का सार्थक्य हुआ माना। (४८)

पुण्यरूपी वृक्ष को सींचने के लिये करुणा की आवश्यकता ।४९॥

साम्राज्यं सुयशः सुखं च सुहृदो विद्या विनीताः सुता-
स्तानीमानि फलानि पुण्यसुतरोः प्राप्तानि सद्यस्त्वया॥

सिञ्चैनं करुणाजलेन सततं चेद्रक्षितुं वाञ्छसि।
नोचेच्छोषमुपैष्यति द्रुततरं सौख्यं च ते नङ्क्ष्यति॥

भावार्थ—साम्राज्य-सत्ता, यश, सुख, त्रिया, मित्र और विनीत पुत्र—इनमें से जो कुछ भी इस समय प्राप्त हुआ है, वह सब पुण्यरूपी वृक्ष का फल है। इस वृक्ष का निरंतर रक्षण करने की इच्छा हो, तो करुणारूपी जल से उसका सिंचन कर। अन्यथा, वह कुछ ही समय में सूख जायगा और तेरे सुख का अन्त आजायगा। (४६)

विवेचन—पहले एक श्लोक में ग्रन्थकार ने कहा है कि '*त्वं तत्प्राप्स्यसि दैवतो बहुतरं सद्यश्च यद्दीयते*' अर्थात्—दूसरों को तू जो इस समय देगा, उसका अमित बदला तुझे दैव प्रकृति की ओर से मिलेगा। इसके विपरीत, ग्रन्थकार इस श्लोक में कहते हैं कि—मनुष्य को इस समय जो कुछ सम्पत्ति वैभव प्राप्त हुआ है, वह, बोये गये पुण्य वृक्ष के ही मीठे फल हैं, इसलिए उस वृक्ष का निरंतर रक्षण करने के लिए, उसे करुणारूपी जल से सींचते रहना चाहिये। नहीं तो स्वाभाविक ही है कि वह वृक्ष सूख जाय। परोपकार से पुण्य उपार्जन होता है, और मनुष्य में दीन-हीनों के प्रति करुणा न हो, तो वह परोपकार के मार्ग पर आने की इच्छा नहीं करता। कहा है कि—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात्—करोड़ों ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उसका सार आधे श्लोक में इतना ही कहता हूँ कि—परोपकार, पुण्य के लिए है और पर पीड़न से पाप का उपार्जन होता है। पुनर्जन्म को मानने वाले सभी धर्मशास्त्रों में यही कहा गया है कि जगत्

में एक मनुष्य को सुख वैभव मिलता है, तो दूसरे को दुःख प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि सुख-प्राप्ति करने वाले ने पूर्व जन्म में पुण्य किया था और दुःख प्राप्त करने वाले ने पाप। इन्हीं पुण्य-पाप के बंधनों से वह सुख-दुःख की प्राप्ति करता है। इस विषय को समझने वाले मनुष्य को परोपकार द्वारा पुण्य का उपार्जन करना ही उचित है। (४९)

[करुणा-पात्र जीव कौन है? नीचे के श्लोक में इसका खुलासा किया जाता है।]

करुणापात्र-जीव ॥ ५० ॥

ये दीना विकलाङ्गिनो विधिहता दारिद्र्यरोगार्दिता-
वृद्धा वा विधवा अनाथशिशवो ये केनचित्पीडिताः॥
दुर्भिक्षे तृणधान्यदुर्लभतया सीदन्ति ये ये क्षुधा।
ते सर्वे करुणास्पदं धनवतां वाञ्छन्ति साहाय्यकम्॥

भावार्थ—जो मनुष्य गरीब, अपंग, दुर्भागी, दरिद्री, रोगी अथवा वृद्ध हों, जो स्त्रियाँ विधवा हों, जो बालक अनाथ हों, और जो किसी के दलन से—दबाव से पीड़ित हों, दुर्भिक्ष के समय घास और धान्य न मिलने से जो भूखों मरते हों—ऐसे सभी मनुष्यों और पशुओं को करुणा-पात्र गिना जा सकता है। ऐसे प्राणियों का धनवानों की सहायता चाहना स्वाभाविक है। (५०)

विवेचन—पहले कहा गया है कि जो लोग हम से मानसिक, आत्मिक, आर्थिक, शारीरिक आदि सम्पत्ति में हीन होते हैं, वे हमसे छोटे कहे जाते हैं, और ऐसे छोटे जीव, चाहे वे मनुष्य हों या पशु हों, करुणा के पात्र हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने इस

बात का अधिक खुलासा करते हुए कहा है कि जो मनुष्य होते हुए भी गरीब, अपंग, अभागे, रोगी, वृद्ध हों; स्त्रियों में निराधार विधवा हों, अनाथ बालक हों, या परपीड़ित हों, दुर्भिक्ष पीड़ित पशु हों,—यह सब करुणा-पात्र गिने जाते हैं। धनवानों को अवश्य इनकी सहायता करना उचित है। करुणा-पात्र जीवों के उदाहरण का कुछ ही अंश यहाँ दिख लाया गया है। रुपया आना पाई ही धन नहीं है। किसी के पास मानसिक धन होता है, किसी के पास शारीरिक धन होता है। कोई मानसिक क्षुधा से पीड़ित होता है, और कोई आर्थिक धन की कमी से गरीब होता है। जो-जो मनुष्य या प्राणी, जिस-जिस दिशा में दीन होते हैं, उन मनुष्य या प्राणियों की उन-उन दिशाओं में सहायता करना ही सच्ची करुणा है। कोई धनवान भी वृद्ध हो और उसकी सेवा के लिए कोई पौत्र-पौत्रादि न हो, तो उसे आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं होती, वल्कि मानसिक और शारीरिक सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसे दीन वृद्ध की, आश्वासन के द्वारा मानसिक और सेवा-शुश्रूषा के द्वारा शारीरिक सहायता करने वाला मनुष्य सच्चा करुणा शील कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य मनुष्यों और प्राणियों के विषय में समझना चाहिए। अब दूसरे प्रकार से विचार कीजिए। एक अनाथ बालक है और उसे पढ़ने की आवश्यकता है, ऐसी दशा में अपने पढ़ने की व्यवस्था के लिए वह भिक्षा माँगता हो, तो उसे अपने घर रख कर भोजन की व्यवस्था करके नौकर बना लेना, सच्ची करुणा नहीं है। उसकी दीनता पढ़ने के लिए है, इसलिए उसकी पढ़ाई का प्रबन्ध करके उसकी दीनता को दूर करना ही सच्ची करुणा है। (५०)



सप्तम परिच्छेद

सेवाधर्मः माध्यस्थ्यभावना

[अब चौथी माध्यस्थ्य भावना का प्रकरण आरंभ किया जाता है ।]

माध्यस्थ्य भावना ॥ ५१ ॥

पापेभ्यः परिमोचनाय जगतश्चेत्ते मनोभावना ।
माध्यस्थ्यं परिशीलनीयमनिशं तस्यास्तदा सिद्धये ॥
माध्यस्थ्येन विना मनस्समतुला वैषम्यमापद्यते ।
वैषम्येण पतेत्स्वयं गुणगणाद्दूरेऽन्यमुक्तेः कथा ॥

भावार्थ—जगत् को पाप से मुक्त करने की अगर तेरी इच्छा हो, तो इस भावना की सिद्धि के लिए सर्वदा माध्यस्थ्य भावना का अभ्यास करने की आवश्यकता है। कारण कि मध्यस्थताके विना मन की समतुला विषम हो जाती है। विषमता आने पर, वह स्वतः ही गुण समूह से पतित हो जायगी, ऐसी अवस्था में दूसरे को छुड़ाने की बात ही कहाँ रही ? (५१)

विवेचन—जब तक मनुष्य में प्रतिकूलता के प्रति भी मध्यस्थता—निस्पृहता नहीं आती, तब तक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परम पवित्र भावना उसमें विकसित नहीं हो सकती। साधारण संयोगों में तो बहुत से लोग शान्त, मध्यस्थ और न्याय की तुला के समान वृत्तियों को संयम में रख कर व्यवहार करते हैं; पर जब भयानक प्रतिकूलता, विरोध और शत्रुता सामने आकर खड़ी हो जाती है, तब वृत्ति को मध्यस्थ रखना, कोई साधारण

संयम नहीं है। इस संयम का मनुष्य को अभ्यास करना चाहिये। बुद्ध ने इसे उत्तम से उत्तम मंगल कहा है—

फुस्सट्ठ लोकधम्मेहि चित्तं यस्स न कंपति।
असोकं विरजं खेमं एतं मंगलमुत्तमम्॥

अर्थात्—लाभ और हानि, यश और अपयश, निंदा और स्तुति, सुख और दुःख इन आठों लोकस्वभाव के साथ संबन्ध होने पर भी जिसका चित्त विकंपित न होकर शोक रहित—निर्मल और सुखी रहता है, उसका यह कृत्य, उत्तम मंगल है। सुख और दुःख में समभाव रखना ही सच्ची मध्यस्थता अथवा उपेक्षा है। मनुष्य की इस मध्यस्थता से स्वतः मनुष्य पाप कर्मों से मुक्त हो, यह उपयुक्त है। परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि—*'पापेभ्यः परिमोचनाय जगतः'* अर्थात्—जगत् को पाप से मुक्त करने के लिए तू मध्यस्थता का परिशीलन कर। वह किस प्रकार? जैसे पहले कहा गया है और अब कहा जाता है उस प्रकार, यह चारों भावनायें मनुष्य के अपने कल्याण के लिए तो हैं ही, परन्तु एक भी वैसे मनुष्य की भावना से अन्य जीवों का भी कल्याण किया जा सकता है। जब एक वैरी, विरोधी या निंदक हमारे सामने कटु वचन बोलता है, तब मध्यस्थ वृत्ति रखने से अपना कल्याण तो होता ही है; परन्तु इस वृत्ति से वैर या निंदा में नई आहुति न पड़ने के कारण उसका तुरन्त शमन होने लगता है और प्रति पक्षी मनुष्य का नवीन पाप बंधन भी रुक जाता है। इसके विपरीत, मध्यस्थ वृत्ति न रखने वाला स्वतः पाप बंधन में आबद्ध होता और जगत् के पाप बंधनों का कारण भूत बनता है। इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि मध्यस्थता के बिना मन की तुला विषम होकर स्वतः पतित हो जाती है, इससे दूसरे को पाप-मुक्त करना उसके लिए कैसे सम्भव हो सकता

है। बल्कि वह दूसरों के पापों को बढ़ाने का साधन बन जाता है। इस विषय में भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को एक दृष्टांत दिया था, वह नीचे दिया जाता है।

दृष्टान्त—श्रावस्ती नगरी में वैदेहिका नाम की एक कुलीन स्त्री रहती थी। वह बड़ी मृदु-भाषिणी, नम्र और शांत थी। सारे नगर में इसके लिए उसकी ख्याति थी। उसके यहाँ काली नाम की एक चतुर दासी थी। दासी को एक बार यह शंका हुई कि मेरी मालकिन वास्तव में शांत वृत्ति वाली हैं, या मैं अपना सब काम काज ठीक समय पर करती हूँ, इससे उनको नाराज़ होने का अवसर नहीं मिलता? इस शंका का समाधान करने के लिए वह एक दिन देर से उठी, तो वैदेहिका ने उससे कहा—अरी काली, आज इतना विलम्ब क्यों कर दिया? काली ने कहा—सरकार ज़रा देर होगई। वैदेहिका ने सिर पर बल लाकर और भौंहें नाप कर कहा—तू बड़ी दुष्टा है, देर से उठती है और यों बहाना करती है? कुछ दिन बीत जाने पर काली एक दिन फिर देर से उठी। उस दिन वैदेहिका ने उसे बहुत गालियाँ सुनाईं। कुछ दिन और बीतने पर काली फिर विलम्ब से उठी, तो वैदेहिका का मिजाज़ गरम हो गया। उसने पास पड़े हुए एक लोहे के छड़ को उसके सिर पर दे मारा। काली चिल्लाती पुकारती मार्ग पर जा खड़ी हुई। लोग इकट्ठे हो गये। काली के सिर से खून वह रहा था। लोगों ने कारण पूछा, तो काली ने बताया कि आप लोग जिन्हें बड़ी शांत समझते हो, उन्हीं मेरी मालकिन का यह दुष्कृत्य है। इस पर से बाहर से साध्वी प्रतीत होने वाली उस स्त्री को क्रूर समझ कर लोग उसकी निंदा करने लगे। इस प्रकार वैदेहिका के मस्तिष्क की तुला के विषम हो जाने पर, काली तथा जन-समाज की तुला भी, निंदा आदि से

पाप की ओर से पतित होने लगी। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि हे भिक्षुओ! जब तक कटु शब्द सुनने का अवसर नहीं आता, तब तक मनुष्य बड़ा शान्त नजर आता है, परन्तु जब कटु शब्दों का प्रहार होता है, तभी मालूम होता है कि वह वास्तव में शान्त है या नहीं। (५१)

[माध्यस्थ्य का एक अंग सहिष्णुता है, उसी के विषय में अब कहा जाता है।]

सहिष्णुता ॥५२॥

सेवायां जनतोपकारकरणे धर्मस्य संचारणे।
सत्योत्कृष्टसहिष्णुता मनसि तेऽवश्यं सदाऽपेक्षिता॥
हन्युस्त्वां प्रतिपक्षिणस्तदपि नो कोपो विषादोऽथवा।
नश्येन्नापि च धैर्यमल्पमपि चेत्ते कार्यसिद्धिस्तदा॥

भावार्थ—देश की सेवा करनी हो, समाज का उपकार करना हो या धर्म का संचार करना हो, तो सच्ची सहन शीलता तुझे अपने मन में अवश्य रखनी चाहिए। और वह यहाँ तक कि कदाचित् तेरे प्रतिपक्षी तुझ पर लकड़ी से प्रहार करें तब भी तुझे क्रोध या खेद न होना चाहिए और धीरज को भी तनिक भी न खोना चाहिए। यदि ऐसा हो सकेगा, तो कार्य की सिद्धि अवश्य होगी। (५२)

विवेचन—देश सेवक, समाज सेवक या धर्म सेवक का कार्य कुछ सरल नहीं है। *'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।'* अर्थात्—सेवा धर्म योगियों के लिए भी अति गहन है। योगियों के योग के साथ सेवा की तुलना करने का हेतु यह है कि सेवा भावना वाले को योग के समान गुणों का अभ्यास करना

चाहिए। चित्त की समाधि, योग का दूसरा नाम है। सेवा धर्म ग्रहण करने वाले का भी चित्त की समाधि के बिना निर्वाह नहीं हो सकता। जिन चार भावनाओं का उपदेश ग्रन्थकार ने किया है, वह चित्त की समाधि का अभ्यास करने के लिए ही है। सेवा धर्म के आगे अनेक प्रतिकूलताएँ आकर खड़ी हो जाती हैं, उस समय मनुष्य को मन की विषमता दूर करनी चाहिए और चित्तवृत्ति को सम रखना चाहिए। परन्तु, इसके पहले उसे प्रतिकूलता को पूर्णतया सहन कर लेना चाहिए जबतक मनुष्य प्रतिकूलता को पचा कर मन को संयम में नहीं रख सकता, तब तक वह माध्यस्थ्य या उपेक्षा भाव का अभ्यासी नहीं हो सकता। इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रतिपक्षी यदि लकड़ी से प्रहार करे, तो भी क्रोध या खेद न हो—इतनी विस्तृत सहिष्णुता की भूमिका तक सेवा धर्मी को पहुँचना चाहिए।

दृष्टान्त—एक आदर्श सहिष्णुता का उदाहरण हजरत अली का है। हजरत अली, कुफा शहर की मसजिद में सुबह की नमाज पढ़ रहा था। इब्ने मुलजिम, जो पहले फौज में था और दंगा फसाद करके भाग गया था, छिपकर मसजिद में आया और जब तमाम लोग हजरत अली के साथ नमाज पढ़ने में लगे थे, तब उसने झपट कर हमला किया और जहर बुझी तलवार से तीन जगह चोटें करके भाग गया। लोगों ने तुरन्त नमाज खत्म की। कई लोगों ने हजरत अली को उठाया, और कई खूनी को पकड़ने दौड़े और उसे पकड़ कर हजरत के सामने ले आये। उस समय कुछ लोग हजरत के लिए शरबत तैयार करके लाये। उन्होंने कहा—यह शरबत पहले मेरे उस खूनी को पिलाओ, कारण कि दौड़ भाग से वह हाँफ रहा है और प्यासा मालूम होता है। (५२)

[अब ग्रन्थकार नीचे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि पापी के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे चित्त की समाधि में विक्षेप न हो।]

पापी का भी तिरस्कार न करना चाहिए ॥५३॥

भूयांसोऽपि विरोधिनस्तनुभृतः स्युः पापकार्ये रता-
बोध्यास्ते मृदुनम्रबोधवचनैः सामाद्युपायैस्त्रिभिः॥
क्रूरत्वान्मृदुतां भजन्ति न च ते केनाऽप्युपायेन चेत्।
कर्त्तव्यं तदुपेक्षणं न च तिरस्कारोऽथवा ताड़नम्॥

भावार्थ—इस जगत् में धर्मात्माओं की अपेक्षा पापी जनों की संख्या ही अधिक है, इसलिए तेरा विरोध करने वाले अनेक पापी जन, पाप कर्मों में रत हुए तुझे दीख पड़ेंगे, उनका तिरस्कार करने की अपेक्षा साम, दाम आदि उपायों या कोमल और नम्र बोध वचनों से उन्हें समझाना चाहिये। यदि वे क्रूरता के कारण किसी भी प्रकार कोमल न बनें, नम्र न हों, तो उनकी उपेक्षा कर, अर्थात् अपना किया आप भोगेंगे यह सोच कर उनसे दूर रहना चाहिये; परन्तु उनका तिरस्कार और मार पीट न करनी चाहिए। प्रेम से जैसा समझाया बुझाया जा सकता है, वैसा द्वेष या तिरस्कार से नहीं। (५३)

विवेचन—'वैर की दवा प्रेम' यह एक सीधी सादी, पर बहुत ही बोधप्रद कहावत है। वैरी को वश में करने की विधि प्रेम ही है। इसी प्रकार पापी को पाप से मुक्त करने की विधि, तिरस्कार नहीं, बल्कि उसके प्रति दया प्रदर्शित करना है। पापी मनुष्य घृणा का पात्र नहीं है, बल्कि वह पामर और तत्त्वदृष्टि से हीन होने के कारण दया का पात्र होता है। ऐसा दया का जगत् छोटा-मोटा नहीं है। पाप करने वाले जगत् का भाग,

पापरहित भाग से बहुत बड़ा है और ऐसे जगत् का तिरस्कार करने से वह ज्यों-का-त्यों ही रह जाता है और हम से उस दया पात्र जगत् का कुछ भी कल्याण नहीं होता। पापियों का कल्याण करने का सच्चा मार्ग यह है कि उनके प्रति दया-दृष्टि रख कर उन्हें प्रेम से पुकारना और इस प्रकार उपदेश करना चाहिए कि उसकी वृत्ति से पाप का धीरे-धीरे शमन हो, अथवा और किसी प्रकार उन्हें पापी प्रवृत्ति से मुक्त होने वाले मार्ग पर लगाना चाहिए बाइबिल में कहा है कि--'जो कोई तेरा अपराध करे, उसे उलहना दे, और अगर वह पश्चात्ताप प्रगट करे, तो उसे क्षमा करदे। यदि वह एक दिन में सात बार अपराध करे, और सातों बार तेरी ओर घूम कर कहे कि 'मुझे पश्चात्ताप है तो उसे क्षमा कर।' क्षमावृत्ति की शिक्षा देने वाले बाइबिल के इस वाक्य में पापी का तिरस्कार करने की नहीं, बल्कि उसका सत्कार करके उसकी वृत्ति को कोमल बनाने का यत्न करने को कहा गया है। ऐसे प्रयत्न में निष्फल होने पर पापी से केवल असहयोग ही करना चाहिए, उसका तिरस्कार नहीं। कारण, कि तिरस्कार पापी को और भी अधिक पापी बनाता है।

दृष्टान्त—अर्जुन नाम का एक माली था। वह नित्य एक यक्ष की पूजा करके अपने बगीचे से फूल तोड़ कर बेंचने जाता था। एक बार वह और उसकी स्त्री यक्ष की पूजा कर रहे थे। इसी समय यक्ष के मन्दिर में छिपे हुए छह दुष्टों ने अर्जुन को बाँध लिया और उसकी स्त्री के साथ कुकर्म करने लगे। अर्जुन को विचार हुआ कि मैं वर्षों से यक्ष की पूजा करता हूँ, फिर भी वह इस विपत्ति के समय मेरी सहायता क्यों नहीं करता? क्या वास्तव में यक्ष होगा? यह विचार करते ही यक्ष का अद्भुत चैतन्य अर्जुन में आगया और उसने रस्सी के बन्धन अपने

अद्भुत बल से तोड़ डाले। पश्चात् यक्ष की मूर्ति के हाथ में लोहे की गदा थी, वह लेकर उसने छहों दुष्टों और सातवीं अपनी स्त्री को भी मार डाला, फिर भी उसका क्रोध शान्त न हुआ। वह नित्य इसी प्रकार जब सात आदमियों को मार लेता, तब शान्त होता। इस उपद्रव से कोई नगर के बाहर न निकलता था। एक बार महावीर स्वामी, गाँव के बाहर एक बगीचे में ठहरे; पर अर्जुन माली के डर से कोई उन्हें वन्दना करने नहीं गया। एक सुदर्शन सेठ ही पहुँचा। रास्ते में अर्जुन माली ने उसे देखा और गदा लेकर मारने दौड़ा। इसलिए सेठ ने स्थिर रह कर नमोत्थुणं के पाठ का स्मरण किया और सोचा कि मृत्यु हो जायगी, तो यावज्जीवन का संथारा हो जायगा, और न होगी तो संथारा पारने का संकल्प किया। अर्जुन उस सद्धर्मशील सुदर्शन सेठ के तेज से उस पर गदा न उठा सका। उसमें प्रविष्ट हुई यक्ष की शक्ति एक दम लोप हो गई। गदा हाथ से गिर पड़ी। अर्जुन का पागलपन दूर होने पर उसने सेठ से पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं? सुदर्शन ने कहा—भगवान् महावीर के पास जा रहा हूँ। अर्जुन ने भी सेठ के साथ जाने की इच्छा प्रकट की, और सेठ ने बड़ी प्रसन्नता से उसे अपने साथ ले लिया। वीर प्रभु अर्जुन का सब हाल जानते थे। उसने ५ मास और १३ दिनों में ११४१ मनुष्यों की हत्या की थी। फिर भी वीर प्रभु ने उसका तिरस्कार न करके उसकी ओर दया दृष्टि से देखा। उसे उपदेश दिया और यह समझाया कि दुष्कर्म से छूटने का मार्ग केवल संयम ही है। अर्जुन को अब अपने पापों के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने वीर प्रभु से दीक्षा ग्रहण करली। दीक्षा लेकर बेले बेले (छठ छठ) पारणा करने और राज-गृह के आस पास रह कर किसी पर क्रोध न करने की प्रतिज्ञा की। साधु जीवन में रह कर उसे बहुत कष्ट उठाना पड़ा।

कई लोगों को उसने जान से मार डाला था, उनके पुत्र, भाई तथा अन्य रिश्तेदार उसे खाने-पीने को भी कुछ न देते थे, उससे घृणा करते और पत्थरों से मारते थे। परन्तु अर्जुन ने ग्रहण किया हुआ समभाव कभी न त्यागा। जब दूसरे उसे कष्ट पहुँचाते, तब वह यही सोचता कि मैंने इन्हें बड़ा दुःख दिया है, यह तो बहुत कम बदला ले रहे हैं। (५३)

[क्या पापी का नाश करना उचित है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार नीचे के श्लोक में देते हैं।]

पापी के बदले पाप का ही नाश करना चाहिए ॥ ५४ ॥

कार्यं पापविनाशनं तदपि नो नाशेन पापाङ्गिनो ।
घाते पापिजनस्य हिंसकतया पापस्य वृद्धिर्भवेत् ॥
वस्त्रादेर्मलनाशनार्थमुचितं नो वस्त्रविच्छेदनम् ।
किन्तूत्पाद्य जलेन तत्र मृदुतां वस्त्रान्मलोत्सर्जनं ॥

भावार्थ—पाप का नाश करना उचित है; पर पापी जीवों का नाश करके नहीं। पापियों के नाश से पाप के बीज का नाश नहीं होता और पापी के नाश से भी हिंसा तो होगी ही। और हिंसा पाप है, इसलिए पाप की वृद्धि ही होगी। कपड़े के मैल को नष्ट करने के लिए क्या कपड़े को फाड़ डालना चाहिए? नहीं। बल्कि, कपड़े को पानी में भिगो कर, उसे कोमल बना कर ही उसका मैल दूर करना चाहिए। इसी प्रकार पापी को भी कोमल बना कर उसका पाप दूर करने की आवश्यकता है। (५४)

विवेचन—प्रथम दृष्टि से देखने पर ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार एकांत अहिंसावाद का समर्थन कर रहे हैं; परन्तु

वास्तव में ऐसा नहीं है। पाप का नाश करना, और पापी का नाश करना, यह दोनों कार्य अलग-अलग हैं, इसमें संदेह नहीं। और श्लोक का सच्चा तात्पर्य यही है कि पाप का नाश करना ही उचित है। वस्त्र के उपमान पर से यह तात्पर्य और भी स्पष्ट हो जाता है।

गुरुं वा बालवृद्धौ वा, ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्॥
आततायिनमायान्तं, हन्यादेवाविचारयन्॥

अर्थात्—गुरु हो, वृद्ध हो, बालक हो या विद्वान् ब्राह्मण हो, परन्तु यदि वह 'आततायी' अर्थात्—अत्याचारी या निर्दोष को कष्ट पहुँचाने वाला दुष्ट हो, तो उसे बिना विचार किये ही मार डालना चाहिये।' ग्रन्थकार पाप का नाश करने के लिये कहते हैं; पर पापी का अविचार पूर्वक नाश करके पाप का नाश करने के लिए मना करते हैं। जब यह प्रश्न उपस्थित हो कि पाप का नाश किया जाय या पापी का? तब प्रथम प्रश्न को ही ग्रहण करना चाहिए। वस्त्र में मैल हो, तो उस मलिन वस्त्र को पानी से भिगोकर, जिस प्रकार उससे मैल दूर किया जाता है, उसी प्रकार पापी को भी सामोपचार से सुकोमल बनाकर उसमें से पाप को निचोड़ डालना चाहिए। जिस प्रकार मनु 'आततायी' को बिना विचार किये मार डालने के लिए कहते हैं, उस प्रकार तो गीता में भी नहीं कहा है। श्रीकृष्ण, पहले सामोपचार का पूरा प्रयत्न करते हैं, अर्थात्—पापी को सुकोमल बनाकर उसमें से पाप का मैल निचोड़ डालना चाहते हैं, फिर भी जब उसमें से पाप का मैल नहीं निकलता, तो यह खयाल करके कि उस पाप के कीटाणु उड़ कर दूसरे को भी जा चिपटेंगे और उसे भी पाप का रोग लग जायगा, पापी का नाश करने को वे अर्जुन से युद्ध करने के लिए कहते हैं। जैन धर्म ग्रन्थों में लिखे अनुसार श्री श्रेणिक महाराज ने

अमारि नगारा बजवाया था—और गुजरात के राजा कुमारपाल ने भी अमारि घोषणा की थी। उनकी आज्ञा अधर्म का उच्छेदन करने की थी; अर्थात्—जन समाज में से अधर्म को निचोड़ डालने की उनकी प्रतिज्ञा थी, बिना विचार किये अधर्मियों का नाश कर डालने को नहीं। यह होते हुए भी जब जब उन राजाओं को अधर्म का नाश करने के लिए हिंसा करना अनिवार्य प्रतीत हुआ था, तब तब उन्होंने युद्धादिक किये थे और एकान्त अहिंसावाद का ही आश्रय लेकर पाप के कीटाणु नहीं फैलने दिये थे। वस्त्र के दृष्टान्त द्वारा ग्रन्थकार पापी को कोमल बनाने और उसमें से पाप को निचोड़ डालने का उपदेश करते हैं। एक वस्त्र, जिसमें भयानक रोग का चेप लगा हो, साधारण जल तो क्या, परंतु तीव्र औषध युक्त जल से भी उसका वह चेप दूर नहीं किया जा सकता, ऐसी दशा में क्या हो सकता है? उस वस्त्र की उपेक्षा ही हो सकती है, और इस अवस्था में या तो उसे घर के एक कोने में डाल देंगे, या घर के बाहर फेंक देंगे। इसी प्रकार पापी का तिरस्कार न करके दया दृष्टी से उसका आदर करना, माध्यस्थ्य की प्रथम विधि है। उसे सुकोमल बनाकर उसमें से पाप का विरेचन करना, दूसरी विधि है। वह सुकोमल न बने, तो उसकी उपेक्षा करना, उससे असहयोग करना उसे त्यागना—तीसरी विधि है।

दृष्टान्त—अंगुलिमाल नामक एक लुटेरे ने श्रावस्ती नगरी के आसपास के गाँवों के लोगों को लूट कर, उनकी उँगलिया काटकर उनकी माला बनाकर अपने गले में पहनी और प्रसिद्धि प्राप्त की थी। एक दिन बुद्ध भगवान् श्रावस्ती नगरी से भिक्षा लेकर उस ओर गये; जिस ओर अंगुलिमाल रहता था। मार्ग में ग्वाले और किसान मिले। उन्होंने बुद्ध भगवान् से उधर न जाने का बहुत आग्रह किया; परंतु उन्होंने एक न मानी। उन्हें

सीधे आगे बढ़ते देखकर, अंगुलिमाल को आश्चर्य हुआ और उसने उन्हें मार डालने का निश्चय किया। वह अपनी ढाल तलवार लेकर वेग से बुद्ध की ओर झपटा और बोला—'ऐ श्रमण, खड़ा रह !' बुद्ध ने उत्तर दिया—'अंगुलिमाल, मैं खड़ा हूँ और तू भी खड़ा रह !' इसका तात्पर्य अंगुलिमाल भली भाँति न समझा, उसने कहा— ऐ श्रमण ! तू चल रहा है और कहता है कि खड़ा हूँ और मैं खड़ा हूँ, तब भी कहता है कि खड़ा रह, इसका क्या मतलब है ? तू किस प्रकार खड़ा है, और मैं क्यों नहीं खड़ा हूँ ? बुद्ध ने कहा—'अंगुलिमाल ! प्राणिमात्र के प्रति पूर्ण दया होने के कारण मैं स्थिर होगया हूँ, और तुम में प्राणियों के प्रति दया नहीं है, इस लिए तू अस्थिर—अस्थित है।' इस वाक्य से अंगुलिमाल के हृदय में तुरन्त ज्ञान उत्पन्न होगया। उसने अपनी ढाल तलवार फेंक दी और बुद्ध के चरणों में गिर गया। अंगुलिमाल के उपद्रवों से त्रास पाये हुए बहुत से लोगों ने प्रसेन कोसल के राजा के महल मे जाकर अंगुलिमाल को दंड देने के लिए प्रार्थना की। राजा बहुत बड़ी सेना लेकर अंगुलिमाल को पकड़ने के लिए निकला। मार्ग में वह बुद्ध के दर्शनार्थ गया और वहां उसने अंगुलिमाल के क्रूरता पूर्ण कार्यों का जिक्र किया। बुद्ध भगवान् बोले—'यदि अंगुलिमाल शीलवान् बन जाय, तो तुम उसका क्या करोगे ?' राजा ने कहा—'तो मैं उसे मारूँगा नहीं, नमस्कार करूँगा। उसकी रक्षा करूँगा और उसे अन्न वस्त्र दूँगा।' बुद्ध ने अपने पास ही बैठे हुए श्रमण अंगुलिमाल का राजा से परिचय कराया, और राजा ने उसके पापों को नष्ट हुआ समझकर उसे नमस्कार किया। राजा पापी का नाश करने जा रहा था, इसके पहले बुद्ध भगवान् ने पापी के पाप का नाश कर दिखाया और जगत् को ज्ञान कराया। (५४)

[अब ग्रन्थकार सेवा धर्मी के माध्यस्थ्य की विजय का वर्णन करते हैं ।]

माध्यस्थ्य भाव से ही विजय होती है ॥५५॥

सामर्थ्येऽपि सहिष्णुता समुचिता सेवादिकार्ये ध्रुवं ।
दौर्बल्यं यदि मन्यते तदपि नो सम्यक्स्वसत्त्वोदयात्॥
शान्तिक्षान्तिसमाश्रयेण सततं माध्यस्थ्यभावाश्रये ।
जह्युस्त्वत्प्रतिपक्षिणोऽप्यवनता धार्ष्ट्यं च पापाग्रहम्॥

भावार्थ—हम में चाहे जितनी सामर्थ्य हो, तो भी सेवादि कार्यों के करने में सहिष्णुता रखना ही उचित है। ऐसी सहिष्णुता को दुर्लभ समझना ठीक नहीं है। समर्थ मनुष्य द्वारा सहिष्णुता दिखाना, आत्मिक बल का उदय ही कहा जा सकता है, इसलिए उसे दुर्बलता के बदले सबलता ही कहा जायगा। अतएव, शांति और क्षमा के साथ माध्यस्थ्य भाव का निरंतर आश्रय ग्रहण करने से, प्रतिपक्षी भी नम्र बन कर धृष्टता और पाप का आग्रह छोड़ देंगे।

विवेचन—'*अशक्तिमान् भवेत्साधुः*' इस उक्ति के द्वारा जिस प्रकार साधुत्व को हीन बतलाया जाता है, उसी प्रकार कई लोग सहिष्णुता को निर्बलता या हीनता बतलाते हैं। अपने प्रतिपक्षी का प्रहार सह कर, प्रत्युत्तर में प्रहार न करने वाला अथवा विरोध का प्रतिकार न करने वाला, सर्वदा सहिष्णुता के गुण से परिपूर्ण होता है ऐसा नहीं मान लेना चाहिये। कई लोगों में दुर्बलता होती है, इससे वे विरोध का प्रतिकार नहीं कर सकते। और कई लोग सहिष्णुता का गुण रखते और सुविचार वाले होते हैं, इसलिए विरोध का प्रतिकार करके वैर को पैदा करना

इष्ट नहीं समझते। इस प्रकार के दुर्बल और सहिष्णु मनुष्य एक समान नहीं होते। सहिष्णु मनुष्य वह होता है, जो समर्थ होते हुए भी मध्यस्थ भाव से अपने सत्त्व का दर्शन कराता है। और इसीलिए ग्रन्थकार ने 'स्वसत्वोदयात्' शब्दों का उपयोग किया है। ऐसे मध्यस्थ भाव से प्रतिपक्षी भी अपने पाप का आग्रह छोड़ देने के लिए प्रेरित होजाय, यह स्वाभाविक है।

दृष्टान्त—इस विषय में एक जैन ग्रंथ में एक कथानक दिया गया है। अर्हन्मित्र नामक श्रावक ने स्वदारासंतोष रूप-व्रत ग्रहण किया था, परन्तु उसके बड़े भाई की स्त्री उस पर आसक्त होगई और हाव भाव तथा कटाक्ष से उसे आकर्षित करने लगी। पर अर्हन्मित्र उस पर आसक्त न हुआ। उसने अपने व्रत की रक्षा के लिए दीक्षा ग्रहण करली। उस पर आसक्त हुई उसके बड़े भाई की स्त्री मर कर कुतिया बनी। एक बार अर्हन्मित्र मुनि विहार करते हुए उस कुतिया के निकट आ पहुँचे। उन्हें देखकर कुतिया ने पति की तरह उनसे आलिंगन किया। यह देख कर मुनि लज्जा से भाग खड़े हुए। अब यह कुतिया मर कर बंदरिया बनी और एक बड़े जंगल में रहने लगी। भवितव्यता के योग से उस जंगल में वे मुनि भी आ पहुँचे। उन्हें देखकर वह बँदरिया पहले की भाँति ही अनुराग से आलिंगन करने लगी। यह देख कर अन्य साधु उस मुनि को वानरीपति कह कर उनका मजाक उड़ाने लगे। यह सुन कर मुनि लजा गये और भाग खड़े हुए। वह बँदरिया मर कर अब यक्षिणी हुई। उन मुनि को देखकर उसे जाति-स्मरण हुआ, इससे उसने विचारा कि 'इस मुनि को मैं कई जन्मों से चाहती आ रही हूँ; पर यह अभी तक मुझे नहीं चाहता, इसलिए आज मैं इसका आलिंगन करूँगी।' यह विचार कर उसने मुनि का आलिंगन किया। यह देखकर मुनि वहाँ से

भी भाग खड़े हुए। मार्ग में नदी को लाँघने के लिए वे जल में प्रवेश कर रहे थे कि यक्षिणी ने उनका एक पैर काट डाला, इसे भी मुनि ने सहन कर लिया। इसी समय शासनदेवी ने आकर यक्षिणी से उसके पूर्व जन्म की बात कही, इसलिए यक्षिणी ने मुनि से क्षमा याचना की, परन्तु मुनि तो उसी क्षण क्षमा कर चुके थे और मध्यस्थ भाव से रह कर उसके प्रति ज़रा भी अनिष्ट का चिंतन नहीं किया था। यह उनकी दुर्बलता नहीं थी—उनका सत्त्वोदय, उनकी समर्थता थी। उसके बाद शासनदेवी ने मुनि का पैर ठीक कर दिया। (५५)



अष्टम परिच्छेद

सेवा-धर्म : बालकों की सेवा

[पहले सेवा धर्म को मनुष्य की तृतीय अवस्था के कर्त्तव्य-कर्म की भाँति दर्शाया गया है। सेवा धर्म ग्रहण करने वाले मनुष्य के समीप सेवा धर्म की विविध दिशाओं को उपस्थित करने के पहले ग्रन्थकार ने सेवा धर्म में प्रविष्ट होने की प्रतिज्ञा करने वाले के लिए उचित गुणों का अभ्यास कराने वाले मार्गों का निदर्शन कराया है कि जिनके बिना मनुष्य सेवाधर्म का यथास्थित पालन नहीं कर सकता। सेवा धर्म ग्रहण करने के लिए हृदय क्षेत्र को विशुद्ध करके, उसमें कैसे रंग भरना चाहिए—यह प्रदर्शित करने के पश्चात् अब ग्रन्थकार हृदय क्षेत्र को सेवा के कार्यों में प्रेरित करने के लिए इशारा करते हैं और सबसे पहले मनुष्य की सेवा के प्रकारों को प्रकट करके, उत्तरोत्तर—क्रमशः इस विषय में आगे बढ़ते हैं।]

मनुष्य-सेवा ॥५६॥

निर्नाथाः पशवो यथा करुणया पश्वालये यत्नतो।
रक्ष्यन्ते करुणालुभिर्भविजनैः कृत्वाऽपि भूरिव्ययम् ॥
निर्नाथाः मनुजास्तथैव करुणाबुद्धया तु रक्ष्याः सदा।
यत्सन्ति प्रथमेऽधिकारिण इमे बुद्धयादिवैशिष्ट्यतः ॥

भावार्थ—दयालु भविक लोग करुणा बुद्धि से, दयाभाव से अमित व्यय करके अनाथ पशुओं को जब बचाते हैं, तब वैसे ही करुणा बुद्धि से अनाथ मनुष्यों का भली भाँति रक्षण

करना आवश्यक है। कारण कि, बुद्धि आदि गुणों के कारण मनुष्य, पशुओं से बढ़कर है; इसलिए उसका प्रथम अधिकार है। (५६)

विवेचन—भगवान् बुद्ध ने जो चार सत्य गिनाये हैं, उनमें दुःख को सबसे प्रथम गिना है। जन्म, जरा, मरण, अप्रिय वस्तु का समागम-संयोग प्रिय वस्तु का वियोग अथवा इष्ट वस्तु की अप्राप्ति—ये दुःख के पैदा करने वाले हैं। यह सत्य है। यह पाँच 'उपाधि स्कंध' जगत् के सभी प्राणियों पर समान प्रभाव डालता है। अर्थात्—छोटे से छोटे जन्तु से लेकर प्राणिश्रेष्ठ मनुष्य से भी सर्वोपरि व्यक्ति राजराजेश्वर तक को इस 'उपाधि स्कंध' से 'दुःख' का साक्षात्कार हुए बिना नहीं रहता। भगवान् महावीर तथा अन्य अनेक धर्मोपदेशकों ने यही सत्य जगत् को समझाया है। परन्तु किसी धर्माचार्य ने इसपर अधिक जोर दिया है और किसी ने कम। सब धर्मों में सेवा-परायणता का ज्ञान भी कराया गया और दुखी तथा विकल प्राणियों की सेवा करने के लिए आदेश किया गया है। इस उपदेश को कई धर्मों के आचार्य भूल गये हैं, कई उसे थोड़ा बहुत सँभाले हुए हैं और कुछ इस उपदेश का यथार्थरीत्या अनुसरण न करके अर्द्धज्ञानमिश्रित सेवा के पीछे अपनी शक्ति का व्यय कर रहे हैं। भारत में अनेक जगह पशुशालाएँ, गौशालाएँ, पिंजरापोलें, कबूतरखाने, जानवरों के अस्पताल आदि संस्थाएँ मूक प्राणियों के दुःखों को दूर करने के लिए स्थापित की गई हैं। ऐसी संस्थाओं का संचालन करने और उनके लिए दान करने में मुख्यतया जैनी और वैदिक धर्म मानने वाले ही भाग लेते हैं। इसमें भी जहाँ जहाँ जैन लोगों की बस्ती अधिक होती है, वहाँ वहाँ ऐसी संस्थाएँ धन की अधिक सहायता

पावें और अच्छे रूप में चलती हैं। परंतु, एक ओर छोटे-से छोटे जीवों के प्रति दया और दूसरी ओर चारित्र्य की अस्थिरता से— धर्माचरण की शिथिलता से मानसिक और वाचिक हिंसा का संसारिक व्यवहार में अति उपयोग–इन दो प्रकारों की पारस्परिक विरुद्धता जब जब किन्हीं जैनों में दिखलाई पड़ती है, तब तब उनके लिए लोग ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं कि— 'यह तो छोटे को जिलाने वाला और बड़ों को मारने वाला श्रावक है।' जैन लोग छोटे से छोटे गाँव में मूक प्राणियों के लिए धर्मादा चंदा इकट्ठा करते हैं, व्यापारिक आय से भी धर्मादा कर वसूल करते हैं, परंतु गाँव के रोगी या अनाथ—अशक्त मनुष्यों के लिए, ज़रा भी आधार की व्यवस्था नहीं करते। बल्कि इस काम की उपेक्षा करते हैं। ऐसी दशा में ऊपर लिखे अनुसार आक्षेप किया जाय, तो वह कोई नई बात नहीं है। पशु या पक्षी मूक प्राणी हैं, इस लिए वे दया के पात्र हैं, इसमें संदेह नहीं। परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि बोलने चालने और अपनी वेदना, अनुभूति प्रकट करने वाले मनुष्य उपेक्षा के पात्र हैं। दया पर जितना हक़, जितना अधिकार, मूक प्राणियों का है, उतना ही मनुष्यों का भी है और जैसा कि ग्रन्थकार कहते हैं, मनुष्य में बुद्धि आदि विशेष गुण हैं और एक मनुष्य अपने जीवन के द्वारा समस्त जनता का अनेक प्रकार से उपकार कर सकता है, और मनुष्यत्व एक सर्वोपरि अवतार है, कारण कि मनुष्यत्व से ही जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की इस विशेषता के कारण, उसके संरक्षण का अधिकार सर्व प्रथम है। इस उक्ति का आशय यह नहीं है कि मनुष्य पर दया प्रदर्शित करके उसका संरक्षण करने से सेवा धर्म के कर्त्तव्य की पूर्ति होगई, परंतु जिस प्रकार करुणावान् मनुष्य अनाथ पशुओं के लिए पशुशालाएँ, कबूतरखाने आदि संस्थाएँ

स्थापित करते हैं। उसी प्रकार 'वतथं' अनाथ मनुष्यों के प्रति भी समान करुणा दर्शा कर उनके रक्षण-पोषण आदि के लिए व्यवस्था करना, उनकी सेवा करना, सेवाधर्मी का कर्त्तव्य है। 'सर्वभूतानुकंपा' में केवल मूक प्राणियों का ही समावेश नहीं होता। जैन धर्म के सिद्धांतों में भी अनाथ मनुष्यों की सेवापर जरा भर कम भार नहीं रखा गया है। और आज भी जो धनवान्, करुणावान् जैन हैं और जो दान धर्म में धनादि का व्यय करते हैं, वे मनुष्य के हितार्थ उसका व्यय करने में जरा भी कम ध्यान नहीं देते। परंतु सामान्यतया जैन लोग मूक प्राणियों के प्रति विशेष दया दिखाने वाले माने जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे पशुशालाओं और पिंजरापोलों की व्यवस्था लगभग सभी जगह करते दृष्टि पड़ते हैं। पूर्वकाल में, इस समय की अपेक्षा अनाथ मनुष्यों की संख्या अधिक नहीं थी। और जो कुछ अनाथ बालक थे, या होते थे, उनका पोषण उस समय के धर्मपरायण जात बिरादरी वाले या कुटुम्बीजन किया करते और उन्हें पढ़ा-लिखाकर अपने आप कमाने खाने वाला बना देते थे। ऐसी परिस्थिति में, सबसे अधिक दया के पात्र केवल पशु पक्षी ही रह जाते थे और इससे उनके लिए संस्थाएँ खोलने और चलाने में जैनों ने अच्छी तरह परिश्रम किया, परंतु अब समय बदल गया है। लोग गरीब निर्धन होगये हैं। जो धनवान् हैं, वे भी स्वजाति, स्वसमाज या स्वकुटुम्ब के प्रति कर्त्तव्य पालन में उपेक्षा से काम लेने लगे हैं और इससे अनाथ, अशक्त तथा रोगियों की संख्या बढ़ गई है। अनाथालय, बाल अनाथालय, अशक्ताश्रम, वनिताविश्राम, विधवाआश्रम आदि संस्थाएँ इस जमाने ने उत्पन्न की हैं। हमारे देश की अपेक्षा विलायत में स्त्रियों को मजदूरी या नौकरी के लिए अधिक संख्या में घर से बाहर

जाना पड़ता है। बच्चों वाली स्त्रियाँ या विधवाएँ जब नौकरी पर जाती हैं, तब उनके बालकों की रक्षा करने वाला कोई भी घर पर नहीं होता। इसलिए गरीब स्त्रियों के बालकों को नित्य आठ-दस घंटे सँभाल रखने के लिए, वहाँ 'नर्सरी' जैसी संस्थाओं की आवश्यकता होती है। उनमे बालकों को रखकर, नहलाकर, खिला-पिलाकर, घुमाफिराकर, खेलखिलवाड़ के साथ उनकी साल-सँभाल की जाती है। इस प्रकार की संस्थाएँ बहुत ही कम खर्च लेतीं और धर्मार्थ भी सेवा करती हैं। नौकरी पर से लौटते हुए माता अपने बच्चे को घर ले जाती है। जमाने की उत्पन्न की हुई क्या यह एक नई आवश्यकता नहीं है? बम्बई, कलकत्ता तथा सभी बड़े-बड़े नगरां में अब सार्वजनिक प्रसूतिगृहादि भी एक महान् उपकारक और धर्म-संस्था समझी जाने लगी हैं। पुराने जमाने में ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों समय बदलता है, त्यों-त्यों समाज की आवश्यकताएँ और समाज-सेवा सम्बन्धिनी संस्थाओं की आवश्यकताएँ भी बदल जाती हैं। इसलिए उनमें समाज की आवश्यकता के अनुसार परिवर्त्तन होना चाहिए। पुराने जमाने में, पींजरापोलें, धर्मशालाएँ और सरायें उपयोगी समझी जाती थीं, इसलिए इस जमाने में भी वे उपयोगी समझी जायँ, यह न समझना चाहिए। इसके सिवा समय के अनुसार अन्य संस्थाओं की आवश्यकता प्रतीत हो, तो सेवा धर्मियों को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। इस समय मनुष्य-सेवा की आवश्यकता, पशु-सेवा से किसी भी प्रकार घट कर नहीं है—देश की दरिद्रता पर से यह साफ प्रकट होने लगा है। दरिद्रता के कारण मनुष्यों में रोग भी बढ़ गये हैं और इससे रुग्णालय और औषधालयों की आवश्यकता भी अधिक मालूम होने लगी है।

इसलिए दयालुजनों को, मूक प्राणियों के लिए ही दया को संकुचित करके न रखना चाहिए, बल्कि मनुष्यों के लिये भी दया धारण करनी चाहिए। (५६)

[मनुष्य-सेवा का प्रतिपादन करने के बाद अब ग्रन्थकार बालकों की सेवा के विषय में विवेचन करते हैं।]

अनाथ बालकों की सेवा ।५७।।

येषां नास्ति पिता न चापि जननी नोभौ नच भ्रातरो-
बालास्ते करुणालया विधिहता भ्राम्यन्त्यनाथा यतः ॥
तेषां रक्षणहेतवे स्वविषये संस्थाप्य बालाश्रमं ।
साहाय्यं धनिकैर्जनैः समुचितं द्रव्येण कार्यं स्वयम् ॥

भवार्थ—जिन बालकों के माँ, बाप, भाई आदि कोई पालक न हों, उन हतभाग्य करुणापात्र बालकों को निराधार होने के कारण जहाँ-तहाँ भटकना पड़ता है। उनके रक्षण के लिए, श्रीमानों को अपने-अपने देश में—नगर में—बाल-सेवा आश्रम स्थापित करके अपनी शक्ति के अनुसार धन की सहायता करनी चाहिए। (५७)

विवेचन—पूर्व पापकर्म के योग से कुछ बालक छोटी उम्र में ही अनाथ हो जाते हैं। ऐसे अनाथ बालकों का रक्षण करना, पहले प्रत्येक नगर में 'महाजन' का कर्त्तव्य समझा जाता था। परन्तु ऐसे महाजनों में से कुछ तो कर्त्तव्य भ्रष्ट हो गये, कुछ पर अन्य सांसारिक भार लद गया और कुछ, योग्य मार्ग दिखाने वाले उपदेशकों के प्रमादी बन जाने के कारण, इस ओर से मौन हो गये। इससे, आज देश में भिखारी और उच्च कुल के अनाथ बालकों की संख्या बढ़ गई है। ऐसे बालकों को

अपने नगर का धन समझ कर, उन्हें पाल-पोष कर, पढ़ा लिखा कर उचित मार्ग पर लाने का कर्त्तव्य जब महाजन भूल जायँ, राजा भी भूल जायँ और महाराजा भी भूल जायँ, तो क्या ऐसे अनाथ बालकों को भटक-भटक कर ही मर जाना होगा ? क्या अहिंसा-प्रधान और दया धर्म की भूमि जैसे भारत देश में ऐसा होना धर्मों के लिए कलंक की बात नहीं है ? ऐसे बालकों के लिए अनाथ - आश्रम खोलकर जन-समाज को उनका निर्वाह करना चाहिए। बालक देश के आशा-कुसुम हैं। उनमें अभिनव अदृश्य रंग भरे हुए हैं। उनमें से कोई सारी दुनिया को अद्भुत रंग से रंग देने वाला भी निकल सकता है। इन अविकसित कुसुमों को न मुर्झाने देने तथा पोषण-रक्षण की आड़ में रखने के लिए अनाथालय जैसी सार्वजनिक संस्थाओं के बिना अब देश का काम नहीं चल सकता। बड़ी उम्र के दीन अनाथ स्त्री पुरुष तो कई बार इहलोक की भूलों और अपराधों के कारण दीनता भोगते और दुखी रहते हैं, ऐसे जन भी दया के पात्र तो हैं हीं; परन्तु बालकों की दीनता तो उनसे भी अधिक दया की पात्र है; कारण कि वे अभागे माता पिताओं के यहाँ जन्मे हैं, इसके सिवा उनका और कोई दोष या अपराध नहीं होता। हमारे देश के ही अनाथालयों का इतिहास खोजने वालों को मालूम होगा कि ऐसी संस्थाओं ने अनेक बालकों को पतित होने, मरने, दुराचारी होने तथा भिखारी बनने से बचाया है। उनमें से अनेक छिपे हुए रत्न भी निकल आये हैं। (५७)

बाल-सेवा के प्रति साधारण जनों का कर्त्तव्य ।५८॥

सामान्यैरपि मानवैर्जनपदे पर्यट्य दृष्ट्वा जनान् ।
मृग्या नाथविहीनदीनशिशवः संगृह्य तानाश्रमे ॥

रक्ष्या रक्षणपद्धतिश्च सुदृशा लोलुक्यतां नित्यशः।
स्यात्तत्र स्खलना कथञ्चिदपि सा तन्नायकान् ज्ञाप्यताम्

भावार्थ—तथा विवेचन—जो लोग धन से सहायता नहीं कर सकते, उन्हें देश के भिन्न-भिन्न भागों में घूम कर गाँवों के लोगों से पूछ कर, गरीब और अनाथ बालकों को खोजकर उन्हें अनाथालय में ले जाकर रक्षा से रखना, अनाथालयों का कार्यक्रम और रक्षण पद्धति को हमेशा जाँचते रहना और उसमें कमी नजर आये तो आश्रमों के उच्चाधिकारियों को सूचित करते रहना चाहिये। धनवान् लोग, अनाथालयों या अनाथाश्रमों की धन से सहायता कर सकते है; परन्तु जो लोग धनादि से इस प्रकार सहायता नहीं कर सकते, वे ऐसे कार्य करके, अपनी शारीरिक सम्पत्ति से, अपनी विद्या-सम्पत्ति से, अपनी अवलोकन शक्ति से तथा अन्य शक्तियों से भी बाल-सेवा कर सकते हैं। 'सोशल सर्विस लीग' नामक संस्थाएँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में खुली हैं, उनके सदस्य अन्य रीतियों के उपरान्त आज भी उपर्युक्त रीति से सेवा कर रहे है। बम्बई, पूना, कलकत्ता आदि बड़े शहरों में अनेक निराधार और बालकों के प्रति अपना कर्त्तव्य न समझने वाले पतित माता पिता अपने बालकों को भटकता छोड़ देते हैं, उन्हें खोज कर ऐसे अनाथाश्रमों में पहुँचा कर उपकार करना भी उत्तम प्रकार की बाल सेवा है। कभी-कभी विधवाओं और कुमारियों के दुराचार से उत्पन्न बालक भी इसी प्रकार छोड़ दिये जाते हैं। दुराचार से पैदा होने पर भी ऐसे बालक घृणा के नहीं, बल्कि दया के पात्र समझे जाने चाहियें। समाज के रिवाजों के दबाव से स्त्रियाँ अपने अपराध के कारण बालकों को जहाँ तहाँ लावारिस छोड़ कर दूसरा अपराध भी करती हैं, यह सत्य है; परन्तु जो लोग यह समझते

हैं कि ऐसे बालकों का रक्षण करने से दुराचार को उत्तेजन मिलता है, वे भूल कर रहे हैं। दुराचार को रोकने के उपाय दूसरे हैं। निर्दोष बालकों की रक्षा न करने से दुराचार नहीं रुक सकता। इसलिए बालकों का रक्षण तो किसी भी अवस्था में कर्त्तव्य ही है। अनाथालयों के दोषों से बालकों की सेवा में क्षति पहुँचती हो, तो उन दोषों को व्यवस्थापकों की दृष्टि में लाकर सुधार कराना भी एक प्रकार की अनुभवसेवा कही जा सकती है। (५८)

[अब ग्रन्थकार इसका निरूपण करते हैं कि भिन्न भिन्न स्थितियों के भिन्न भिन्न व्यक्ति इस विषय में किस प्रकार सेवा कर सकते हैं।]

भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न सेवा ।५९।६०।।

विद्वाँश्चेत् पठनोद्यतान् सरलया रीत्या मुदा पाठय ।
शिल्पी चेदुचिताश्च शिक्षय कला निष्कामवृत्त्याऽखिलाः
वक्ता चेदसि दर्शय प्रवचनैः सन्नीतिमार्गं सदा ।
वैद्यश्चेत्कुरु रोगनाशनकृते तेषां व्यवस्थां शुभाम् ॥
वैश्यश्चेद् भव कार्यवाहकतया वस्तुव्यवस्थापकः ।
श्रीमांश्चेच्छिशुयोग्यवस्त्रनिकरं देहि प्रसङ्गोत्सवे ॥
सामान्यो यदि शंसनेन जनतामध्येऽस्य संचारणं ।
सेवामर्जय येन केनचिदपि त्वं स्वार्थवृत्तिं विना ॥

भावार्थ—हे सेवा के उम्मीदवार ! यदि तू विद्वान् है, तो आश्रम के विद्यार्थियों को इस प्रकार अभ्यास करा, पढ़ा कि जिसमें सरलता हो। यदि तू शिल्पी या कारीगर है, तो किसी बदले की आशा रखे बिना निष्कामवृत्ति से उन्हें अपनी कला

सिखा। यदि तू वक्ता है, तो शास्त्र वचनों से उन्हें सन्नीतिका मार्ग दिखा। यदि तू वैद्य है, तो ऐसी व्यवस्था कर कि उन्हें कोई रोग पैदा न हों और पैदा हो गये हों, तो तुरन्त नष्ट हो जायँ। यदि तू व्यापारी है, तो आश्रम के कार्यक्रम पर नजर रख कर व्यवस्था कर। यदि तू धनवान् है, तो अपने यहाँ विवाहादि मंगल प्रसंगों के उपस्थित होने पर अनाथ बालकों को योग्यवस्त्रादि का दान कर। यदि तेरे पास और कुछ भी साधन न हो, तो उत्तम, उपकारक संस्थाओं के यथार्थ गुणों का लोगों को परिचय कराके जन-समाज में उनका संचार कर। संक्षेप में, किसी भी प्रकार, बिना स्वार्थ के सेवा करने को तत्पर हो! (५६-६०)

विवेचन—सेवावृत्ति बहुत व्यापक है। इससे पहले वाले श्लोक में दर्शाया गया है कि जो धनवान् नहीं होते, वे भी अपनी भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों से समाज की सेवा कर सकते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने कुछ विशिष्ट शक्ति वाले मनुष्यों के द्वारा होने वाली सेवा के कुछ दृष्टान्त दिये हैं। विद्वान् हो, तो अपनी विद्या से विद्यार्थियों को पढ़ा कर; कारीगर हो, तो अपनी कला की शिक्षा देकर; वक्ता हो, तो अपने व्याख्यान और भाषणों से नीति का ज्ञान कराके; वैद्य हो, तो उनको रुग्णावस्था में औषधोपचार करके; व्यापारी हो, तो प्रसंगोचित द्रव्य दान करके, और विशेष कुछ न हो, तो रंक मनुष्य भी इस प्रकार की संस्थाओं के प्रति समाज की सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न करके भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में बालकों की सेवा कर सकता है। Sisters of Mercy दया की बहनों की एक संस्था हमारे देश में है, जिसमें अनेक स्त्री सेविकाएँ होती हैं। वे धन तो नहीं दे सकतीं; परन्तु रोगी मनुष्यों की परिचर्या करके, उन्हें धीरज देकर,

उनसे आश्वासन के दो शब्द कहकर भी महान् सेवा करती हैं। ई० केर्ड नामक अँग्रेज लेखक कहता है कि '*दूसरों के कल्याण के खास काम करने से ही हम उन्हें अधिक लाभ पहुँचाते हैं, ऐसी बात नहीं है। हम अपनी सर्वदा की प्रवृतियों में घुली-मिली सद्वृत्ति से भी उन्हें लाभ पहुँचाते हैं।*' तात्पर्य यह है कि राजा से लेकर रंक तक प्रत्येक मनुष्य यदि धारले—निश्चय करले तो जनता की कुछ न कुछ सेवा अवश्य कर सकता है। और इस सेवा में उसकी सद्वृत्ति का जितना अंश होता है, उतना ही आध्यात्मिक लाभ उसे होता है। सेवा का माप इस सद्वृत्ति के प्रमाण से ही होता है। एक लाख रुपया किसी संस्था को देकर उपकार करने वाले धनवान् के हृदय में, यदि सेवा भावना से परिपूर्ण सद्वृत्ति न हो, और एक शिल्पी अपने नित्य के समय में एकाध घंटा बचाकर अनाथालय के गरीब बालकों को बेंत की कुर्सियाँ बुनना सिखाने के लिये आता हो, और उसके इस कार्य में सेवा भावना रूपी सद्वृत्ति हो तो उस धनवान् से इस शिल्पी की सेवा बढ़ी-बढ़ी मानी जायगी और इसका आध्यात्मिक लाभ उसे अधिक होगा। अतएव, सब अपनी-अपनी न्यूनाधिक सम्पत्ति के प्रमाण में जो कुछ सेवा करते हैं, उस सेवा से उपार्जन होने वाला पुण्य उसकी भावना के बल के बराबर ही होता है, और ऐसी सब प्रकार की सेवाओं की समाज को आवश्यकता है। (५९—६०)

नवम परिच्छेद

सेवाधर्मः विद्यार्थियों की सेवा

ग्राम्य पाठशाला ॥ ६१ ॥

यद्ग्रामे शिशुशिक्षणाय न भवेच्छालादिकं साधनं।
सेवास्थानमिदं वरं सुविदुषां विद्यार्थिशिक्षात्मकम् ॥
श्रीमन्तोऽपि च शक्नुवन्ति धनतः संस्थाप्य शालामिह
सेवापुण्यमुपार्जितुं च विततां कीर्तिं जनाशीर्वचः ॥

भावार्थ—जिस गाँव में बालकों को पढ़ाने के लिए पाठशाला आदि कोई भी साधन न हो, वहाँ विद्वानों को चाहिए कि विद्यार्थियों को अपनी ओर से मुफ्त में शिक्षा दें, या श्रीमानों को चाहिए कि वे धन की सहायता देकर पाठशाला स्थापित करके शिक्षा का प्रबन्ध करें। विद्वान् और श्रीमान् दोनों के लिए यह सेवा का स्थान है। ऐसी सेवा से पुण्य उपार्जन होता है, कीर्ति का विस्तार होता है और गरीब लोगों का आशीर्वाद मिलता है—इस प्रकार तीन लाभ होते हैं (६१)

विवेचन—कहा है कि *'सर्वेषु दानेषु विद्यादानं विशिष्यते'* अर्थात्—सब प्रकार के दानों में विद्यादान सर्वोपरि दान है, कारण कि अन्य वस्तुओं का जो दान दिया जाता है, वह तो सब खर्च हो जाता है, व्यवहार में आ जाता है, और व्यवहार में आ जाने पर दान पाने वाला ज्यों का त्यों खाली हाथ रह जाता है; परन्तु विद्यादान के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वह तो

'व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्' अर्थात्—ज्यों ज्यों विद्या का व्यय किया जाता है, त्यों-त्यों वह बढ़ती जाती है, कम होती ही नहीं, अतएव सब धनों में विद्या धन प्रधान माना जाता है। ऐसे विद्याधन का दान मनुष्य के जीवन को सुधारने वाला होता है, और जिस दान से मनुष्य जैसे उच्च प्राणी का जीवन सुधरे, वह दान सर्वोपरि क्यों न कहलायेगा? बड़े नगरों में विद्या ग्रहण करने के लिए पाठशाला रूपी साधन होते हैं, किन्तु छोटे गाँवों में नहीं होते, लोग विद्याभ्यास का पूरा लाभ भी नहीं समझते और केवल उदर भरण के व्यवसाय को ही जीवन का सार्थक्य समझकर, उसी में जीवन व्यतीत कर देते हैं। ऐसे गिरी हुई दशा के लोगों को विद्याके लाभ समझाकर उन्हें विद्यादान देना या दिलाना, यह परम उपकार का कार्य है। हमारे देश को तो विद्यादान की अत्यन्त आवश्यकता है। कारण कि जब जापान में छः वर्ष से ऊपर की उम्र की जनता ६५ प्रतिशत लिखपढ़ सकती है, तब हमारे भारत देश में बिल्कुल इसके विपरीत ६५ प्रतिशत जनता अपढ़ है! जगत् के राष्ट्रों में जापान ने प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया है, इसका कारण उसकी शिक्षा है। और भारत की पतितावस्था, उसका अज्ञान, अशिक्षा है। समस्त भारत की अशिक्षा का इतना भयानक प्रमाण भारत के गाँवों की अशिक्षा है और इसलिए ग्रामीण जनता को ही पढ़ाने के, उन्हें विद्यादान देने के यत्न किये जाने चाहिएँ। कोई अपने आप मुफ्त में शिक्षक का काम करके, कोई पाठशाला का खर्च देकर, कोई विद्यार्थी का उत्साह बढ़ा कर यह सेवा भली भाँति, उत्तम रूप में कर सकता है। (६१)

[अब शूद्र-पतित-लोगों को शिक्षा देने की आवश्यकता प्रदर्शित की जा रही है].

शूद्रों को शिक्षा ॥ ६२ ॥

शूद्राणामपि शिक्षणेन चरितं शुद्धं भवेन्नैतिकं।
नश्येद्दुर्व्यसनोद्भवं च दुरितं दैन्यं च दूरीभवेत् ॥
सेवाक्षेत्रमिदं धनाढ्यविदुषोर्भव्यं विशालं तत--
स्ताभ्यां शूद्रकशिक्षणार्थमुचितः कार्यः प्रबन्धो वरः॥

भावार्थ—शूद्रों को भी शिक्षा देने से उनकी रीतिनीति में सुधार होता है, मदिरापान आदि व्यसनों के दूर होने से, उससे होने वाला पाप रुक जाता है, उनकी हीनावस्था—दरिद्रता दूर होती है; इसलिए शूद्रों को शिक्षा देना भी विद्वानों और श्रीमानों के लिए विशाल और भव्य सेवा क्षेत्र है। अतः विद्वानों और श्रीमानों को शूद्रवर्ग को शिक्षित करने के लिए उचित प्रवन्ध करना चाहिए। (६२)

विवेचन—मनुस्मृतिकार ने कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से अन्तिम शूद्र वर्ण, प्रथम तीनों वर्णों की सेवा के लिए है। शूद्रों की ऐसी सेवा के बदले, तीनों वर्णों को उनका केवल भरण पोपण करके ही न रह जाना चाहिए। भरण-पोपण तो गाँव के कुत्ते बिल्ली आदि पशुओं का भी समाज करता है, और करना चाहिए; अतएव किसी कक्षा में शूद्रों को रखकर उनके पालन-पोपण का भार लेना, मनुष्यों को पशुओं की कोटि में रखना है। ब्राह्मणों का पोपण भी, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र मिलकर करते हैं। ऐसी दशा में क्या ब्राह्मण को ज्ञान का व्यय तीनों वर्णों के लिए न करना चाहिए? शूद्रों की सेवा के बदले में उनका भरण पोपण करना, तो केवल धन का विनिमय ही कहला सकता है, परन्तु क्या संस्कृति का विनि-

भय न करना चाहिए? क्या शूद्र संस्कृति के अधिकारी नहीं हैं? केवल पशुओं की तरह भरण-पोषण के ही अधिकारी हैं? ग्रन्थकार ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि शूद्रों को—पतित वर्ण को—भी शिक्षा देनी चाहिए कि जिससे उनकी रीतिनीति में सुधार हो, वे दुर्व्यसनों से मुक्त हों और दीनता दारिद्र्य आदि को दूर कर सकें। इस पर से प्रकट होगा कि शूद्र भी संस्कृति के अधिकारी हैं और जिस प्रकार ब्राह्मण विद्याभ्यास कर सकता है उसी प्रकार शूद्र भी विद्याभ्यास का अधिकारी है। ब्राह्मणों के धर्म ग्रन्थ इस विषय में बहुत संकुचित दृष्टि रखते हैं। जो जन्म से शूद्र हैं, वे मरण तक शूद्र ही रहते हैं और उन्हें वेद मंत्र के श्रवण का भी अधिकार नहीं है! वस्तुतः 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्‌द्विज उच्यते' अर्थात्—जन्म से प्रत्येक मनुष्य शूद्र उत्पन्न होता है और संस्कार से द्विज बनता है। 'परन्तु जन्म से जो शूद्र जाति में पैदा हुए हैं, उन्हें तो किसी भी प्रकार ऊपर चढ़ने का अधिकार ही नहीं है, सिवा मरने के।' इस प्रकार कह कर शूद्रों की संस्कृति का मार्ग बहुत कुंठित कर डाला गया प्रतीत होता है। जैन, बौद्ध, ईसाई आदि धर्मों के धर्मग्रन्थों में ऐसा संकुचित विधान नहीं है। एक चांडाल भी संस्कृति प्राप्त करके ब्रह्म को जानने का अधिकार प्राप्त कर सकता है ऐसा वे कहते हैं। परन्तु हमारे देश में ब्राह्मण-सनातन धर्म के सिद्धान्त व्यवहार में अधिक आगये हैं, और शूद्रों की—पतितों—की अन्त्यजों की अवगणना इस व्यवहार से होती प्रतीत होती है। और इसीलिए, दूसरों वर्णों के लिए नहीं, शूद्रों के लिए ही शिक्षा की खास तौर पर आवश्यकता ग्रन्थकार को प्रतीत हुई है। शूद्रों को शिक्षित बनाने का क्षेत्र धनाढ्य और विद्वानों के निकट है, इस ओर ग्रन्थकार ने इसीलिए इशारा किया है कि हमारे देश में शूद्रों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। और यह

वर्ग अशिक्षित रहे, और अन्य वर्ग शिक्षित होजायँ, तो देश को पक्षाघात—अर्द्धांङ्ग वायु का रोग लग जाय। अर्थात—एक अंग में तो आगे बढ़ने का चैतन्य आजाय और दूसरा निश्चेष्ट होजाय। ऐसी विषम स्थिति में देश की सर्वतोगामी प्रगति कैसे हो सकती है। शूद्रों में भी अन्त्यज जो अत्यन्त हीन दशा को प्राप्त होगए हैं और अपनी अस्पृश्यता के कारण बिल्कुल अपढ़ दशा में हैं। कुछ स्वार्थी लोगों का खयाल है कि अन्त्यजों को पढ़ाया लिखाया जायगा, तो सफाई आदि का काम कौन करेगा? शिक्षा से किसी का हित होता हो, उसे अपने स्वार्थ के लिए रोकना अधमाधम स्वार्थपरता है। ऐसी स्वार्थपरता किसी भी कर्म कांडी ब्राह्मण को पतित बनाने वाली सिद्ध हो सकती है। केवल अपने आनन्द के लिए तोते को पिंजरे में कैद कर रखने की सी क्रूरता के समान ही यह भी एक क्रूरता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान सम्पादन करने का, संस्कार शील बनने का और समाज तथा आध्यात्मिक शक्ति में ऊपर चढ़ने का समान अधिकार है और इसी लिए यहाँ यह उपदेश किया गया है।

दृष्टान्त—सभी को उन्नति करने का समान अधिकार प्राप्त है, इसको प्रकट करने वाला एक दृष्टान्त बौद्ध धर्म के एक ग्रंथ से प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के निवास में रहते थे। एक दिन भिक्षा ग्रहण करते-करते वे अग्नि-होत्री भारद्वाज ब्राह्मण के द्वार पर आकर खड़े हो गये। भार-द्वाज का अग्निहोत्र प्रज्वलित हो रहा था और वह उसमें आहुतियाँ दे रहा था। बुद्ध भगवान् को देखते ही वह जोर से चिल्लाकर बोला—'ऐ चांडाल श्रमण! वहीं खड़ा रह!' बुद्ध ने पूछा—'हे ब्राह्मण! तू चांडाल या चांडाल के धर्मों-गुणों-को भी जानता है?' ब्राह्मण बोला—मैं यह कुछ भी नहीं जानता।'

बुद्ध ने कहा—'मनुष्य जन्म से चांडाल या ब्राह्मण नहीं पैदा होता, कर्म से ही चांडाल या ब्राह्मण बनता है। मातंग नामक प्रसिद्ध ऋषि श्वपाक—कुत्ते का माँस खाने वाले चाण्डाल के पुत्र थे, परन्तु उनकी कीर्ति इतनी फैली थी कि बड़े बड़े ब्राह्मण और क्षत्रिय उनकी सेवा करते थे। यह कहा जाता है कि देहावसान के पश्चात् विमान में बैठ कर वे ब्रह्मलोक में गए थे और वहाँ पहुँचने पर उनकी जाति के कारण उनको कोई बाधा उपस्थित न हुई। दूसरी ओर अच्छे कुल में पैदा हुए बहुत से ब्राह्मणों को हम छोटे मोटे पाप करते देखते हैं। इसलिए मनुष्य जन्म से चाण्डाल नहीं होता, न ब्राह्मण ही होता है। कर्म से चाण्डाल या ब्राह्मण होता है।' बुद्ध का यह उपदेश सुनकर भारद्वाज को बड़ा संतोष हुआ। तात्पर्य यह है कि शूद्र की शूद्रता या अस्पृश्य की अस्पृश्यता के कारण उन्हें अशिक्षित रखना पाप है और इस प्रकार दलित पतित वर्ग को शिक्षा देकर संस्कारशील बनाना महान् पुण्य का कार्य है।

[नीचे के श्लोक में दीन जनों को विद्या दान के लिये विद्या तथा अन्य साधनों की सहायता देने का उपदेश किया गया है।]

दीनों को पुस्तकों की सहायता। ६३ ॥

ये दीनाः स्वसुतान्न रक्षितुमलं गेहे दरिद्रत्वतो।
नैवाप्यर्पयितुं क्षमाः सुविदिते बालाश्रमे लज्जया ॥
तेभ्यो गुप्ततयाऽन्नपुस्तकपटान् देहि स्वयं दापय।
येभ्यः पाठयितुं सुतान्निजगृहे यच्छक्नुयुस्ते सुखम्॥

भावार्थ—जो गरीब मनुष्य अपनी गरीबी के कारण अपनी संतति की रक्षा करने या उन्हें पढ़ाने में समर्थ नहीं हैं तथा व्यवहार की मर्यादा या लज्जा के कारण बाल-आश्रम,

अनाथालय आदि सार्वजनिक संस्थाओं में प्रविष्ट कराने के लिए भी शक्तिमान् नहीं हैं, ऐसे मनुष्यों को गुप्त रूप से अन्न, वस्त्र तथा पुस्तकों की सहायता करना तथा दूसरों से कराना चाहिए कि जिससे वे अपने बालकों को अपने घर में रख कर सुख से पढ़ा लिखा सकें। (६३)

विवेचन—विद्या को 'प्रच्छन्नगुप्तं धनम्' कहा गया है। उससे चाहे जैसा धनहीन मनुष्य भी धनवान् बनता है। केवल एक बार दान की गई विद्या से मनुष्य का सारा जीवन सांसारिक दृष्टि से सुख से बीत सकता है। अतएव विद्यादान मनुष्य को जीवन भर के लिए उपकारक है। जो मनुष्य गरीबों को धन देकर सुखी नहीं कर सकते, वे उन्हें विद्याधन देकर सुखी कर सकते हैं यह पहिले कहा गया है, परन्तु जिनके पास दान करने के योग्य विद्या धन नहीं है कि जिससे वे दीन हीन जनों का आजीवन पालन पोषण कर सकें, वे किस प्रकार दीन जनों की सेवा कर सकते हैं? यह प्रश्न करने वाले को इस श्लोक में उत्तर दिया गया है कि ऐसे लोगों को दीन हीनों के बालकों को विद्या ग्रहण करने में उपयोगी उपकरणों साधनों का दान देना चाहिए, अर्थात्—पुस्तकादि से सहायता करनी चाहिए। यह एक प्रकार का छोटा दान है और सामान्य स्थिति के मनुष्य भी यह कर सकते हैं। बालकों का जो समय विद्यार्जन करने का है, उसे इस प्रकार धन कमाने को लगा दिया जाता है। अतएव जब वह बालक बड़े होते हैं, तब केवल सेवा, चाकरी—मजदूरी करके ही अपनी गुजर करने वाले रह जाते हैं। विद्या के अभाव से अज्ञान, वहमी, कुमार्गगामी और दुराचरण करने वाले बन जाते हैं। इस प्रकार उनका मनुष्य जीवन विफल हो जाता है। इसमें कभी-कभी उनके माता-पिताओं का और कभी उनकी परिस्थिति का भी

दोष होता है। जब विद्या का मूल्य न समझने वाले उनके अज्ञान माता-पिता उन्हें काम धंधे में लगाकर धन कमाने लगते हैं, तब वे यह नहीं समझते कि विद्याविहीनता के कारण उनके बच्चे भविष्य में कितने दुखी होंगे, या उनका भाग्य कितनी संकुचित सीमा में बद्ध हो जायगा। ऐसे माता-पिताओं को ज्ञान कराके उनकी संतान को पढ़ाने-लिखाने का प्रबंध करना, ज्ञान रखने वाले सेवकों का प्रथम कर्त्तव्य है। परंतु जो इतने दीन हैं कि अपने व्यवसाय की अल्प आय से अपने घने कुटुम्ब का पालन-पोषण नहीं कर सकते, वे विद्या के लाभ को समझते हुए भी अपनी दीनता के कारण अपने छोटे-छोटे बच्चों को किसी काम-धन्धे में लगाकर आमदनी करने से अपने सहायक मान लेते हैं और इस प्रकार अपना निर्वाह कुछ सुख से करने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसे दीनजनों की सहायता किस प्रकार करनी चाहिए? अपने छोटे बच्चों की कमाई के बराबर आर्थिक सहायता उन्हें की जाय और इसके सिवा उनके बच्चों की शिक्षा का खर्च भी उन्हें दिया जाय, तो वे उन बच्चों को बहुत खुशी से पढ़ा सकते हैं। इस लिए ऐसे परिवारों को अन्न वस्त्र और बालकों को पढ़ने के लिए पुस्तकादि की सहायता करना भी उचित है। छोटे बच्चों को काम-धंधे में न लगाकर, शिक्षा देने, विद्याभ्यास कराने को विवश करने के लिए पाश्चात्य देशों में अनिवार्य शिक्षा का कानून बनाया गया है, और हमारे देश में भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों और स्थानों में ऐसे कानून बन गये हैं तथा बन रहे हैं। माँ-बापों के अज्ञान के कारण अपढ़ रहने वाले बालकों को पढ़ाने के लिए ऐसा कानून बहुत उपयोगी है और इससे माँ-बापों को अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए विवश होना पड़ता है, यह अच्छी बात है, परंतु जो माँ-बाप अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए आर्थिक दृष्टि से समर्थ नहीं हैं, उनकी कठिनाई इससे दूर नहीं

होती। अनिवार्य शिक्षा के साथ पढ़ाई की फीस माफ होजाने से उन्हें कुछ आसानी जरूर हो जाती है; परंतु विद्याभ्यास के उपकरणों—साधनों का खर्च चलाना और बालकों के काम-धन्धे की कमाई के नष्ट होजाने से उन्हें अपना गुजर करना कठिन हो जाता है, अनिवार्य शिक्षा से उसमें कोई सहूलियत नहीं हो पाती। ऐसे दीन परिवारों को सहायता करने का कार्य सेवा धर्म में उत्साह रखने वाले धनवान् तथा सामान्य स्थिति के मनुष्यों को अपने सिर ले लेना चाहिए। इसके सिवा, जो माता-पिता सांसारिक दृष्टि से प्रतिष्ठित हों, परंतु वास्तव में जिनकी आन्तरिक दशा दीन हो, और बाह्यतः अपनी दीन दशा को प्रकट करने में लजाते हों, उन्हें गुप्त रूप से मदद की जाय तभी वे अपने बालकों को शिक्षा देने में समर्थ हो सकते हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने उपर्युक्त श्लोक में ऐसे परिवारों की गुप्त रूप से सहायता करने का भी समर्थन किया है। गुप्त दान दूना लाभदायक है। उससे एक तो दीनजनों को आवश्यक वस्तु की सहायता मिलती है और दूसरे प्रकट सहायता लेने की अपकीर्ति के भय से मुक्त रहने का आत्मसंतोष भी उन्हें प्राप्त होता है। गुप्त दान करने वाला कीर्ति वाञ्छना से रहित रह कर जिस निर्लेपता का अभ्यासी बनता है, वह भी उसके लिए कोई कम आध्यात्मिक लाभ नहीं है। (६३)

[अब विद्यार्थीगृह की आवश्यकता प्रदर्शित की जाती है।]

विद्यार्थीगृह ॥६४॥

वाञ्छन्त्युत्तमशिक्षणं पुरवरे ग्रामस्थविद्यार्थिनो।
नो चेत्पाकनिवासमन्दिरमिह स्यात्तत्र तद्दुर्दशा॥
तेषां दुःखनिवारणाय धनिकैः केनापि सङ्घेन वा।
स्थाप्यः शिक्षणधर्मसाधनयुतो विद्यार्थिनामाश्रमः॥

भावार्थ—गाँवों में विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करनी हो, तो वहाँ ऐसी शालाएँ या स्कूल न होने के कारण शहर में जाना पड़ता है। वहाँ यदि उनके रहने और खाने पीने के लिए विद्यार्थीगृह—बोर्डिङ्ग—जैसे स्थान की सुविधा न हो तो उनकी बड़ी दुर्दशा होती है। उनकी इस असुविधा को दूर करने के लिए, किसी श्रीमान् या संघ या समाज को चाहिए कि विद्यार्थियों के लिए शिक्षा तथा धर्म के साधन सहित छात्राश्रम का स्थापन करें। (६४)

विवेचन—आज कल उच्च शिक्षा देने वाली संस्थाएँ बड़े शहरों में होती हैं। छोटे गाँवों की छोटी सी बस्ती में ऐसी संस्थाएँ खोलने से अधिक खर्च करना पड़ता है, अतएव बड़े नगरों में ही उनका होना ठीक है। परंतु छोटे गाँवों के जिन विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करनी होती है, उन्हें बड़े शहरों में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है। वे गाँवों के सीमित वातावरण से निकल कर शहर के विस्तृत वातावरण में आते हैं, और अच्छे-बुरे-लालचों के बीच पहुँचते हैं। रहने, खाने और पढ़ने की सुविधा उन्हें कर लेनी पड़ती है। और ऐसी कठिनाइयों के बीच विद्याभ्यास करने के कारण कई बार फैल हो जाते हैं या कुमार्गगामी बन जाते हैं। इसलिए विद्यार्थियों की आवश्यकता को पूर्ण करने तथा उन्हें योग्य देख रेख में रखकर दुराचारी न बनने के लिए विद्यार्थीगृह जैसी संस्थाएँ बड़े शहरों में होनी चाहिएँ कि जहाँ विद्यार्थी रह सकें, भोजन कर सकें और विद्याभ्यास कर सकें। इस समय हाई स्कूलों और कॉलेजों के साथ ऐसे विद्यार्थीगृह-बोर्डिङ्ग-अधिकांश बनाये जाते हैं; परंतु सभी जिज्ञासु विद्यार्थियों को उनमें स्थान नहीं मिलता और ऐसी दशा में एक से अधिक विद्यार्थीगृहों की

आवश्यकता प्रतीत होती है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने विद्यार्थी-गृह की एक विशेषता की आवश्यकता भी प्रकट की है। 'धर्मसाधनयुतः' इस विशेषण के द्वारा कहा गया है कि विद्यार्थीगृह में धर्म का साधन होना चाहिए कि जिससे विद्यार्थी स्वधर्मशील रहें और बड़े शहरों के स्वाभाविक बुरे वातावरण से मुक्त रह सकें। जिन विद्यार्थीगृहों में विद्यार्थियों को कुमार्गगामी होने से बचाने के लिए देख रेख रहती है; परंतु इसके साथ उनकी धर्मशीलता को विकसित करने के साधन नहीं होते, वे विद्यार्थीगृह एक प्रकार से अपूर्ण सुविधाओं वाले ही कहे जा सकते हैं। रेव० मि० फ्लेमिंग अपनी 'Suggestions for social usefulness' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि 'प्रत्येक कॉलेज और विद्यार्थीगृह—बोर्डिङ्ग हाउस—में मधुरता और प्रकाश का वातावरण रहना चाहिए। वस्तुस्थिति ऐसी न हो, तो उन्हें अपने आनन्दी और सभ्य व्यवहार से ऐसी स्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।......जब तक विद्यार्थी व्यक्तिगत रूप से उच्च और सर्वोत्तम जीवन न व्यतीत करेगा, तब तक सामान्य विद्यार्थीसमाज की स्थिति उत्तम न हो सकेगी।' उच्च और सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करने की शिक्षा से एक भी विद्यार्थी वंचित न रहना चाहिए। इसीको प्रकट करने वाले दो शब्द हैं। युवक विद्यार्थियों में धर्म और नीति की शिक्षा, जीवन की उच्चता प्रविष्ट कराने के लिए आवश्यक है; इसीलिए ग्रन्थकार ने विद्यार्थीगृह को 'धर्मसाधनयुक्त' रखने का उचित आग्रह किया है। इस दृष्टि से देखते हुए भिन्न-भिन्न नगरों में भिन्न-भिन्न जातियों के जो विद्यार्थीगृह, धार्मिक शिक्षा या धार्मिक संस्कृति की विशेषताओं के साथ स्थापित होते हैं, वे बहुत ही इष्ट और उपयोगी प्रतीत होते हैं। (६४)

[ऐसे छात्रालयों की व्यवस्था में भी सेवा करने वाले अपनी सेवा का लाभ अर्पित कर सकते हैं, नीचे के दो श्लोकों में यह प्रकट किया जाता है।]

छात्राश्रम की व्यवस्था ॥६५॥

निर्नाथाश्रमवद् भवेदयमपि क्षेत्रं हि सेवार्थिनां।
गन्तव्यं क्रमशो जनैस्त्रिचतुरैश्छात्राश्रमे नित्यशः ॥
तेषां भोजनपद्धतौ यदि भवेन्न्यौन्यं निवासालये।
तद्दूरे क्रियतां स्वयं हितधिया यद्वाऽधिपायोच्यताम् ॥

भावार्थ—अनाथाश्रम की तरह छात्राश्रम भी सेवा के इच्छुओं के लिए सेवा का क्षेत्र है। दो-दो चार-चार सेवार्थियों को क्रम-क्रम से हमेशा वहाँ जाना चाहिए। विद्यार्थियों के भोजनादि या रहने की व्यवस्था में किसी भी प्रकार की खामी हो, तो सद्भाव से, हित बुद्धि से कार्य कर्त्ताओं को सूचित करके दूर करना चाहिए या प्रमुख अधिकारियों से कहना चाहिए। (६५)

न्यायबुद्धि पूर्वक व्यवस्था ॥६६॥

कुर्युस्ते न परस्परेण कलहं नो दुर्बलानादरं।
वर्त्तेरन् स्वसहोदरा इव सदा योज्यं तथा नायकैः ॥
को दीनो धनिकश्च कः करुणया दृष्ट्या निरीक्ष्योऽत्रको
ज्ञात्वा सर्वमपक्षपातमतिभिः कार्या व्यवस्थाऽखिला ॥

भावार्थ—व्यवस्थापकों को विद्यार्थियों के लिए ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जिससे वे एक दूसरे के साथ बिल्कुल

कलह न करें। बलवान् दुर्बल को न सताएँ। वे हमेशा ऐसा वर्त्ताव करें कि जैसे सगे भाई हों। विद्यार्थियों में वास्तविक गरीब कौन है, धनवान् कौन है, अधिक करुणा की दृष्टि से किसकी ओर देखना चाहिए, वास्तविक सहायता की किसको आवश्यकता है—इन सब बातों पर व्यवस्थापकों को पक्षपात रहित बुद्धि से विचार करके व्यवस्था करनी चाहिए। (६३)

विवेचन—ऊपर के दोनों श्लोकों में, तृतीय अवस्था में प्रविष्ट हुए स्त्री-पुरुषों को विद्यार्थियों की सेवा करने का एक विशिष्ट मार्ग दिखलाया गया है। विद्यार्थियों के आश्रमों—होस्टल, बोर्डिङ्ग हाउस आदि की भली भाँति व्यवस्था करना, उनका संचालन करना भी एक प्रकार की सेवा है, जो कि तृतीय अवस्था में प्रविष्ट होने वालों के करने योग्य है। इस समय अनेक जाति-समाजों की ओर से बोर्डिङ्ग हाउसों का संचालन हो रहा है और उनकी व्यवस्था एक सुपरिण्टेण्डेण्ट करता है। इस प्रकार की व्यवस्था करके विद्यार्थियों को सच्चरित्र बनाने और जीवन सुधारने का प्रबन्ध करना कोई छोटी सेवा नहीं है। युवक विद्यार्थी एक दूसरे के साथ रहते हैं, इससे वहाँ अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। जवानी के रक्त में अनेक विकार और विचक्षणताएँ होती हैं। भिन्न-भिन्न परिवारों में लालित-पालित, भिन्न-भिन्न संस्कारों और भिन्न-भिन्न विशिष्टताओं वाले विद्यार्थी जब एक दूसरे के संसर्ग में आते हैं, तब उनके प्रकृतिवैचित्र्य से अनेक प्रकार के विचित्र—विलक्षण प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं। ऐसे सब विद्यार्थियों को एक साथ रखकर उनमें सद्वृत्ति के, सच्चरित्रता के, मनुष्यत्व के, धर्म के संस्कारों का बीजारोपण करना आवश्यक है, इस कार्य-भार को अपने सिर पर लेने वाला केवल मनुष्यत्व की ही

सेवा नहीं करता; बल्कि वह विद्यार्थियों के जीवन को सुधारने का महान् पुण्य उपार्जन करता है। इसीलिए ग्रन्थकार सेवा धर्मियों को भिन्न-भिन्न सेवाएँ करने का सूचन करते हैं। विद्यार्थियों के भोजन-निवास आदि की अड़चनें दूर करना, किसी गरीब विद्यार्थी के लिए पुस्तकादि की व्यवस्था कर देना, किसी उपद्रवी, स्वच्छन्द—आवारा—विद्यार्थी को नसीहत देकर या उलहना देकर उसकी ओर से अन्य विद्यार्थियों पर होने वाले उपद्रव को दूर करना, किन्हीं विद्यार्थियों के पारस्परिक कलह के कारण को जानकर उसका शमन करना तथा सबको परस्पर बन्धुत्व का व्यवहार करना सिखाना, किसी करुणा-पात्र—रोगी—दुखी विद्यार्थी के प्रति करुणा पूर्वक ध्यान देना, किसी को आवश्यकता के अनुसार सहायता करना आदि-आदि प्रकार से सेवा कार्य करना—विद्यार्थीवर्ग की बहुत ही बड़ी सेवा है। रेव० मि० फ्लेमिंग कहते हैं कि 'अपने लिए, विद्यार्थियों की सेवा के लिए, देश के लिए, स्वाधीनता तथा सब बातों का विचार; समाज में, समाज के प्रत्येक क्षेत्र में परस्पर प्रेम की प्रबल लगन उत्पन्न करने तथा उनका पोषण करने के लिए अपने भरसक प्रयत्न करो। ऐसा करने से मधुरता और आनन्द के द्वारा सामाजिक जीवन संघटित होता जायगा।' विद्यार्थियों को सच्चरित्र बनाना सामाजिक जीवन के उच्च श्रेणी के संघटन के समान है। और सेवाधर्मी का ऐसे संगठन के लिए अपने जीवन को लगाना भी एक प्रकार का जीवन का सदुपयोग है।

दृष्टान्त—हमारे देश में सूरत तथा अहमदाबाद के वनिता-विश्राम और ऐसी ही अन्य संस्थाएँ केवल सेवाधर्म की उच्च भावना से ही संचालित हो रही हैं। उनके व्यवस्थापक उन संस्थाओं के लिए आवश्यक धन इधर-उधरसे माँगकर लाते हैं;

परन्तु अपनी व्यवस्था शक्ति से ही वे उत्तम प्रकार की सेवा कर रहे हैं। दक्षिण के प्रो० कर्वे का विधवाश्रम भी श्रीकर्वे के सेवा भाव से ही संचालित होरहा है और इसके लिए आवश्यक धन लोगों से मिलता रहता है। अब इस संस्था के साथ श्री कर्वेजी ने स्त्रियों के लिए महिला विद्यापीठ भी स्थापित किया है, जो बहुत सुन्दर काम कर रहा है। स्व० उर्मिला दिवेटिया इसी प्रकार एक बार बम्बई के 'सेवासदन' की स्थापना करके अपनी उत्तम सेवा से प्रसिद्ध हुई थीं। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के आश्रमों और विद्यार्थीगृहों के संस्थापन और व्यवस्थापन द्वारा होने वाली सेवा से जनता का बड़ा उपकार किया जा सकता है और जीवन की सफलता का उच्च हेतु इसमें सन्निविष्ट है। (६५-६६)

[यह सब व्यवहारिक शिक्षा की बात हुई; किन्तु केवल व्यवहारिक शिक्षा से ही विद्यार्थियों के सच्चे मनुष्यत्व का विकास नहीं होता। भर्तृहरि कहते हैं कि—'सापि प्रतिदिनमधोऽधः प्रविशति' अर्थात्—विद्या दिनों-दिन नीचे उतरती जाती है, पतित होती जाती है, इसलिए अकेली विद्या से ही—व्यवहारिक शिक्षा से ही युवकों का सच्चा हित नहीं होता। इसलिए, विद्या के साथ और भी कुछ चाहिए। क्या चाहिए? ग्रन्थकार कहते हैं कि—विद्या के साथ धर्म का रंग होना चाहिए। अतएव विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा भी देना चाहिए। इसी आवश्यकता का अब प्रतिपादन किया जाता है।]

धार्मिक शिक्षा से विद्या की सफलता ॥६७॥

विद्या धार्मिकशिक्षणेन रहिता नो शोभते सर्वथा।
वस्त्राभूषणभूषिताऽपि महिला शीलेन हीना यथा॥

विद्यन्ते सकलाः कला न सफला धर्मेण युक्ता न चे—
दीनारः किमु मुद्रयैव लभते मूल्यं सुवर्णं विना ॥

भावार्थ—वस्त्र और आभूषण से सज्जित स्त्री, जैसे शील बिना शोभा नहीं देती, वैसे ही धार्मिक शिक्षा से रहित केवल व्यावहारिक शिक्षा बिलकुल शोभा नहीं देती। भले ही सब कलाएँ आती हों, परन्तु एक धर्म कला न आती हो, तो वे सब निष्फल हैं। खोटी मुहर पर केवल छाप पड़ी हो और उसमें यदि स्वर्ण आदि धातु न हो, तो केवल छाप से ही कौन उसका मूल्य देगा? (६७)

विवेचन—युवकों को व्यावहारिक शिक्षा देना केवल पेट भरने के लिए ही नहीं है। अमुक विद्या या कला सीख कर एक लड़का संसार में प्रविष्ट होने पर भली भाँति कमा खायेगा—केवल इसी हेतु से लड़कों को पढ़ाने वाले माता-पिता, यह कहना चाहिये कि जीवन का सच्चा अर्थ नहीं समझते। वस्तुतः विद्या ग्रहण करके विद्यार्थी संसार में सुख पूर्वक निर्वाह कर सके, यही नहीं; परन्तु उसके चारित्र्य का संघटन हो, वह एक आदर्श नागरिक बने, वह समाज के संकटों को नष्ट करने वाला बन कर अपना आत्महित साधे—यह भी विद्योपार्जन का हेतु है। यदि पेट भरने के लिए विद्या ग्रहण करनी होती, तो पसीना बहाकर कमाई करने की ओर लोग नहीं मुड़ते, बल्कि दूसरे के घर को फोड़ कर, अन्य परिश्रम से पेट भरने की विद्या ही अपने बच्चों को सिखाते; परन्तु पेट भरने के साथ-साथ अन्य हेतु भी जीवन में साधने पड़ते हैं—दुनिया का बहुत बड़ा भाग इस बात को जानता है और इसीसे माँ-बाप विविध कलाओं के सिवा नैतिक ज्ञान बढ़ाने वाली, चरित्र संघटन करने वाली

शिक्षा से भी अपने बालकों को अलंकृत करना आवश्यक समझते हैं। परन्तु इस हेतु-साधन के विविध मार्ग हैं। जगत् के जुदे-जुदे देशों में नीति के जुदे-जुदे स्वरूप मालूम होते हैं। कई लोग कहते हैं कि अन्तरात्मा का—चिद्वृत्ति की आवाज ही नीतिका निर्मल स्वरूप है, कई यह कहते हैं कि जिस काम से अधिक प्राणियों का—सब प्राणियों का हित हो, वही सच्ची और व्यावहारिक नीति है। और कई लोग यह कहते हैं कि धर्म का प्रबोध कराने वाली नीति ही आदर्श कहला सकती है। अब. कौनसी नीति ग्रहण की जाय और किस सिद्धान्त के आधार पर चारित्र्य संघटन किया जाय, यह महत्त्व का प्रश्न है। परन्तु अन्तरात्मा या चिद्वृत्ति की आवाज हमेशा शुभ की ओर ही प्रेरणा नहीं करती। पुराने जमाने में स्पेन के लोग विद्यार्थियों को जीता जला डालते थे और इस काम को अन्तरात्मा की सच्ची आवाज समझते थे। ऐसी दशा में चिद्वृत्ति की आवाज हमेशा नीतिपरक ही कैसे हो सकती है? और इस प्रकार जुदे-जुदे रूप में मानी जाने वाली नीति का अनुसरण करके प्रजा का चारित्र्य संघटन करने को कैसे कहा जा सकता है? इस ग्रन्थ के कर्त्ता ने भी अपने प्रथम ग्रन्थ के २७ वें श्लोक में 'चिद्वृत्ति' के सम्बन्ध में कहा है कि—

> संस्कारैरशुभैः कुबुद्धिजनकैः कर्माणुभिः सञ्चितै—
> राक्रान्ता यदि चेतना मलहता व्याप्ता च जाड्येन वा॥
> चिद्वृत्तिस्फुरणा भवन्त्यपि भवेत्तेषां न धीगोचरो।
> मन्दास्तेन मदोद्धताः प्रतिदिनं कर्तुं कुकृत्यं रताः॥

अर्थात्—पूर्व संचित कर्मों के कई ऐसे अशुभ संस्कार होते हैं कि जिनसे सद्वृत्ति दब जाती और दुर्बुद्धि प्रबल हो जाती है। ऐसे अशुभ कर्मों से जिसकी चेतना दब गई हो, और उसके

चारों ओर दुश्चिंतन से मलिनता जम गई हो, तथा अंतर में चारों ओर जड़ता फैल गई हो, ऐसे मनुष्यों के अंतर्पट में चिद्-वृत्ति की स्फुरणा होने पर भी उस स्फुरणा के कार्य तथा प्रसाद रूपी चिह्न उन्हें नहीं दीख पड़ते। इससे, बिना पतवार की नौका के समान उलटी सीधी गति से डगमगाते हुए, या दुष्कृत्यों की ओर बढ़ते हुए उन्हें कोई रोकने वाला नहीं होता इससे स्वच्छंद या उद्धत बने हुए बुरे मनुष्य अपनी बाह्य इच्छा के वशीभूत होकर चाहे जो दुष्कृत्य करने में तत्पर हो जाते हैं। भिन्न भिन्न संयोगों, संस्कारों तथा बाह्य वस्तु स्थिति में मनुष्यों का लालन पालन होता है और उनके अनुरूप ही उनकी चिद्वृत्ति स्वरूप ग्रहण करती जाती है। इससे, किसी भी काम को करते हुए उनकी चिद्वृत्ति जो कुछ आवाज करती है, वह भले ही उसे शुभ मालूम होती हो; परन्तु जगत् की सर्वमान्य नीति की दृष्टि में वह शुभ नहीं होती। एक ईसाई धर्माचार्य ने एक दूसरे धर्माचार्य को उत्तर दिया था कि—'तुम अपनी अंतरात्मा की आवाज़ के अनुसार ही चाहे चलते हो; परन्तु तुम्हें इतना ध्यान रखना चाहिये कि तुम्हारी अंतरात्मा किसी मूर्ख की अंतरात्मा न हो।' इस कारण चिद्वृत्ति की आवाज को ही नीति मान लेने का सिद्धांत बनाना उचित नहीं है। तब क्या, जिससे अधिक मनुष्यों का हित हो, चाहे फिर उससे थोड़े मनुष्यों का अहित भी हो, वही नीति हो सकती है? जगत के बहुत से मनुष्य इसी नीति के अनुसार चलना पसंद करते हैं; परन्तु अधिक मनुष्यों का शाश्वत हित करने वाला मार्ग, यदि अचल मार्ग न हो, तो वह एक सिद्धांत नहीं बन सकता। यदि आज कुछ धोखेबाजी से कोई साम्राज्य आपत्ति में फँसने से बच जाय, यह हो सकता है; परन्तु इस पर से ऐसी धोखेबाजी ही सर्वमान्य नीति नहीं बन सकती। कारण, कि ऐसी धोखेबाजी

करना ही सर्वमान्य नीति बन जाय, तो इसी प्रकार की धोखे-बाज़ी में अनेक साम्राज्य नष्ट भी हो जायँ। आज जिस प्रकार की नीति से एक साम्राज्य संकट से बचता हो और कल उसी नीति से दूसरे साम्राज्य का नष्ट होना संभव प्रतीत होता हो, तो वह नीति कभी नीति का सिद्धांत नहीं बन सकती। सारे विश्व को एक समान कल्याण कारण जो सिद्धांत हो, वही नीति का सच्चा सिद्धांत हो सकता है और इसलिए उपयोगिता-वाद अथवा Utilitarian View से; अर्थात्—अधिक संख्या के मनुष्यों का भला करने वाली नीति जगत् के लिए एक कल्याण कारक नहीं है। अंतरात्मा की आवाज़ का या उपयो-गितावाद का आधार नीति के सिद्धांत की स्थापना के लिए अचल नहीं है, तब किस अचल आधार पर इस सिद्धांत की स्थापना करनी चाहिये? केवल धर्म के आधार पर। धर्म के सिद्धांत ही शाश्वत और अचल हैं। जगत्-कल्याण के नीति और धर्म, ये दोनों शब्द पर्यायवाची बन जाते हैं और यदि विद्यार्थियों को नीतिमान् बनाना, उनके मनुष्यत्व की, उनकी विद्या की, उनके जीवन की सच्ची सफलता है, तो धर्म शिक्षा से रहित नीति के द्वारा वह सफलता कभी नहीं प्राप्त की जा सकती। इसलिए मिसेज़ बीसेन्ट ने कहा है कि—

"Those of you who would have India great, those of you who would see her mighty, remember that the condition of national greatness is the teaching of religion to the young." अर्थात्—जो लोग भारत को महान् बना हुआ देखना चाहते हों, जो लोग उसे सामर्थ्यवान् बना हुआ देखना चाहते हों, वे स्मरण रखें कि राष्ट्रीय महत्ता प्राप्त करने का मुख्य साधन युवकों को धार्मिक शिक्षा देना ही है। (६७)

[धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् अब ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि कैसी धार्मिकशिक्षा दी जानी चाहिये]

धार्मिकशिक्षा कैसी हो ? ।६८॥

स्याच्छिष्टाभिजनोचितं सुचरितं विद्यार्थिनां सर्वदा ।
शुद्धं निर्व्यसनं स्वधर्मनिरतं प्रीत्याश्रितं चोन्नतम् ॥
श्रद्धा शुद्धतरा मतिश्च विमला ज्ञानं भवेत्तात्त्विकं ।
देयं शिक्षणमीदृशं स्वचरितौपम्येन सच्छिक्षकैः ॥

भावार्थ—विद्यार्थियों का चारित्र्य सर्वदा शिष्ट जनों के ऐसा, व्यसन रहित, स्वधर्म-परायण, नीतिमय और उच्च से उच्च बने, अत्यन्त शुद्ध धर्म श्रद्धा रहे, बुद्धि निर्मल हो, तात्त्विक ज्ञान हो—इस प्रकार शिक्षकों को अपने शुद्ध चारित्र्य के उदाहरण से शिक्षा देनी चाहिये। (६८)

विवेचन—इससे पहले के श्लोक में, हेतुपुरःसर धार्मिक शिक्षा की जो हिदायत की गई है, उसका हेतु इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है। युवकों को भविष्यत् के अच्छे नागरिक बनाना, शिक्षा का मुख्य हेतु है और इसलिए, *'शिष्टाभिजनोचितं सुचरितं'* अर्थात् -शिष्टजनों—उत्तम नागरिकों के योग्य चारित्र्य संघटन लिए के विद्यार्थियों को शिक्षा देनी चाहिये। सच्चारित्र्य का परम हेतु दर्शाने के बाद ग्रन्थकार इस हेतु को पूर्ण करने के लिए शिक्षा के विशिष्ट गुणों का सूचन करते हुए कहते है कि जिससे सच्चारित्र्य विकसित हो, यानी विद्यार्थियों का चरित्र शुद्ध, निर्व्यसन, स्वधर्मपरायण, नीतिमय और उन्नत बने, और बुद्धि निर्मल हो, सच्ची श्रद्धा पैदा हो, तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होजाय—ऐसी शिक्षा अच्छे शिक्षकों के द्वारा दी जानी

चाहिए। सच्चारित्र्य के विकासका परमहेतु साधने के लिए विद्यार्थियों को दी जाने वाली साधारण शिक्षा के साथ ऐसी गुणों वाली विशिष्ट शिक्षा, अर्थात्—धार्मिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए। जिस प्रकार पहले कहा गया है, उस प्रकार यदि सन्नीति का ज्ञान विद्यार्थियों को न हो, तो वे सच्चरित्र नहीं बन सकते। और सन्नीति का आधार केवल धर्म ही है, इस लिए धार्मिक शिक्षा से युक्त ही दूसरी शिक्षा दी जानी चाहिए। तभी विद्यार्थी शिष्ट, सभ्य बन सकता है अच्छा सच्चरित्र नागरिक बन सकता है और दैहिक आयुषिक कल्याण साधना कर के जन समाज के कल्याण का पथ प्रदर्शक बन सकता है। यह धार्मिक शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे युवक विद्यार्थियों का चारित्र्य विशुद्ध हो, न कि किसी प्रकार अपना ही लाभ सोचने की कुशलता वाला हो, निर्व्यसन हो, न कि जीवन को पतित करने वाला, स्वधर्म परायण हो, न कि दुराग्रही, नीतमान् और उन्नत हो, न कि लोगों की व्यावहारिक ढुलमुल—नीति का सहारा लेकर वास्तव में पतित; सच्चा श्रद्धावान् हो न कि धर्मान्ध होकर दूसरों की भी उपदेश-विशिष्टता को तिरस्कृत करने वाला, निर्मल बुद्धि वाला हो, न कि "विद्या विवादाय" के अनुसार विद्या का दुरुपयोग कर के दुर्बुद्धिवाला, और अन्त में चरित्र-तत्त्व-ग्राही हो, तत्त्व को त्याग कर केवल औपचारिकता या बाह्य विशिष्टताओं को ग्रहण करने वाला अनुदार न हो। जब इन गुणों से युक्त चरित्र संगठन करने वाली शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाय, तभी वह धार्मिक शिक्षा कहला सकती है। इसी लिए मिसेज बीसेन्ट धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में कहती है कि—विद्यार्थियों को धार्मिक बनना सिखाओ परन्तु स्वमत के दुराग्रही न बनाओ। उन्हें सच्चे श्रद्धावान् बनाओ। उन्हें स्वधर्म-निष्ठ बनाओ, परन्तु उनको अन्य देशभाइयों के धर्मों को तिरस्कृत करना या धिक्कारना न सिखाओ। धर्म को एक

दूसरे के प्रति ऐक्य साधना करने वाला बल बनाओ, परन्तु उनमें अनेक्य बढ़ाने का साधन धर्म को न बनाओ। धर्म को जनता में राष्ट्रीयता उत्पन्न करने वाला बनाओ, परन्तु जनता को तोड़-मरोड़ कर विछिन्न करने का साधन न बनाओ। धर्म को शिष्ट गुणों का स्तन्यपान कराने वाली माता बनाओ, नीति का पोषण करने वाली परिचारिका और शिक्षा देने वाला गुरु बनाओ।" जब धार्मिक शिक्षा से इन हेतुओं की साधना हो सके, तभी वह इष्ट फल देने वाली कही जा सकती है। ऐसी शिक्षा देने के लिए ग्रन्थकार ने सच्चरित्र शिक्षकों की भी आवश्यकता बताई है। (६८)

[अब धार्मिक शिक्षा के लिए धार्मिक शालाओं की आवश्यकता प्रदर्शित की जाती है।]

धार्मिक शालाओं की स्थापना ॥ ६९ ॥

तस्माद्धार्मिकशिक्षणोच्छ्रयकृते विद्यार्थिवर्गेऽमले।
सेवातत्परमण्डलेन सुहृदा स्थाप्याः सुशालाः पुनः ॥
अत्रोदारधिया परार्थधनिभिः सेवा विधेया श्रिया।
देयं शिक्षणमुत्तमं स्वयमलं सेवार्थिभिः शिक्षकैः ॥

भावार्थ—इसके लिए सेवा के इच्छुक मण्डल या व्यक्ति को निर्मल विद्यार्थी वर्ग में धार्मिक शिक्षा की उन्नति करने वाली धार्मिक शालाएँ स्थापित करनी चाहिएँ और ऐसी शालाओं के स्थापित करने में धन की आवश्यकता हो, तो उसकी पूर्ति के लिए उदार और परोपकारी श्रीमान् धनवानों को धन से सेवा करनी चाहिए और शिक्षकों को सेवा-भाव से निष्काम वृत्ति से उच्च प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए। (६९)

विवेचन—कई प्रकार की व्यावहारिक विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इस समय धन खर्च करना पड़ता है, पूर्वकाल में प्रत्येक प्रकार की विद्या, हुनर या कला, गुरु हमेशा शिष्य को निष्काम वृत्ति से सिखाता था। वह यह समझता था कि इस प्रकार वह जनता की सेवा ही कर रहा है, और जनता या राजा गुरु की उदरपूर्त्ति के लिए आवश्यक धान्यादि दिया करते थे। इस समय ऐसा गुरुभाव बहुत ही कम दृष्टिगोचर होता है और इससे धन-व्यय करके विद्या प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है। वैद्यक, इंजीनियरिंग, बुनाई, रँगाई आदि हुनर सिखाने वाले सरकारी स्कूलों में भी फ़ीस ली जाती है; परन्तु धार्मिक शिक्षा के लिए ऐसा नहीं हो सकता और उसके लिए फ़ीस रखना उचित भी नहीं है। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि साधारण जनता व्यावहारिक शिक्षा का जितना मूल्य समझती है, उतना वह धार्मिक शिक्षा का नहीं समझती। इस अज्ञान के कारण ही एक पिता अपने पुत्र को इलेक्ट्रीशियन बनाने के लिए जर्मनी भेजकर दस हज़ार रुपया खर्च कर देगा, परन्तु धार्मिक शिक्षा यदि मुफ्त मिले तो भी उसके लिए वह अपने पुत्र को ऐसी पाठशाला में भेजने की ओर ध्यान न देगा! दूसरी प्रकार से देखा जाय, तो धार्मिक शिक्षा चारित्र्य के विकास के लिए है और चारित्र्य मुक्ति का कलेवा है और मुक्ति के कलेवा रूपी धार्मिक शिक्षा का मूल्य लेकर उसे बेचना उचित नहीं है। प्रत्येक मनुष्य प्राणी को हुनर, विद्या या कला भले ही न्यूनाधिक प्रमाण में प्राप्त हो, परन्तु मुक्ति का कलेवा प्राप्त करने का अवसर तो सबको समान रीति से मिलना चाहिए और इसलिए धार्मिक शिक्षा का दान बिना मूल्य ही देना उचित है। इसीलिए ग्रन्थकार धार्मिक-शिक्षा के लिए धार्मिक शाला स्थापित करने का आग्रह करते हैं और साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि

ऐसी शाला सेवा-तत्पर-मण्डल के द्वारा, सहृदय व्यक्ति के हाथों स्थापित होनी चाहिए। धन की आवश्यकता तो प्रत्येक कार्य में रहती है। सेवा भावना रखने वाला शिक्षक मिल जाय, तो भी उसकी आजीविका के लिए आवश्यक धन उसे चाहिए। इसलिए धन की आवश्यकता पड़ने पर परोपकारी श्रीमान् धनवानों का कर्त्तव्य है कि वे उसकी पूर्त्ति करें। शिक्षकों को सेवा भावना वाला होना चाहिए, यह पहले भी कहा गया है। ऐसी शालाओं की स्थापना के विना सभी बालक और बालिकाओं में धार्मिक शिक्षा का विस्तार करना असम्भव हो जाता है। व्यावहारिक शिक्षासम्बन्धिनी शालाओं में नैतिक शिक्षा देने के लिए जोर दिया जाता है, परन्तु धर्म की नींव से रहित नैतिक शिक्षा विद्यार्थियों के जीवन में ओत प्रोत नहीं होती, इसलिए भिन्न रूप में ही धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता है और इसीलिए बिल्कुल अलग धार्मिक शालाएँ स्थापित करने का आग्रह यहाँ किया गया है कि जहाँ विद्यार्थियों को रोज कुछ समय धर्म तथा धर्म से शृंखलित अचल नीति की शिक्षा मिल सके। (६९)

[अब नीचे के श्लोक में विद्यार्थियों तथा उनके माता-पिताओं में धार्मिक शिक्षा विषयक अभिरुचि उत्पन्न करने की आवश्यकता प्रदर्शित की जाती है।]

धार्मिक शिक्षा की अभिरुचि उत्पन्न करना ॥ ७० ॥

तत्तद्धर्मपरायणाः सुगृहिणः सर्वेऽपि विद्याकृते ।
प्रेष्येयुस्तनुजान्निजान् प्रतिदिनं काले यथानिश्चिते ॥
न स्यात्कारणमन्तरैकदिवसः शून्यो यथा पत्रके ।
छात्रे तत्पितरौ तथाविधरुचिं सम्पादयेतामुभौ ॥

भावार्थ—अपने अपने धर्म में परायण सभी सद्गृहस्थ अपने बालकों को प्रतिदिन नियमित समय पर पढ़ने के लिए शाला में भेजें और वह यहाँ तक कि शाला के हाज़िरी-रजिस्टर में किसी विशेष कारण के बिना एक दिन भी गैरहाज़िरी न लिखी जाय—ऐसी रुचि बालकों और उनके माँ-बापों में उत्पन्न करनी चाहिए। (७०)

विवेचन—ऐसा करना चाहिये कि बचपन से ही विद्यार्थी धार्मिक शिक्षा में रस लेने लगें। कारण कि इस अवस्था से ही धार्मिक संस्कारों का बीजारोपण होना चाहिए और इस के लिए धार्मिक शिक्षा की शाला में विद्यार्थी नियमित रूप से पढ़ने को जायँ और माँ-बाप अपने बच्चों को धार्मिक शिक्षा की शालाओं में भेजने का पूरा ध्यान रखें—इस पर ग्रन्थकार ने अच्छी तरह जोर दिया है। परन्तु धार्मिक शिक्षा बहुधा रसोत्पादक नहीं होती। बिना शुल्क धार्मिक शिक्षा देने वाली शालाएँ, अधिकांश खाली ही रहती हैं। और व्यावहारिक शिक्षा देने वाली शालाओं में फ़ीस लगती है, तो भी भरी रहती हैं। इस पर से हम वस्तुस्थिति समझ सकते हैं। ऐसा होने का क्या कारण है ? जैसा कि पहले कहा गया है, धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता और उसके मूल्य को बहुत कम माँ-बाप समझते हैं और इससे वे इस ओर पूरा ध्यान नहीं देते। विद्यार्थियों की अभिरुचि भी धार्मिक शिक्षा के प्रति बहुत कम देखने में आती है। इन दोनों कारणों से, विद्यार्थियों और उनके माँ-बापों की अभिरुचि धार्मिक शिक्षा के प्रति उत्पन्न करने का उचित सूचन ग्रन्थकार इस श्लोक में करते हैं। इस अभिरुचि को किस प्रकार यत्न पूर्वक बढ़ाया जाय, यह एक महत्व का प्रश्न है। धार्मिक शिक्षा रस-मय होनी चाहिए। विद्यार्थियों की विकसित

होती हुई मस्तिष्क-शक्ति चारों ओर से नये प्रकाश की ओर आकर्षित होती रहती है, ऐसे समय उन्हें शुष्क धार्मिक शिक्षा दी जाय, यह उचित नहीं है। हमारे देश में जहाँ-जहाँ शुष्क धार्मिक शिक्षा देने का यत्न किया गया है, वहाँ-वहाँ उसे सफलता नहीं प्राप्त हुई। इसलिए धार्मिक शिक्षा को भी रसमयी बनाना चाहिए। शुष्क धार्मिक शिक्षा को बालक किसी प्रकार जबर्दस्ती ग्रहण तो करते हैं; परन्तु ऐसी शिक्षा बाँस की नलिका में फूँक देने के समान इधर से उधर निकल जाती है, और चारित्र्य पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। अतएव, धार्मिक शिक्षा के लिए ऐसा यत्न करना चाहिए कि जिससे विद्यार्थी हौंस के साथ उसे ग्रहण करें और इसके साथ उनके माता पिता भी स्वाभाविक रूप में उन्हें उत्साहित करने के लिए प्रेरित हों। कहानियों, कविताओं, तथा चित्रपटों के द्वारा धर्म तथा नीति-शिक्षा देने के प्रयत्न जगत् में हो रहे हैं—यह सब धार्मिक शिक्षा को रस-भरित बनाने के ही प्रयत्न हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा प्रयत्न प्रत्येक धर्मवालों को करना चाहिए, और प्रत्येक माता-पिताओं को अपने अपने धर्म के संस्कार अपने बालकों में प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक धर्म के सिद्धान्त को तात्त्विक अन्वेषण करने वाला किसी अमुक धर्म के लिए ही आग्रह नहीं प्रकट करता। ऐसी ही उदारता इस कथन में प्रतीत होती है। रेव० फ्लेसिंग भी कहते हैं कि—'तुम अपने धर्म की ओर दृष्टिपात करो, उससे तुम्हारे देश की उन्नति हो रही है या नहीं, इसे देखो। वह कोई काम कर रहा है या नहीं, इसकी जाँच करो। जो परिणाम उससे होना चाहिए, वह हो रहा है या नहीं, इसे देखो।' बस, धर्म का—धार्मिक शिक्षा का यही हेतु है और उसे पूर्ण करने का एक क्षेत्र भी सेवा धर्मियों के लिए खुला हुआ है। (७०)

[ग्रन्थकार अब यह प्रकट करते हैं कि धार्मिक शिक्षा की पूर्ण सफलता कब मानी जा सकती है।]

अच्छे परिणाम के बिना शिक्षा की निष्फलता ॥ ७१ ॥

किं तद्धार्मिकशिक्षणेन न यतो विद्यार्थिनां जीवनं।
जातं धर्मपरायणं दृढतरश्रद्धाऽन्वितं सात्त्विकम् ॥
किं चिन्तामणिना यतो विनिहता नैकाऽपि चिन्ता हृदो।
दारिद्र्यं दलितं न येन दुरितं तत्कल्पवृक्षेण किम् ॥

भावार्थ—जिस शिक्षा से विद्यार्थियों का जीवन धर्म परायण दृढ़ श्रद्धायुक्त और सात्विक गुण वाला न बने, वह शिक्षा किस काम की ? जिससे मन की एक भी चिन्ता दूर न हो, वह चिन्तामणि किस काम का ? जिससे दारिद्रय और उसके पाप दूर न हों, वह कल्पवृक्ष किस काम का ? (७१)

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने धार्मिक शिक्षा की सफलता तथा निष्फलता का विचार किया है। इस समय देश की भिन्न-भिन्न जातियों और सम्प्रदायों में धार्मिक शिक्षा की जो रीति प्रचलित है, उसके गुण-दोषों का निरूपण करने में इस श्लोक का आशय सहायता दे सकता है। ब्राह्मण अपने बालकों को सन्ध्यागायत्री आदि सिखायें, जैन लोग सामायिकादि सिखायें, जरथोस्ती-पारसी-लोग 'अवस्ता' कण्ठाग्र करायें, या मुसलमान कुरान पढ़ना सिखाएँ—इससे धार्मिक शिक्षा की समाप्ति नहीं हो जाती, या तोते की तरह रटा देने से धार्मिक शिक्षा का जो सच्चा हेतु चरित्र-सुधारना है, वह पूर्ण नहीं हो जाता। ग्रन्थकार के कथनानुसार जिस शिक्षा से विद्यार्थियों का जीवन धर्मपरायण, श्रद्धा पूर्ण और सात्विक गुणों वाला बने, वही शिक्षा इष्टफल-

दायक कही जा सकती है। इस समय की वैदिक पाठशालाएँ, जैन पाठशालाएँ इसलामिया मकतब-मदरसे क्या चारित्र्य-सुधार की दृष्टि से ही शिक्षा देते हैं? प्रत्येक धार्मिक शिक्षा देने वाली संस्थाओं को इस कसौटी पर कस कर देखना चाहिए। यदि इस कसौटी पर वे खरी न सिद्ध हों, तो वे या उनकी शिक्षा कार्य-साधक नहीं कही जा सकती। यदि बालक या विद्यार्थी केवल यही समझ सकें कि उनके माता-पिता जिस धर्म को मानते हैं, उसी की शिक्षा वे पारहे हैं और जन्म भर उसी से चिपटे रहते हैं; परन्तु धर्म धारण करने का हेतु वे न समझ सकें और उनका चरित्र संघटित न हो, तो उनकी यह ऊपरी समझ किस काम की? रत्न अपने पास होने पर उससे चिन्ता दूर न हो, तो उसे चिन्तामणि रत्न कौन कह सकता है? जिस धार्मिक शिक्षा से चरित्रपर धर्म का रंग न चढ़े, वह शिक्षा भी किस काम की? रेव० फ्लेमिंग भी इस कसौटी से धार्मिक शिक्षा का मूल्य आँकते हैं। वे कहते हैं कि 'वैज्ञानिक दृष्टि से किसी भी विचार को मानना या न मानना यह कोई प्रश्न नहीं है। उससे देश की उन्नति हो सकती है या नहीं? मैं उसे ग्रहण करूँ, तो उसका कुछ फल होगा या नहीं?—इस दृष्टि से प्रत्येक विचार को कसौटी पर कसना चाहिए। उतना ही महत्त्व पूर्ण प्रश्न मनुष्य के सामने यह उपस्थित होता है कि 'मेरा अमुक धर्म है और उस धर्म के अनुयायियों को जो करना चाहिए, वह मैंने कितना किया? किसी मनुष्य के कार्यों से उसका धार्मिक जीवन स्पष्ट न प्रकट हो, तो वह जीवन चैतन्यमय या सच्चा जीवन नहीं हो सकता। केवल बुद्धिमानों की एक जाति पैदा करना ही शिक्षा का हेतु नहीं होना चाहिए। समाज के अंगभूत लोगों में कर्त्तव्यभावना, उत्तरदायित्व की लगन पैदा होना भी उसका हेतु है।' इस प्रकार धार्मिक शिक्षा का तत्त्व समझकर जब ऐसी

शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, तभी वह इष्टफलदायक सिद्ध हो सकती है।

दृष्टान्त—एक वेदविद्या पारंगत ब्राह्मण था। उसने बारह वर्ष तक काशी में रहकर अध्ययन किया था। बड़ी-बड़ी सभाओं में वह वैदिक पंडितों को वाद-विवाद से हराया करता था। आत्मा और शरीर की फिलासफी पर विवाद करने में वह बेजोड़ माना जाता था और बड़ी-बड़ी पाठशालाओं की ओर से उसे उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं। वह ब्राह्मण चारों ओर के धर्म शास्त्रज्ञों में दिग्विजय प्राप्त करके अपने नगर को लौटा। नगर के राजा ने जब यह जाना कि वह ब्राह्मण विद्या में पारंगत होकर आया है, तब उनकी इच्छा हुई कि यह मालूम किया जाय कि धर्म का उसे कितना ज्ञान है। राजा ने नगर के चारों दरवानों को अमुक सूचना करदी। ब्राह्मण जब एक द्वार पर पहुँचा, तो दरवान ने उसे रोका और कहा कि आप अन्य दरवानों को आज्ञापत्र दिखाएँगे, तो जा सकेंगे। ब्राह्मण के पास आज्ञापत्र न था। दरवान ने कहा कि आपको यहाँ से आज्ञापत्र तभी मिल सकेगा, जब आप मद्यपान करना स्वीकार करेंगे। ब्राह्मण ने विचार किया कि *'जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'* ऐसा विद्वानों ने कहा है, तब यह जन्मभूमि का नगर है; अतएव साक्षात् स्वर्ग है। स्वर्ग के द्वार में प्रवेश करने के लिए मद्यपान भी करना पड़े तो चिंता नहीं। शास्त्रों में भी 'औषधार्थे सुरां पिबेत्' ऐसा कहा है। यह विचार कर मद्यपान करना स्वीकार करके आज्ञापत्र प्राप्त किया। इसी प्रकार दूसरे द्वार पर मांसभक्षण स्वीकार करने के लिए कहा गया। 'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने' यह शास्त्र वचन याद आने पर ब्राह्मण ने मांस भक्षण स्वीकार करके आज्ञा-पत्र प्राप्त किया। तीसरे द्वार पर

जुआ खेलना स्वीकार करने के लिए कहा गया, उसे भी जन्म-भूमि रूपी स्वर्ग में जाने के लिए ब्राह्मण ने स्वीकार किया! चौथे द्वार पर तो एक सुन्दरी उसका स्वागत करने के लिए खड़ी थी। 'न चास्मिन् संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम्' इस संसार में कमलनयनी स्त्रियों से बढ़कर और कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं है, और ऐसी स्त्री की प्राप्ति जीवन की धन्यता मानकर ब्राह्मण देवता उस वेश्या के भवन में पहुँचे। राजा वहाँ मौजूद थे, उन्होंने पूछा—'हे विप्र! तुम काशी से विद्याध्ययन करके आये हो, फिर भी मद्य, मांस, द्यूत और वेश्या समागम करने की बुद्धि उत्पन्न होगई, क्या यही सब पढ़कर आये हो?' ब्राह्मण ने कहा कि 'मैंने जो कुछ किया है, उनके लिए मेरे पास शास्त्र का प्रमाण है।' राजा ने कहा—तुम्हारे जैसे ब्राह्मण को फाँसी पर लटकाने के लिए राजनीतिशास्त्र में भी प्रमाण है। यह कहकर राजा ने दयापूर्वक उसे फाँसी की सजा तो न दी; पर नगर के बाहर निकलवा दिया। तात्पर्य यह है कि जिस धर्मशास्त्र की शिक्षा से चारित्र्य पर कोई प्रभाव नहीं होता, वह शिक्षा इस ब्राह्मण के विद्याज्ञान की तरह बिल्कुल निष्फल है। (७१)

[नीचे के श्लोक में शिक्षा की परीक्षा की आवश्यकता प्रकट की गई है।]

परीक्षा तथा पुरस्कार ।७२।।

सप्ताहं प्रति मासमेकमथवाऽवश्यं परीक्षा सकृद्।
ग्राह्या तत्र परीक्षकैर्नियमतः पृष्ट्वाऽर्थशुद्ध्यादिकम् ॥
बाला येऽत्र भवेयुरुन्नततयोत्तीर्णाः सदाऽऽगन्तुका-
स्तेषां देयमुपायनं समुचितं प्रोत्साहनार्थं पुनः ॥

भावार्थ तथा विवेचन—प्रति सप्ताह या प्रति मास एक बार परीक्षकों को विद्यार्थियों की परीक्षा अवश्य लेनी चाहिये

और शब्दार्थ, भावार्थ, शुद्ध उच्चारण तथा तात्पर्य आदि की जाँच करनी चाहिये। जो विद्यार्थी इस परीक्षा में अधिक नंबरों से पास हों, और जिनकी हाजरी पूरी रहती हो, उन्हें, उनका और अन्य विद्यार्थियों का उत्साह बढ़ाने के लिए उचित पुरस्कार देना चाहिये। शिक्षा की परीक्षा के बिना, उसकी गहराई समझ में नहीं आती, इसलिए परीक्षा की क्रमिक पद्धति से काम लिया जाना चाहिये। विद्यार्थियों को उच्च श्रेणी में पास होने का महत्त्व समझाने और अध्ययन में उनका उत्साह बढ़ाने के लिए, पारितोषिक देने की प्रचलित पद्धति का समर्थन इस श्लोक में किया गया है। (७२)

[अब यह बतलाया जाता है कि विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए कैसी पुस्तकें चाहिये।]

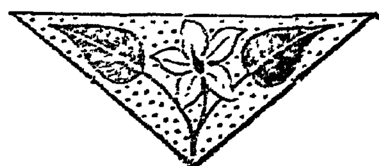
धार्मिकशिक्षा के लिये पुस्तकें। ७३ ॥

रम्या नीतिकथा महात्मचरितान्याचारगर्भाणि वा।
तत्त्वं यत्र सयुक्तिकं सरलया रीत्या निबद्धं भवेत् ॥
भाव्यं तादृशपुस्तकैरभिनवैः सद्धर्मशिक्षोचितै—
र्निर्मेयानि च तानि पण्डितवरैः सेवार्थिभिः सेवकैः ॥

भावार्थ - जिनमें नीति की छोटी-छोटी रमणीय कथायें—कहानियाँ हों, आचारगर्भित महात्मा पुरुषों के चरित्र हों, धर्म के सिद्धांत और तत्त्व युक्तिपूर्वक सरल रूप में लिखे हों, धार्मिक शिक्षा की ऐसी नवीन पुस्तकों की पहले आवश्यकता है। इस प्रकार की पुस्तकें न हों, तो सेवा के इच्छुक लेखकों और पण्डितों को चाहिये कि वे बालकों के लिए ऐसी रसीली पुस्तकें तैयार करें। (७३)

विवेचन—पहले जैसी धर्मशिक्षा के लिए आग्रह किया गया है, उसके लिए कैसे उपकरण होने चाहिये और न हों, तो तैयार करने चाहिये, यही सूचन इस श्लोक में किया गया है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य पर अच्छा प्रभाव करने वाला धार्मिक साहित्य होना चाहिये और इसके लिए नीतिमय कहानियाँ, महापुरुषों के जीवन चरित्र, धर्म के सिद्धांत और तत्त्व का ज्ञान कराने वाली पुस्तकों की आवश्यकता है। यदि ऐसी पुस्तकें तैयार न हों, तो सेवाधर्मी पंडित और लेखकों को ऐसी पुस्तकें तैयार करके विद्यार्थियों का उपकार करना चाहिये। विद्यार्थी अवस्था में धर्म और नीति की जो छाप डाली जा सकती है, वह बड़ी उम्र के मनुष्यों पर नहीं डाली जा सकती। और इसीलिए विद्यार्थियों के वास्ते ऐसी रसमय पुस्तकों की आवश्यकता है जिनसे मनोरंजन के साथ धर्म और नीति की शिक्षा प्राप्त हो। परन्तु, यह न भूलना चाहिये कि धर्म और नीति की शिक्षा, अन्य व्यावहारिक शिक्षा के साथ साथ ही चलनी चाहिये और दोनों शिक्षाएँ एक समान उपयोगी और अनिवार्य होनी चाहिये। यदि धार्मिक शिक्षा को ऐच्छिक रखा जाय, या उसे घर पर ही पढ़ने की योजना की जाय, या प्रसंगोपात्त पढ़ाने की व्यवस्था की जाय, तो धार्मिक शिक्षा का हेतु पूर्ण नहीं होता। व्यावहारिक शिक्षा के अध्ययन क्रम के साथ और उसी के समान ही अनिवार्य अध्ययनक्रम इसका भी रखा जाय, तभी इच्छित हेतु की पूर्ति हो सकती है; अन्यथा जो कुछ ऐच्छिक या प्रसंगोपात्त रखा जाता है, उससे शायद ही लाभ उठाया जा सकता है। अतएव धार्मिक शिक्षा के लिए क्रमबद्ध पुस्तकें रचकर, उनका नियमित और अनिवार्य अध्ययन कराया जाना चाहिये। श्री कालेलकरजी इस विषय में कहते हैं

कि—'शिक्षण शास्त्र' के नियम के अनुसार प्रथम कहानी, फिर वर्णन, फिर इतिहास, फिर तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञान के बाद अन्य धर्मों के साथ तुलना और अन्त में धर्म-संशोधन हो, ऐसा क्रम रखना चाहिये। धार्मिक शिक्षा में विजय प्राप्त करने की सच्ची कुँजी यह है कि विद्यार्थी में प्रेमी-स्वभाव, विनय और आदरभाव जागृत होना चाहिये। धार्मिक शिक्षा दी गई और आदर भाव का लोप कर दिया गया, तो शिक्षा देना और न देना एक समान है। (७३)



दशम परिच्छेद

रोगीसेवा ।७४॥

कश्चिन्नास्त्युपचारको निजगृहे यस्याऽर्त्तिरोगोद्भवे ।
स्याद्वृद्धस्तरुणोऽपि वा स वृषलो वैश्यो द्विजः क्षत्रियः॥
मत्वा तं निजबान्धवं सुमनसा सेवा विधेया स्वयं ।
पथ्यान्नौषधदानमिष्टवचनाऽभ्यर्णाऽऽसनाऽभ्यञ्जनैः॥

भावार्थ—जिसके घर में, रोग या दुःख-कष्ट के समय सेवा शुश्रूषा करने वाला कोई न हो, और वह रोगी या दुखी मनुष्य वृद्ध हो या युवक हो, ब्राह्मण हो या शूद्र हो, क्षत्रिय हो या वैश्य हो, चाहे जो हो, तो भी उसे अपना भाई आत्मीय-समझकर, सच्ची लगन से, अपने हाथों पथ्य औषधादि देकर, रोगी को शान्ति देने वाले मृदु वचन बोलकर, किसी समय उसके पास बैठकर तैलादि का मर्दन करके उसकी सेवा करनी चाहिये। (७४)

विवेचन—सेवा धर्म अंगीकार करने वाले के लिए एक विशेष क्षेत्र रोगी जनों की सेवा करना है। इस जगत् में अनेक प्रकार के दुखित और आवश्यकता वाले मनुष्य हैं। उनके दुःखों को दूर करना, उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करना, उनका हित करना आदि उनकी सेवा करने के समान ही है। यह सेवा अत्यन्त मूल्यवान् है। कोई मानसिक पीड़ा से पीड़ित है, कोई शारीरिक पीड़ा से पीड़ित है, किसी को धन की आवश्यकता है, किसी को विद्या की। ऐसे मनुष्यों की पीड़ाओं का,

व्याधियों का निवारण करके आवश्यकताओं की पूर्ति करना, यह अत्यन्त मूल्यवान् सेवा है। रोगी जनों का आशीर्वाद अत्यन्त पवित्र माना जाता है। कारण कि रोग निवारणार्थ उसकी जो कुछ सहायता की जाती है, उससे उसका जीवन बच जाता है और वह अपना जीवनदान प्राप्त हुआ समझता है और जीवनदान, बड़े से बड़ा दान है। रोगियों की सेवा के लिए श्रीमान्—धनी लोग रुग्णालय, औषधालय आदि स्थापित करते हैं कि जहाँ रोगियों की सेवा शुश्रूषा मुफ्त में की जाती है। इस प्रकार के कार्य तो बड़े लोग, धनीमानी सज्जन ही कर सकते हैं; परन्तु साधारण या गरीब लोग भी रोगियों की सेवा करके उपकार-साधन कर सकते हैं। कभी-कभी किसी अकेले निराधार रोगी को पथ्य तैयार करने, उसकी सेवा टहल करने या औषधि आदि ला देने के लिए कोई आदमी नहीं होता, ऐसे रोगियों की आवश्यकताओं को पूरा करना, उनको भोजन बना कर खिलाना, दवा ला देना या बिस्तर बिछा देना आदि भी सेवा के कार्य हैं। हैजा जैसे महामारी रोगों के समय, ग्राम-वासी बस्ती छोड़कर बाहर जा बसते हैं, पर गरीब लोग अपनी परिस्थिति के कारण घर नहीं छोड़ सकते और इससे उनके घर के लोग रोग का शिकार हो जाते हैं। ऐसे लोगों की सेवा के लिए मनुष्य नहीं होते और जो पाड़पड़ौसी होते हैं वे भी भय के कारण से सेवा शुश्रूषा के लिए तैयार नहीं होते, ऐसे समय रोगियों की सेवा करने के लिए तैयार होना अनन्य उपकार का कार्य है। परिचर्या या सेवा के अभाव से ऐसे समय अनेक रोगी भूखे-प्यासे ही मर जाते हैं और किसी को खबर तक नहीं हो पाती! ऐसे लोगों की सेवा गरीब से गरीब मनुष्य भी कर सकते हैं।

कई बार रोगियों को आश्वासन की भी बड़ी आवश्यकता होती है। कई नीची जातियों के मनुष्य उच्च जाति के मनुष्यों से दबे हुए और अपने को भूले हुए होते हैं और जब वे रोग ग्रसित होते हैं, तब वैद्य, डाक्टर या दवाखाने उनकी ओर पूरा ध्यान नहीं देते। ऐसे मनुष्यों को सेवा की बड़ी आवश्यकता रहती है। सेवा करने वालों को जात-पाँत का विचार न करके उनकी सेवा करना उचित है।

दृष्टान्त—जोसेफ़ डेमियन नामक एक युवक बेल्जियम के एक कालेज में अध्ययन करके धर्माचार्य का पद प्राप्त कर चुका था। उसे दक्षिण समुद्र के टापुओं में धर्मप्रचार की हैसियत से जाने की आज्ञा हुई। दक्षिण समुद्र के जंगली टापुओं में जाना, एक प्रकार कालेपानी की सजा ही समझिए। परन्तु वह इस आज्ञा से बहुत प्रसन्न हुआ। वह प्रसन्नता से नाचता-गाता वहाँ पहुँचा। वहाँ उसने ३२ वर्ष की उम्र तक धर्म प्रचार का कार्य किया। एक बार वहाँ के पादरी को उसने यह कहते सुना—'आह! बेचारे मोलोकोई के लोगों के पास भेजने के लिए इस समय मेरे पास कोई आदमी नहीं है, वे बेचारे ग़रीब लोग भयंकर रोगों में फँस कर मर रहे हैं।' यह सुनकर डमियन ने कहा कि 'मुझे वहाँ भेजिए।' डेमियन वहाँ पहुँचा। वह उन रोग ग्रसित लोगों को सच्चे दिल से चाहने लगा और उसने उनके रहन-सहन में सुधार किया। १६ वर्ष तक उसने उन लोगों में रह कर कार्य किया। उसके लिए उसने घर बनवा लिए, शुद्ध जल की व्यवस्था कर दी। उसने उनके भयंकर जख्मों पर पट्टियाँ बँधवाईं, किसी के मरने पर उसके घरवालों को आश्वासन दिया और कब्रें तक खोदीं और खुदवाईं। आखिर डेमियन स्वतः भयंकर रोग का शिकार हो गया। डाक्टर ने उसे

चेतावनी दी; परन्तु उसने कहा कि इस टापू को छोड़ कर चले जाने से मेरा रोग मिट जायगा, यदि कोई यह कहे, तो भी मैं अपने इन भाइयों को छोड़ कर न जाऊँगा। अन्त में वह मृत्यु शय्या पर जा पड़ा। एक पादरी शिष्य ने उससे कहा—'गुरुवर! मुझे आप अपना चोला देते जाइएगा?' डेमियन ने कहा—'अच्छी बात है, ले लेना; परन्तु वह रोग के कीटाणुओं से भरा हुआ है।' इस पर भी वह शिष्य रोग के कीटाणुओं से पूर्ण वह चोला प्राप्त करके बड़ा प्रसन्न हुआ। (७४)

[व्यक्तिगत आरोग्यरक्षा की सेवा के विषय में कह कर, अब ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि समष्टि की आरोग्यरक्षा में सेवाधर्मी किस प्रकार सहायक हो सकता है।]

आरोग्यरक्षा ॥ ७५ ॥

जायन्तेऽशुचिवस्तुवृद्धिकरणे क्षुद्रा भृशं जन्तवो।
घ्नन्त्यारोग्यमिमे मनुष्यवसतौ कुर्वन्ति रोगोद्भवम्॥
बोध्या अज्ञजनास्तथा हितधिया स्वारोग्यरक्षाकृते।
ग्रामादौ न मलादिकच्चरभरं विस्तारयेयुर्यथा॥

भावार्थ—यदि गाँव के लोग अपने घर के आगे या गली मुहल्ले में गन्दी वस्तुएँ डाल कर गंदगी बढ़ाएँ, तो उससे डाँस मच्छर आदि अनेक जाति के क्षुद्र जंतु उत्पन्न होते और हवा को दूषित करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे मनुष्यों का आरोग्य नष्ट करके रोगों को फैलाते हैं। इसलिए वे उन्हें हितभाव से इस प्रकार समझाएँ कि वे फिर गली-कूचे में गंदगी बढ़ाने वाली चीजें—कूड़ा करकट आदि इकट्ठा न होने दें। (७५)

विवेचन—हमारे देश के लोगों से एक नागरिक के कर्त्तव्यों

का ज्ञान बहुत ही कम है। और जो इस सम्बन्ध में कुछ जानते हैं, वे भी ज्ञान की बजाय अज्ञान का ही पोषण विशेष करते हैं। कुछ अज्ञान तो वंश परम्परा से चला जाता है और रूढ़ि के बन्धनों के कारण इस अज्ञान को कायम रहने देना पड़ता है! उदाहरण के रूप में जाति भोजों की गंदी प्रथा को लीजिए। आरोग्य रक्षा के नियमों को समझने वाले, इन रिवाजों में सुधार करने और अन्न को नष्ट न करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, यह सही है; परन्तु चली आती रूढ़ियों के कारण उनमें कोई बड़ा परिवर्तन करने का साहस वे नहीं कर सकते। इसके सिवा घर के आँगन को गंदा रखने, पानी फैलाने तथा प्रमादवश गंदगी बढ़ाने आदि की बुरी आदतों से लोग अस्वच्छ और अनारोग्यपूर्ण वातावरण में रहते हैं। इससे अनेक प्रकार के जंतु पैदा होते और रोगों का उपद्रव बढ़ाते हैं। शहरों में, इस प्रकार की गंदगी बढ़ाने के लिए म्युनिसिपैलिटी की ओर से दंडित अवश्य होते हैं, फिर भी उनकी आदतें नहीं सुधरतीं। इस प्रकार गंदे लोग अपनी हानि अपने आप तो करते ही हैं, पर वे अपने पड़ौसियों को भी हानि पहुँचाते और इस प्रकार अपने नागरिक के कर्त्तव्य को न समझने वाले बहुत से लोगों का समुदाय सारे नगर के आरोग्य को नष्ट करने का साधन बन जाता है। ऐसे लोगों की आदतें सुधारने का प्रयत्न करना भी एक बहुत बड़ी सेवा है। रेव० फ्लेमिंग इस सम्बन्ध में कहते हैं कि—देश की आरोग्यसम्बन्धी परिस्थिति के लिए सरकार जितनी जवाबदेह है, उतनी ही जनता भी है। जब तक साधारण जनता की समझ में यह भली भाँति न आ जाय, तब तक सरकार के द्वारा की जाने वाली सभी प्रकार की सहायता निष्फल है...... जब तक साधारण जनता इस विषय में उदासीन रहेगी, जब तक अपने घर का कूड़ा करकट निकाल कर दूसरों के घरों के

सामने डाला जायगा, जब तक गटरों और नालियों से पाखाने का काम लिया जायगा, जबतक सार्वजनिक कुओं या तालाबों को जनता अपने आप गंदा करेगी, तब तक जनता के प्रियजनों को, परिवार का निर्वाह करने वालों को जोखिम ही रहेगी।' केवल एक व्यक्ति, अकेला आदमी भी सार्वजनिक आरोग्य में कितना आवश्यक भाग ले सकता है, इसका ज्ञान लोगों में नहीं होता, इसी कारण लोग सार्वजनिक आरोग्य रक्षा के सम्बंध में अनेक अपराध करते हैं। सार्वजनिक कार्यों से तो लोग लापरवाह ही रहते हैं। गाँवों में सार्वजनिक कुओं के आस-पास की जगह बहुत ही कीचड़ वाली, मच्छरों और डांसों से परिपूर्ण रहती है। गंदे पात्रों से पानी खींचा जाता है, वहीं बरतन मले जाते हैं और पशुओं को पानी भी वहीं पिलाया जाता है, इससे चारों ओर गंदगी फैल जाती है और कई जगह पानी सड़ जाता है। सब अपना-अपना काम करके चले जाते हैं; पर बाद में, पानी के खराब हो जाने और रोग के जंतुओं के पानी में प्रविष्ट हो जाने पर लोगों को कितनी परेशानी उठानी पड़ती है, इसका विचार कोई नहीं करता। लोगों को ऐसा विचार करना सीखना चाहिए। सेवा धर्मियों को यह काम अपने हाथों में लेना चाहिए। ऐसी बातें जबानी कहने के बजाय, क्रियात्मक रूप से कर दिखाने का लोगों पर अद्भुत प्रभाव होता है। (७५)

[अब रोगियों को रोग-मुक्त करने के लिए रुग्णालय और औषधालयों की आवश्यकता प्रदर्शित की जाती है]

रोगियों के लिए रुग्णालय और औषधालय ॥७६॥

ग्रामे वा नगरे न यत्र सुलभं रोगोपचारौषधं।
संस्थाप्यः करुणाधियाऽत्र वसतौ रोग्यालयः श्रीमता।

**वैयावृत्त्यविधानतो गदवतां तस्य व्यवस्थाऽऽदितः।
सामान्यैरपि सज्जनैः सुचरितैः सेवा विधेया शुभा॥**

भावार्थ—जिस गाँव या नगर में रोग का उपचार करने के साधन-औषध या वैद्य आदि सरलता से न प्राप्त हो सकते हों, वहाँ श्रीमानों धनवानों को गरीबों पर दया करके रुग्णालय-रोगी आश्रम—तथा औपधालय स्थापित करना चाहिए। सच्चरित्र साधारण लोगों या सज्जनों को ऐसे आश्रमों के संस्थापन तथा व्यवस्थापन में भाग लेकर, रोगियों की परिचर्या करके भली भांति उत्तम प्रकार की सेवा करनी चाहिए। (७६)

विवेचन—पहले रोगियों की सेवा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उससे बिल्कुल भिन्न प्रकार का सूचन इस श्लोक में ग्रन्थकार ने किया है। रोगी को जब औषध-सेवा तथा साधन आदि की सुविधा नहीं होती, तब उसे अस्पताल, औपधालय या रुग्णालय से सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती है। धनवान् लोग तो धन खर्च करके अपने घर में ही सब सुविधाएँ प्राप्त कर सकते हैं, परंतु गरीब लोग ऐसी सुविधाएँ नहीं प्राप्त कर सकते। जब धनवानों को रोग-मुक्त होकर इस दुनियाँ में रहने का अधिकार है, तब क्या गरीब लोग रोग से घुल-घुलकर मरने के लिए ही पैदा हुए हैं? नहीं। ऐसे गरीबों के लिए धनवानों को रुग्णालय, औपधालय स्थापित करना चाहिए और साधारण स्थिति के सेवा-धर्मियों को अपनी सेवा ऐसे रुग्णालयों के रोगियों के प्रति अर्पित करनी चाहिए। अज्ञान के कारण परिचर्या के बिना घर में सड़ते हुए गरीब रोगियों को सार्वजनिक रुग्णालय या अस्पताल में पहुँचाकर अधिकारियों से यथोचित सिफारिश करके उनकी सेवा-शुश्रूषा या आवश्यकताओं की

पूर्त्ति करके उनका आशीर्वाद प्राप्त करना महान् पुण्य का कार्य है। कई बार ग़रीब माँ-बाप अपने रोगी बालकों की चिकित्सा घरेलू औषधियों या किसी परिचित वैद्य से माँगी हुई पुड़ियाओं से करते हैं, परंतु बालकों का रोग कठिन होता है और उन्हें चीर-फाड़ या बड़ी चिकित्सा की आवश्यकता होती है। ऐसे समय सेवा-धर्मियों को सलाहकार का काम करके माँ-बापों को संतोष दिलाकर किसी वैद्य से आवश्यक सहायता दिलाना भी एक परम सेवा का कार्य है। जगत् में दुःख और दर्द अनादि काल से चले आते हैं, परंतु इन दुख-दर्दों को मिटाने के लिए जो कोई थोड़ी-बहुत भी सेवा करता है, वह समस्त जगत् की ही सेवा करता है। (७६)

[अब अपंगों की सेवा के विषय में विवेचन किया जाता है]

अपंगों की सेवा ॥७७॥

येऽन्धाः पामरपङ्गुमूकबधिरा दुःखं परं भुञ्जते।
तेषां शिल्पकलादिशिक्षणपदं विद्यालयं स्थापयेत्॥
ये योग्या न च शिक्षणे हितकरे ये रक्तपित्तार्दिता—
स्तेषां रक्षणहेतवे सुहृदयैः स्थाप्यो निवासालयः॥

भावार्थ—जो मनुष्य अंधे, पंगु, गूँगे, बहरे और विकल होकर दुःख भोगते हों, उनके लिए शिल्पकलादिक की शिक्षा देने वाले विद्यालय स्थापित करने चाहिएँ। जो अपंग मंद बुद्धि या अन्य कारणों से हितकर शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते और जो रक्तपित्त, कुष्ट आदि रोगों से पीड़ित हों, उनकी रक्षा के लिए उदार धनवान् गृहस्थों को उनके रहने योग्य निवासाश्रम स्थापित करना चाहिए। (७७)

विवेचन—मनुष्य पाँचों इन्द्रियों के समूह से अपने शरीर के सब कार्य यथास्थित रूप में करता है. उन पाँचों में से यदि एकाध इन्द्रिय भी कम हो जाय, तो वह अपंग या विकलांग कहलाता है। ऐसे अपंग या विकलांग मनुष्यों की स्थिति बहुत ही दयाजनक होती है। वे अपना शारीरिक व्यापार दूसरे मनुष्यों की उस इन्द्रिय की सहायता के बिना नहीं चला सकते और यदि ऐसी सहायता उन्हें नहीं मिलती, तो वे अत्यंत पीड़ित होते हैं। एक अंधा मनुष्य दूसरे आँख वाले मनुष्य की सहायता के बिना एक क़दम भी आगे बढ़ाने में असमर्थ होता है। बहरा मनुष्य इशारे से ही समझ सकता है और गूँगा मनुष्य इशारे से अपने भाव व्यक्त कर पाता है। पंगु मनुष्य को जब दूसरा आदमी उठाकर ले जाय, तभी वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच सकता है। जो ऐसे अपंग मनुष्य हैं, जो रक्तपित्त कुष्ठ जैसे रोगों से अपने अंगोपांग को एक के बाद एक गँवाकर अंत में अपंग बन जाते हैं, उनकी यथोचित रूप से सेवा करने की आवश्यकता है। ऐसे अपंग मनुष्य साधारणतया अपने गुज़रभर को कमाने के लिए भी असमर्थ होते हैं। पंगु मनुष्य किसी कि नौकरी नहीं कर सकता। अंधा मनुष्य देख नहीं सकता। गूँगा मनुष्य बोल नहीं सकता। बहरा मनुष्य सुन नहीं सकता। ऐसे मनुष्य क्या काम कर सकते हैं कि उन्हें कोई नौकर रखे, इसलिए उनकी दूसरी इन्द्रियों का विकास किया जाय और उनसे काम लिया जाय, तो वे कुछ उपार्जन करके अपना निर्वाह कर सकते हैं। अतएव अंधों के लिए, अंधशाला, बहरों और गूँगों के लिए भी कोई खास शाला, अशक्तों के लिए अशक्ताश्रम, रक्तपित्त वालों या कोढ़ियों के लिए कुछ खास औषधालय आदि संस्थाएँ हमारे देश में कुछ स्थापित हुई हैं, परंतु देश के समस्त अपंगों के लिए उनसे पूर्ति नहीं होती। ऐसी संस्थाओं में जिन

अपंगों की जो इन्द्रियाँ अच्छी होती हैं, उनके द्वारा उन्हें काम करना सिखाया जाता है। उदाहरण स्वरूप अंधे अपनी खास लिपि से लिखना-पढ़ना और बाजा बजाना और गाना सीख लेते हैं। बहरे-गूँगे सिलाई का, बुनाई का, कसीदे का, चित्र बनाने का काम सीख लेते हैं। पंगु अपने हाथ से छोटी मशीनें चलाकर काम कर लेते हैं और इस प्रकार अपनी गुजर के लिए कमा लेते हैं। ऐसे अपंगों को आलसी बनाने और बिठाकर खिलाने के बजाय उन्हें काम-धंधा सिखाकर अपने निर्वाह के लिए उपार्जन करना सिखलाना अधिक हितावह है। कारण कि कार्य मनुष्य के जीवन को आनंद देता है और आलस्य मनुष्य के जीवन को नीरस—शुष्क बनाता है। आलसी मनुष्य दिनों-दिन जड़ बनता जाता है और काम करके निर्वाह करने वाले मनुष्य का हृदय और शरीर प्रफुल्लित रहता है। इसलिए ग्रंथकार ने केवल एकांत दया से ऐसे अपंगों का पोषण करने का आग्रह न करके उन्हें जन समाज के उपयोगी बनाने के लिए भिन्न-भिन्न विद्या-कलाएँ सिखाने वाले विद्यालय स्थापित करने का आग्रह किया है। अपंगों की सेवा धनवान् लोग आश्रम की स्थापना-द्वारा कर सकते हैं और साधारण मनुष्य इस प्रकार के आश्रमों की व्यवस्था आदि के द्वारा कर सकते हैं। भारत में अंधों, बहरों, गूँगों आदि के लिए कई शालाएँ ऐसे स्त्री-पुरुषों के हाथों स्थापित हुई हैं कि जो धनवान् न होने के कारण धन न दे सके, केवल शारीरिक सेवा ही अर्पित कर सके हैं और उनकी शारीरिक सेवा से हजारों-लाखों रुपया इकट्ठा होगया और वे शालाएँ आज बहुत अच्छे रूप में चल रही हैं। (७७)

[अब अपंगों की अध्यात्मिक सेवा का फल प्रदर्शित किया जाता है।]

अपंगों की सेवा का फल ॥ ७८ ॥

संपूर्णाऽवयवेन्द्रियाणि बहुला संपच्चिरं जीवनं
यच्चारोग्यसुखं बलं च विपुलं प्राप्तं त्वया सांप्रतम् ॥
जानीहि त्वमपाङ्गिनां करुणया सेवा कृता या पुरा ।
तस्या एव फलानि तानि कुरु तत्तामेव पुण्यप्रदाम् ॥

भावार्थ—हे मनुष्य, इस समय तुझे जो शरीर के समस्त अवयव संपूर्ण सुघड़ और सुन्दर मिले हैं; अमित संपत्ति, दीर्घ जीवन— आयुष्य, आरोग्य का सुख और शरीर तथा मन का जो विपुल बल प्राप्त हुआ है, वह सब पूर्वजन्म में करुणाभाव से पंगुओं की जो सेवा की है, उसका ही फल है—यह तू निश्चय समझ ले। यदि तुझे फिर वैसे सुख की इच्छा हो, तो वही पुण्यदायिनी सेवा कर। (७८)

विवेचन—जो लोग प्रारब्ध, कर्म और पुनर्जन्म को मानते हैं, वे इस श्लोक का रहस्य तत्काल समझ जायँगे। पूर्वजन्म के अनेक शुभकर्मों से जीव मनुष्य देह पाता है, इसीलिए जैन शास्त्र में *'दुल्लहो माणुसो देहो'* ऐसा कहा गया है। मनुष्य देह मिलने पर भी पाँचों परिपूर्ण इन्द्रियों का प्राप्त होना पूर्वजन्म के शुभ कर्मों का ही फल समझना चाहिए। जैसे अच्छे-बुरे कर्म जीव करता है, उसी के अनुसार वह ऊँचा-नीचा चढ़ता-उतरता है। इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं कि पूर्वजन्म के सत्कर्मों से ही मनुष्य पाँचों परिपूर्ण इन्द्रियाँ पाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्वजन्म-जन्मान्तरों में करुणाभाव से अपंगों की सेवा करने के कारण पाँचों परिपूर्ण इन्द्रियाँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं—ऐसा समझकर अपंगों की सेवा करने में मनुष्य को तत्पर होना चाहिए।

दृष्टान्त—विपाक सूत्र में दी हुई एकाई की कहानी यहाँ प्रासंगिक और उपयुक्त होगी। एकाई राठोड़ वर्धमान नामक गाँव का जमींदार था। वह बड़ा दुष्ट था। किसानों से बहुत अधिक कर वसूल करता, घूँस लेता, उन्हें डराता, मारता-पीटता, लोगों के अंगोपांग छेद कर—काटकर उन्हें दुःख पहुँचाता और इस प्रकार वह बुरा जीवन व्यतीत करता था। एक बार उसके शरीर में एक साथ सोलह महारोग उत्पन्न हुए। अनेक वैद्यों को बुलाकर उसने औषधोपचार किया, परंतु रोग न मिटे। दो सौ पचास वर्षों तक रोगों से कष्ट पाकर उसकी मृत्यु हुई और पहले नरक में दीर्घ आयुष्य भोगकर मृगावती रानी के उदरस्थ गर्भ में जीवन धारण किया। उसके जीवन धारण करते ही रानी को बड़ा कष्ट होने लगा और इसी समय रानी पर से राजा की प्रीति हट गई। रानी ने गर्भ को अपशकुन समझकर उसे गिरा देने के लिए अनेक औषधियाँ खाईं। परंतु वह गिरा नहीं और उस गर्भ से जो बच्चा पैदा हुआ, वह अंधा, अंगोपांगहीन बहरा, गूँगा और अनेक प्रकार की कमियों वाला था। उसके इन्द्रियों के छिद्र-मात्र थे, प्रकट इन्द्रियाँ नहीं थीं। उसके शरीर से बहुत दुर्गन्ध आने के कारण उसे तहखाने में रखा गया। उसे जो आहार दिया जाता था, वह उसके उदर में जाते ही खून, मवाद आदि बन जाता और उसका तुरंत वमन हो जाता था। वह वमन किये हुए रुधिर आदि का आहार करने वाला पुत्र छब्बीस वर्ष तक जीवित रहा। पूर्वजन्म में उसने जो अपकृत्य किये थे, उन्हीं के फलस्वरूप वह अंगोपांगहीन और इन्द्रियहीन जीवन भोग कर पुनः नरक में गया और इस प्रकार अनेक नरकों में भटका। इसलिए अंगोपांगहीन और इन्द्रियहीन जीवों की सेवा करने वालों को सर्वांगपरिपूर्णता प्राप्त होती है। (७८)



एकादश परिच्छेद

सेवाधर्मः निरुद्यमी जनों की सेवा

[अब सेवाधर्म की एक दूसरी शाखा—निरुद्यमी जनों की सेवा का निदर्शन किया जाता है ।]

निरुद्यमरूपी रोग का निवारण ॥ ७६ ॥

श्रीमन्तोऽपि निरुद्यमा यदि तदा दीना भवन्ति क्रमात्।
सामान्यस्य तु का कथा व्यवहृतौ रोगस्ततोऽयं महान्॥
दारिद्र्योपहता बुभुक्षिततया कुर्वन्ति पापं न किं ।
रोगस्याऽस्य निवारणे सुकृतिभिर्यत्नो विधेयस्ततः ॥

भावार्थ—धनवान् भी बिल्कुल निरुद्यमी बनने से क्रमशः दीन अवस्था को प्राप्त करता है, तो फिर सामान्य मनुष्य का तो कहना ही क्या है ! वास्तव में, व्यावहारिक विषय में निरुद्यम-बेकारी-बहुत बड़ा रोग है । मनुष्य जब दरिद्र होता है, तब भूख के वशीभूत होकर क्या-क्या पाप नहीं करता ? अर्थात्—न करने योग्य कार्य वह करता है, इससे पाप की वृद्धि होती है, इसलिए समाज के निरुद्यम-रूपी रोग का निवारण करने के लिए पुण्यशाली मनुष्यों को प्रयत्न करना चाहिए । (७६)

विवेचन—जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार समाजरूपी शरीर में भी रोगों का अस्तित्व होता है । निरुद्यमी भी समाज का एक रोग है । जिस प्रकार समाज का बहुतसा भाग आलसी होता है,

दीन अवस्था व्यतीत करता है, चोरी जैसे कृत्य करता है, उसी प्रकार उसका बहुतसा भाग निरुद्यमी भी होता है। अनेक लोग अपनी प्रकृति का अनुसरण करके आलसी—निरुद्यमी रहते हैं और अनेक व्यवसाय के अभाव से निरुद्यमी रहते हैं। जो लोग वास्तव में परिश्रम करके पेट भरने के इच्छुक होते हैं परंतु व्यवसाय के अभाव से ऐसा नहीं कर पाते, उनको वस्तुतः उदार और सेवाधर्मी मनुष्यों की सेवा की आवश्यकता होती है! जब लम्बे समय तक उन्हें रोजगार—काम-धंधा नहीं मिलता, तब वे कर्जदार हो जाते हैं। अथवा विवश होकर भिखारी बनकर समाज के लिए भार रूप हो जाते हैं। यद्यपि ऐसे मनुष्यों को भीख देकर कुछ दिनों उनका पेट भरना उपकार का कार्य है, तथापि उसकी अपेक्षा उन्हें रोजगार से लगाना—काम से लगाना परम उपकार का कार्य है, इसलिए जो सुज्ञ दयावान् मनुष्य हैं, वे निरुद्यमी मनुष्यों को उद्यमी बनाने के द्वारा ही अपनी दया प्रदर्शित करते हैं। भिखारीपन को उत्तेजन देने से भिखारी के मनुष्यत्व की हानि होती है। बहुत समय तक भीख माँगने से मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है, आलसी बन जाता है, और श्रम करके धन कमाने की उसकी वृत्ति क्षीण हो जाती है। निरुद्यमी को उद्यमी बनाने से हम उसके मनुष्यत्व को विकसित करते हैं! निरुद्यमता से मनुष्य के भिखारी बनने तक तो विशेष हानि नहीं, परंतु जब यह भूखों मरने लगता है, तब अधीर होकर नीति का त्याग करने की ओर झुकता है। *'बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति'* अर्थात् भूखा मनुष्य कौनसा पाप नहीं करता? ऐसा क्षीण मनुष्य दयाहीन होकर पाप-कार्य करने में रत होता है। यह निरुद्यमता का रोग ऐसा है कि जो समाज में चोरी, व्यभिचार, निर्दयता, कपट,

विश्वासघात आदि अनेक दुर्गुणों को फैलाता है। इन दुर्गुणों को रोकने के लिए जो कार्य आवश्यक हैं, उनमें एक है निरुद्यमता को दूर करना। जिस प्रकार धनवान् लोग निरुद्यमी मनुष्यों को व्यवसाय में लगाकर उनकी सहायता कर सकते हैं, उसी प्रकार सेवाधर्मी सामान्य स्थिति के मनुष्य भी दीन—निरुद्यमी जनों के लिए व्यवसाय खोज कर उनकी सहायता करके पुण्य उपार्जन कर सकते हैं। स्माइल्स का कथन है कि—The truest philanthropists are those who endeavour to prevent misery, dependence and destitution, and respecially those who diligently help the poor to help themselves. अर्थात्—जो दुःख परवशता और असहायता—ग़रीबी को दूर करने का यत्न करते हैं और विशेष लोगों को स्वाश्रयी बनाने में आग्रह-पूर्वक सहायता देते हैं वे वस्तुतः पर दुःख-भञ्जक हैं। इस प्रकार निरुद्यमी मनुष्यों को उद्यमी बनाने में सहायता करना, उन्हें स्वाश्रयी बनाने के समान है। एक लेखक ने यह सिद्ध किया है कि अमेरिका में वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों में आधी से अधिक ऐसी हैं, जिन्होंने केवल ग़रीबी के या बेकारी के कारण यह मार्ग ग्रहण किया है। इसी प्रकार यह निरुद्यमीपन बेकारी—का रोग समाज में अनेक नैतिक रोगों को पैदा करता है, अतएव उन्हें रोकने या कम करने के लिए यत्न करना, सेवा धर्मी मनुष्य का कर्त्तव्य है। दुर्भिक्ष के समय लोग अधिक संख्या में निरुद्यमी बन जाते हैं और अधिकांश भीख माँगने लगते हैं, परन्तु ऐसे समय सच्चे दयालु मनुष्य केवल वृद्ध तथा अपंगों को ही भिक्षा देना और जो शरीर से सशक्त हैं उन्हें काम धन्धे में लगाने के लिए अपना धन व्यय करना उचित समझते हैं और यही उनकी दयालुता की सार्थकता भी है। (७६)

[अब अगले श्लोक में ग्रन्थकार निरुद्यमता—बेकारी के कारणों को खोजकर उनके निवारण का उपाय सूचित करते हैं।]

निरुद्यमीपन—बेकारी—के कारणों का निवारण ॥ ८० ॥

ईहन्ते बहुलं धनं च सहसा द्यूतेन केचित्परे।
देवाराधनमन्त्रतन्त्रविधिना स्वर्णादिसिद्ध्याऽपरे ॥
ते सर्वेऽप्यलसा निरुद्यमतया नश्यन्ति दारिद्र्यतो।
बोध्यास्ते हि भवेयुरुद्यमपरास्त्यक्त्वा निरुक्तभ्रमम् ॥

भावार्थ—कई लोग जूए या सट्टे में एक साथ लाखों रुपया प्राप्त करना चाहते हैं। कोई देवी देवता को प्रसन्न कर के धन प्राप्त करना चाहते हैं। कोई तन्त्रमन्त्र की साधना से, कोई स्वर्ण सिद्धि से तो कोई जड़ी बूटी के योग से धनवान् होना चाहते हैं। इस प्रकार की भावनाओं में फँसकर मनुष्य आलसी और निरुद्यमी बन जाते हैं और उसका परिणाम यह होता है कि उनके पास जो भी कुछ होता है, वह भी समाप्त हो जाता है और अन्त में दरिद्रता का सामना करना पड़ता है। इसलिए उपदेशकों को चाहिए कि ऐसे भटके हुओं को समझाएँ; कि वे उद्यमपरायण बनें। (८०)

विवेचन—उद्यमहीन मनुष्य अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प किया करते हैं; कारण, कि दरिद्रता से घिरे हुए रहने के कारण उनकी मानसिक शक्ति निर्बल हो जाती है। अनेक संकल्प-विकल्प करते हुए वे धन कमाने की विचित्र विचित्र युक्तियाँ खोजा करते और उन्हें काम में लाते हैं। ऐसा करते हुए वे पाप-पुण्य या अच्छा बुरा कुछ भी नहीं देखते। उनका मन इतना निर्बल हो जाता है कि वे केवल भाग्य के चमत्कार पर ही श्रद्धा करने लगते हैं और भाग्य का चमत्कार देखने के लिए न जाने क्या-क्या खेल

खेलने लगते हैं। जूआ, सट्टा आदि के खिलाड़ी, अपने भाग्य पर ही भरोसा करने वाले होते हैं। और एकबार दाव में अगर कुछ मिल जाता है, तो उद्यम के प्रति श्रद्धा त्याग कर भाग्यवादी ही बन जाते हैं! वे ऐसा समझ लेते हैं कि हमारे भाग्य में नहीं था, इसलिए कोई काम धंधा नहीं मिला। परन्तु धन तो भाग्य में लिखा ही था! इसलिए बिना काम धन्धे के केवल जूए या सट्टे के दाव पर ही मिल गया!—ऐसी भावना जब मनुष्य के दिमाग में एकबार बैठ जाती है तो फिर वह जल्दी दूर नहीं होती। वह एक के बाद एक दाव लगाता जाता है, कुछ पाता है कुछ गँवाता है और फिर उसका मानसिक वातावरण उद्यम से विमुख होकर केवल जूए पर ही श्रद्धा रखने वाला बन जाता है। जो निरुद्यमी मनुष्य जूए या सट्टे के फेर में नहीं पड़ते, वे देवी-देवताओं की उपासना करके धन प्राप्ति की इच्छा करने लगते हैं! कई लोग यह समझते हैं कि यदि देवी-देवता प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे किसी भी प्रकार धन ला देते हैं; इसलिए वे यन्त्र-मन्त्रों की साधना करने में, जड़ीबूटी से सोना बनाने में जादू के बल से धनवान् बन जाने में ही अपना सब परिश्रम खर्च कर डालते हैं। जहाँ लोभी होते हैं, वहाँ धूर्त्त लोग भूखों नहीं मरते। यन्त्र-मन्त्र साधने वाले और कीमिया से सोना बनाने की बातें करने वाले धूर्त्त जगत् में बहुत होते हैं। वे ऐसे निरुद्यमी—बेकार मनुष्यों को फँसा कर दुर्भाग्य की खाई में ढकेलने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार की लोभमयी भावनाओं में भूले हुए मनुष्य, आलस्य और बेकारी के कारण अपने पास का थोड़ा-बहुत बचा हुआ धन भी गँवा बैठते हैं। और कभी-कभी वे धूर्त्त लोग भी रहासहा हड़प जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर निरुद्यमता बढ़ती है; इसलिए जूआ, सट्टा, तन्त्रमंत्र के प्रयोग तथा कीमियाकारी के पीछे पड़ने वाले लोगों को ऐसे कुमार्ग पर जाने से रोकना और उद्योगी,

परिश्रमी बनाने का उपदेश करना भी जगत् की एक महान् सेवा है। इस प्रकार निरुद्योगी, जुआरी और सट्टेबाज बन कर बिगड़े हुए, जादुई प्रयोगों से धन प्राप्त करने की इच्छा करनेवाले, बुरी स्थिति के मनुष्यों के दृष्टान्त जगत् में बहुत प्राप्त हो सकते हैं। (८०)

[अब ग्रन्थकार यह बताते हैं कि निरुद्यमी मनुष्य की सच्ची सहायता क्या है।]

निरुद्यमियों—बेकारों—को उद्यम में लगाना ॥ ८१ ॥

येषां नास्ति सदुद्यमो न च धनं निर्वाहयोग्यं गृहे।
याचन्ते गृहिणोऽपि ते विधिहता दातुः सकाशे धनम्॥
नैभ्यो देहि धनं यतः पुनरपि स्यात्तादृशी तद्दशा।
किन्तूद्योगपरायणांश्च कुरु तान् यन्निर्वहेयुः स्वयम्॥

भावार्थ तथा विवेचन—जिसके घर में निर्वाह के योग्य धन नहीं है, या कोई अच्छा उद्यम-कार्य नहीं है, वह मनुष्य कुटुम्बवान्—गृहस्थ होते हुए भी किसी समय दुर्दैव के अधीन हो, किसी दाता के पास भीख माँगने पहुँचता है। ऐसी स्थिति में यदि दाता धन देता है, तो उससे उसका कुछ संकट दूर होता है; पर अधिक समय तक नहीं। वह निरुद्यमी मनुष्य प्राप्त धन को बैठे बैठे खा जाता है और फिर उसकी वही दशा हो जाती है। इसलिए, ऐसे मनुष्यों को पैसा देने के बजाय, उद्यमपरायण बनाना चाहिए कि जिससे वे उद्यम करके अपने आप निर्वाह कर सकें। धन की भिक्षा देने के बजाय कार्य की भिक्षा देना, गरीब मनुष्य का कितना हित करने वाला है—यह पहले बतलाया गया है। अन्नदान को एक उत्तम प्रकार का दान कहा गया है;

परन्तु विवेक बुद्धि पूर्वक यह दान किया जाना चाहिए। जो लोग अन्न प्राप्ति के लिए धन कमाने में अशक्त हों, उन्हें अन्न दान देना ठीक है; कारण, कि यदि उन्हें अन्न न मिले तो संभव है वे भूखों मरें। और जिनकी शारीरिक शक्ति धन कमाने के योग्य है, उन्हें अन्न दान देना तो आलस्य और दुर्गुणों का पोषण करने के समान है। हमारे देश में गाँव-गाँव घूमने-फिरने वाले वैरागी बाबाओं या साधु सन्तों की संख्या बहुत बड़ी है, इसका कारण अविचार पूर्वक दिया गया अन्नदान ही है। इसी से हमारे देश का अनेक जरायमपेशा—अपराधी—जातियों के लोग साधु-संन्यासियों का वेष बना कर, अन्नक्षेत्रों से मुफ्त का सदाव्रत लेकर गाँव-गाँव घूमते और मौका लगते ही चोरी करते हैं। यूरोपीय देशों में अशक्त कंगाल लोग भीख नहीं माँग सकते, बल्कि वे काम-काज नौकरी-चाकरी की भीख माँगते हैं। उन देशों में कोई सशक्त आदमी भीख माँगें, तो वह अपराधी समझा जाता है और उसे जेलखाने में भेज दिया जाता है और उनसे काम लेकर खाने को दिया जाता है। इसलिए निरुद्यमी सशक्त मनुष्य को काम में लगाना चाहिए, पर अन्न-वस्त्र की भीख जहाँ तक हो सके न देनी चाहिए। यह बात दोनों पक्षों के लिए—दाता और ग्रहणकर्ता—दोनों के लिए हितकारक है। उद्यमी मनुष्य समाज का भार दूर करने वाले हैं और निरुद्यमी और भिखारी समाज का भार बढ़ाने वाले हैं। (८१)

[अब ग्रन्थकार कृषकों की ओर सेवाधर्मियों का ध्यान दिलाते हैं।]

कृषकों की सेवा ॥ ८२ ॥

ये कुर्वन्ति परिश्रमेण सततं कृष्यादिकार्यं निजं।
धान्यं जीवनसाधनं जनपदे संपूरयन्ति स्वयम् ॥

तेषामाक्रमणं भवेद्यदि नृपाद् व्यापारिवर्गात्पुना—
रक्ष्यास्तेऽपठितास्तदा कृषिकराः सेवार्थिभिः सज्जनैः॥

भावार्थ—जो किसान, ठंड, गर्मी और बरसात में कठोर शारीरिक परिश्रम करके खेतीवाड़ी का काम करते और मनुष्य के जीवन को साधन धान्य उत्पन्न करके सारे देश की पूर्त्ति करते हैं, उन किसानों पर लोभी राजा, जमींदार या साहूकार की ओर से अनुचित दबाव डाला जाय, तो सेवाभिलाषी सज्जनों को उनका पक्ष लेकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। (८२)

विवेचन—भारत कृषिप्रधान देश है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कृषि से सम्बन्ध रखने वाले यहाँ ८० प्रतिशत मनुष्य हैं। उनका काम परम्परा से खेतीवाड़ी करना ही है, इसलिए वे अधिकांश अपढ़ होते हैं, सरल होते हैं और आज्ञाकारी वृत्ति वाले होते हैं। उनकी इस स्थिति और वृत्ति से बहुत लाभ उठाया जाता दीख पड़ता है। साहूकार या व्यापारी उन्हें अपढ़ होने के कारण ठगते हैं, उनकी सरलता के द्वारा अपना स्वार्थ साधते हैं, और जमींदार या राजकर्मचारीगण उनकी आज्ञाकारी वृत्ति से लाभ उठाकर, उनसे बल प्रयोग कर अधिक कर वसूल करते हैं, बेगार कराते हैं, बिना पैसा दिये उनका माल ले लेते हैं। ऐसे अनेक प्रकारों से किसान लोग दूसरों के द्वारा ठगे जा रहे हैं। उनमें यदि कुछ भी शिक्षा हो, कुछ भी पढ़े लिखे हों, तो व्यापारी-साहूकारों से न ठगे जायँ और अपने स्वत्वों को समझें। इसलिए किसानों में विशेष रूप से विद्या प्रचार करने का प्रयत्न करना चाहिए। सेवाधर्मियों का यह प्रथम कर्त्तव्य है। लोभी जमींदार या राजकर्मचारियों द्वारा होने वाले अत्याचारों को दूर करने के लिए, उन्हें उनके अधिकारों से परिचित कराना चाहिए। राजा

से न्याय प्राप्त करना उन्हें सिखाना चाहिए। यह सब सेवा-धर्मी के कर्त्तव्य हैं। स्वत्वज्ञान और विद्यारूपी प्रकाश देने वाली आँखों से हीन किसान, जगत् की व्यावहारिकता में एक प्रकार अपंगदशा को ही भोग रहे हैं। ऐसी दशा में उनकी सहायता करना, अपंगों की सहायता करने के बराबर ही नहीं; बल्कि समस्त जनता की सहायता करने के बराबर है। किसान को जगत् बंधु या 'अन्नदाता' कहा जाता है। कारण कि गर्मी, सर्दी और बरसात में जो कष्ट उठाकर कड़ा परिश्रम करता है, उसके फलस्वरूप धान्य उत्पन्न होता है और धान्य से जनता, पशु तथा पक्षियों का पोषण होता है। इसलिए किसी भी देश के किसान यदि अच्छी हालत में होते हैं, तो वह देश गरीब या निर्धन नहीं होता। और जिस देश में किसान स्वार्थी साहूकारों या शासकों द्वारा रुलाये जाते हैं, वह देश कंगाल ही रहता है। इसी लिए गोल्डस्मिथ ने कहा है।

> But the bold peasantry, their country's pride,
> If once destroyed, can never be supplied.

अर्थात्—देश के अभिमान स्वरूप धैर्य्यशील किसानों का यदि एक बार नाश हो जाय, तो वह पुनः नहीं प्राप्त हो सकता। इसी लिए सेवा धर्मियों का पवित्र कर्त्तव्य है कि वे किसानों का यथोचित रक्षण करें।

दृष्टान्त—रूस के जार अन्तिम निकोलस के समय बहुत बड़ी राज्यक्रांति हुई थी, इसका कारण राज्य की ओर से की गई किसानों की दुर्दशा ही था। रूस में वर्षों से धनी तथा शासक वर्ग, किसानों पर अत्याचार कर रहा था। बड़े-बड़े जमींदार और अमीर उमरा, किसानों से अनिवार्य रूप में खेती कराते और उसका बदला—पारिश्रमिक—बहुत कम देते। बेचारे

किसान सदा दबे हुए कंगाल और गुलाम की भाँति रहते। यदि कोई किसान सिर उठाता, तो जमींदार उसे अदालती चक्र में डाल देता, उस पर किसी न किसी प्रकार नालिश ठोंक देता— और अदालतों में अमीर उमरा ही जीतते हैं; इसलिए किसानों की बड़ी दुर्दशा होती थी। इस प्रकार सैकड़ों वर्षों तक रूस की गरीब किसान प्रजा दलित ही रही। किसानों की सेवा के लिए अनेक देश भक्त रूसी स्त्री-पुरुष तैयार हुए और उन्होंने किसानों की सभा समितियाँ स्थापित करके, उनके स्वत्व, उन्हें समझाना आरंभ किया। सरकार को खबर लगी, तो उन देश भक्तों को राजद्रोही करार कर गिरफ्तार कर लिया और देश निकाला देकर साइबीरिया के जंगली प्रदेश में भेज दिया। कई देश भक्तों को फाँसी के तख्ते पर भी चढ़ाया गया। परंतु अंत में रूस के राजशासन के पाप का घड़ा भर गया। यूरोपियन युद्ध में रूस की हार पर हार होने लगी और किसानों पर अधिकाधिक अत्याचार होने लगा। अंत में किसानों ने ही विद्रोह—बलवा—करके जार को पदभ्रष्ट किया। बड़े-बड़े देश भक्त किसानों के अगुआ बने और उन्होंने राजपरिवार की हत्या कर डाली, कई उमरावों का भी सफाया किया, कई भाग गये। आज रूस में राजतन्त्र का अन्त हो गया और प्रजातन्त्र शासन की स्थापना हुई है। किसानों के प्रति होने वाला अत्याचार समाप्त हो गया, और रूस के इतिहास में न मिलने वाली राज्यक्रांति के परिणाम स्वरूप रूस पुनः आबाद होने लगा और इस समय तो वह संसार के महान् राष्ट्रों में उदाहरण बन गया है। किसानों के परम सेवक लेनिन ही इस समय राज्य के प्रमुख बने थे और अपनी अमरकीर्ति छोड़कर स्वर्गवासी हो गये। रूस की प्रजा आज लेनिन की कब्र को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखती है। (८२)

[अब मजदूरों की सेवा के विषय में सेवाधर्मियों को सूचन किया जाता है।]

मजदूरों की सेवा ॥८३॥

येऽनादृत्य शरीरसंस्कृतिविधिं यन्त्रालयादिस्थले।
कार्यं कर्मकराः श्रमेण महता कुर्वन्ति रात्रिन्दिवम् ॥
तेषां स्यात् स्वकुटुम्बपोषणमलं तावद्भृतिं दापय—
न्नात्यन्ताक्रमणं श्रमाधिकतया रक्ष्यास्तथा तेऽखिलाः॥

भावार्थ—जो मजदूर, मिल्स जिनिंग फैक्टरीज आदि कारखानों में अपने शरीर की भी परवाह न करके, जान को जोखिम में डालकर, अत्यधिक परिश्रम करते हैं, यदि उन्हें अपने कुटुम्ब का परिपालन करने के लायक मजदूरी न मिलती हो, तो दिलानी चाहिए। और यदि वे सीमा से अधिक परिश्रम करते हों, तो उसमें उन्हें बचाना और रक्षा करना चाहिए। (८३)

विवेचन—भारत में यंत्रकला का अधिक प्रचार होने के कारण, गाँवों से मजदूरों का दल शहर की ओर जाने के लिए आकर्षित होने लगा है। इस समय के मजदूर, पहले गाँव के किसान और खेतों में काम करने वाले मजदूर थे, और वे वहाँ बड़ा परिश्रम करते थे, परन्तु वह मजदूरी ऐच्छिक थी, और खुली हवा और प्रकाश में उन्हें काम करना पड़ता था। इससे उनके शरीर और हृदय स्वस्थ रहते थे। आज मिलों और कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का जीवन पराधीन तथा मशीन के जैसा—यन्त्रवत्—हो गया है। उन्हें रोज १०-१२ घण्टे कारखानों में घुसे रहना पड़ता है। कारखानों में भलीभाँति घूमने-फिरने के लिये सुविधा नहीं होती, स्थान संकुचित होता है

और खेतों की तरह हवा और प्रकाश उन्हें नहीं मिलता, वातावरण गन्दा होता है। उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार नहीं, नियमों के अनुसार काम करना पड़ता है। और नियमानुसार काम न करें, तो तनख्वाह कट जाती है; इसलिए उन्हें कई बार शरीर तथा हृदय के साथ जब्र करके भी कारखानों में घुसे रहना पड़ता है। ऐसी दशा में काम करने वाले मजदूरों की शारीरिक क्षति का खयाल करके सरकार ने भी कुछ कानून कायदे बना दिये हैं; जैसे—नियत घंटों से अधिक मजदूरों से काम न लिया जाय, कम उम्र के बच्चे कारखानों में काम पर नहीं रखे जायँ, काम के घंटों के बीच में उन्हें कुछ समय सुस्ता लेने के लिए छुट्टी दी जाय, सप्ताह में एकबार उन्हें पूर्ण विश्राम के लिए छुट्टी दी जाय, हवा और प्रकाश के लिए कारखानों में अमुक प्रकार से सुविधाएँ की जायँ, आदि। परन्तु जब जीवन में स्वाभाविकता नष्ट होकर कृत्रिमता प्रवेश करती है, जब ऐच्छिक मजदूरी की जगह यंत्रवत् नियमित मजदूरी करनी पड़ती है, जब स्थान-संकोच के कारण घूमने-फिरने का पूरा स्थान नहीं मिलता, जब धुएँ और यंत्रों के घर्षण से दूषित वायु में अधिक समय रहना पड़ता है, तब अनेक शारीरिक और मानसिक संकटों में मनुष्य फँस जाता है। आजकल गाँवों में, खेतों में काम करने वाले मजदूरों की अपेक्षा, कारखानों में काम करने वाले मजदूर शारीरिक स्वास्थ्य में बहुत कमजोर दीख पड़ते हैं। उनके बच्चे निस्तेज और अन्य कुटुम्बी भी ऐसे ही मालूम होते हैं। कौटुम्बिक जीवन भी अशान्त नजर आता है। यह सब दुर्भाग्य, कारखानों के यंत्रवत् जीवन से ही उत्पन्न होकर मजदूरों के सामने आकर खड़ा रहता है। यह यंत्र युग है, बिना यंत्रों के दुनियाँ का काम नहीं चल सकता, इसलिए कारखाने तो रहेंगे ही; परन्तु कारखानों में काम करने

वाले मजदूरों का जीवन अच्छा रखने के लिए यत्न करना, उन्हें मजदूरी पूरी दिलाने तथा सीमा से अधिक परिश्रम से बचाने का प्रबन्ध करना, उनके स्वत्वों के लिए कारखानों के मालिकों से जूझना, यह सेवा धर्मियों के कर्त्तव्य हो गये हैं। इंग्लैन्ड तथा अमेरिका जैसे देशों में, जहाँ असंख्य कारखाने हैं, केवल मजदूरों की सेवा के लिए ही अनेक बड़े-बड़े सेवा-मंडल स्थापित हो गये हैं। मजदूरदल के प्रतिनिधियों को राजनीतिक कार्यों में बहुत बड़ा भाग मिलता है और इनके सेवा-मंडलों के द्वारा उनकी माँगें पेश की जाती और उन्हें अपना स्वत्व प्राप्त करने का अवसर दिया जाता है। हिन्दुस्तान में भी अब बहुत कल-कारखाने खुल गये हैं। यहाँ के मजदूर, विदेशी मजदूरों की अपेक्षा अशिक्षित हैं, इसलिए यहाँ मजदूरों की सेवा करने वाले मंडलों की बहुत अधिक आवश्यकता है। (८३)

[पहले कहा गया है कि मजदूरों के जीवन की स्वाभाविकता नष्ट हो कर उनमें कृत्रिमता आ गई है, और इस कृत्रिमता के कारण उनमें अनेक दोष भी उत्पन्न हो गये हैं। ऐसे दोषों का निवारण करने के लिए अब मजदूरों को सदाचार की शिक्षा देने की आवश्यकता का दिग्दर्शन कराया जाता है।]

मजदूरों को सदाचार की शिक्षा ॥ ८४ ॥

ऐते कर्मकरा निवृत्तिसमये सप्ताहसप्ताहके।
व्याख्यानेन च शिक्षया बुधवरैर्बोध्यास्तथा बोधकैः ॥
कुर्युर्नैव परस्परेण कलहं नैवापि सार्द्धं परै—
र्द्यूतादिव्यसनं व्ययं च विफलं पानं सुरायास्तथा ॥

भावार्थ—इन मजदूरों को जब प्रतिसप्ताह छुट्टी मिले, तब

विद्वान् उपदेशकों को चाहिए कि व्याख्यान देकर, शिक्षा देकर उन्हें ऐसा शिक्षित करें कि वे आपस में लड़ाई-झगड़ा न करें, जूआ आदि न खेलें और मद्यपान आदि फिजूल खर्चों से बचें। (८४)

विवेचन – मनुष्य-जीवन में कृत्रिमता उत्पन्न होने पर उसमें अनेक दोष आ जाते हैं; पर मजदूरों के जीवन की कृत्रिमता में एक विशेषता होती है कि वे अपढ़ होते हैं, बुद्धि की कमी होती है, सत्संग का प्रभाव उन पर बहुत कम होता है, स्वार्थी धर्माचार्यों और व्यसनियों के समागम का उन्हें अधिक अवसर मिलता है, और इसके परिणाम स्वरूप उनमें दोष प्रविष्ट हो जाते हैं। कारखानों की सख्त मजदूरी, कौटुम्बिक जीवन का असन्तोष बुरे संस्कारों के कारण मद्यपानादि की आदतों से कृत्रिम आनन्द प्राप्त करने की रुचि उनमें प्रविष्ट होते देर नहीं लगती। एक गाँव का किसान, जो शहर में आकर मिल वगैरः कारखानों का मजदूर बन जाता है, वह कुछ ही समय में अपने सदाचार को धता बता कर व्यसनी और दुराचारी बन जाता है। ऐसे अज्ञान, अपढ़ और सरल स्वभाव के मनुष्यों को कृत्रिम जीवन के दोषों में फँसने से बचाने के लिए उन्हें उपदेश या शिक्षा देकर संस्कारशील बनाने की आवश्यकता है। मजदूरों को आचार शिक्षा देने के लिए कई जगह ऐसे समाज रात्रि-पाठशालाएँ खोलते हैं, कई जगह पढ़े-लिखे मजदूरों के लिए लाइब्रेरियाँ स्थापित की जाती हैं, कि जिससे छुट्टी का दिन जूआ, शराबखोरी या ऊधम मचाने में व्यय न करके अच्छी पुस्तकों या समाचार पत्रों के पढ़ने में व्यतीत करें। इस प्रकार के प्रयत्न से अनेक मजदूरों के जीवन में सुधार होने के उदाहरण मिलते हैं; इसलिए मजदूरों में अच्छा जीवन बिताने की इच्छा

उत्पन्न करना, सेवा धर्मियों का कर्त्तव्य है, और यह कर्त्तव्य उपदेश या शिक्षा के द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। श्री कालेलकर जी सत्य ही कहते हैं कि—'मजदूर वर्ग में जिस दिन संस्कारशील जीवन बिताने की महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न होगी, उसी दिन वे सभी प्रकार की शिक्षा हस्तगत कर सकेंगे। इतना ही नहीं, पर एक ही काल में—एक ही जमाने में अपनी समस्याएँ अपने आप हल करने की बुद्धिमानी उनमें आ जायगी।' परन्तु मजदूरों को संस्कारशील और सदाचारी बनाने का कार्य पूरे जोर के साथ अभी हाथ में नहीं लिया गया। सेवाधर्मियों के काम में यह बड़ी कमी है; इसलिए आज समाज का यह वर्ग पतित होता हुआ दीख पड़ता है। (८४)



बारहवाँ परिच्छेद

सेवाधर्मः—विधवाओं की सेवा

[आर्य जगत् की विधवाएँ भी दुनिया में एक दुखी प्राणी समझी जाती हैं, इसलिए इस परिच्छेद में उन्हीं के सम्बन्ध में कहा जाता है ।]

विधवाओं की सेवा ॥८५॥

यासां कोऽपि न विद्यते निजकुले पोष्योऽथवा पोषक—
स्तादृश्यो विधवाश्रमे हि विधवा अर्हन्ति संरक्षणम् ॥
कर्त्तव्यं विधवोचितं च सरलां निर्वाहयोग्यां कलां ।
सेवां धार्मिकतत्त्वबोधसहितां तत्राऽर्थतः*शिक्षयेत् ॥

भावार्थ—जिन विधवाओं के कुटुम्ब में कोई पोषण करने योग्य नहीं है या उनका पोषण करने वाला कोई नहीं है; अर्थात्— जिनके कोई संतान या अग्रज नहीं है, उन विधवाओं को विधवाश्रम में सुरक्षित रखना चाहिए। ऐसे आश्रम में विधवाओं के उचित कर्तव्य, निर्वाह करने योग्य कला-कौशल तथा धार्मिक तत्त्वज्ञान के साथ सेवा कार्य भी सिखाना चाहिए। (८५)

विवेचन—आर्यजगत् में वैधव्य एक बड़ी विपत्ति समझी जाती है। और खासकर जब यौवन काल में स्त्री पर वैधव्य का आक्रमण होता है, तब तो उसकी विपित्ति का पार ही नहीं

---

*अर्थात्—अर्थबोधो यथा स्यात्तथा ।

रहता। इसी वैधव्य के कारण अनेक स्त्रियाँ अपने स्त्री जीवन से ऊब जाती हैं, बल्कि उसकी निन्दा करने लगती हैं। वास्तव में जितनी महत्ता पुरुष की है, उतनी ही स्त्री की है। पुरुष का वैधुर्य पुरुष को सर्वदा कष्टदायी नहीं होता। पुरुष एक स्त्री के मरजाने पर दूसरी स्त्री से विवाह कर सकता है; परन्तु उच्च जाति की स्त्रियाँ पति के मर जाने पर पुनर्विवाह नहीं कर सकतीं; इसलिए उन्हें आजीवन वैधव्य का पालन करना पड़ता है। ऊपर की दृष्टि से देखने पर पुरुष के वैधुर्य और स्त्री के वैधव्य के नियमों में समाज का पक्षपात नजर आता है; परन्तु स्त्री संतति के बल-वीर्य-गुणादि को गर्भ में पोषण करने वाली भाजन है, और भाजन की पवित्रता पर संतान के उच्च गुणादि निर्भर हैं, इसीलिए पहले के आचार्यों ने स्त्रियों को पवित्र, संयमी और पतिव्रता रहने के लिए सूचित किया है। हाँ, यह अवश्य है कि समाज विविध रूपों वाला राक्षस है, इसलिए स्त्रियों के स्त्रीत्व की उच्चता कायम रखने के लिए संयम आदि के जो नियम बनाये गये हैं, उनका पालन कराने में स्त्रियों पर जुल्म भी किये जाते हैं, और ऐसे कुछ नियम तो विधवाओं के लिए ही बनाये गये हैं, अतएव इन अनिवार्य नियमों से स्त्रियां त्रसित दुखित होकर अनेक प्रकार के अनर्थ कर डालतीं और 'स्त्रीबुद्धिः प्रलयावहा' को चरितार्थ करती हैं। परन्तु इसमें शक नहीं, कि पूर्व आचार्यों ने आजन्म वैधव्य पालन करने का नियम बनाने में भारत संतानों के गुणादर्शों का हेतु ही अपने सामने रखा था। इसके साथ-साथ यह भी कहना चाहिये कि पूर्वाचार्यों ने जैसे नियम स्त्रियों के लिए बनाये थे, वैसे ही पुरुषों के लिए भी बनाये थे। परन्तु पुरुष, समाज का चक्रवर्ती है और सामाजिक नियमों के पालन करने का अधिकार उसने विशेष प्राप्त कर लिया है, इसलिए उसने अपने

वर्ग के पतन के प्रति आँखें मूँद कर, स्त्रीवर्ग से ही उन सामाजिक नियमों के पालन कराने में कठोरता से काम लिया है। इसी कारण कई जगह विधवाओं पर अत्याचार होता नज़र आता है, और ग्रन्थकार को विधवाओं की सेवा के लिए विशेष रूप से यह परिच्छेद लिखना पड़ा है, इसका कारण भी समाज में विधवाओं की दीन-हीन दशा है। स्त्री जाति के प्रति जो आदरभाव रखने के लिए शास्त्रग्रन्थों में कहा गया है, उस पर आज कोई ध्यान नहीं देता! इसलिए संततिहीन विधवाओं की दशा समाज में अत्यन्त दुःखपूर्ण है, और बच्चोंवाली विधवाएँ भी समाज में दुःख भोगती हैं। विधवाओं के प्रति अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान, समाज में बहुत ही कम धर्मभीरुओं को होता है। इसलिए, अधिकांश विधवाएँ असंतुष्ट अवस्था में ही अपने जीवन का समय बिताती हैं। परन्तु जो विधवाएँ संतान हीन होती हैं, और जिनका पोषण करने वाला भी कोई नहीं होता, उनका क्या हो? ऐसी विधवाएँ कभी-कभी पिता के घर रहकर जीवन बिताती हैं और उनके पिता उनका पोषण करते हैं. परन्तु कभी-कभी विधवाओं के लिए जीवन यापन का यह जरिया भी समाज में नहीं होता। ऐसी विधवा स्त्रियों के लिए ग्रन्थकार विधवाश्रम जैसी संस्थाओं की आवश्यकता बताते हैं। विधवाश्रमों में विधवाओं को उनके कर्त्तव्य कर्मों की शिक्षा दी जानी चाहिए। सिलाई, बुनाई, कढ़ाई और आलेखन की सरल कलाओं की शिक्षा भी यदि उन्हें दी जाय, तो वह उनकी उपकारक हो सकती है, कारण कि इन कलाओं के सहारे वे अपना निर्वाह कर सकती हैं। कई बार ऐसी असहाय स्त्रियाँ उदरपूर्ति के लिए अनेक प्रकार के दुष्कर्म करने के लिए प्रेरित हो जाती हैं, या उन्हें अपने वैधव्य को शोभा न देने वाली नौकरी-चाकरी करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। ऊपर लिखे

अनुसार विधवाश्रम खोलकर, ऊपर लिखी हुई कलाओं की शिक्षा के सिवा धार्मिक शिक्षा, सेवाधर्म की शिक्षा आदि देने का प्रबंध विधवाओं के लिए किया जाय, तो यह एक उच्च प्रकार की विधवाओं की सेवा है। हमारे देश में केवल विधवाश्रमों की संख्या कम है; वनिताश्रम, सेवासदन, अनाथाश्रम-अनाथालय, अशक्ताश्रम आदि संस्थाएँ अधिक हैं, और उनमें अधिकांश स्त्रियाँ ही आश्रय प्राप्त कर रही हैं। अभी देश को अनेक अच्छे, सुव्यवस्थित विधवाश्रमों की आवश्यकता है। (८५)

[ग्रन्थकार नीचे के श्लोक में यह प्रदर्शित करते हैं कि संतानहीन तथा निराधार विधवाओं के प्रति समाज का क्या कर्त्तव्य—धर्म—है ?]

विधवाओं की आजीविका का प्रबन्ध ॥८६॥

पुत्रादिप्रतिबन्धतो निजगृहं त्यक्तुं न सन्ति क्षमा—
या दैन्यान्निजसन्ततेरपि गृहे कर्तुं न रक्षामलम् ॥
तासां कोऽपि कुले भवेद्यदि धनी तेन व्यवस्थाप्यतां ।
नोचेन्मण्डलसज्जनैः समुचितःकार्यः प्रबन्धः स्वयम् ॥

भावार्थ—जिन विधवाओं को अपनी सन्तान का प्रतिबन्ध होता है, वे घर छोड़कर आश्रम में नहीं जा सकतीं और गरीबी के कारण घर में भी अपनी सन्तान का यथायोग्य पोषण नहीं कर सकतीं। ऐसी विधवाओं के कुटुम्ब में यदि कोई धनवान् हो, तो उन्हें अपने कुल की विधवाओं की रक्षा के लिए व्यवस्था करनी चाहिये। यदि ऐसा कोई न हो, तो समाज या मण्डल के सदस्यों को उनके लिए उचित प्रबन्ध करना चाहिये। (८६)

विवेचन—आज-कल संतति-हीन विधवाओं को उदर-पोषण के लिए घर से बाहर मजदूरी के लिए जाना पड़ता है

और इससे उनके जीवन का उच्च आदर्श नष्ट हो जाता है; परन्तु स्त्रियों के लिए घर में ही उदर-निर्वाह का साधन खोजना ही उनकी परिस्थिति के लिए हितकारक है। पाश्चात्य देश की स्त्रियों में पातिव्रत्य धर्म की ऐसी उच्च भावना नहीं है, इसलिए वहाँ की स्त्रियाँ अपने बच्चों को साथ लेकर या उन्हें 'नर्सरी' में छोड़कर मिलों या कारखानों में मजदूरी के लिए जाते नहीं सकुचातीं, परन्तु आर्य स्त्रियां इसे भला नहीं समझतीं और विद्वान् लोग भी इसे अच्छा नहीं कहते। विदेशों में या हिंदुस्तान में भी जो स्त्रियाँ मिलों और कारखानों में उदर-निर्वाह के लिए मजदूरी करने जाती हैं, वे अपने चरित्र और धर्म की रक्षा नहीं कर सकतीं या उनके चरित्र और धर्म पर संकट आ जाता है। इसीलिए महात्मा गांधी जी स्त्रियों के लिए विशेष रूप से सूत कातने का आग्रह करते हैं और स्त्रियों को कारखाने में भेजना या जाने देना समाज का बहुत बड़ा पाप समझते हैं। संतान के कारण स्त्रियाँ कारखाने में मजदूरी करने न जा सकें, इतना ही नहीं, परन्तु वे विधवाश्रमों में भी प्रविष्ट न हो सकें यह भी संभव है। ऐसी स्त्रियों को कोई गृहोद्योग न आता हो, या करने का समय न मिलता हो, तो उनके निर्वाह की व्यवस्था पति के परिवार वालों को या माँ-बापों को करनी चाहिये और ऐसी परिस्थिति भी न हो, तो ऐसी विधवाओं का निर्वाहभार समाज को अपने ऊपर लेकर उन्हें निराश्रित न रहने देना चाहिये। यद्यपि यह एक स्वाभाविक नियम है, तथापि ग्रन्थकार को इसके लिए खास तौर पर क्यों कहना पड़ा? इसका कारण यह है कि आज समाज विधवाओं के प्रति सच्चे कर्त्तव्य को भूलता जा रहा है। माँ-बापों और पति-परिवार के विशाल समुदाय वाली विधवाएँ भी पोषण के अभाव से कारखानों में मजदूरी करने जाती हैं या पोषण के लिए निकृष्ट कार्य

करती हैं, इसका कारण विधवाओं के बड़े-बूढ़े अग्रज कहलाने वाले कुटुम्बीजनों की उनके प्रति उपेक्षा ही है।

दृष्टान्त—एक ब्राह्मण की कन्या अट्ठारह वर्ष की वयस में विधवा होगई। उस समय केवल दो वर्ष की एक बच्ची ही उसके पास था। उसके सास-ससुर या और कोई कुटुम्बीजन नहीं थे। इसलिए उसके निर्वाह का भार उसके पति के चाचा पर आ पड़ा। कुछ दिन तो उसने उनके यहाँ गुजारे, वैधव्य-धर्म के पालन की सब क्रियाएँ जैसे केश-वपन, नीरस आहार, भूमि-शयनादि वह यथार्थ रीति से करती थी। तो भी वह धीरे-धीरे उस घर में असह्य-सी हो गई, फिर वह अपने बाप के यहाँ गई। भाई और भौजाई ने उसे दो वर्ष तक अपने यहाँ रखा; परन्तु पीछे उसे अनुभव हुआ कि वह उनके लिए भी भार-रूप होती जा रही है। वह फिर अपने पति के चाचा के यहाँ लौट आई। ग्राम्य-संस्कारों में पालित-पोषित होने के कारण वह भोजन बनाने, पीसने-दलने और मजदूरी करने के सिवा कोई गृहोद्योग न जानती थी। यह सब काम करते हुए ही वह वहाँ रहने लगी; परन्तु घरके लोगों के एतराज से वह वहाँ नहीं टिक सकी। वह अपने घर में अलग रह कर जो कुछ थोड़े बहुत गहने थे, उन्हें बेचकर उनसे अपना निर्वाह करने लगी। इसी समय उसे एक वणिक कुटुम्ब में भोजन बनाने का काम मिल गया और इससे वह बड़ी खुशी हुई। खाने-पीने और वस्त्रों की चिंता मिट गई। साल में चालीस-पचास रुपया बचाने भी लगी, परन्तु वहाँ उसके सिर पर दूसरा भय आ खड़ा हुआ। एक रात को उस वणिक के युवक पुत्र ने उस पर बलात्कार किया और दूसरे ही दिन वह वहाँ से नौकरी छोड़ कर अपने घर चली आई। अपने पर बीते हुए इस संकट को

व्यर्थ ही किसी से कहने में उसने कोई सार नहीं देखा; परन्तु इस संकट का फल उसे निकट दीखने लगा। वह गर्भवती हो गई और दुखित रहने लगी। गर्भपात करने का विचार उसे सूझा, परन्तु वह नहीं जानती थी कि यह पाप कैसे होता है। इसलिए इस पाप से बच गई। वह एक दिन रात को छिपकर घर से निकली और अहमदाबाद के अनाथाश्रम में पहुँची। वहाँ उसके एक लड़की पैदा हुई। अब वह विचार करने लगी कि अनाथाश्रम से निकल कर वह कहाँ जाय। ससुराल में जाकर तो वह मुंह दिखा नहीं सकती थी, इसलिए वह अपने भाई के पास पहुँची, परन्तु अपकीर्ति के भय से भाई ने उसे तुरंत निकाल दिया और गुप्त रूप से उसे पचीस रुपये देकर कहा कि अपनी इच्छानुसार कहीं भी जाकर रह, पर मैं अपने घर तुझे नहीं रखूँगा। इसके बाद वह अहमदाबाद में आकर रहने लगी। उसका भाई उसे महीने में पाँच रुपये भेजा करता था, परंतु एकाध वर्ष के बाद आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण उसने वे रुपये भेजना भी बंद कर दिया। तब उसने कई जगह भोजन बनाने की नौकरी की, पर सब ही जगह उसकी पवित्रता पर आघात होता रहा, इसलिए जीवन से ऊब कर वह एक युवक की उपपत्नी के रूप में रह कर पेट भरने लगी! समाज! क्या इस पापी जीवन के लिए तू ज़िम्मेदार नहीं है? (८६)

[अब यह प्रदर्शित किया जाता है कि विधवाओं के लिए प्रतिबन्ध सीमा कैसी और कहाँ तक में रहनी चाहिये।]

विधवाओं के प्रति प्रतिबन्ध की सीमा ॥८७॥

स्वातन्त्र्यान्न भवेयुरुद्धततरा नाचारहीना यथा।
तावन्नेतृजनैश्च तन्नियमनं कार्यं यदावश्यकम् ॥

याः सत्यो विधवाः स्वभावसरलाः स्वीयैर्जनैर्निर्दयैः।
पीड्यन्ते किल पीडनात्सपदि ता मोच्याः स्वयंसेवकैः॥

भावार्थ—कुटुम्ब के मुखियाओं या समाज के नेताओं को विधवाओं पर आवश्यक रूप से इतना प्रतिबन्ध रखना चाहिये कि वे स्वतन्त्र होकर उद्धत-स्वच्छन्दी या आचारहीन न हो जायँ। कई विधवाएँ स्वभाव से ही सरल और पवित्र होती हैं, जिससे वे अपने आप सदाचार परायण रह सकती हैं; पर कई निर्दयी परिवार ऐसी विधवाओं पर रक्षा के बहाने अनुचित दबाव डाल कर उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं, ऐसी दशा में समाज सेवक अगुआओं को ऐसी पवित्र विधवाओं को अनुचित दबाव के जुल्म से बचाना चाहिये। (८८)

विवेचन—मानवधर्मशास्त्र में स्त्री को स्वातन्त्र्य न देने के विषय में यह कहा गया है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

अर्थात्—स्त्री को बचपन में पिता के, युवावस्था में पति के और पति के मरने पर पुत्रों के अधीन रहना चाहिये; पर स्वतंत्र कभी न रहना चाहिये—परंतु इस समय समाज में विधवा स्त्रियों की स्थिति देखकर यह कहना पड़ता है कि मनुष्य समाज ने इस कथन का बहुत ही अनुचित उपयोग किया है। स्त्रियाँ स्वभाव से ही शारीरिक और मानसिक बल में पुरुषों से हीन होती हैं, अतएव यदि वह स्वतंत्र होकर रहें तो कपटी प्रपंची और लम्पटों द्वारा बहकाई जाकर, संभव है भ्रष्ट करदी जायँ यह भय रहता है, इस कारण स्त्रियों को किसी भी दशा

में स्वतंत्र न रहने के लिए कहा गया है। परंतु इस कथन की आड़ में स्त्रियों पर अनुचित दबाव डाल कर, उन्हें पशुवत् जीवन व्यतीत करने वाली बना डालना किसी भी प्रकार अच्छा नहीं है। इस कारण ग्रन्थकार विधवाओं की स्वतंत्रता के विषय में भी नियमन, प्रतिबंध-सीमा नियत करते हुए कहते हैं कि कुटुम्ब के मुखियाओं को विधवाओं पर इतना ही प्रतिबंध रखना चाहिये कि वे उद्धत न बन जायँ। परंतु पवित्र और सदाचारी विधवाओं को अनुचित रूप में कुटुम्बियों के द्वारा पीड़ित किया जाता है, यह तो बिल्कुल ही अनुचित है और एक प्रकार का हिंसक कार्य है। जिन विधवाओं पर इस प्रकार अनुचित दबाव डाला जाता है और उन्हें व्यर्थ कष्ट पहुँचाया जाता है, वे प्रायः घर से निकल भागती हैं या आत्मघात तक कर लेती हैं, इसके अनेक उदाहरण प्रायः उपस्थित हुआ करते हैं। रक्षा के वहाने विधवाओं को पशुओं की भाँति जंजीरों से जकड़ने के अत्याचार देख कर ही यह कहा गया मालूम होता है। जिस समय मनु ने 'मनुस्मृति में समाज के नियम लिखे, उस समय समाज का पुरुष वर्ग अपने कर्त्तव्य-धर्म को भली भाँति समझने वाला होगा, इसलिये इस नियमन—प्रतिबंध की सीमा प्रकट नहीं की। परन्तु इस समय उसकी आवश्यकता आ पड़ी है, इसलिए यहाँ प्रकट की गई है। ऐसी विधवाओं को पीड़ा पहुँचाने वाले परिवारों से बचा कर सुरक्षित स्थान में रखना, कसाई से गाय को बचाने के समान है। ग्रन्थकार इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए सेवा-धर्मियों को सूचना करते हैं। (८७)

[अन्त में ग्रन्थकार विधवाश्रम स्थापित करने के कर्त्तव्य की ओर धनवानों को ध्यान दिलाते हैं।]

विधवाश्रम की स्थापना ॥८८॥

नार्यो यत्र च शिक्षिकाः सुपठिताः सन्ति व्यवस्थापिका-
स्ता एव प्रविशन्ति नैव पुरुषा एकाकिनो यत्र वा ॥
तादृक्षो विधवाश्रमो धनिवरैः सेवाप्रकृष्टाशयै—
रेकैकः प्रतिपत्तने समुचिते वा स्थापनीयः स्थले ॥

भावार्थ विवेचन—सेवा का उत्कृष्ट विचार रखने वाले श्रीमानों को प्रत्येक शहर में या किसी योग्य स्थान पर एक-एक ऐसा विधवाश्रम स्थापित करना चाहिए कि जिनमें अच्छी पढ़ी लिखी स्त्रियाँ अध्यापिका का काम करती हों और स्त्रियाँ ही व्यवस्थापिका हों। अकेले पुरुष का तो उसमें प्रवेश ही न हो पाये। विधवाश्रमों की कमी के कारण, जितनी विधवाओं को उनमें स्थान मिलना चाहिये नहीं मिल सकता। इसलिये धनियों को विधवाश्रमों की स्थापना अवश्य करनी चाहिए। ऐसे आश्रमों की व्यवस्था बहुधा सेवाधर्मिणी महिलाओं के हाथ में होनी चाहिए? यदि अध्यापन, व्यवस्था तथा गृहोद्योग की शिक्षा के लिए ऐसी महिलाओं का अभाव हो, तो पुरुषों से ही काम लिया जा सकता है; परंतु 'पुरुषा एकाकिनः' अर्थात्—अकेले पुरुष को तो ऐसे काम में योजित नहीं करना चाहिए। कारण कि इससे किसी समय अनिष्ट प्रसंगों के उपस्थित होने का भय रहता है। (८८)



तेरहवाँ परिच्छेद

सेवाधर्मः—वृद्धजनों की सेवा

[अब वृद्ध स्त्री-पुरुषों की सेवा का प्रकरण आरंभ किया जाता है ।]

वृद्ध सेवा ॥८६।६०॥

येषामस्ति गृहे न कोऽपि तरुणः पुत्रप्रपौत्रादिको ।
न स्यात् पुत्रवधूर्न चापि दुहिता नैवापि कौटुम्बिकः ॥
ते वृद्धाः पुरुषाः स्त्रियश्च करुणादृष्ट्या विलोक्या यत—
स्तेषां चित्तमनाश्रितं त्वहरहो दुःखेन दग्धं भवेत् ।
केचिद्यष्टिवशाः सुदृष्टिविकलाः केचिच्च खट्वावशाः ।
केचिज्जर्जरिता जराप्रहरणै रोगाऽरिणा मर्दिताः ॥
सर्वे ते सुखकामिनः सुकृतिनां साहाय्यमिच्छन्ति वै ।
देयं तज्जरतां दयार्द्रहृदयैः सेवार्थिभिः सज्जनैः ॥

भावार्थ—जिन वृद्धों के घर में कोई भी युवक पुत्र, प्रपौत्र, पुत्रवधू या अपनी पुत्री भी न हो, कुटुम्ब में और कोई भी सेवा करने वाला न हो, वे वृद्ध पुरुष या स्त्रियाँ करुणा दृष्टि से देखने योग्य हैं, क्योंकि निराधार होने के कारण बेचारों का हृदय रात दिन दुःख से जलता रहता है। उन्हें आश्वासन की बड़ी आवश्यकता होती है। कोई बूढ़े बेचारे बिना लकड़ी का सहारा लिये नहीं चल सकते, कई अंधे होते हैं और कई खटिया की ही शरण लेते हुए दीख पड़ते हैं। कई बुढ़ापे के प्रहार से जर्जरित

प्रतीत होते हैं और कई रोगरूपी शत्रु से पीड़ित नजर आते हैं। इन सब को सुख की इच्छा होती है, इसलिए ऐसी दुर्दशा के समय वे पुण्यवानों की सहायता चाहते हैं। इसलिए दयालु सेवा के इच्छुक सज्जनों को ऐसे वृद्ध स्त्री पुरुषों को तन मन और धन से आवश्यक सहायता देनी चाहिए। (८६।६०)

विवेचन—सुभाषितकार ने वृद्धावस्था के रूप में वर्णन किया है—

वदनं दशनविहीनं वाचो न परिस्फुटा गता शक्तिः
अव्यक्तेन्द्रियशक्तिः पुनरपि बाल्यं कृतं जरया॥

अर्थात्—मुख दाँतों से विहीन हो जाता है, वाचा नहीं खुलती, शक्ति नष्ट हो जाती है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है—इस प्रकार वृद्धावस्था में दूसरी बाल्यावस्था आ जाती है। वृद्धावस्था में मनुष्य की सब शक्तियाँ बाल्यता धारण कर लेती हैं—यह ठीक हैं; परन्तु जब बालक पर कुटुम्बी जनों की दया माया होती है, तब वृद्ध बालक को वे तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते हैं! इसका क्या कारण है? बालक पर माता-पिता आशा रखते हैं; इसलिए उनके प्रति उनका ममत्व पैदा हो जाता है और वृद्धजनों के प्रति जवान लड़कों या बहुओं को कोई आशा नहीं होती, इसलिए वे तुरन्त उनकी मृत्यु की प्रतीक्षा करके भार से मुक्त हो जाने की बाट जोहा करते हैं! इसी कारण कहा है कि—

वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनैर्भार्या न शुश्रूषते।
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥

अर्थात्—वृद्धों की बातें उनके बांधवजन नहीं सुनते, स्त्री उनकी सेवा नहीं करती और पुत्र भी अमित्र—शत्रु—बन जाता है। वृद्ध पुरुषों का यह कोई साधारण कष्ट है? जब कुटुम्बी जनों

से भरपूर घरों में भी वृद्धों की यह दशा होती है, तब जो वृद्ध स्त्री, पुत्र, पौत्रादिक से हीन होते, या जिनके घरों में सेवा टहल करने वाला कोई भी मनुष्य नहीं होता, उन वृद्धों की दुर्दशा का क्या ठिकाना? वृद्धावस्था, देह का एक रोग है। दुर्बल जीवन शक्ति पर बुढ़ापा जल्दी आक्रमण करता है और सबल जीवन शक्ति पर विलम्ब से; इसी कारण कई लोग ५०-६० वर्ष की उम्र में भी सशक्त रहते और कई अशक्त हो जाते हैं। कोई चल नहीं सकते, कोई सुन नहीं सकते, कोई देख नहीं सकते और कोई खटिया की शरण ले लेते हैं। ऐसी दशा में भी यदि किसी को कोई कठिन रोग धर दबाता है, तो उनकी स्थिति बड़ी ही दया जनक हो जाती है। इसलिये दुःखी दर्दियों या अंगोपांगहीन अनाथ अशक्तों की सेवा के लिए जो योजना की जाती है, वही वृद्धों के लिए भी की जानी चाहिये। कई अभागे वृद्ध आप्तजनहीन होने के कारण, दुःख दर्द में सेवा शुश्रूषा के बिना बिछौने पर ही मरे हुए देखे जाते हैं। यह स्थिति अत्यन्त दयाजनक है। बीमार और लँगड़े-लूले पशुओं के लिए पशुशालाएँ खोलने वाले दयालुजनों को ऐसे वृद्धजनों की ओर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। (८६—६०)

[निम्नलिखित दो श्लोकों में वृद्धों के तन मन की सेवा करने के प्रकार बतलाये जाते हैं।]

वृद्ध-सेवा कैसे करनी चाहिए॥ ६१ ॥

स्थातव्यं सुभगैर्निवृत्तिसमये तेषां समीपे सदा।
प्रष्टव्यं कुशलादिकं सुवचनैर्दातव्यमाश्वासनम्॥

शय्यादेश्च निरीक्षणं नियमतो वस्त्रव्यवस्थापनं।
वाच्यं धार्मिकपुस्तकं रसयुतं शान्त्यर्थमेषां पुरः ॥

भावार्थ—भाग्यवान् सज्जनों को चाहिए कि फुर्सत के समय वे निराधार तथा पीड़ित वृद्धों के निकट बैठें और मीठे शब्दों में क्षेम कुशल पूछें, दुःख में दिलासा दें, उनके बिछौने को देखभाल कर ठीक करें और उनकी समझ में आने योग्य रसयुक्त-धार्मिक पुस्तकें पढ़ कर सुनावें और ऐहिक तथा पारलौकिक शान्ति का अवसर उन्हें दें। (६१)

वृद्धों के अनुकूल सेवा ॥६२॥

चिन्तैषां यदि भाति काऽपि हृदये युक्त्या द्रुतं तां हरे-
द्रोगः कोऽपि भवेत्तदा तु भिषजां योग्यौषधं योजयेत्।
वैषम्यं प्रकृतौ भवेद् यदि तदा सद्बोधविज्ञापनैः।
क्रोधद्वेषविषादलोभहरणात् साम्यं च सम्पादयेत् ॥

भावार्थ—वृद्धों के मनमें किसी प्रकार की चिन्ता रहती हो, तो उसे जान कर किसी भी प्रकार उसे जल्दी दूर करना चाहिए। यदि उनके शरीर में कोई रोग हो, तो किसी सद्वैद्य से औषधि का प्रबन्ध करना चाहिए और यदि प्रकृति में किसी प्रकार की विषमता उत्पन्न हो गई हो, तो उन्हें समझा बुझा कर, क्रोध, द्वेष, खेद, लोभ आदि दोषों को दूर करके प्रकृति को साफ करना चाहिए। (६२)

विवेचन—शरीर और मन के दुःख से आवृत हुए निराधार वृद्धों की सेवा का हेतु यही है कि वे समता-पूर्वक अपना प्राण त्याग सकें, अर्थात्—उनका समाधि मरण हो। इस हेतु

को सिद्ध करने के लिए किसी न्यूनता के साथ वृद्ध लोग कष्ट भोगते हों, तो उनकी उस न्यूनता को दूर करना चाहिए। ऐसे समय उन्हें आश्वासन की बड़ी आवश्यकता रहती है अपनी सेवा टहल के लिए किसी आप्त जन के न होने के कारण उन्हें शारीरिक कष्ट की बजाय मानसिक कष्ट ही अधिक भोगना पड़ता है। इसलिए ऐसा करना चाहिये कि उन्हें अपने आप्त जनों की कमी न अखरे। समय-समय पर उनके पास जाकर उनसे कुशलक्षेम पूछना, मीठे शब्दों में आश्वासन देना, दवाई, खाने पीने की चीजों और बिछौने वगैरः की जरूरत हो, तो उसे पूर्ण करना, पात्र मैले हो गये हों, तो उन्हें धो देना, उन्हें किसी प्रकार की मानसिक चिंता हो, तो युक्ति पूर्वक उसे दूर करना, कोई रोग हो, तो औपधोपचार की व्यवस्था करना, और अवस्था और रोग के कारण स्वभाव में किसी प्रकार की विकृति आगई हो, तो समझा बुझा कर समता उत्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार के कामों से अशक्त और रोगी वृद्धों की उत्तम रूप में सेवा की जा सकती है। अनेक वार, कई वृद्ध किसी सांसारिक प्रबल वासना से आवद्ध रहते हैं और अत्यन्त मानसिक कष्ट से समय विताते हैं॥ ऐसे मानसिक कष्ट के कारण उनका समाधि मरण नहीं होता। आर्त—रौद्र विचारों में उनका जीवन काल बीतता है और वे अत्यन्त कष्ट उठाते हैं। ऐसे समय यदि उनकी वासना को जान कर उन्हें भली भाँति संतुष्ट किया जाय, तो वे शान्त चित्त से मरण को प्राप्त होते हैं। ऐसा न होने पर अशान्ति में ही उनकी मृत्यु होती है और दुर्गति को उपार्जित कर अधिक भव भ्रमण करते रहते हैं। मनुष्य की मृत्यु सुधारने सद्गति करने के समान और कोई कल्याणकारी सेवा नहीं है और मृत्यु को सुधारने के लिए वृद्धों को, रोगियों को आश्वासन देना, या उनकी चिन्ताओं के कारणों को दूर

करना परम पुण्य का कार्य है। जो शान्त चित्त से, संतोषपूर्वक वासना रहित होकर मरते हैं, उन्हें मृत्यु से दुःख नहीं होता, बल्कि वे हँसते-हँसते प्राण त्याग करते हैं। श्री रत्नकरंड श्रावकाचार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—

जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा॥

अर्थात्—मृत्यु के प्रताप से जीर्ण हुआ शरीर आदि छूट जाता है, और नया शरीर प्राप्त होता है, इसलिए सत्पुरुष मृत्यु को एक प्रकार के सुख का उदय समझते हैं। और ज्ञानी पुरुष के लिए एक हर्ष का कारण होती है। परन्तु मृत्यु के समय निराधार गरीब वृद्धों को ऐसा सुख प्राप्त कराने के लिए उनकी न्यूनताओं-कमियों तथा विषमताओं को दूर करने के लिए सेवा धर्मियों को प्रयत्न करना चाहिए ?

दृष्टान्त—सोमशर्मा नामक एक वृद्ध ब्राह्मण के अपनी उत्तरावस्था में दो बालक उत्पन्न हुए एक लड़का और एक लड़की। लड़की के पैदा होने पर शीघ्र ही उसकी माता की मृत्यु हो गई। बड़े कष्ट से सोमशर्मा अपने दोनों बालकों का पालन पोषण करने लगा। पुत्र पाँच वर्ष का हो गया और पुत्री तीन वर्ष की। इसी समय सोमशर्मा बुढ़ापे के कारण बीमार होगया, और खटिया पर आ पड़ा। ब्राह्मण के बुढ़ापे और छोटे बच्चों के प्रति दया से प्रेरित होकर पड़ौसी उसकी सेवा शुश्रूषा करने लगे। ब्राह्मण बहुत दिनों बीमार रहा और उसका खाना पीना भी प्रायः बन्द होने लगा, फिर भी वह बड़ी व्याकुलता से कष्ट सहता रहा। उसके दो मित्र थे। एक धनदत्त नामक वणिक और दूसरा शूरसिंह नामक राजपूत। ये भी रोज उसको देखने के लिए आते। दोनों अपनी शक्ति के अनुसार सेवा-सहायता करते और उसे

आश्वासन देते; परन्तु ब्राह्मण की व्याकुलता ज़रा भी दूर होती नहीं मालूम होतीथी। एक बार दोनों मित्रों ने सोमशर्मा से एकान्त में पूछा—'मित्र तुम्हें आखिर कौनसी मानसिक चिन्ता है?' सोमशर्मा ने आँखों से आँसू गिराते हुए कहा—'मित्रो, मैं एक दरिद्र ब्राह्मण हूँ। यह दोनों बच्चे छोटे हैं। मुझे यह चिन्ता हो रही है कि इस लड़के का लालन-पालन कर, पढ़ा लिखा कर कौन इसे सन्मार्ग पर लगाएगा? और लड़की को पाल-पोष कर कौन कन्या दान देगा? इसी चिन्ता से मैं व्याकुल रहता हूँ। तुम मेरे मित्र हो, परन्तु तुम ऐसे धनवान् नहीं हो कि इस विषय में मैं तुमसे याचना करूँ।' मित्र की इस चिन्ता को जानकर धनदत्त बोला—'मित्र! तुम चिन्ता न करो। मैं धनवान नहीं हूँ, परंतु मैं जो व्यापार करता हूँ, उसका चौथा भाग तुम्हारी लड़की को देने के ख्याल मे उसे करूँगा और उसका लालच न करके कन्या दान दूँगा। कदाचित् व्यापार से कन्यादान के लिए आवश्यक द्रव्य न प्राप्त हो सकेगा, तो अपनी पुत्री के कन्यादान का आधा भाग इसके लिए खर्च करूँगा।' शूरसिंह बहुत ही ग़रीब राजपूत था। फिर भी कुछ देर विचार करके वह बोला—'मित्र, मैं ग़रीब तो हूँ, परंतु एक बार मैंने राजा साहब की अनन्य सेवा की थी, उसके लिए वे मुझे इनाम देने वाले हैं। उस इनाम के बदले मैं राजा साहब से यही याचना करूँगा कि वे तुम्हारे लड़के के लिए पढ़ने और खाने पीने की व्यवस्था करदें, इसलिए तुम निश्चिन्त हो जाओ।' यह आश्वासन प्राप्त होने पर सोमशर्मा ने शांति पूर्वक प्राण त्याग किये। दोनों मित्रों ने इस प्रकार वृद्ध ब्राह्मण की सच्ची सेवा की। (८२)

[अब समाधिमरण की स्पष्टरूप से विवेचना की जाती है।]

मृत्यु के समय समाधि अवस्था ॥६३॥

यद्येषां मरणं विभाति निकटे दुःसाध्यरोगोद्भवा-
त्प्रत्याख्यानसमाधिभावजननैराराधनां कारयेत् ॥
चित्तं शान्तिपरायणं भगवतो ध्याने निमग्नं भवे-
त्स्यादेषां हि यथा समाधिमरणं यत्नं विदध्यात्तथा ॥

भावार्थ—यदि असाध्यरोग के कारण वृद्धों का अंतकाल निकट आगया प्रतीत हो, तो उनसे पाप के तमाम कार्यों का पच्चखाण कराना चाहिए, ठीक समाधि भाव सहित धर्म की आराधना करानी चाहिए। और ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि रोगी अवस्था में भी उनका चित्त शान्त रहे और वे भगवान् का ध्यान करने में संलग्न हो जायँ और मृत्यु के समय भी हाय-तोबा न मचाकर समाधिमरण को प्राप्त हों। (६३)

विवेचन—समाधि क्या है? चित्तवृत्ति की विषमता का त्याग और समता की स्थापना ही समाधि है। इस समाधि को सिद्ध करने के लिए अनेक योगी जन बाह्योपचार करते और अनेक प्रक्रियाओं के द्वारा मनोवृत्ति पर अधिकार करते हैं—इससे उन्हें समाधि प्राप्त होती है। सच्चे ज्ञानियों को मनोवृत्ति पर अधिकार करना सुलभ होता है। वे सहज ही में समाधि प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान और अभ्यास के द्वारा मन समाधिस्थ हो सकता है। परंतु यह तो योग का एक विषय है। जो सारा जीवन संसार में रह कर व्यतीत करते हैं, जिन्होंने काम, क्रोध लोभादि के अनेक प्रसंगों का अनुभव किया है, जिन्होंने अनेक पाप किये हैं, वे मनुष्य मरते समय समाधि—चित्त-वृत्ति की समता कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यह कार्य दुःसाध्य है;

पर असाध्य नहीं। जिसने ज्ञान तथा योगाभ्यास के द्वारा सहज ही समाधि प्राप्त करली है, चित्त की समता प्राप्त करली है, उसके लिए तो मृत्यु समय की समाधि भी सरल है। परंतु, बहुधा साधारण जनता को ऐसी समाधि का अभ्यास नहीं होता, और जैसा जीवन उन्होंने विताया होता है, वैसी ही उनकी मृत्यु होती है। ऐसे मनुष्यों की मौत सुधारना भी एक महत्त्व-पूर्ण सेवा है। संसार के विविध प्रपंचमय प्रसंगों से गुजरने वाले मनुष्य जब मौत के निकट आ पहुँचते हैं, तब वे भयभीत—आकुल व्याकुल हो जाते हैं, और ऐसी विषम भावनाओं में हुई मृत्यु उनके अन्य भव को भी बिगाड़ने का निमित्त बन जाती है। वह निम्नकोटि के देव की स्थिति में जन्म धारण करता है और वहाँ भी अपवित्र वासनाओं से घिरा हुआ रहकर अपनी आत्मा का अकल्याण करता है। कहा है कि—'*संसारासक्तचित्तानां मृत्योर्भीतिर्भवेन्नृणाम्*' अर्थात्—जिन जीवों का चित्त संसार में आसक्त है, उनको मृत्यु भय उत्पन्न करने वाली होती है। इस भय से ही मृत्यु के समय कई मनुष्य व्याकुल होते दिखाई पड़ते हैं। जो लोग न्यूनाधिक रूप में ज्ञान और वैराग्य से विभूषित होते हैं, वे ही इस समय, मृत्यु से दैहिक पीड़ा भोगने के समय अपने मन की समता को स्थिर रख सकते हैं और मृत्यु से भयभीत होने के बदले, नया शरीर धारण करके कर्मों की निर्जरा का प्रसंग निकट आया जानकर आनन्द प्राप्त करते हैं। '*मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम्;*' अर्थात्—ज्ञान और वैराग्य से जो बसे हुए हैं, उनके लिए मृत्यु हर्ष का निमित्त-कारण-है। इस पर से समझा जा सकता है कि उत्तम मृत्यु वही है, जो अपने आप प्राप्त की हुई समाधि पूर्वक हो। और ऐसा समाधि-मरण, ज्ञान, तप, समाचार तथा व्रतादि के पालन से संसार में

उत्तम चारित्र्य प्राप्त करने वालों को ही होता है। परंतु जो इतने शक्तिमान् नहीं हैं और मृत्यु के समय भय, चिंता, व्याकुलता आदि के शिकार हो जाते हैं, उनके लिए क्या किया जाय? ग्रन्थकार कहते हैं कि सेवाधर्मियों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे ऐसे मनुष्यों का चित्त शांत रहे, भगवान् का ध्यान करने में लीन हो जायँ और मृत्यु के समय भी भीति, व्याकुलता न उत्पन्न हो, और वे समाधिपूर्वक सुख से मर सकें। रोगी की चिंता को निवृत्त करने का यत्न करना, उसके अज्ञान को दूर करके तत्काल उचित रूप में ज्ञान-वैराग्य में लगा देना, उसे आश्वासन देना, उसके भय को भगाना और प्रसन्नता-पूर्वक मृत्यु का सामना करने के लिए बोध कराना आदि यत्नों से कई संस्कारशील रोगियों का मृत्युकाल सुधर जाता है और मृत्यु के समय हृदय में उच्च भावना रहने से उसका पुनर्जन्म अधम कोटि में नहीं होता। जैन धर्म में ऐसे मरण को समाधिमरण पंडितमरण अथवा सकाम मरण कहते हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' के पाँचवें अध्ययन में कहा है कि—'न संत संति मरणंते सीलवंता बहुस्सुया' अर्थात्—बहुश्रुत और शीलवान् मनुष्य मृत्यु के समय भयभीत नहीं होते, अर्थात्—उनका समाधिमरण सकाम मरण होता है। स्कंधक नामक एक जैन मुनि तप और संयम के द्वारा अत्यन्त दैहिक पीड़ा भोग रहे थे, फिर भी बहुश्रुत थे। संयम और वैराग्य से परिपूर्ण थे, इससे पीड़ा का प्रभाव उनके मन पर नहीं होता था। मृत्यु के समय केवल हड्डियाँ और चर्म मात्र रह गया था, फिर भी उन्होंने समाधि-मरण प्राप्त किया था। समाधि-मरण का यह महत्त्व समझकर, संसारातप्त जनों को मृत्यु के समय समता-समाधि का अधिकाधिक लाभ प्राप्त कराना और उनकी मौत को सुधारना, एक परम सेवा का कार्य है। (६३)



चौदहवाँ परिच्छेद

सेवाधर्मः पशुसेवा

[अब सेवाधर्मियों को पशुसेवा की ओर आकर्षित करते हुए ग्रन्थकार पशुओं के रक्षण की आवश्यकता प्रदर्शित करते हैं।]

पशुओं की रक्षा ॥६४॥

यस्या दुग्धघृतादिना नरतनुः पोपुष्यते सर्वथा।
वाणिज्यं कृषिकर्मभारवहनं यज्जातिमालम्ब्यते॥
सा रक्ष्या पशुजातिरुत्तमजनैः कर्त्तव्यसेवाधिया।
हिंसातो बलितोऽतिभारभरणात्क्रौर्याद्भृशं ताडनात्।

भावार्थ—जिनके दूध और घी से सब प्रकार मनुष्य जाति के शरीर का पोषण होता है, जिन्हें गाड़ी वगैरः में जोत कर व्यवसायादि का काम काज लिया जाता है, जिनकी गर्दन पर जुआ रख कर खेती का तमाम काम लिया जाता है, जिनकी पीठ पर भार लादा जाता है, उत्तम पुरुषों को चाहिए कि कर्त्तव्य तथा सेवा भाव से उन पशुओं को हिंसा, बलिदान, अति भार लादने और क्रूर मनुष्यों द्वारा निर्दयता पूर्वक मारने-पीटने से बचाना चाहिए। (६४)

विवेचन—इस संसार में कीड़ी—चिउँटी—से लेकर कुंजर तक प्रत्येक जीव उपयोगी तो है ही; परन्तु जो लोग उपयोगिता की स्थूल दृष्टि से देखने वाले हैं, वे कई क्षुल्लक जीवों को निरुपयोगी समझते हैं। फिर भी पशुओं को वे अत्यन्त उपयोगी

समझते हैं। लगभग सब प्रकार के जीवित पशुओं को मनुष्य एक या दूसरे प्रकार से अपने उपयोग में लाते हैं और उनकी सेवा के द्वारा अपना सांसारिक—आर्थिक हित साधन करते हैं। गाय तथा भैंसों के दूध का उपयोग करके मनुष्य अपने शरीर का उत्तम रूप में पोषण करते हैं और बैल तथा भैंसे जैसे पशुओं को गाड़ी आदि में जोतकर, खेती का काम लेकर या अन्य प्रकार से उपयोग करके उनकी सेवा से लाभ उठाते हैं। गाय-भैंस तथा बैल और भैंसों के अतिरिक्त अन्य अनेक पशु भी मनुष्यों की सेवा करते हैं। भेड़, बकरे, घोड़े, खच्चर, कुत्त आदि अनेक पशु एक या दूसरे प्रकार से उपयोग में लाये जाते हैं। इन मूक-प्राणियों के इतना उपयोगी होने पर भी मनुष्य उनकी उपेक्षा करते हैं, हिंसा करते हैं, शक्ति से अधिक उनसे काम लेते हैं, या निर्दयता से उन्हें मारते-पीटते हैं—यह मनुष्यों की कृतघ्नता ही है। मांसाहारी मनुष्य मांस के लिए इन पशुओं की हत्या करते हैं, यज्ञ-यागादि करने वाले या मलिनदेवी-देवताओं की मिन्नत करने वाले उनका बलिदान चढ़ाते और मार डालते हैं। उनकी शक्ति से अधिक काम लेने वाले, उन्हें गाड़ी में जोत कर सीमा से अधिक भार लाद कर, चाबुक, छड़ी या डंडे से मारते-पीटते और लकड़ी में लगी आर से उनके शरीर को गोद-गोद कर उन्हें दुःख देते और जल्दी काम कराने का प्रयत्न करते हैं। इन सब निर्दयताओं के कारण आज हमारे देश के पशुओं की संख्या घट गई है और मनुष्य का जीवन मँहगा तथा कठिनाइयों से पूर्ण हो गया है।

बम्बई प्रान्त में रोज केवल इतना सा दूध ही होता है कि जो प्रत्येक मनुष्य के हिस्से में ऽ।। भी नहीं आ सकता, और दो दो चार-चार सेर दूध रोज खाने वाले आदमी होते हैं अतएव यह सिद्ध होता है कि वे गरीबों के हिस्से का आधा-आधा सेर

झपट लेते हैं। हिन्दू लोग परम्परा से गोदान का माहात्म्य समझते रहे हैं; परन्तु वह अब नाममात्र ही रह गया है और बड़े शहरों में तो कुत्ते और घोड़े रखने वाले हिन्दू अपने यहाँ गाय रखने की आवश्यकता ही नहीं समझते! पशु जैसे मनुष्यों की सेवा करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को भी पशुओं की सेवा करनी चाहिए। परस्पर उपयोगी बनकर कृतज्ञता प्रगट करना चाहिए। परन्तु, यह पशु सेवा आज बहुत कुछ भुला दी गई है। इस समय तो पशुओं को अभयदान देना ही सच्ची पशु-सेवा है। मिन्नतों या अन्य कारणों से उनकी जो हत्या की जाती है, उसे बन्द करके, सीमा से अधिक भार लादने को रोक कर ही उन्हें अभयदान देना चाहिए। 'पंच-तंत्र' में कहा गया है कि—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं नान्नप्रदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्॥

अर्थात्—समस्त दानों में अभयदान को विद्वान् लोग जैसा उत्तम मानते हैं, वैसा गोदान, पृथ्वीदान या अन्नदान को प्रधान नहीं मानते। पशुओं को—मूकप्राणियों को तभी अभयदान मिलता है, जब कि ऊपर कहे अनुसार उनके प्रति होने वाले अत्याचारों को रोका जाय और मनुष्य समझने लगें कि अपनी सेवा करने वाले पशुओं के प्रति उन्हें कृतघ्न नहीं, कृतज्ञ होना चाहिए। (९४)

[पशु-रक्षा के सम्बन्ध में साधारण बातें बतला कर, अब ग्रन्थकार विस्तार के साथ पशु-रक्षा के मार्ग बतलाते और सबसे पहले पशु हिंसा का प्रतिबन्ध करने के लिए किस मार्ग से काम लेना चाहिए—यह सूचित करते हैं।]

पशु-पक्षियों की हिंसा का प्रतिबन्ध ॥९५॥

हन्यन्ते पशुपक्षिणश्च बहुशो मांसास्थिमेदोऽजिने।
तस्य स्यादुपयोजनं प्रतिदिनं न्यूनं तथा बोधयेत्॥

देवा नो पशुमांसभक्षणपरा इत्येवमावेद्य तान्।
भ्रान्तान् युक्तिपुरस्सरं बलिविधेः कार्यो निरोधो द्रुतम् ॥

भावार्थ—बहुत करके मांस, हड्डी, चर्बी और चमड़े के लिए पशुपक्षियों की हत्या की जाती है। इसलिए इन वस्तुओं का व्यवहार कम करने के लिए लोगों को उपदेश करना चाहिए। कई लोग बलि के लिए पशुओं का वध करते हैं। ऐसे भ्रान्त मनुष्यों को समझाना चाहिए कि देवतागण हमसे बहुत उच्चकोटि के हैं, वे कभी पशुमांस का भक्षण नहीं कर सकते।' इन युक्तियों से पशु-बलि को शीघ्र ही रोकना चाहिए। (६५)

विवेचन—पशुओं की हिंसा के जो मार्ग तथा कारण हैं, यदि उन्हें रोका जाय, तो पशुओं की रक्षा हो सकती है। तब इस हिंसा के मार्ग और कारण कौन-से हैं? पशुओं के स्थूल शरीर का प्रत्येक भाग मनुष्य के उपयोग में आता है, यानी उसका मांस, चमड़ा, हड्डियाँ, रुधिर, तथा चरबी आदि सभी पदार्थों का मनुष्य उपयोग करते हैं, इसीलिए पशुओं की हिंसा की जाती है। मांसाहारी लोग पशुओं के मांस का भक्षण करते हैं, उनका चमड़ा जूते, कोश, परतले, बेल्ट, पुस्तकों की जिल्द, बेग, थैले वगैरः बनाने के उपयोग में आता है। रुधिर को सुखा कर चाय के खेतों में खाद की तरह व्यवहार में लाया जाता है। हड्डियों से कई चीजें बनती हैं; जैसे—चाकुओं के दस्ते खिलौने वगैरः। और खाद में भी काम आता है। चरबी मशीनों में तेल की जगह काम में ली जाती है और मशीन से बने कपड़ों पर मांड़ी चढ़ाने के काम में भी आती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुओं का उपयोग होने के कारण पशुओं का बध किया जाता है। यदि केवल मरे हुए पशुओं की ही यह सब वस्तुएँ उपयोग में लाई जाती हों, तो अपवित्रता के सिवा कोई हानि नहीं होती; परन्तु

मांस और रुधिर के लिए तो जीवित पशुओं का ही वध किया जाता है। अपने आप मरने वाले पशुओं की संख्या से चमड़े और हड्डियों के व्यापारियों की भूख नहीं भागती, इसलिए पशु वध में ही उनका हित है। इसलिए जीवित पशुओं की हत्या कम कराने का प्रयत्न करना, पशु-रक्षा का पवित्र कार्य करने के समान है। मांसाहार, जीवित पशुओं की हत्या का मुख्य कारण है; इसलिए इसे रोकने का सच्चा प्रयत्न भी किया जाना चाहिए। यद्यपि यह संभव नहीं है कि मांसाहार किसी भी देश में बिल्कुल बन्द हो जाय; पर तो भी इसे कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। जनता के लिए जो पशु उपयोगी हैं, वे कम काटे जायँ या नहीं काटे जायँ। लोगों को दूध, घी आदि पदार्थ बहुत ही कम मिलते हैं, इससे उनकी मानसिक तथा शारीरिक शक्ति में न्यूनता आती जा रही है—परन्तु पशुवध को रोकने से यह कमी दूर की जा सकती है और खेतीबाड़ी का काम भी उन्नत हो सकता है तथा परिणाम स्वरूप देश के उस बड़े भाग की दुर्दशा दूर की जा सकती है, जिसे नियमित रूप से दोनों समय खाने को नहीं मिलता। इसलिए मांसाहार छोड़ने के लिए यत्न करना देश के कल्याण का ही मार्ग है। प्राचीनकाल में यज्ञ आदि में पशुओं का जितना भोग दिया जाता था, उतना अब नहीं दिया जाता। परन्तु देवी-देवताओं की बलि के लिए पशुओं को मार कर उनके मांस का भक्षण करने और इस प्रकार मांसाहार की बुभुक्षा को तृप्त करने का मार्ग अज्ञान लोग बहुत बड़ी संख्या में ग्रहण किये बैठे हैं, उन सब को धर्म के नाम पर पशुवध करते हुए युक्ति पूर्वक रोकना चाहिए। कई लोग यह समझते हैं कि इस प्रकार हिंसा करने वालों को साम-दाम-दण्ड-भेदादि युक्तियों से रोकना चाहिए; परन्तु 'साम' के सिवा अन्य युक्तियाँ चिरकालीन परिणाम नहीं उत्पन्न करतीं।

इसलिए हिंसकों को समझाना ही चाहिए कि देवता ऐसे दुष्ट नहीं होते कि वे पशुओं का बलिदान मांगें, वे मनुष्यों से बहुत उच्चकोटि के जीव होते हैं, इसलिए उनके निमत्त हिंसा करना बिलकुल निरर्थक और अनर्थक है। (६५)

[अब यह सूचित किया जाता है कि पशुओं की रक्षा के लिए राज्य की ओर से कैसे नियम बनाये जाने चाहिएँ।]

पशु-रक्षा कानून ॥६६।६७॥

भारं नाधिकमंशतोऽपि बिभृयाल्लोभेन गन्त्र्यादिके।
वृद्धं वा वृषभादिकं हतबलं कश्चिन्न संवाहयेत् ॥
दौर्बल्ये गदसंभवे पशुपती रक्षेत् पशुं यत्नतो-
भाव्यं तादृशशासनैर्नरपते राज्ये हितार्थं पशोः ॥
न स्युस्तादृशशासनानि विषये यस्मिन् दयाऽभावत-
स्तत्रोत्पाद्य दयाबलं दृढतरं नव्यानि निर्मापयेत् ॥
पाल्यन्ते न च तानि सन्त्यपि जनै राज्याऽव्यवस्थादित-
स्तेषामादरपूर्वपालनविधौ कुर्यात् प्रयत्नं शुभम् ॥

भावार्थ—अच्छे राजा के राज्य में पशु रक्षा के लिए ऐसा कानून होना ही चाहिये कि कोई भी गाड़ी वाला भाड़े के लोभ से तनिक भी अधिक भार गाड़ी में न लादे, बूढ़े और दुर्बल बैल को गाड़ी में न जोते, जब कोई पशु दुर्बल या रोग ग्रस्त हो जाय, तो उसका मालिक उसे घर से निकाल न दे; बल्कि घर पर रख कर उसकी साल सँभाल करे। जिस देश में दया के अभाव से कदाचित् ऊपर बताया हुआ पशु-रक्षा कानून न बनाया गया हो, उस देश में दृढ़ रीति से दया का बल उत्पन्न

करके राज्य की ओर से पशु-रक्षा के सम्बन्ध में नया कानून बनाया जाना चाहिये। या कानून बनाया गया हो; परन्तु देख-रेख के अभाव से, जनता उसका पालन न कर रही हो, राज्य या प्रजा मण्डल को ऐसा शुभ प्रयत्न करना चाहिये कि जनता आदर पूर्वक उसका पालन करने लगे।

विवेचन—यद्यपि एक ओर कुछ मनुष्य अपने पशुओं की हिंसा खुराक या व्यापार की अन्य वस्तुओं के लिए करते हैं, तो भी दूसरी ओर इन पशुओं की रक्षा करने और इन पर दया दिखाने की आवश्यकता भी प्रकट करते हैं। दया, मनुष्य के हृदय का ही परम गुण है। जगत् के और किसी प्राणी में वह नहीं है। यदि मनुष्य में यह एक गुण ही न हो, तो जंगली पशु और मनुष्य में कोई अन्तर न समझा जाय। अँग्रेज जाति मांसाहारी है, फिर भी वह जीवित पशुओं पर दया रखने के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। इंग्लैंड तथा दुनिया के अन्य देशों में भी पशु-रक्षा-सम्बन्धी कानून हैं और पशुओं पर अत्याचार न हो, इसका ध्यान रखा जाता है। महारानी विक्टोरिया ने कहा है कि—मनुष्यों में बालक और उनसे निम्न जगत् में जानवर दया का पात्र है। जो लोग उनके अधिकार की अवहेलना करते हैं, उन्हें अपने लिए न्याय और दया की आशा न रखनी चाहिये। इस प्रकार, जानवरों के प्रति दया पूर्ण व्यवहार रखना, तो मांसाहारी और अमांसाहारी भी स्वीकार करते हैं। जानवरों को काम-काज में अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाये जाते हैं। गाड़ियों या तांगे बग्घियों में सीमा से अधिक भार या सवारियाँ लाद दी जाती हैं, इससे बैल या घोड़ों को उन्हें खींचने में बहुत श्रम करना पड़ता है और उन्हें तेज चलाने के लिए चाबुक या छड़ी का प्रहार किया जाता है। उन्हें भूखे-

प्यासे रख जरा भी आराम न देकर उनसे काम लिया जाता है। कलकत्ते में कई दुष्ट लोग गायों के गुह्यांग में नलिका प्रविष्ट कर के फूँक भरते हैं, कि वह दूध चुरा न ले। इस प्रकार दूध के लिए उन्हें कष्ट पहुँचाया जाता है। अनेक पीठ लगे हुए घोड़ों, बैलों और गधों पर बोझ लादा जाता है और उन्हें बड़ा कष्ट सहन करना पड़ता है। जब पीठ के जख्म खून से भर जाते हैं और खुले रहते हैं, तो मक्खियाँ भिनभिनाती रहतीं और काटती हैं। कई दुष्ट लोग बूढ़े या मरणासन्न जानवरों को, खर्च बचाने के स्वार्थ के कारण घर से निकाल देते हैं। इसी प्रकार का कष्ट कई बार पक्षियों पर भी गुजरता देखा जाता है। सुधरे देशों में यह कानून बनाया गया है कि पशु-पक्षियों पर इस प्रकार अत्याचार न किया जाय। हमारे देश में भी इसके लिए कानून बना है, परंतु उस पर लोग अमल नहीं करते, और सरकार भी अमल कराने पर ध्यान नहीं देती। और जब कोई पशु-रक्षक मण्डल या जीवदयाप्रचारक संस्था, किसी कानून भंग करने वाले को अदालत तक ले जाती है और गवाही सबूतों द्वारा उसे सजा दिलाती है, तभी कुछ असर होता है। परंतु इस प्रकार न्याय कराने का काम बड़ा कष्ट पूर्ण है, इसलिए समाज सेवक भी इस ओर अधिक ध्यान नहीं दे सकते। परिणाम स्वरूप पशुओं के प्रति अत्याचार चालू ही रहता है। भारत में तो अति प्राचीन काल में भी पशु-रक्षा के विषय में बहुत अच्छा कानून बना हुआ था। महाराज. अशोक ने जिन शिला: लेखों में अपनी आज्ञाएँ अंकित कराई थीं, उनमें से एक आज्ञा यह थी—'देवप्रिय प्रियदर्शी राजा के समस्त देशों तथा निकटस्थ चोल, पांड्य, सत्पुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी (लंका) आदि देशों तथा ग्रीक राजा एण्टी ओकस और उसके सामंत राजाओं के देशों में, सब जगह देवप्रिय प्रियदर्शी महाराज की ओर से

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के सुख के उपायों की योजना की गई है। मनुष्यों तथा पशुओं के लिए उपयोगी जो औषधियाँ जड़ी बूटियाँ जहाँ नहीं हैं, वहाँ मँगा कर रोपित की गई हैं, इसी प्रकार फल फूल के पौदे भी लगाये गये हैं। मनुष्य तथा पशुओं के उपयोग के लिए मार्ग में वृक्ष भी लगाये गये हैं और कुए खुदवाये गये हैं।' समय के अनुकूल कानून हमारे देश में होने पर भी पशुओं पर अत्याचार होता है। एक रिपोर्ट से प्रकट होता है कि बम्बई में, घुटने फूटे हुए, लंगड़े, अशक्त, दाग दिये हुए, छिली हुई छाती के, छिले हुए पैर के, और जख्मी पीठ वाले घोड़ों से निर्दयता पूर्वक काम लेने के कारण, एक वर्ष में ७४७ मनुष्यों पर मुकद्दमे चलाये गये थे। बैलों के प्रति निर्दयता के लिए ६६३५ मनुष्यों पर मुकद्दमे चले थे। दो वर्षों में १०४६२ मुकद्दमों में सजा हुई थी। फिर भी आज वही अत्याचार हो रहा है। इस कारण ऊपर के दो श्लोकों में ग्रन्थकार मुख्यरूप से दो बातों के लिए सूचन करते हैं। एक सूचना यह है कि जहाँ पशु-रक्षा के लिए कानून न हो, वहाँ पशु-रक्षा-परायण सेवकों को कानून बनवाना चाहिये, और दूसरी सूचना यह है कि जहाँ कानून बना हो, पर राज्य की ओर से उस पर अमल न किया जाता हो; वहाँ जनता को जागृत करके कानून पर अमल कराने का यत्न करना चाहिये। अनुभव से ज्ञात होता है कि जब तक पशुओं के निर्दय मालिकों से पशु-रक्षा कानून का सतत पालन नहीं कराया जायगा और इसके लिए पूरी जागृति न दिखायी जायगी, तब तक मनुष्य की स्वार्थ परायणता अपना दुष्ट रूप ही धारण किये रहेगी। इसलिए ऐसे मनुष्यों को सतत प्रयत्न द्वारा सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। (६६-६७)

[अब बाल और वृद्ध पशुओं के सम्बन्ध में ग्रन्थकार विशिष्ट सूचना करते हैं]

बाल और वृद्धपशुओं की रक्षा ॥९८॥

नो यावत्तृणभक्षकाः क्षितितले पोताः पशूनां स्वयं।
तावत्ते निजमातुरेव पयसा पोष्याः पशुस्वामिभिः॥
विक्रय्यो न विघातकाय विगते स्वार्थेऽपि देयं तृण-
मित्थं शासनपद्धतिं नृपगुरुद्वारा च निर्मापयेत्॥

भावार्थ—पशुओं के बच्चे, छोटे बछड़े, जब तक जमीन से अपने आप घास न चरने लगें, तब तक पशुओं के मालिकों को चाहिए कि उन बछड़ों को अपनी माँ का दूध भली भाँति पीने दें और उनका पोषण करें; अर्थात्—उन्हें उनकी माँ से अलग न करना चाहिए। जब काम करते करते पशु बूढ़े हो जायँ या बेकार हो जायँ, तब उनके मालिक उन्हें चारा पानी न देकर योंही आवारा न छोड़ दें, मारने के लिए कसाइयों के हाथ बेच न दें—राज्य या गुरु के द्वारा कानून बनवा कर ऐसा प्रबन्ध कराना चाहिए। (९८)

विवेचन—अभी तक लोकोपयोगी जानवरों की रक्षा के विषय में कहा गया है; परन्तु जो जानवर तत्काल उपयोगी न प्रतीत होते हों, जो बिलकुल निरुपयोगी होगये हों, उनका क्या किया जाय? स्वार्थांध मालिक ऐसे निरुपयोगी जानवरों का पोषण नहीं करना चाहते। कारण कि उनके पोषण का ख़र्च उन्हें व्यर्थ प्रतीत होता है—अनुत्पादक प्रतीत होता है। एक जड़ मशीन, जो भली भाँति चल कर काम करती है, उसके लिए तो प्रत्येक मनुष्य ख़र्च करता है, उसमें तेल देता है, उसे साफ़ रखता है ईंधन जला कर उसमें शक्ति भरता है; परन्तु जो मशीन कार्य की शक्ति से हीन हो जाती है, घिस कर निकम्मी हो जाती है, उसके लिए

कौन खर्च करता है ? इसी प्रकार की दृष्टि वाले मालिक अपने जानवरों को भी पैसा पैदा करने की एक जड़ मशीन समझते हैं, और जब तक वह मशीन काम देती है, तब तक उसे खिलाने या उसकी रक्षा करने में सार्थकता समझते हैं। ऐसी स्थूल दृष्टि का प्राणी 'मनुष्य' कहलाने योग्य नहीं है। जो मनुष्य लोहे या लकड़ी की जड़ मशीन की तुलना में जीवित प्राणी को रखता है और दोनों की बराबरी करता है, उस मनुष्य को भी जड़ ही कहना चाहिए। ऐसी दृष्टि वाले मालिक कैसे घृणित आचरण करते हैं ? वे बछड़ों को भटकता छोड़ देते हैं और वृद्ध पशुओं को अपने घर से निकाल बाहर करते हैं ! बकरियाँ पालने वाले 'रबारी-गड़रिये' लोग दूध देने वाली बकरियों का मूल्य नर बकरों से अधिक समझते हैं और इस कारण, जब बकरियाँ जंगल में बच्चा देती हैं और वह नर होता है, तो उसे वहीं कहीं छोड़ कर चले जाते हैं ! ऐसे बच्चे दूध पीकर ही जीवित रह सकते हैं; अतएव दूध के अभाव से वे मर जाते हैं, या कोई जंगली जानवर उन्हें खा जाता है। इसी प्रकार निर्दय मालिक अपने बूढ़े बैलों, गायों या भैंसों को, जो किसी काम के नहीं होते, घर से निकाल देते हैं या कसाइयों के हाथों बेच देते हैं। ऐसे स्वार्थान्ध मनुष्य पशुओं के पालक होने के योग्य ही नहीं होते और इसलिए उन्हें भान में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न किस प्रकार किया जाना चाहिए ? पहला प्रयत्न तो यह है कि मनुष्य में जो दया-माया है उसे उत्तेजित करके मनुष्य को सच्चे भान में लाना चाहिए, और अगर प्रयत्न निष्फल हो जाय, तो जिन धर्मगुरुओं का उन पर प्रभाव हो, उनसे फरियाद करके उनके द्वारा उन्हें उनका कर्त्तव्य समझाना चाहिए। जब तक पशुओं के बछड़े, बच्चे अपने आप घूम फिर कर चरने, खाने न लगें, तब तक उन्हें उनकी माँ का दूध पोषणार्थ मिलना चाहिए

और निरुपयोगी हो गये वृद्ध पशुओं को उनकी कुदरती मौत तक उनके मालिकों की ओर से उचित रक्षण और पोषण मिलना चाहिए। उन्हें आवारा न छोड़ देना और कसाइयों के हाथ न बेचना चाहिए। इस हेतु से सब प्रकार प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे प्रयत्न भी सफल नहीं होते और इसलिए दयालु लोग पशु-शालाएँ बनवा कर अशक्त तथा बाल पशुओं का उनसे पोषण कराते हैं। यह योजना अनुकम्पा दया की दृष्टि से अच्छी है; परन्तु दुष्ट मालिकों को इससे उनकी स्वार्थपरायणता में उत्साह मिलता है। पशुओं के वृद्ध हो जाने पर उन्हें पशुशाला या पिंजरापोल में छोड़ देने से अपने कर्त्तव्य से मुक्ति मिलने का खयाल करने वाले, उन्हें कसाइयों के हाथ बेचने का पाप तो नहीं करते; परन्तु पशु के जीवन भर उसकी रक्षा करने के अपने कर्त्तव्य को भी भली भाँति नहीं पूरा करते और इस प्रकार दोष के भागी तो अवश्य ही बनते हैं। इसी प्रकार पशुओं के बच्चों को जंगल में छोड़ आने वाले 'रबारी-गड़रिये' लोग यह समझते हैं कि पशु-शाला वाले या महाजन लोग बच्चों को उठा ले जायँगे, और इससे वे अपने कर्त्तव्य से शिथिल हो जाते हैं। इसलिए पशु-शालाओं या पिंजरापोलों की योजना के साथ धर्म संस्थाओं या राज्य की ओर से ऐसा नियम होना चाहिए कि जिससे पशुओं के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन न करने वाले निर्दय मालिक दंडित किये जायँ और अपना कर्त्तव्य समझें। इसीलिए ग्रन्थ-कार 'इत्थं शासनपद्धतिं नृपगुरुद्वारा च निर्मापयेत्' शब्दों में कहते हैं कि राजा या धर्मगुरु द्वारा किसी कानून या नियम की योजना भी की जानी चाहिए। पिता के वृद्ध हो जाने या कमाई करने के योग्य न रहने पर जवान पुत्र का उसे मार डालना या घर से निकाल देना, जितना अन्याय है, उतना ही अन्याय वृद्ध पशुओं को घर से निकाल देना या कसाइयों के हाथ बेच देना

है। वृद्ध माता पिता, पुत्र से पोषण रक्षण प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु वृद्ध पशु तो प्राप्त नहीं कर सकते, कारण कि उनके मनुष्यों की तरह वाचा नहीं होती। वृद्ध माता-पिताओं का पोषण यदि पुत्र न करे तो अधिकारियों के पास जाकर फरियाद कर सकते हैं और नियमानुसार पोषण प्राप्त कर सकते हैं। पर आज पशुओं की ओर से फरियाद करने वाला कौन है? केवल पशु-सेवा का बीड़ा उठाने वाले ही आज उन पशुओं के हिमायती या वकील हैं। इस स्थूल दृष्टि वाली दुनिया में, बाल और वृद्ध पशुओं के लिए राज्य या धर्म की ओर से कायदे कानून का पालन शायद ही किसी जगह होता है, अन्यथा ऐसे पशुओं के प्रति अन्याय ही होता रहता है। बम्बई जैसे नगर में ऐसे निरुपयोगी समझे जाने वाले पशुओं की बहुत बड़ी संख्या में हत्या की जाती है। कहीं कहीं छोटे बछड़ों और कम उम्र की गायों को कसाईखाने जाने से रोकने का कानून बना हुआ है। ऐसे पशु अधिक उपयोगी होते हैं, इसलिए स्वार्थी जगत् ऐसा कानून बना सकता है; परन्तु वृद्ध पशुओं के रक्षक तो दयालु जन ही होते हैं। मूक प्राणियों की सेवा करने वाले बहुत व्यक्तियों की देश को आवश्यकता है। (६८)

[जब तक बाल या वृद्ध पशुओं को नियमानुसार अपने मालिक से पोषण न प्राप्त होगा और केवल उनकी दया पर ही उनके जीवन का आधार रहेगा, तब तक उन निराधार लावारिस पशुओं के लिए पिंजरापोल जैसी संस्थाओं की आवश्यकता रहेगी और है। पशु-सेवा प्रकरण के अन्त में ग्रन्थकार अब इसी विषय पर विवेचन करते हैं।]

पशुशालाओं या पिंजरापोलों की आवश्यकता ॥६९॥

वृद्धा दुर्बलरोगिणः क्षतहता निर्नाथका व्यङ्गका।
निःशक्ताः पशवो बुभुक्षिततरा नेयाः सुपश्वालये ॥

भैषज्येन च रोगिणां क्षतवतां कुर्यात् स्वयं सेवन-
मन्येषामपि रक्षणाय तनुयात्तत्र व्यवस्थां वराम् ॥

भावार्थ—जो पशु वृद्ध, दुर्वल, रोगी या जख्मी हो गये हों, या लावारिस भटकते हों। उनके कोई अंग उपांग कट गये हों, या वे अशक्त हो गये हों, भूखों मरते हों, तो दयालु मनुष्यों को चाहिए कि वे ऐसे पशुओं को पशुशाला जैसी संस्था में पहुँचादें। वहाँ पर रोगी या जख्मी पशुओं की दवा दारू करना चाहिए और ऐसा उत्तम प्रबन्ध करना चाहिए कि अन्य पशुओं का भी भलीभाँति रक्षण हो।

विवेचन—जिन ग़रीव रोज़गारियों और उनके कुटुम्बीजनों के जीवन का आधार अपने पशुओं द्वारा होने वाली कमाई पर निर्भर है, जो पशुओं के प्रति अपने कर्त्तव्य का समझते हुए भी दयावान् नहीं होते, या जो केवल दयाहीन होकर निरुपयोगी पशुओं को कसाइयों के यहाँ भेज देने में नहीं हिचकते, उनके वृद्ध, दुर्वल या रोगी पशुओं को आश्रय देकर उनका पोषण करने के लिए पशु-शाला जैसी धर्मादा संस्था की आवश्यकता होती है। यदि ऐसी संस्था नहीं होती, तो उपर्युक्त लोग अपने पशुओं को अधिक पीड़ा पहुँचाने वाले वन जाते हैं और वेचारे मूक प्राणी अधिक कष्ट पाते हैं। ऐसी व्यवस्था के अभाव से लोग अपने पशुओं को क़साईख़ाने भेज देते या भटकता छोड़ देते हैं। इस कारण पशु-सेवा का कर्त्तव्य समझने वाले पशु-शाला को एक आवश्यक संस्था मानते हैं। हमारे देश की पशु-शालाओं की योजना को पाश्चात्य देश वाले उपयोगी नहीं समझते, परन्तु उनकी और हमारे देश की दृष्टि में विशाल अन्तर है। वे लोग पशुओं को स्थूल उपयोगिता की दृष्टि से देखने वाले हैं और हमारा देश उपयोगिता को गौण मान कर "आत्मवत् सर्व

भूतेषु" के सिद्धान्त को दृष्टि के समीप रख कर व्यवहार करने वाला है। ऐसा होते हुए भी पशु-शालाओं या पिंजरापोलों की व्यवस्था के दोषों को सुधारने की आवश्यकता है, यह तो स्वीकार ही करना चाहिए। पशु-शालाओं में अधिकांश पशु, रोगी, जख्मी, अशक्त और दुर्बल होते हैं और जहाँ ऐसी संख्या अधिक होती है, वहाँ उनकी उचित सेवा नहीं हो सकती। कई बार ऐसे पशुओं को डाला गया चारा सबल पशु खा जाते हैं, और दुर्बल पशु भूखों मरते हैं। ऐसे स्थानों पर गन्दगी भी अधिक होती है। इसके विपरीत यदि हम पाश्चात्य देशों की पशु-शालाएँ या अस्पतालें देखें, तो हमें यह भली भाँति ज्ञात हो जाय कि हमारी पशु-शालाएँ कैसी होनी चाहिएँ। पाश्चात्य देशों की इस प्रकार की अस्पतालों में केवल स्वार्थ-दृष्टि या उपयोगिता-वाद का प्राधान्य होता है, परन्तु हमारे देश की दयादृष्टि से तो हम उनसे कहीं अधिक बड़ी सुघड़ और सुव्यवस्था वाली पशु-शालाएँ स्थापित कर सकते हैं। ग्रन्थकार भी "व्यवस्थां वराम्" इन दो शब्दों के द्वारा पशु-शालाओं की उपयोगिता बढ़ाने के प्रति ही पशु-सेवा-धर्मियों का ध्यान आकर्षित करते हैं। हमारी पशु-शालाओं का सामान्य व्यवस्थादोष सभी पर प्रकट है। इसीलिए यह प्रासंगिक सूचन किया गया है। जो दयावान् सज्जन पशु शालाओं की व्यवस्था में लगे हैं, यदि वे इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करें कि मूक पशु भी उन्हें आशीर्वाद दें, तो वे हमारी पशु-शालाओं को पाश्चात्य देशों के लिए भी आदर्श बना सकते हैं।



पन्द्रहवाँ परिच्छेद

सेवाधर्मः जातिसेवा

[ज्ञाति एक सामाजिक संस्था है। इसलिए जाति सेवा भी समाज-सेवा का एक प्रकार है, परन्तु समाज में जातिसेवा का अस्तित्व बिल्कुल भिन्न प्रकार का होने के कारण यहाँ उसका पृथक् निरूपण किया गया है। सबसे पहले जातिसेवा का सामान्य निरूपण करते हुए ग्रन्थकार जाति की उपयोगिता, उसके सबलता-रूपी गुण और निर्बलता रूपी अवगुण का विवेचन करते हैं और इस प्रकार वह जाति रूपी संस्था की उपकार-शीलता को प्रदर्शित करते हैं।]

जाति-सेवा ॥१००॥

तुल्याचारकुटुम्बसंहतितया ज्ञातिः समारभ्यते।
विस्तीर्णा हि यथा यथा भवति सा तस्या बलं स्यात्तथा
सा भेदैर्यदि खण्डिता बहुविधैः क्लेशावहा स्यात्तदा।
तस्मादान्तरभेदखेदहरणे यत्नो विधेयः परः ॥

भावार्थ—समान आचार और रीति रिवाज वाले कुटुम्बों के योग से ज्ञाति की रचना होती है। उन कुटुम्बों का समूह जितना बड़ा होता है, अर्थात्—जाति जितनी विशाल होती है, उतने ही अंश में जाति का बल अधिक समझा जाता है। बल-वान् जाति अपना और दूसरों का रक्षण कर सकती है, परन्तु जब एक विशाल जाति के छोटे-छोटे खण्ड हो जाते हैं, तब उसका बल टूट जाता है और उसे अनेक प्रकार के कष्टों का सामना

करना पड़ता है। इसलिए जाति-हितैषी सज्जनों को जाति के आन्तरभेद दूर करने का उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए। (१००)

विवेचन—जाति क्या है? सामान्य रूपसे जाति एक ऐसा समुदाय है कि जिसने अपनी संस्कृति का अमुक आदर्श स्वीकार किया होता है और आदर्श को लक्ष्यबिन्दु मानकर उसके संरक्षण के लिए अमुक प्रकार के सामाजिक आचारों की मर्यादा—सीमा निर्धारित की होती है। बाह्यतः हम यही समझते हैं कि जो कुटुम्ब समान आचार और रीति रिवाजों को स्वीकार कर लेते हैं, वे एक जाति हैं। पहले यह जाति-संघटन वर्णाश्रम धर्म के अनुसरण से हुआ था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चार वर्ण थे और यह चारों अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए संसार में विचरते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों एक ही वर्ण की भिन्न भिन्न टोलियाँ बनने लगीं, भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने लगीं, भिन्न भिन्न स्थान और काल का उन पर प्रभाव होने लगा, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न समुदायों के रूप में वे पहचाने जाने लगे। वर्णाश्रम धर्म की मूल संस्कृतिरक्षा के साथ अपनी टोलियों या समुदाय की विशिष्ट संस्कृतिरक्षा का मोह या अभिमान ज्यों-ज्यों आता गया, त्यों-त्यों वे समुदाय जाति रूप बनते गये और ज्यों-ज्यों उनकी छोटी-छोटी टोलियाँ या शाखाएँ बनती गई, त्यों-त्यों अन्तर जातियाँ बनने लगीं तथा उनके संघटन होने लगे। अपनी आदर्श प्राचीन संस्कृति की रक्षा करने के प्रयत्न में इस प्रकार जातियाँ बनीं और वे अपनी विशिष्टता की रक्षा करने लगीं। जाति के आचारादि नियम जाति वालों के लिए अनेक प्रकार उपकारक सिद्ध हुए। संस्कृति का ध्वंस करनेवाला कोई भी पतित आचरण दोषपूर्ण समझा जाता था, इसलिए अनेक लोग ऐसे पतित आचरण न कर सकते थे, संस्कृति के निकट एकत्र होने वाले अनेक व्यक्ति अपनी विशिष्टता की रक्षा के लिए पराये आक्रमणों से

अपने समुदाय का रक्षण करते थे। समुदाय के उपद्रव कारियों को समुदाय से बहिष्कृत करके अपनी संस्कृति की शुद्धता की रक्षा के लिए प्रयत्न करते और समुदाय का बल उन्हें इस प्रयत्न में उपयुक्त हो पड़ता। इस प्रकार जातिरूपी संस्था व्यक्तियों के चारित्र्य को पतित होने से बचाने का साधन बन जाती थी और यही उसका उपकारक अंश है। यदि यह उपकारशीलता जाति में स्थिर रखी जा सके, तो उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हो सकती है कि उसके द्वारा समाज का आदर्श हित हो सकता है। यद्यपि पाश्चात्य देशों में जाति नाम की कोई संस्था या समुदाय नहीं है, परंतु समाज की भिन्न-भिन्न टोलियाँ अपनी प्राचीन आदर्श संस्कृति की रक्षा के लिए सर्वदा प्रयत्न करती रहती हैं और वे टोलियाँ इन जातियों के भिन्न स्वरूप ही हैं। इस प्रकार जाति के बंधन उपकारक हैं, फिर भी कई लोग उन्हें छिन्न-भिन्न कर डालने का आग्रह करते हैं, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि आज जाति-संस्था का स्वरूप बिगड़ गया है और उसे फिर से सुधारा नहीं जा सकता—जो अधीर लोग ऐसा खयाल कर रहे हैं, वे उसका विध्वंस करने का आग्रह कर रहे हैं। इस जाति-संस्था में अनेक बुराइयाँ पैदा हो गई हैं। पहली बुराई तो यही है कि मूल चार वर्णों के अनेक खण्ड हो गये अनेक जातियाँ बन गईं और अनेक शाखाएँ हो गई हैं। जाति का जो बल पहले था, वह आज नहीं रहा। कारण कि छोटे-छोटे समुदाय बन जाने से किसी समुदाय में रहने की इच्छा ही कई लोगों को नहीं होती! एक विशाल जाति में स्वसंरक्षण की जो शक्ति होती है, वह एक छोटी-सी शाखा में नहीं होती। जो लोग अपने समुदाय की रक्षा नहीं कर सकते, उस समुदाय के व्यक्ति स्वच्छन्दी, चारित्र्य-हीन और दुष्ट बन जाते हैं और परिणाम-स्वरूप उसकी प्राचीन संस्कृति उसकी उच्च विशिष्टताएँ आदि नष्ट

हो जायँ, तो यह कौन नई बात है ! केवल मद्रास प्रांत में ब्राह्मणों की ही ५८४ जातियाँ हैं और इनके सिवा २३० जातियाँ ब्राह्मणेतरों की हैं। इस प्रकार भारत के प्रत्येक प्रान्त में हजारों जातियाँ हैं और प्रत्येक जाति की सैकड़ों अंतर्जातियाँ या शाखा-जातियाँ हैं और फिर एक प्रान्त की एक जाति के वणिक या ब्राह्मण दूसरे प्रांत की उसी जाति के वणिकों या ब्राह्मणों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं रखते। ऐसी अवस्था में यदि भारत की छोटी-छोटी हजारों जातियों में उसका बल बँट जाय, यह कोई नई बात नहीं है। इस प्रकार जाति की बहुत छोटी-छोटी शाखाओं और टोलियों के कारण कई जातियों का बिल्कुल अंत हो जाना संभव है। इस प्रकार छोटी-छोटी शाखाओं में बँट जाने के परिणाम-स्वरूप ही जाति रूपी संस्था कई लोगों को खलने लगी है। जनता के सच्चारित्र्य, सदाचार और उच्च संस्कृति को स्थिर रखने के लिए जाति के इन अंतर भेदों के दूर होने की आवश्यकता है और इसके लिए जाति की पहली सेवा तो यही है कि उचित प्रयत्नों से इन अंतर भेदों को दूर करके छोटे-छोटे समुदायों का संगठन किया जाय। जो समाज सुधारकगण जाति को नष्ट करने का आग्रह करते हैं, उनकी बजाय, जो लोग जातियों की भिन्न-भिन्न शाखाओं को, या टोलियों को एकत्र करके उनका बल बढ़ाने या उनके नियमों में सुधार करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे अधिक अच्छे समाज सुधारक हैं। महात्मा गांधी जी भी कहते हैं कि 'अच्छे से अच्छा उपाय तो यही है कि छोटी-छोटी जातियों के महाजन एकत्र होकर एक जाति बन जायँ और यह बड़ा संघ, अन्य संघों के साथ मिलकर अंत में चार वर्णों में से एक में स्थान ग्रहण करें।' (१००)

[अब ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि जाति का कार्य सुव्यवस्थित

रूप में चलाने के लिए कैसे मनुष्यों को नायक पद—पटेल, चौधरी आदि पदवी—देना चाहिए ।]

जाति-नायक की व्यवस्था ॥१०१॥

नेतृत्वं न कुलक्रमागतमलं किन्तूत्तमैः सद्गुणै-
रन्यायं यदि तन्वतेऽल्पमपि ये किं तैः फलं नायकैः ॥
स्वार्थं साधयितुं मनागपि परानिष्टं वितन्वन्ति ये ।
तन्नेतृत्वविवर्त्तनेन जनतासेवा समापद्यते ॥

भावार्थ—जाति का नायक पद कुल परम्परा के वसीयत की तरह न मिलता आना चाहिए। उत्तम गुणों और योग्यता के अनुसार मिलना चाहिए। अर्थात्—नायक को शोभा देने वाले गुण जिसमें हों, वही नायक माना जाय। नायक होकर जो पक्षपात करता है या अन्याय करता है, उसे नायक बनाने से क्या लाभ ? जो नायक अपना स्वार्थ-साधन करने के लिए, दूसरे का तनिक भी अनिष्ट करे, उससे नायक पद छीन कर किसी दूसरे योग्य व्यक्ति को नायक बनाने से भी एक प्रकार की समाज-सेवा की जा सकती है। (१०१)

विवेचन—जिस प्रकार एक सेना को सेनापति की, टोली को नायक की, राज्य को राजा की और स्टीमर को कैप्टन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जाति को एक नायक की आवश्यकता होती है। इस नायक को जाति का पटेल, चौधरी या मुखिया आदि कहा जाता है। पहले किसी भी देश में राजा एक आवश्यक व्यक्ति समझा जाता था और ऐसा माना जाता था कि राजा के बिना किसी देश का राज्य नहीं चल सकता। परंतु आज अनेक देशों के राज्य राजा के बिना ही बहुत व्यव-

स्थित रूप में चल रहे हैं। पिछले महायुद्ध में ही कई देशों के राजा पदभ्रष्ट हो गये, और यहाँ प्रजासत्ताक राज्य स्थापित हुए हैं। प्रजा द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की संस्था, कि जिसे साधारणतया 'पार्लमेण्ट' कहते हैं, देश की सब व्यवस्था करती है और इस संस्था के सदस्य ही एक प्रमुख चुन लेते हैं कि जिसे समग्र देश का अधिनायक या प्रधान कहा जाता है। इस प्रकार सब क्रमागत राज्य पद नष्ट कर दिये गये हैं और चुनाव के आधार पर ही देश का सर्वोपरि प्रमुख चुनने का क्रम आरंभ हुआ है। और यह क्रम, एक व्यक्ति-नियंत्रित-राज्य से अधिक समझा जाता है। इस प्रकार सर्वोपरि राजा समाप्त हो गया और अनेक व्यक्तियों की सर्वोपरि राज सभा बनी। इसी प्रकार जाति में एक सर्वोपरि पटेल, चौधरी या नायक का पद अब लोक प्रिय नहीं रहा, जिस कारण राजा का राजत्व अप्रिय हो गया, उसी कारण से जाति के नायक का नायकत्व भी लोगों को खलने लगा है। राजा अपने कर्त्तव्यों को त्यागने लगा और अत्याचारी हो गया, अतएव प्रजा ने उसे दूर कर दिया, इसी प्रकार अन्यायी और अत्याचारी चौधरियों की सत्ता अब जाति पर से कम हो गई है। वंशपरम्परा से, राजा का पुत्र ही राजा बने या चौधरी का पुत्र ही चौधरी बनाया जाय, यह प्रथा हानि-कारक है। इसलिए जिस प्रकार प्रजासत्ताक राज्य का प्रमुख जनमत से योग्यतानुसार चुना जाता है, उसी प्रकार जातिका चौधरी भी वंशपरम्परानुसार नहीं, योग्यता के अनुसार चुना जाना चाहिये। प्रजा का पुत्र के समान पालन करने वाले राजाओं के समय ऐसे नियम की आवश्यकता नहीं थी, कारण कि उस समय जाति के चौधरी या मुखिया लोग भी समझते थे कि जैसे वह जाति के प्रमुख हैं, वैसे ही सेवक भी हैं और अपना आत्म-बलिदान देकर भी वह जाति को ऐसे मार्ग पर ले

जाते थे जिससे उसका कल्याण हो। जाति-जनों को योग्य मर्यादा सीमा—में रख कर उनकी उच्च संस्कृति की रक्षा करते थे और उनके हित के लिये तन-मन धन से अनेक योजनाएँ करते थे। परन्तु आज जाति के चौधरियों के हृदय से यह शुभ भावनाएँ अधिकांश नष्ट हो गई हैं। वे यही समझते हैं कि जिस प्रकार प्रजा पर राज्य करने के लिए राजा है, उसी प्रकार जाति-जनो को अपने अनुचित आदेशों या दबावों से दबाने या उनसे अपना स्वार्थ साधन करने के लिए चौधरी हैं। 'पटेल' या 'चौधरी' शब्द सद्गुण और श्रेष्ठता के सूचक हैं। पर श्रेष्ठता को वंशपरम्परानुगत मान लेना जाति का दुर्भाग्य है। किसी की श्रेष्ठता या उच्चता गुणानुसारिणी होनी चाहिये। और इसलिए जाति वालों के मतामत को जान कर ही किसी की उच्चता का निर्णय करना और उसे नायक-पद देना चाहिये। पाश्चात्य देशों के राजत्व में जिस प्रकार बहुमतवाद की पद्धति प्रचलित है, उस प्रकार जातियों में भी बहुमतवाद (Democracy) की आवश्यकता है। इस प्रकार इस श्लोक में ग्रन्थकार ने जाति संगठन के लिए बहुमतवाद की आवश्यकता का सूचन किया है। पटेलों, चौधरियो या सरपंचों के अन्यायों को दूर करने का इस समय यही साधन है। किसी जाति में उत्तम गुण वाले मनुष्य को नायक पद देना या दिलवाना, या इसी के सम्बन्ध में कोई योजना करना, जाति की बहुत बड़ी सेवा करने के समान है। जाति का नायक होकर जो जाति का हित करता है, वह तो सच्चा सेवाधर्मी है ही; परंतु जो योग्य पुरुष को नायक बनाता है, उसकी सेवा किसी प्रकार कम नहीं कही जा सकती। मतदाताओं की योग्यता निश्चित करके, मंडल स्थापित करके या इसी प्रकार दीर्घकाल तक नायक चुनने की पद्धति जातियों में प्रचारित होते अभी विलंब लगेगा; परंतु इसके पहले जहाँ तक होसके सर्वानुमति से योग्य-

तानुसार नायकों को चुन कर, उन्हें नायक पद पर आसीन करने की, या वंशपरम्परानुगत पद्धति को नष्ट करके गुणानुसार नायक को चुनने की पद्धति आरम्भ करने की, तत्काल आवश्यकता है। (१०१)

[अब ग्रन्थकार जाति में प्रचलित बुरे रीति रिवाजों की ओर नायकों—जाति सेवकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।]

जाति के कलंक को दूर करना ॥१०२॥

कन्याविक्रयपुत्रविक्रययुगं ज्ञातिं कलङ्कायते।
दुष्टा बालविवाहपद्धतिरपि ज्ञातेर्महद्दूषणम् ॥
एतद्दूषणवर्जनाय यदि ते निद्रापरा नायका-
स्तन्निद्राहरणेन सज्जनवरैः सेवा विधेया नृणाम् ॥

भावार्थ—जिस जाति में कन्या का पिता कन्या को पैसा लेकर बेचता हो, या वर का पिता पैसा लेकर पुत्र का विवाह करता हो; अर्थात्—कन्या-विक्रय या वर-विक्रय होता हो, तो यह दोनों रिवाज जाति को कलंकित करते हैं। जिस जाति में बाल विवाह की पद्धति होती है, यानी छोटी उम्र में ही लड़के लड़कियों को ब्याह दिया जाता है, उस जाति में यह भी एक दूषण है। ऊपर लिखे हुए तीनों दूषणों को दूर करने के लिए जाति के नायकों को जागृत होकर कटिबद्ध होना चाहिए। कदाचित् नायकों के विचार सुप्त हो गये हों, तो जाति सेवा के इच्छुकों को चाहिए कि उन्हें जगाकर जाति की सेवा करनी चाहिए। (१०२)

विवेचन—पहले कहा गया है कि जाति रूपी संस्था का स्थापन, प्राचीन काल से ही कल्याण की दृष्टि से हुआ था;

परन्तु कालक्रम से उसमें अनेक प्रकार के दोषों का समावेश हो गया। यह दोष जब व्यक्तिगत होते हैं, तब उन्हें दूर करने का प्रयत्न जाति के नायकों को करना चाहिए। जाति की संस्कृति को उच्च बनाये रखने के लिए ही जाति का बंधन है और नियम हैं। जब व्यक्तिगत दोष मालूम पड़ने लगें और जाति में उनका प्रचार होता प्रतीत हो, तो उन्हें दूर करने के लिए नायकों को तुरन्त ही नियम बनाना चाहिए और उनका भंग करने वालों को उचित दंड से दंडित करके उन्हें रोकना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के कर्त्तव्य पालन में नायकगण शिथिल हो गये हैं और परिणाम-स्वरूप आज कल भिन्न भिन्न जातियों में अनेक दोष घर कर रहे हैं। और यही दोष कालक्रम से रूढ़ि का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसी अनेक कुरूढ़ियाँ समाज में प्रचलित हो गई दीख पड़ती हैं, और उनका बुरा परिणाम भी जाति पर हुआ है। अनुदार-हृदय और दुर्बुद्धि, अशक्त बालक और गरीबी आदि कई वस्तुस्थितियाँ तो कुरूढ़ियों के ही कारण हैं। पैसा लेकर पुत्री का विवाह करने वाला—बेचने वाला सर्वदा अनुदार, संकुचित विचार वाला और दुष्ट होता है। पैसा लेकर पुत्र का विवाह करने वाला, पुत्री के माता-पिताओं पर संकट ला देता है, यह प्रकट ही है। जो लोग अपने पुत्र पुत्रियों को छोटी उम्र में ब्याह देते हैं, वे उन्हें निर्बल, रोगी और निर्बल सन्तान के माता-पिता तथा अल्पायुषी बनाने वाले होते हैं। और इस प्रकार वे अपने ही हाथों अपनी सन्तान का सत्यानाश करते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जिस जाति में बाल-विवाह अधिक होते हैं, उसमें यदि अल्पायुष्य, अल्पायुष्य संतान, शिक्षा की कमी, रोगिता, वैधव्य, वंध्यत्व आदि दोष उत्पन्न हो जायँ, यह प्रकट ही है। संक्षेप में, यह सब दोष जाति का अकल्याण करने वाले हैं और इनका निवारण होने पर ही

जाति-हित-साधन का मार्ग खुलता है। कन्या और वरविक्रय द्वारा धन प्राप्त करना दुष्टतापूर्ण है। इसलिए, ऐसा धन जिसके पास होता है, वह प्रायः निरुद्यमी ही रहता है। कन्याविक्रय के कारण वृद्ध-विवाह और बे जोड़ विवाह भी हो जाते हैं। पारसी जाति में वर-विक्रय की प्रथा बहुत अधिक होने के कारण, बड़ी उम्र की बहुत-सी लड़कियों का विवाह ही नहीं हो पाता। और कई लड़कियों को तो गरीबी के कारण जीवन भर अविवाहित रहना पड़ता है। इस प्रकार वर-विक्रय और कन्या-विक्रय, यह दोनों कुरूढ़ियाँ ही ऐसी हैं कि जाति में और भी अनेक दोषों को प्रविष्ट करती हैं। बाल-विवाह का बुरा फल तो अनेक जातियाँ भोगती नजर आती हैं। क्षय जैसा महा रोग जवान लड़के-लड़कियों में फैलता है, रोगी और दुर्बल सन्तान उत्पन्न होती हैं, वे छोटे-छोटे नाटे शरीर के क्षीण युवक और युवतियाँ जहाँ तहाँ नजर आती हैं, अकाल मृत्यु, बुढ़ापा आदि प्राप्त होता है। जो जातियाँ पुनर्विवाह नहीं करतीं और बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध नहीं लगातीं, उस जाति में विधवाओं तथा विधुरों की संख्या बढ़ती ही जाती है और धीरे-धीरे जाति का क्षय होता जाता है। जो जाति इन सब बुरे परिणामों को भोग रही हो, उस जाति में, कुरूढ़ियों को दूर करने वाले सेवा धर्मियों की बड़ी आवश्यकता होती है। इन रूढ़ियों को नष्ट करना, जाति को संजीवनी औषधि खिलाने के समान है। जिस जाति के मनुष्य या अगुआ नींद में पड़े होते हैं, या अज्ञानवश जो अच्छे-बुरे को नहीं समझ सकते, उसी जाति में ज्यादातर कुरूढ़ियाँ फैलती हैं, इसलिए जाति सेवक का कार्य ज़रा कठिन है। उसका पहला कर्त्तव्य यह है कि वह जाति के मनुष्यों और अगुआओं को जगाये। कुरूढ़ियों के चिर सहवास से कई लोगों की गुलाम मनोदशा हो जाती है, इसलिए वे

सुधारों का भी प्रतिकार करते हैं। फिर भी जातिहितचिंतकों को बड़े धीरज के साथ कुरूढ़ियों को दूर करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। (१०२)

[जाति की कलंक रूपिणी कुरूढ़ियां का परिहार करने की सूचना करने के बाद ग्रन्थकार अन्य कई कुरूढ़ियों तथा कुरिवाजों को जाति से बहिष्कृत करने के लिए, जाति-सेवकों को सूचित करते हैं।]

कुरूढ़ियां का परिहरण ॥१०३॥

विक्रीयापि सुतां गृहं बहुधनैः कार्यो हि लग्नोत्सवो।
देयं ज्ञातिजनाय मिष्टमशनं मृत्युप्रसङ्गे ध्रुवम् ॥
ईदृग्रूढिबलं करोति जनताह्रासं धनादिक्षते-
स्तद्दूरीकरणे जनैः सुकृतिभिः कार्यः प्रयत्नो वरः ॥

भावार्थ—कई जातियों में विवाह के समय, कई जातियों में मृत्यु के अवसर पर, अपने पास पैसा न होने पर लड़की को वेच कर या घरवार वेच कर भी ओसर-मोसर किया जाता या जाति भोज दिया जाता है और हजारों लोगों की वरात एकत्र करके हजारों लाखों रुपयों का स्वाहा कर दिया जाता है। इस प्रकार की कुरूढ़ियाँ, समग्ररूप से धन का नाश करके समाज को दरिद्र बनाती हैं और साधारण लोगों को कर्ज के भार से पामाल कर डालती हैं। इसलिए, इन कुरूढ़ियों को समूल नष्ट करने के लिए, सेवा-इच्छुक सज्जनों को उत्तम प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए। (१०२)

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार जाति की कलंक-रूपिणी अन्य कई रूढ़ियों का उल्लेख करते हैं,। जैसे कि—विवाह के समय, या मृत्यु के अवसर पर बड़े-बड़े जाति भोज देना, बड़ी-

बड़ी बरातें जोड़ना या बहुत बड़े खर्च वाले जुलूस निकालना, आदि। यदि एक साधन-सम्पन्न व्यक्ति अपने यहाँ उपस्थित हुए किसी विशिष्ट प्रसंग पर अपनी शक्ति के अनुसार खर्च करे, तो कोई अनर्थ नहीं है; परन्तु देखा-देखी, या स्पर्द्धावश जब इस प्रकार अपव्यय करने का रिवाज ही हो जाता है, तब उससे अनेक प्रकार के अनर्थों का जन्म होता है! प्रत्येक व्यक्ति में महत्त्वाकांक्षा न्यूनाधिक रूप में होती ही है, और जब वह और भी तीव्र रूप धारण कर लेती है, और उसके पूर्ण करने के साधन जब नहीं होते, तब स्वभाव की निर्बलता से कई मनुष्य दंभ करने लगते हैं, यानी गालों पर तमाचा मार कर उन्हें सुर्ख रखने या दिखाने का प्रयत्न करते हैं! अपना खानदानीपन, अपनी धनिकता या अपनी कुलीनता दिखलाने के लिए, धनवान् व्यक्तियों की तरह बाह्याचरण करते हैं और इस प्रकार जाति में, देखा-देखी खर्च करने की कुरीतियाँ प्रचलित हो जाती हैं। अमुक श्रीमान् धनी व्यक्ति ने विवाह के अवसर पर बहुत बड़ा भोज दिया, या जुलूस निकाला है, तो हम भी कर्ज पर रुपया लेकर वैसा करेंगे और धनी खानदानियों में शुमार होंगे—ऐसा मिथ्याभिमान जब साधन-हीन मनुष्यों में प्रविष्ट हो जाता है, तो अनर्थ की परम्परा आरम्भ हो जाती है। वह कर्ज करता है, घरबार बेचता है, कन्या-विक्रय भी करता है, और इसी प्रकार के अन्य पाप करके श्रीमान्-धनवानों से स्पर्धा करने का प्रयत्न करता है और एक जाति में जब ऐसे बहुसंख्यक अविचारी व्यक्ति ऐसी मूर्खता करते हैं, तब यह कुरूढ़ि, कुरिवाज जाति का महान् अहित करने वाले हो जाते हैं। इसलिए, जाति के विचारशील अगुआ लोग अब ऐसे नियम बनाने लगे हैं कि जिससे गरीब और अमीर विवाहादि के अवसरों पर सीमित ही खर्च कर सकें, और किसी साधनहीन मनुष्य को मिथ्याभिमान में पड़ कर शक्ति से अधिक

धन खर्च करने का लोभ न उत्पन्न हो। ऐसे नियमों में ऐसी सीमा निर्धारित करदी जाती है कि जिससे साधारण और गरीब मनुष्य भी नियम के अनुसार खर्च कर सकें। जिन जातियों में अपव्यय वाली कुरीतियाँ प्रचलित रहती हैं, धीरे-धीरे उन जातियों के धन का नाश होता जाता है और दरिद्रता—गरीबी का प्रसार होता जाता है। जाति के मनुष्य अधिक कर्ज-दार होते हैं और परिणाम स्वरूप उनका नाश होने लगता है, इस कारण ऐसी कुरीतियों को, जो जाति के स्वीकृत न करने पर भी देखा देखी—स्पर्धा-वश प्रचलित हो गई हों, दूर करने के लिए जाति सेवकों को सच्चा प्रयत्न करना चाहिए।

दृष्टान्त—एक नगर की ब्राह्मण जाति वर्ष में ६ महीने लड्डू खाती थी! यानी जाति इतनी विशाल थी कि किसी न किसी के यहाँ विवाह या मृत्यु के अवसर पर जाति भोज होता और वह सब को लड्डू खिलाता। इसलिए उस जाति के मनुष्यों को यह धारणा हो गई थी कि हमें छः मास ही अपने घर खाना होगा और छः मास पराये घर! जाति के साधारण मनुष्यों की आमदनी, हमेशा साधारण भोजन करने योग्य ही होती है। जाति का प्रत्येक व्यक्ति वर्ष में छः मास लड्डू खाय, इतनी कमाई वह नहीं कर सकता। भोज देने वाला एक आदमी खर्च करता है और सब मुफ्त में खाते हैं, ऐसी संकुचित दृष्टि वालों को यह लड्डू मुफ्त के मालूम होते हैं; परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के यहाँ ऐसे प्रसंग उपस्थित होते ही हैं और उस समय, वह खाये हुए सब लड्डू निकाल देने पड़ते हैं—अमित व्यय करके जाति वालों को लड्डू खिलाने पड़ते हैं! इस प्रकार विचार करने पर समझ में आ जायगा कि प्रत्येक मनुष्य अपने घर के खर्च से लड्डू खाता है, और रोज के साधारण भोज के बदले तीसरे रोज

मिठाई खाने वाले मनुष्य परिणाम स्वरूप दरिद्र और ऋणी बन जायँ—यह कोई नई बात नहीं है। आज इस नगर की ब्राह्मण जाति पहले से बहुत गरीब हो गई है, अनेक अमीर घरों की जमीन जायदाद भी नष्ट हो गई है और परिणाम स्वरूप लड्डू खाना खिलाना कम कर देना पड़ा है। पहले जाति को कम भोज देने वाला जाति का कर्जदार समझा जाता था, परन्तु आज उस कर्जदार को कोई नहीं पूछता! परन्तु जाति वालों को यह अभी तक नहीं सूझा कि भोजों की सीमा निर्धारित कर दें या उन्हें ऐच्छिक बनादें! ऐसी जातियों में आवश्यक सुधार कराना, जाति का पुनरुद्धार करने के समान है। (१०३)

[अब वृद्ध-विवाह का परिहार करने की ओर जाति-सेवकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।]

वृद्ध-विवाह पद्धति का परिहार ॥ १०४ ॥

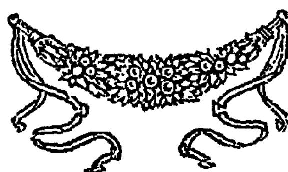
अन्याय्यं हि यथा स्त्रियाः पतियुगं पुंसस्तथा स्त्रीयुगं।
ताहक्कारणमन्तरा परिणयो वृद्धस्य पुंसस्तथा ॥
एवं सत्यपि वृद्धलग्नतरुणीयुग्मादिलग्नप्रथा।
यत्रैतद्विनिवर्त्तनेन विबुधैः सेवा विधेया तयोः ॥

भावार्थ—जिस प्रकार एक स्त्री का दो पतियों से विवाह करना अन्याय्य है, उसी प्रकार किसी विशेष कारण के बिना एक पति का दो स्त्रियों से विवाह करना भी, तुलनात्मक दृष्टि से अन्याय्य है। इसी प्रकार वृद्ध अवस्था में, यानी ढलती उम्र में विवाह करना भी अनुचित है। ऐसा होते हुए भी किसी जाति में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने का या वृद्ध विवाह का रिवाज हो, तो जाति सेवकों को चाहिए कि उसे नष्ट कर के जाति की सेवा करें। (१०४)

विवेचन—वृद्ध विवाह का रिवाज, एक स्त्री के होने पर दूसरा विवाह करना, यह भी कुरीतियाँ ही हैं। एक स्त्री, एक पति होने पर दूसरा विवाह नहीं कर सकती, इस न्याय के अनुसार तो एक पुरुष एक स्त्री के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह करे—यह प्रकट ही अन्याय है। परन्तु इसके सिवा भी इस रिवाज में और कई दोष हैं। जिस पति के दो पत्नियाँ होती हैं, उसके घर में हमेशा कलह हुआ करता है, लड़ाई-झगड़ा मचा रहता है, कारण कि सपत्नीभाव—सौतपन, स्त्रियों की स्वाभाविक असूया वृत्ति को उत्तेजित करता है और उस घर से ऐक्य और शान्ति भाग जाते हैं। संसार में अनेक जगह देखा जाता है कि जहाँ रात दिन सौतों का डाह चलता रहता है, वहाँ पति को अपने रोजी रोजगार या धर्मध्यान में अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है, और परिणाम-स्वरूप ऐसे घर से लक्ष्मी का नाश हो जाता है। यह लोकोक्ति सत्य सिद्ध हो जाती है कि 'जिस घर में कलह-झगड़ा-फसाद होता रहता है, लक्ष्मी उस घर को छोड़ कर चली जाती है।' सौतों के पारस्परिक कलह का बुरा परिणाम पति को अधिक भुगतना पड़ता है। कभी-कभी ऐसी घटनाओं के मामले अदालत तक पहुँचते हैं। कभी-कभी यह असूयावृत्ति, विष-प्रयोग द्वारा किसी का प्राण ले लेने के लिए भी उत्तेजित हो जाती है और ऐसे अनेक अनर्थ होते हैं। वृद्ध विवाह से जो विषमता उत्पन्न होती है, उससे भी अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। कोई भी स्त्री वृद्ध पति को पसन्द नहीं करती, फिर भी पति को देवता समझ कर कई स्त्रियाँ अपने मन को सन्तुष्ट करती हैं; किन्तु अकाल ही वैधव्य प्राप्त होने का भय तो उनके दिल से दूर ही नहीं होता। ऐसी स्त्रियों को अपना जीवन भार-रूप मालूम होता है और वे कुमार्गगामिनी बन जाने के लिए लुभा जाती हैं। कई बार वृद्ध पुरुष

अपने कुलाभिमान में आकर विवाह करने को तैयार हो जाते हैं; परन्तु यदि वे इस पर विचार करें कि एक नवयुवती कन्या का जीवन नष्ट करने के लिए वह कितना बड़ा पाप कर रहे हैं, तो उनका कुलाभिमान दूर हुए बिना न रहे। इस प्रकार का गहन विचार करने वाले मनुष्य बहुत कम होते हैं, इसलिए वृद्ध विवाह प्रायः होते रहते हैं। अपनी पुत्री को वृद्ध पुरुष के साथ ब्याहने वाला पिता, पुत्री के सच्चे सुख की ओर देखने के बदले धन की ओर ही विशेष दृष्टि रखता है। जो पिता ऐसा ख़याल करते हैं कि वृद्ध के साथ अपनी कन्या का विवाह करने से धन प्राप्त होगा, या कन्या वैभव में दिन काटेगी, वे कन्या विक्रय का पाप करने वाले बनते हैं और तुच्छ वैभव के लिए अपनी पुत्री का जीवन नष्ट करते हैं। ऐसे प्रकट पापों के निमित्त रूप वृद्ध विवाह को रोकने के लिए जाति-सेवकों को प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु ग्रन्थकार इस प्रकार के दोषों के लिए इजाज़त देकर, सूत्र को ज़रा ढीला कर देते हैं। वह कहते हैं कि कोई विशेष कारण हो, तो ऐसा दोष भी किया जा सकता है। ऐसे विशेष कारण क्या हो सकते हैं? स्त्री में कोई खास ऐब हो, किसी छूत वाले रोग से ग्रसित हो, काकवन्ध्या हो, तो एक पुरुष दूसरी स्त्री से भी विवाह कर सकता है—यद्यपि जब तक ऐसे दोषों वाले पति की स्त्री को दूसरा विवाह करने के लिए समाज इजाज़त न दे तब तक इसमें भी एक प्रकार का अन्याय ही है। दूसरी स्त्री से विवाह करने वाला पुरुष अपने सुख-सुविधा की दृष्टि से स्वार्थभाव से प्रेरित ही कहा जाता है। परन्तु वृद्ध विवाह के लिए तो कोई विशेष कारण नहीं खोजे जा सकते। सन्तान न होने के कारण, पुत्रैषणा को वृद्ध लोग विशेष कारण बताते हैं; परन्तु नये ब्याह से भी पुत्र-प्राप्ति का विश्वास नहीं हो सकता। बुढ़ापे में भोजन बनाकर कौन खिला-

येगा ? छोटे बाल-बच्चों को कौन सँभालेगा ? और कामेच्छा परस्त्रीगमन के लिए उत्तेजित करेगी, इसलिए बुढ़ापे में भी विवाह कर लेना क्या बुरा है ?—इस प्रकार की दलीलें, बुढ़ापे में शादी करने वाले पेश करते हैं। परन्तु यह दलीलें, केवल दलीलें ही हैं। तराजू के एक पलड़े में उनकी सब दलीलें रखकर, दूसरे में एक कन्या के जीवन को नष्ट करने का अनर्थ रखा जाय, तो यह अनर्थ का पलड़ा झुके बिना न रहेगा। वृद्ध विवाह के लिए तो किसी भी कारण को महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं रहती। फिर भी समाज एक ओर दयालु है और दूसरी ओर निर्दय। अर्थात् वह पुरुषों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ देकर स्त्रियों के अधिकारों को छीन कर उनके साथ अन्याय करता है। परिणाम स्वरूप दोनों विषयों में पुरुषों ने निर्जीव कारणों को महत्त्व देकर अनेक प्रकार के असद्व्यवहार करना आरंभ कर दिया है। इन कुरीतियों को दूर किया जाना चाहिए। इसके बिना समाज को उन्नति असंभव है। जाति सेवा के अभिलाषियों को इस विषय में सुधार करना चाहिए या मनुष्यों पर बन्धन लगाकर धीरे-धीरे सुधार करने को बाध्य करना चाहिए और उनके 'अन्यायी' और 'निर्दय' विशेषणों को दूर करके उन्हें योग्य बनाना चाहिए। (१०४)



सोलहवाँ परिच्छेद

सेवाधर्मः स्वदेश-सेवा

[सेवाधर्म ग्रहण करने वाले का वर्तुल अब विशाल बनता जा रहा है। सेवा वृत्ति और सेवा करने की शक्ति का विकास होने पर उसे अब समस्त देश की सेवा द्वारा जनता का विशेष हित करने की प्रेरणा होती है। ग्रन्थकार अब यह सूचित करते हैं कि सेवाधर्मी को स्वदेश-सेवा किस प्रकार करनी चाहिए और सर्व प्रथम यह बतलाते हैं कि जन्मभूमि का मनुष्य पर कितना और कैसा ऋण है।]

स्वदेश-सेवा—जन्मभूमि ॥१०५॥

यद्देशाऽन्नजलाऽनिलैः शुभतरैः पुष्टिङ्गता ते तनु—
स्तद्देशोन्नतयेऽस्तु ते धनमनस्तन्वर्पणं सर्वथा ॥
या भूमिर्जननीव पालनपरा स्वर्गादपि श्रेयसी।
तस्याः स्वल्पमनिष्टचिन्तनमहो तज्जस्य पापावहम्॥

भावार्थ—जिस देश के जलवायु और अन्न से तेरा शरीर पुष्ट हुआ है, उस देश के लिए यदि तुझे अपना तन, मन और धन का सर्वथा भोग देना पड़े, तो वह अधिक नहीं है। जो भूमि माता की तरह शरीर का पालन करने वाली है और जिसे स्वर्ग से भी अधिक श्रेयस्कर माना जाता है, इस जन्म भूमि रूपी माता का जरा भी अनिष्ट सोचना उसकी सन्तति के लिए पाप-जनक है। (१०५)

विवेचन—मनुष्य को जन्म देने वाली माता का जितना उच्च पद है, उतना ही उच्च पद जन्मभूमि का भी है। जननी जन्म देती है और जन्मभूमि मनुष्य का पोषण करती है—उसके अन्न-जल से मनुष्य की पुष्टि होती है। इसलिए 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' कहकर विद्वानों ने जन्मभूमि को स्वर्ग से भी उच्च पद दिया है। साधारण दृष्टि से इस कथन में अत्युक्ति अवश्य मालूम पड़ती है; परंतु वास्तविक दृष्ट्या विचार करने पर यह उक्ति यथार्थ सिद्ध हो जाती है। स्वर्ग प्राप्ति एक दुर्लभ स्थिति है, यह ठीक है; परंतु इस दुर्लभ स्थिति का साधन तो मनुष्यत्व ही है। मनुष्यत्व स्वर्ग प्राप्ति का द्वार है; परंतु जननी और जन्मभूमि के योग बिना वह द्वार प्राप्त नहीं होता, इसलिए जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी उच्च पद देकर विद्वानों ने यथोचित उक्ति प्रकट की है। स्वर्ग-प्राप्ति की साधन-रूपिणी जननी और जन्मभूमि पतित दशा में रहे तो मनुष्यत्व का पतित रहना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी लिए विद्वानों ने कहा है कि 'तयोरुद्धरणार्थाय सद्यः प्राणान् परित्यजेत्' पतित दशा से उनका उद्धार करने के लिए प्राण भी देना पड़े, तो बहतर है। जननी और जन्मभूमि की सेवा का उत्तम सिद्धान्त इस श्लोक में घटित किया गया है। किंतु इस ग्रन्थ में यहाँ केवल जन्मभूमि का विषय ही उपस्थित किया गया है, इसलिए ग्रन्थकार ने जन्मभूमि को जननी-माता-की तुलना में रखकर उसकी पालन परता दिखाई है और ऐसी जन्मभूमि की उन्नति में ही अपना तन-मन-धन अर्पण करने का ज्ञान कराया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि जन्मभूमि का अनिष्ट सोचने वाला उसका पुत्र पापी बनता है, और यह सत्य है। एक व्यक्ति का अनिष्ट सोचने वाला, तो एक ही व्यक्ति का अपराध करता है; परंतु स्वदेश का-जन्मभूमि का

अनिष्ट सोचने वाला स्वदेश की समस्त जनता का अनिष्ट करता और महापातकी बनता है।

दृष्टान्त—गुजरात के राजा करण वाघेला ने अपने प्रधान मंत्री माधव के कुटुम्ब पर अविचारपूर्वक जो आक्रमण किया था, उससे क्रोधान्ध होकर माधव ने दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन को गुजरात में लाकर गुजरात पर आक्रमण कराया था और तभी से गुजरात पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा गया—इस इतिहास को सभी कोई जानते हैं। राजा करण ने माधव की स्त्री को जबर्दस्ती अपने महल में पकड़ मँगवाया था। माधव के भाई केशव ने उसे मार डाला था। केशव की स्त्री जलकर सती हो गई थी। माधव की स्त्री के प्रति कुदृष्टि के कारण ही करण ने माधव को पाटन से निर्वासित करने का दगा किया था। यह सब देखते हुए सच्चा अपराधी करण ही था, फिर भी इतिहासकार करण की बजाय माधव को अधिक पाप का दोषी समझता है। कारण यह कि क्रोधान्धता से प्रेरित माधव ने करण से वैर का बदला लेने के लिए अपनी जन्मभूमि का—गुजरात की समस्त जनता का अनिष्ट किया था। उसे मुसलमानों के पैरों से कुचलवा कर पराधीनता की बेड़ियों से जकड़वाया था। तब से पराधीन हुआ गुजरात आज तक पराधीन ही बना हुआ है। इतिहास माधव के इस कुकृत्य का साक्षी है। इस पाप के हो जाने पर माधव स्वतः ही पश्चात्ताप की अग्नि से जल रहा था; परंतु समय बीत जाने पर पछताना व्यर्थ था। उसके नाम पर स्थायी कलंक लग चुका था, इसका दूर होना असंभव था। आज गुजरात की जनता माधव को उसके कुकृत्य के लिए शाप दे, यह स्वाभाविक है। यह दृष्टांत यही प्रकट करता है कि मातृभूमि की अनिष्ट चिंतना कितनी भयंकर है, कितनी पाप जनक है।

इसके विपरीत, मातृभूमि का हित करने वाला, समस्त जनता का हित करने वाला बन जाता है और जनता का आशीर्वाद ग्रहण करके अपना नाम अमर कर लेता है। इसलिए जन्मभूमि के ऋण को यथा शक्ति चुकाने के लिए सब को प्रयत्न शील होना चाहिए। (१०५)

[अब ग्रन्थकार भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं का अनुसरण करके देश-सेवा के भिन्न-भिन्न प्रकार प्रकट करते और पहले जनता के सुख-दुःख की ओर ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता का विवेचन करते हैं।]

देश-हित का चिंतन ॥१०६॥

को दुःखी सुखिनश्च के जनपदे चिन्त्यं तदेतत्सदा।
स्याद्दुःखं यदि कस्यचित् किमपि तद्धन्यान्निजैःसाधनैः॥
द्यूतादिव्यसनेषु कोऽपि पतितश्चेत्सत्पथे तं नयेद्।
बीजं स्यात्कलहस्य चेज्झटिति तद्युक्त्या दहेत्सर्वथा॥

भावार्थ— देश सेवा करने वाले को हमेशा यह ख़याल रखना चाहिए कि देश में कौन सुखी है और कौन दुखी है। सुखी हो तो ठीक ही है; पर कदाचित् किसी पर कोई दुःख आ पड़ा हो और देश सेवक के पास उसे दूर करने के लिए कोई साधन हो, तो उसके द्वारा उसका दुःख दूर करना चाहिए। कदाचित् कोई जूआ या मदिरा पान आदि के व्यसन में फँस गया हो, तो उसे समझाकर सन्मार्ग पर लाना चाहिए। और यदि किसी जगह पर कलह-लड़ाई-झगड़ा उत्पन्न होता दीखता हो, तो तुरन्त ही उसका बीज खोजकर, उसे किसी भी प्रकार जलाकर भस्म कर डालना चाहिए। (१०६)

विवेचन—जागरिका यानी जागरण, और जनपद के लिए जागरिका यानी जनता के हित के लिए चिंतन। 'जागरिका' शब्द दोनों अर्थों में व्यवहार किया जाता है। पूर्वकाल में राजा भोज और विक्रम जैसे आदर्श राजा जनपद जागरिका करते थे, यानी जागरण करके रात्रि के समय नगर में घूमते और नगरचर्चा सुनते थे। उस पर से प्रजा के सुख दुःख तथा उनके कारणों को जानकर उनका निवारण करते थे। यह दैहिक जागरण हुआ, परंतु मानसिक जागरण के बिना दैहिक जागरण संभव नहीं होता। यदि मन जागृत हो, मन में चिन्तन हो, तभी दैहिक जागरण होता है और उद्यम का आरंभ हो जाता है। आज भोज और विक्रम का जमाना नहीं है, वैसे राजा और अधिकारी भी शायद ही कहीं हो सकते हैं। यदि कोई राज्याधिकार हीन, स्वदेश वत्सल मनुष्य दैहिक जागरण करे, तो भी रात्रि में नगर चर्चा सुनने के लिए निकलने से ही वह सुख-दुःख के कारण को जान सकेगा, ऐसा अब कुछ नहीं रहा। आज तो दुःख और उनके कारण प्रकट रूप में दीख पड़ते हैं। केवल दुःखों का निवारण करने वाले स्वदेश वत्सल, अनुकम्पाशील और आत्म भाग देने वाले सेवकों की ही कमी है। अतएव, इस समय के लिए 'जागरिका' का अर्थ 'मानसिक जागरण' अथवा 'चिन्तन' किया गया है, वही सुघटित है। चिन्तन से ही जनता की सेवा करने की वृत्ति उत्पन्न होती है। जिस दिशा में जनता की आवश्यकता हो, उसी दिशा में अपने चित्त को दौड़ा कर, यह विचार करके कि वह किस प्रकार उसके लिए उपयोगी हो सकता है, सेवा में उद्यत होना चाहिए। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने जनता की सेवा की कई दिशाएँ उदाहरण के रूप में सूचित की हैं; जैसे जूआ, मदिरा पान आदि। इस प्रकार की देश की आवश्यकताएँ अनेक हैं। इनमें से किसी एक आवश्यकता कि

जिसे अपने शक्ति-साधन से पूर्ण किया जा सकता है, या पूर्ण करने का निमित्त बना जा सकता है, उसकी ओर चित्त को दौड़ा कर यथाशक्ति सेवा करना स्वदेश-सेवा का धर्म है। इसी प्रकार देश के बड़े लड़ाई दंगे, कि जिनसे देश अवनति की ओर बढ़ रहा हो, उनके कारण जानकर उन्हें नष्ट करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। जब इस प्रकार एक सेवक दो-एक व्यक्तियों की ही सेवा करता है, तब वह समाज-सेवक कहलाता है और जब वह समग्र देश की दृष्टि से, अधिक विस्तार में फैले हुए दुःख, व्यसन, कलह आदि के शमन का प्रयत्न करता है, तब उसकी सेवा देश-सेवा की कक्षा में आजाती है। समाज-सेवक, काल क्रम से ऊँचा चढ़कर देश-सेवक बन जाता है, अथवा जिसकी दृष्टि विशाल होती या जिसकी शक्ति अधिक होती है, वह भी देश-सेवक बनता है. इसी प्रकार जनता और भी अनेक प्रकार के दुःख भोगती रहती है, और उन सब दिशाओं में देश-सेवक अपनी शक्ति के अनुसार सेवा कर सकता है। परंतु, ग्रन्थकार की सूचना के अनुसार 'को दुःखी सुखिनश्च के जनपदे' ऐसी सतत जागरिका देश-सेवक में होनी चाहिए। (१०६)

[ग्रन्थकार अब यह बताते हैं कि स्वदेश के आचार-पालन में भी स्वदेशाभिमान तथा स्वदेश भक्ति समाविष्ट है।]

स्वदेशाचार का पालन ॥१०७॥

देशं स्वं न कदाऽपि विस्मरति यो गत्वाऽपि देशान्तरं।
जह्यान्नो निजदेशवेषरचनां देशाभिमानी जनः ॥
स्वाचारं विजहाति चञ्चलमनाः प्राच्याऽऽर्यजात्यर्चितं।
देशद्रोहकरोऽधमः स पुरुषो धर्माधिकाराच्च्युतः ॥

भावार्थ—जो मनुष्य देश-विदेश कहीं भी जाकर अपनी जन्मभूमि को कभी नहीं भूलता, विदेश में रह कर अपने देश का वेष और आचार बिलकुल नहीं छोड़ता, उस मनुष्य को स्वदेशाभिमानी कहा जा सकता है। जो मनुष्य चंचल मन वाला होता है, विदेश जाकर प्राचीन आर्य जाति के आचरित अपने देशाचार को छोड़ देता है, वह मनुष्य देशद्रोही और अधम कहा जाता है और वह धर्म के अधिकार से भी पतित हो जाता है। इसलिए देशाचार को कभी न छोड़ना चाहिए। (१०७)

विवेचन—विचार की तुलना में आचार का अधिक महत्त्व नहीं है; परन्तु आचार-पालन को धर्म या कर्त्तव्य-पालन की एक शाखा कहा गया है, इसका क्या कारण है? आचार, विचार का दर्शन कराने वाला है; अर्थात्—विचार के अस्तित्व बिना आचार निष्पन्न नहीं होता। पंडितों ने इसीलिए 'आचारः प्रथमो धर्मः' कहा है। इस प्रकार का आचार और विचार का युग्म, संस्कृति का निर्वाह करने वाला साधन बन जाता है। एक जन-समाज जिस प्राचीन संस्कृति को उच्च मान लेता है, उसका निर्वाह करना वह अपना धर्म—कर्त्तव्य मान लेता है और यह धर्म या कर्त्तव्य ही आचार विचार है। स्वधर्म का त्याग करना महापाप समझा जाता है, कारण, स्वधर्म का त्याग करने से अपनी उच्च संस्कृति का निर्वाह नहीं हो सकता, उसमें संकरता आ जाती है और इस प्रकार मनुष्य पतित हो जाता है। इसलिए विचार के साथ आचार में भी स्वदेशीयता की रक्षा करना, एक स्वदेशाभिमानी मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। 'जैसा देश वैसा वेष' यह कहावत तो किन्हीं स्वार्थी लोगों ने गढ़ी है, कि जो 'येन केन प्रकारेण' विदेश में अपना स्वार्थ साधने की इच्छा से विचरते रहते हैं। जिसके हृदय में अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रशस्त

अभिमान होता है, वह अपने देश के आचारों या अपनी संस्कृति का पोषण करने वाले विचारों को कभी नहीं त्यागता। जो विदेश जाकर या स्वदेश में ही रह कर स्वदेशीयता को धता बता देता है, उसे ग्रन्थकार 'देशद्रोहकरोऽधमः स पुरुषो धर्माऽधिकाराच्च्युतः' अर्थात्—देशद्रोही, अधम और धर्माधिकार से भ्रष्ट मानते हैं, वह यथार्थ ही है। श्री कालेलकरजी जैसा कहते हैं, उसी प्रकार 'स्वदेशी धर्म' पतिव्रता धर्म के समान है। पतिव्रता स्त्री चाहे जैसी परिस्थिति में भी पति की ही सेवा करेगी और पति से ही सुख प्राप्त करने की अपेक्षा करेगी। इसी प्रकार स्वदेशी का उपासक भी, चाहे जैसी परिस्थिति में स्वधर्म से ही चिपटा रहेगा; स्वभाषा के द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करेगा और अपने आस पास वालों को प्राप्त करायेगा, स्वजनों के उत्कर्ष में ही अपना उत्कर्ष मानेगा, अपने राष्ट्र की संस्कृति में से ही अपने मोक्ष का मार्ग खोज निकालेगा, अपने समाज से चिपटे हुए दोषों को धो डालने के लिए रात-दिन प्रयत्न करेगा और ऐसी स्वकर्म रूपी 'अभ्यर्चना' द्वारा ही वह विश्व की और विश्वंभर की भक्ति करेगा। जिस प्रकार पतिव्रत धर्म का पालन नहीं करने वाली स्त्री पतिता या कुलटा समझी जाती है, उसी प्रकार स्वदेशीयता का धर्माचार नहीं पालने वाला, किंवा तदनुरूप विचारों का धारण न करने वाला देशद्रोही, अधम और धर्माधिकार भ्रष्ट समझा जाय, यह स्वाभाविक ही है।

शंका—कई बार किसी रोजगार या कार्य के लिए मनुष्य ऐसे प्रदेशों में पहुँच जाता है कि जहाँ उसे अपने देश का वेष, आचार, खान-पान आदि में परिवर्त्तन करना पड़ता है, क्या यह बुरा है?

समाधान—इँगलैण्ड जैसे ठंडे देश में जाने पर गरम कपड़े, या काश्मीर जैसे देश में जाकर शीत ऋतु में चमड़े के वस्त्र

धारण करना आपद्धर्म है और अनिवार्य है; परन्तु सच्चे देशाभिमानी मनुष्य अपनी जातीयता को छिपाने के लिए ऐसा वेष नहीं धारण करते। इंगलैण्ड में जाकर कोट, पतलून और टोप पहन कर अँग्रेजों में परिगणित होने या काश्मीर में चमड़े के वस्त्र धारण करके काश्मीरी बन जाने की इच्छा से जो वेष परिवर्त्तन किया जाता है, वह दंभ या अधर्म है। स्वदेशाभिमानी मनुष्य ऐसे आपद्धर्म में भी अपनी जातीयता के विशिष्ट लक्षण-स्वरूप अपने देश की ही पगड़ी या टोपी पहनते हैं। ठंडे देशों में जाने वालों को शरीर में गर्मी रखने के लिए शराब पीनी पड़ती है, यह एक झूठी बात साबित हुई है, क्योंकि ठंडे देशों में रहने वाले अनेक लोग आजन्म शराब नहीं पीते और पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। शरीर में गर्मी बढ़ाने के लिए अन्य पवित्र वस्तुओं का सेवन करते हैं। इसलिए यदि छोटी छोटी बातों में विदेशीयता स्वीकार करनी पड़े, तो भी खान-पानादि में विदेशीयता को स्वीकार करना अधर्म है। जिस देश में जाकर धर्मभ्रष्ट करने वाले पदार्थों का सेवन करना पड़े, उसमें न जाना ही अच्छा है। 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' का अर्थ यही है कि किसी प्रकार स्वधर्म-स्वदेशीय संस्कृति 'विगुण' यानी गुण रहित प्रतीत हो, तो भी वह श्रेयस्कर है और विधर्म—विदेशीयता को ग्रहण करना भयावह है। जो लोग स्वदेशाचार का पालन करने में सदैव तत्पर रहते हैं, वे ही सच्चे स्वदेशाभिमानी पुरुष हैं। (१०७)

[स्वदेशीय आचार-पालन के विषय में कहकर, अब ग्रन्थकार स्वदेशी वस्तुओं के ही व्यवहार का कर्त्तव्य समझाते हैं।]

स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार ॥१०८॥

देशोद्योगविवर्द्धनाय वपुषश्चारोग्यरक्षाकृते ।
दीनानां निजदेशिनां करुणया दारिद्र्यविच्छित्तये ॥

युज्यन्ते वसनानि भोज्यमखिलं भोग्यानि वस्तून्यपि।
देश्यान्येव विभूषणान्यमलयोः स्त्रीपुंसयोः सर्वथा ॥

भावार्थ—देश के उद्योग को उत्तेजन देने के लिए, शरीर के आरोग्य का रक्षण करने के लिए, अपने देश के गरीब मनुष्यों पर करुणादृष्टि रखकर उनके दारिद्र्य का नाश करने के लिए, प्रत्येक मनुष्य को अपने पहनने के वस्त्र, खाने के पदार्थ, भले आदमियों के योग्य आभूषण और कोई भी योग्य वस्तु सब प्रकार अपने देश की बनी, अपने देश न उत्पन्न हुई ही व्यवहार में लानी चाहिए। (१०८)

विवेचन—जिस काल में हम पैदा हुए हैं, उसी जमाने की सेवा करना हमारे लिए जिस प्रकार अपरिहार्य है, उसी प्रकार जिस देश में हमारा जन्म हुआ, उसी देश की सेवा करना और उसी देश की सेवा ग्रहण करना स्वदेशी का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को भूल जाने वाले स्वदेशीयता की दृष्टि का त्याग करके विदेशी वस्तु का व्यवहार करने से नहीं हिचकिचाते। परन्तु, इस सिद्धान्त को भूल जाने के कारण ही आज हिन्दुस्थान की दुर्दशा हुई देखी जाती है। देश के उद्योग को उत्तेजन देने के लिए स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना, शरीर के आरोग्य की रक्षा के लिए, हमारे देश के ही जलवायु में उत्पन्न हुए पदार्थों का उपभोग करना, गरीबों पर करुणा दृष्टि रखकर, उनके दारिद्र्य का नाश करने के लिए वस्त्र, भोज्य पदार्थ, अलंकार आदि सब वस्तुएँ स्वदेशी ही व्यवहार में लानी चाहिएँ—यह दृष्टि बहुत ही आधुनिक है, कारण कि स्वदेशीयता के सिद्धान्त को भूल जाने के कारण देश की जो दुर्दशा हुई है, उससे उद्धार करने की दृष्टि इस समय देश सेवकों और देश

हितचिंतकों में उत्पन्न हुई हैं; अर्थात्—इस समय स्वदेशीयता को युगधर्म या कालधर्म या समयधर्म की दृष्टि से जनता के समक्ष उपस्थित किया जाता है। इस कारण ग्रन्थकार ने भी वर्तमान जनता के समक्ष स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग की बात को, युगधर्म के अनुसार घटित होने वाली दलीलों के साथ उपस्थित किया है। परन्तु, आर्यावर्त्त का सर्वोत्तम सिद्धान्त तो यह है कि 'हमारा, हमारे लिए और पराया परायों के लिए।' 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' ऐसा जो पहले कहा गया है, उसका मथितार्थ भी यही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसा स्वदेशीयता का धर्म हम पालन करें, वैसा ही दूसरे देश भी पालन करें—यह सिद्धान्त आर्यावर्त्त ने स्वीकार किया था। आज हम यह चाहते हैं कि हमारे देश का बना हुआ माल हमारे देश वाले ही व्यवहार में न लाएँ; बल्कि हमारा बनाया हुआ माल दूसरे देश वाले भी व्यवहार करें और इससे धन प्राप्त करके हम धनी बन जायँ। परन्तु प्राचीन आर्यों का सिद्धान्त यह नहीं था। वे चाहते थे कि स्वदेशीयता का, स्वधर्म का त्याग करना जितना निंदनीय है, उतना ही निन्दनीय दूसरों को अपने धर्म से चलायमान करना है। इसी उदात्त कारण से उदात्त हिन्दू धर्म ने विधर्मियों को अपने में मिला लेने का कभी प्रयत्न नहीं किया। जो लोग स्वभावतः हिन्दू धर्म में मिल गये या आने के लिए तैयार हुए, उनका हिन्दू धर्म ने त्याग नहीं किया; बल्कि उनकी अलग जाति बनाकर उनको स्वीकार किया है। स्वदेशी वस्तुओं का ही उपयोग करने का संस्कार जब तक आर्यों की संस्कृति में वज्रांकित था, तब तक प्राचीन पुरुषों को स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं के बीच का अंतर समझने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई थी। परंतु, अब समय बदल गया है। विदेशी लोग अपने लाभ के लिए, अपना माल हिन्दुस्तान

में प्रचार कर रहे हैं, और हिन्दुस्तानी माल बहुत ही कम बनता है, इससे हिन्दुस्तान का धन विदेश जाने लगा और स्वदेशी आचार के पालन में भी विक्षेप होने लगा है। आज जिस प्रकार भारत का स्वदेशी व्रत, प्रत्येक भारतीय स्त्री, पुरुष और बालकों को प्रत्येक स्वदेशी वस्तु का व्यवहार करके ही पालन करने में निहित है, उसी प्रकार विदेशी लोगों को भी स्वदेशी व्रत का पालन करना हो, तो उन्हें अपने देश में तैयार किया हुआ माल, लाभ के लिए दूसरे किसी भी देश में लेजाकर पाट देने से बाज आना चाहिए। यदि प्रत्येक देश, ऊपर लिखे अनुसार पूर्ण स्वदेशी व्रत का पालन करता रहे, तो वह कदापि निर्धन न हो और न आर्थिक कारणों से युद्ध करके रक्त पात करने की आवश्यकता पड़े। परंतु कहाँ है वह स्वदेशीयता? प्राचीन काल में तो प्रत्येक आर्यजन बिना व्रत धारण किये ही स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करता था। जब तक वैसी स्थिति थी, तब तक स्वदेशीयता में आर्थिक प्रश्न का उद्भव ही जनता में नहीं हुआ था। अब आज यह आर्थिक प्रश्न उपस्थित हुआ है, तो आर्थिक दृष्टि से स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का व्रत ग्रहण करना भी हितकर है। (१०८)

[नीचे लिखे दो श्लोकों में ग्रन्थकार उपद्रवकाल में सेवा करने के कर्त्तव्य देश सेवकों को समझाते हैं]

देश के उपद्रव का शमन ॥१०९॥

देशः स्यान्निरुपद्रवो नृपतिना श्रेष्ठेन संरक्षित—
स्तद्धर्मसमाजरक्षणमथो विज्ञानवृद्धिस्तदा ॥
देशे कोऽपि समुद्भवेदभिभवो बाह्योऽथवाऽभ्यन्तर—
स्तन्नाशे यतितव्यमुत्तमजनैर्धर्मादिरक्षाकृते ॥

भावार्थ—यदि देश अच्छे राजा से सुरक्षित हो, और देश पर किसी प्रकार का संकट न हो, तो धर्म और समाज का भली भाँति रक्षण होता है, बल्कि साहित्य और विज्ञान की उन्नति भी तभी होती है, इसलिए जब देश पर बाहर से या देश ही के किसी प्रान्त से कोई संकट आपड़े, तो अच्छे देश सेवकों को उसे दूर करने के लिए यथाशक्ति प्रत्येक प्रयत्न करना चाहिये। (१०९)

स्वचक्र और परचक्र से देश की रक्षा ॥११०॥

देशस्याऽऽक्रमणं यदा स्वपरयोश्चक्रेण सम्पद्यते ।
स्वास्थ्यं नश्यति जायते क्षतिततिर्द्रव्यादिहान्या भृशम्
साहाय्यं करणीयमत्र समये तद्देशवास्तव्यकैः ।
सर्वैरेव जनैर्धनेन वपुषा बुद्ध्या तथा सेवया ॥

भावार्थ—जब स्वचक्र—देशी उपद्रवी—या परचक्र—विदेशी उपद्रवी—की ओर से देश पर आक्रमण होता है, तब देश के स्वास्थ्य का नाश हो जाता है। सुख और सम्पत्ति की हानि होती है और सब प्रकार हानियों की परम्परा चालू हो जाती है। ऐसे आपत्ति काल में, उस देश के बसने वाले प्रत्येक मनुष्य को धन से, शरीर से और बुद्धि से रक्षक-मंडल की सहायता करके देश-सेवा करनी चाहिये। (११०)

विवेचन—किसी भी देश की उन्नति शान्ति काल में और अवनति अशांति काल में होती है। शांतिकाल में देश सुरक्षित रहता है, समाज और धर्म की रक्षा होती है; विज्ञान, कला, साहित्य, धन धान्य आदि सम्पत्ति की वृद्धि होती है; परंतु अशांति-काल में बिलकुल इसके विपरीत होता है। जनता सदा

उद्विग्न रहती है, व्यापार-रोजगार करते हुए लोग भयग्रस्त रहा करते हैं, जीवन निर्वाह और समृद्धि की रक्षा के लिए ही लोग दौड़ धूप मचाये रहते हैं और दूसरी बातों से लोगों का मन उचट जाता है। किसी यूरोपियन लेखक ने ठीक ही कहा है कि युद्ध के मानी हैं सब कानून-कायदों—नियमों का भंग। युद्ध काल में नीति और राज्य के सब नियमों का भंग ही होता है, अतएव देश और समाज की सब सुव्यवस्था, नियम-भंग के कारण नष्ट हो जाती है। इस कारण, प्रत्येक स्वयं सेवक का कर्त्तव्य है कि जनता का अकल्याण करने वाली युद्धादि की अशांति को देश से दूर ही रखें। ग्रन्थकार के कथनानुसार इस प्रकार की अशांति या उपद्रव दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं। एक प्रकार 'स्वचक्र' के उपद्रव का है और दूसरा प्रकार 'परचक्र' के उपद्रव का। जब देश में डाकू लुटेरे चोर या अन्य उपद्रवकारी बलवान् होकर जनता के धन, धर्म, जान-माल आदि को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, तब वह 'स्वचक्र' का उपद्रव कहलाता है और जब देश पर विदेशी लोग आक्रमण करके उसके धन, जान-माल को नष्ट करने की चेष्टा करते हैं, तब वह 'परचक्र' का उपद्रव कहा जाता है। इन दोनों प्रकारों के उपद्रवों से देश की शांति नष्ट होती है, इसलिए उनसे देश का रक्षण करना आवश्यक है। प्रजा का रक्षण करना राज्य रूपी संस्था का धर्म है, परंतु राज्यरूपी संस्था का बल तथा अस्तित्व जनता के सहयोग पर अवलम्बित है, इसलिए अशांति काल में राज्य की सहायता से देश को रक्षा करने का धर्म भी जनता का ही है। इसलिए बुद्धि, बल, धन आदि शक्तियों से सम्पन्न जनों को आपत्ति काल में अपनी शक्तियों के द्वारा जनता की सेवा करना आवश्यक है। जिस देश की जनता, या जिस देश के शक्ति-सम्पन्न पुरुष अपने इस धर्म—कर्त्तव्य—को नहीं समझते, उस

देश के सर्वस्व का नाश हो जाता है। अर्थात्—जनता का, उसके शक्ति-सम्पन्न पुरुषों का, उसकी समृद्धि का, उसके धर्म का, साहित्य का, विज्ञान और कला का, कृषि आदि का नाश हो जाता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' ऐसा जो कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि जो स्वधर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है, अर्थात्—अपना कर्त्तव्य-पालन करके ही लोग अपनी रक्षा कर सकते हैं, इसीलिए 'स्वदेशसेवैव महाव्रतं स्यात्' स्वदेश सेवा को एक महाव्रत कहा गया है और उस महाव्रत का पालन करके उपद्रव काल में जनता का हित करना चाहिये। स्वचक्र के बजाय परचक्र देश का एक बड़ा संकट है। विदेशी उपद्रवकारी सेना दूसरों की हानि करके अपना स्वार्थ-साधन करने के लिए अनेक प्रकार के उपद्रव करती है और उस समय यदि जनता देश की रक्षा करने में शिथिलता दिखलाती है, तो उसे बड़ी हानि उठानी पड़ती है। भारत में एक समय सर्वत्र आर्य धर्म की ही भिन्न भिन्न शाखाएँ फैली हुई थीं; परन्तु मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण आरम्भ किया और हिन्दू हारते गये. इस प्रकार भारत में मुसलमानों का प्रवेश हुआ, इसीसे भारत को धन का, धर्म का, विद्या कला का, साहित्य का और अनेक प्रकार का नुकसान हुआ, इतिहास इसका साक्षी है। इसलिए देश के हितार्थ यदि प्राण भी अर्पित करने पड़ें, तो भी पीछे न रहना चाहिये, यह प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है। (११०)

[परन्तु देश की प्रजा पर एक अन्य प्रकार का भी 'स्वचक्र' कभी-कभी आ पड़ता है, और वह है राज्य के अधिकारियों की ओर से होने वाला प्रजा-पीड़न। अब ग्रन्थकार यही बतलाते हैं कि इस प्रकार के प्रजा-पीड़न को किस प्रकार दूर किया जाय।]

अधिकारियों की ओर से होने वाले प्रजा-पीड़न का निवारण ॥१११॥

ये राज्ञा निजदेशरक्षकतया योग्ये पदे स्थापिताः।
स्युस्ते पामरभक्षका यदि नृपाऽमात्यादयोऽन्यायिनः।
संसाध्यैक्यबलं तदाऽखिलजनैस्तद्देशवास्तव्यकैः।
कार्यं तत्परिवर्त्तनं विनयतो राज्ञे निवेद्योत्तमैः॥

भावार्थ—जिन्हें राजा ने अपने देश को समृद्ध और सुरक्षित बनाने के लिए प्रजा के रक्षक के रूप में योग्य पदाधिकार पर नियुक्त किया है, यदि वे ही अमात्य आदि राजा के अधिकारी गण, प्रजा का रक्षण करने के बदले पामर—साधारण श्रेणी के—दरिद्र—लोगों को भक्षण करने लगें और अन्यायी तथा अत्याचारी सिद्ध हों, तो देश निवासी सभी अग्रणी व्यक्तियों को चाहिये कि वे सब मिल कर राजा से नम्रता-पूर्वक सब कुछ हाल कह सुनायें और योग्य परिवर्त्तन करायें। (१११)

विवेचन—राजा बहुधा प्रजा-वत्सल होता है, परन्तु कभी कभी वह अपने स्वभाव की क्षुल्लकता तुच्छता या कुमन्त्रणा के कारण प्रजा-पीड़क बन जाता है। जो राजा देख-रेख में कुशल नहीं होता, उसके अधिकारीगण अवश्य ही मनस्वी—स्वच्छन्दी या निरंकुश होते हैं और प्रजा-पीड़क बन जाते हैं। प्रजा के ऊपर यह एक ऐसा 'स्वचक्र' है कि जिसका निवारण करने का मार्ग खोजने के लिए संसार के उच्च-से-उच्च मस्तिष्क काम कर रहे हैं। कई देशों में अधिकारियों के अत्याचारों के कारण ही राज क्रान्तियाँ हुई हैं और प्रजा के हाथों अधिकारियों और राजाओं की हत्याएँ हुई हैं। रूस के ज़ार का इतिहास इसका उदाहरण

है। ज़ार ने अनेक दुष्कृत्य किये थे; परन्तु जैसे दुष्कृत्य उसने किये थे, वह स्वभाव का वैसा दुष्ट नहीं था। उसके पहले वाले ज़ारों के ज़माने में भी प्रजापीड़न कोई कम नहीं था। रूस में दीर्घकाल से प्रजा-पीड़न चला आ रहा था और उसका निमित्त ज़ार समझा जाता था परन्तु वास्तव में वह सब प्रजा पीड़न ज़ार के अधिकारियों की ओर से ही था, जो अपने स्वार्थ और अपनी सत्ता के लिए राजकर्त्ता ज़ार को बहकाकर प्रजा को पीड़ा पहुँचाते थे। ज़ार से ऐसे अधिकारियों की अनेक शिकायतें की गईं, अधिकारियों के अत्याचार का भंडा फोड़ करने के लिए अनेक सभासमितियाँ स्थापित हुईं, परन्तु अधिकारीगण ज़ार को उल्टा समझाते और इस प्रकार शिकायत करने वालों को विद्रोही बता कर उन्हें निर्वासित करा देते या मरवा डालते। यदि राजा मूर्ख या अविचारी होता है, तो राज्य के अधिकारी गण इस प्रकार प्रजा-पीड़क बन जाते हैं। राजा, प्रजा का पिता है और उसके अधिकारीगण उसके हाथ-पावों के रूप में प्रजा का पालन करने के साधन हैं। जो अधिकारीगण अपने इस कर्त्तव्य को समझते हैं, वे प्रजा के प्रति न्याय करके उन्हें सुखी रखते हैं और राजा को 'स्वराज्य' का संचालन करने की कीर्ति प्राप्त कराते हैं। परन्तु, जहाँ ऐसे पाप-भीरु अधिकारी नहीं होते, वहाँ प्रजा पर अन्याय होता है, अत्याचार होता है और उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए प्रजा को अवसर मिलता है। ऐसे समय देश-सेवक का क्या धर्म, क्या कर्त्तव्य है—यही ग्रन्थकार ने प्रदर्शित किया है ग्रन्थकार कहते हैं कि अग्रणी प्रजाजनों को चाहिए कि वे सब मिल कर, प्रजा पीड़न की शिकायत राजा से करें और वस्तु स्थिति में सुधार करायें। हमारे देश के कई प्रजा मण्डल इस समय इसी प्रकार काम कर रहे हैं। प्रजाजन एक परिषद् करते हैं और उसमें अमुक प्रकार के अत्याचारों,

अन्यायों पर वाद-विवाद होता है, उनके निवारण का मार्ग खोजा जाता है, अन्याय या अत्याचार करने वालों को उच्च अधिकारियों के निकट शिकायत पेश की जाती है, और यदि उनसे भी दुःख का निवारण नहीं होता तो प्रजा और भी उच्चाधिकारियो से फरियाद करती है और अन्त में सर्वोपरि व्यक्ति—राजा से न्याय प्राप्त करने का यत्न किया जाता है। यदि राजा की बुद्धि में कोई वैषम्य नहीं उत्पन्न हो जाता, तो इतनी दाद-फरियाद से अत्यन्त अत्याचारों, अन्यायों का शमन हो जाता है।

जैसा ऊपर कहा गया है, रूस का राजवंश आज पृथ्वी पर से लोप हो गया है। इसका कारण. अधिकारियों के अत्याचारों को दूर करने में राजा की असमर्थताही थी। चीन का राजवंश भी. प्रजा के प्रति अधिकारियों के अत्याचार के कारण होने वाले विद्रोह से ही अपनी राजसत्ता खो बैठा है। 'मनुस्मृति' में कहा है कि—

> वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुपश्चैव पार्थिवः।
> सुदासो यावनिश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥

अर्थात्—वेन, नहुप, सुदास. सुमुख और निमि, अविनयी होने के कारण ही नष्ट हुए थे। जहाँ राजतंत्र सड़ जाता है—नष्ट हो जाता है, और यंत्र के कीलकाँटे उखड़ या टूट जाते हैं, वहाँ राजा या प्रधान मंत्री के कानों तक अत्याचार या अन्याय की बात पहुँच कर दशा में परिवर्त्तन करने का उपाय भाग्यवश ही सफल होता है। इसलिए अधिक सबल उपायों से काम लेने की आवश्यकता होती है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में, भिन्न-भिन्न उपायों के द्वारा ही प्रजा-हित का साधन किया जा सकता है, इसलिए देश-सेवकों को एक ही पद्धति का अनुसरण करना उचित नहीं है। प्रजाजनों को एकत्र हो कर, संगठन-पूर्वक,

'विनयतः' परिवर्तन कराना, अधिकारियों के अत्याचार का सामना करने का प्राथमिक उपाय है। और विना इसका अवलम्बन किये, आगे बढ़ना निरर्थक है; परन्तु 'अविनय' से नष्ट हुए 'वेन' जैसे राजा जहाँ हों, वहाँ 'विनय' का क्या उपयोग हो सकता है? ऐसे समय तो देश भक्तों के सिर पर 'परिवर्त्तन' की जगह 'राज्य-क्रान्ति' पैदा करने का उत्तरदायित्व आ पड़ता है। ऐसी राज्य क्रान्तियों के अनेक प्रयोग, संसार की भिन्न-भिन्न प्रजाओं ने किये और उनमें से कई निष्फल हुए और कई सफल हुए हैं। परन्तु, यहाँ वे प्रयोग अप्रस्तुत हैं, इसलिए विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं रह जाती। (१११)

[प्रजा पर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं। 'आसमानी-सुलतानी' के नाम से परिचित आपत्तियो-विपत्तयों में 'सुलतानी' विपत्तियों की बात कही जा चुकी, अब 'आसमानी' आपत्कालीन विपत्तियों की बात एक श्लोक में कह कर, उस अवसर पर देश-सेवकों के कर्त्तव्य का निदर्शन करके, ग्रन्थकार तृतीय अवस्था के कर्त्तव्य-कर्मों का बोध कराने वाले इस प्रथम खण्ड की पूर्णाहुति करते हैं।]

आपत्कालीन सेवा ॥ ११२ ॥

भूकम्पादिकदैवकोपजनितापत्तिः कदाचिन्निजे
देशेक्काऽपि समागता यदि महाऽनर्थक्यसम्पादिनी॥
गत्वा तत्र सदैव साधनभरैरापद्गतानां नृणां।
साहाय्यं समयोचितं सुखकरं कर्त्तव्यमर्थादिभिः॥

भावार्थ—जब-जब देश के किसी भाग में भूकम्प, अग्निकांड जल प्रलय—बाढ़ आदि दैवी कोप के कारण, जानमाल को नष्ट करने वाली कोई बड़ी विपत्ति आ पड़े, तब-तब सेवा इच्छुकों

को चाहिए कि सब साधनों का संग्रह करके, वहाँ पहुँच कर, विपत्तिग्रसित मनुष्यों को अन्न, वस्त्र आदि से समयोचित सहायता करें और उन्हें सुख पहुँचायें। (१९२)

विवेचन—देश पर जब कोई दैवी विपत्ति आ पड़ती है, तब जनता को बहुत अधिक रूप में सेवा की आवश्यकता होती है। अग्निकाण्ड, भूकम्प, ज्वालामुखी का विस्फोट, जल-प्लावन—बाढ़ आदि सब विपत्तियाँ अचानक आ पड़ती हैं। दुर्भिक्ष, अचानक आपत्ति नहीं समझी जाती; परन्तु उसका संकट बहुत विस्तृत हो जाता है। ऐसी विपत्तियों के समय असमर्थ मनुष्यों की सहायता करना देश-सेवा का ही एक प्रकार है। जब भूकम्प की विपत्ति देश पर आती है, तब बहुत से मनुष्यों के घर गिर जाते हैं, अनेक मनुष्य मर जाते हैं, आग लग जाती है और धन माल का नाश होता है। ऐसे समय जनता अचानक असहाय हो जाती है। उसे निवास-स्थान की, अन्न की, वस्त्र की और अन्य अनेक प्रकार की सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसे समय धनवानों, बुद्धिमानों और सेवा-तत्पर व्यक्तियों को अपने भरसक सेवा-सहायता के लिए तैयार हो जाना चाहिए। अचानक विपत्ति से एक प्रदेश के सभी व्यक्ति संकट में आ पड़ते हैं, इसलिए तत्कालीन ही बहुत बड़े रूप में सेवा की आवश्यकता पड़ती है। बाढ़ और अग्निकाण्ड से भी छोटा-मोटा संकट आ पड़ता है और उस समय भी सेवा करने वालों और सेवा के साधनों की अधिक प्रमाण में आवश्यकता पड़ती है। जिनके घर-द्वार नष्ट हो जाते हैं, उनके लिए तुरन्त ही तम्बू तनवा कर या झोंपड़े बनवा कर उन्हें उनमें आश्रय देना चाहिए। शरीर ढकने के लिए वस्त्र पहुँचाना चाहिए। खाने को अन्न पहुँचाना चाहिए और जिनका रोजगार नष्ट हो गया हो,

उनको वैसे साधन प्राप्त कराके रोजगार से लगा देना चाहिए। इस प्रकार दैवी आपत्तियों से ग्रसित मनुष्यों की सहायता के द्वारा देश-सेवा करने और अनुकम्पा-वृत्ति प्रकट करने के लिए लोगों को मैदान में आना चाहिए।

दृष्टान्त—देश के आपत्तिकाल में अपने धन का सद्-व्यय करके हडाला के एक वणिक ने अपना नाम अमर कर लिया है। उसकी कहानी गुजरात में प्रसिद्ध है। उस वणिक का नाम था खेमादेदराणी। वह बहुत सादगी से रहता था और बड़े न्याय और सच्चाई से व्यापार करके उसने बहुत धन इकट्ठा किया था। उस समय पाटन में मुसलमानी राज्य था। एक बार गुजरात में अकाल पड़ा और लोग अन्न के बिना तथा पशु घास के बिना तड़पने लगे। बादशाह को यह मालूम हुई, तो उसने पाटन के महाजनों को बुलाकर कहा कि इस समय राज्य के खजाने में काफी धन नहीं है। इसलिए राज्य की ओर से भूखों के खाने-पीने का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। आप लोग वणिक हैं, शाह या साहू कहलाते हैं, इस समय गुजरात के इन ग़रीबों की रक्षा आपको करनी चाहिए। वणिकों को बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी। एक वर्ष के ३६० दिन होते हैं। ग़रीबोंके एक दिन के भोजन के लिए लाखों रुपयों की आवश्यकता थी। नगर के साहूकारों ने अपनी शक्ति के अनुसार किसी ने एक दिन तो किसी ने दो दिन का खर्च देने के लिए खर्च तैयार किया और इस प्रकार चार मास के खर्च का चन्दा तो पाटन से ही लिखा गया इसके बाद पाटन के साहूकार गुजरात के छोटे-छोटे गाँवों से चन्दा वसूल करने के लिए निकले। घूमते-फिरते वे हडाला भी पहुँचे। हडाला गाँव में खेमादेदराणी ही प्रमुख साहूकार था। उसी के यहाँ पाटन के वे साहूकार ठहरे। खेमा के घर की साधारण अवस्था देख कर उन लोगों को मालूम

हुआ कि गाँव के उस प्रमुख साहूकार का घर ही जब ऐसी मुफ़लिस हालत में है, तब दूसरा कौन ऐसा होगा जो एक दिन के ख़र्च के लिए भी चन्दा दे सकेगा; परन्तु उन साहूकारों को भोजन कराने के बाद खेमा देदराणी ने चन्दे की लिस्ट में पूरे ३६० दिन के ख़र्च का चन्दा लिख दिया, तो वे लोग चौंक पड़े। खेमा देदराणी ने कहा—सेठ साहबो, आप लोग तो पाटन के साहूकार हैं। आप लोगों को तो धन के सद्व्यय करने के अनेक अवसर मिलेंगे, परन्तु मुझ जैसे व्यक्ति को ऐसा अवसर कब मिलेगा ? इसलिए पहले मेरे रुपयों से सारे वर्ष गरीबों का पोषण करें और इसके बाद आवश्यकता पड़े, तो आप लोग अपने रुपयों का उपयोग कीजियेगा। साहूकारों ने खेमा देदराणी को धन्यवाद दिया और खेमा ने अपना सारा भण्डार साहूकारों को सौंप दिया। जब बादशाह को इस बात का पता लगा, तो उसने कहा—बादशाह से शाह या साहूकार बढ़ कर होता है, यह बात सच है। खेमा देदराणी की उदारता और आपत्काल में उनकी देश-सेवा आज जैन-जगत् में प्रसिद्ध है।

प्रथम खण्ड समाप्त

-

द्वितीय खण्ड

इस खण्ड में ग्रन्थकार मनुष्य-जीवन की चौथी अवस्था के कर्त्तव्य-कर्मों का बोध कराते हैं। वेद शास्त्रों के अनुसार यह चौथा आश्रम है, संन्यस्त दशा है, जिसमें ऐहिक वासना का त्याग करके, त्याग मार्ग पर विचरण करने के कर्त्तव्य का बोध कराया गया है। यह एकान्त निवृत्ति मार्ग का बोध है—ज्ञान है। तीसरे आश्रम मे वानप्रस्थ अवस्था व्यतीत करने तक कर्म करने का विधान है और चौथी अवस्था या आश्रम में केवल निवृत्ति दशा का विधान है। परन्तु, उस एकान्त मार्ग का प्रतिपादन ग्रन्थकार नहीं करते। केवल निर्विकल्प दशा, या परम निवृत्ति की उच्चता को स्वीकार करने पर भी समस्त मनुष्य जाति के लिए यह मार्ग अलभ्य नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है। इस कारण, ग्रन्थकार इस आश्रम के लिए अमुक मर्यादाओ सहित प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का बोध कराके जनता को उच्च दशा प्राप्त कराने के लिए, व्यावहारिक मार्ग दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। इन दोनों मार्गों से कैसे कार्य आरम्भ करना चाहिए, कैसे आगे बढ़ना चाहिए, जगत्-कल्याण तथा आत्म-कल्याण किस प्रकार साधना चाहिए, और कैसे उत्तरोत्तर उत्तमदशा का पात्र बनना चाहिए—इसखण्ड में इन्हीं सब बातों का बोध कराया गया है। तत्वज्ञान की दो भिन्न-भिन्न शाखाओं का बोध, जगत् के लगभग सभी धर्मों में कराया गया है। एक मार्ग निवृत्ति का है, और दूसरा प्रवृत्ति का। निवृत्ति के मीमांसक, प्रवृत्ति की बजाय निवृत्ति को उच्चस्थान देते हे और प्रवृत्ति के मीमांसक निवृत्ति की बजाय प्रवृत्ति को। एक पक्ष कर्मयोग को उच्च स्थान देता

है, दूसरा पक्ष कर्म-संन्यास को। यूरोप के तत्व ज्ञानियों में भी इस प्रकार दोनों पक्ष के विचारक पाये जाते हैं। शोपनहार और हार्टमॅन निवृत्तिमार्ग के प्रतिपादक हैं और कॅट, स्पेन्सर तथा नित्शे आदि प्रवृत्ति मार्ग के। यह ग्रन्थकार दोनों पक्षों को समान तुला में रख कर योग्य मर्यादा और योग्य विधान का बोध कराता है। जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य हैं और यदि सभी प्रकृति के मनुष्यों को एक ही मार्ग का अवलम्बन इष्ट प्रतीत हो, तो भी वह लभ्य नहीं होता। इसी कारण, ग्रन्थकार ने यह ध्यान रखा है कि प्रकृति को अनुकूल रीति से, योग्य संयम द्वारा निष्काम कर्मयोग या कर्म त्याग में लगाया जा सकता है। (११२)



प्रथम परिच्छेद

आत्म-दृष्टि

[निष्काम कर्म करने की पात्रता तभी आती है, जब मनुष्य समग्र विश्व को अपने बन्धु के समान मानने लगे। ग्रन्थकार पहले इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं।]

जगत्-सेवा और आत्म-सेवा ॥ ११३ ॥

एषोऽयं समयो मनुष्यजनुषो लब्धुं प्रकृष्टं फलं।
तत्सेवैव निजात्मनश्च जगतो निष्कामबुद्ध्या परा ॥
पौर्वापर्यविधानमत्र नियतं कर्त्तुं न शक्यं परैः।
स्वेच्छैवास्तु नियामिका मतिमतां संस्कारसामर्थ्यजा ॥

भावार्थ—देश सेवा के पश्चात् मनुष्य-जीवन का उच्च-फल प्राप्त करने का समय उपस्थित होता है। और वह फल है—अपनी आत्म-सेवा करना, या निष्काम वृत्ति से जगत् की सेवा करना। जगत्-सेवा पहले करनी चाहिए, या आत्म-सेवा? इस क्रम का विधान दूसरे लोग नियम के रूप में नहीं कर सकते, इसमें तो बुद्धिमान पुरुषों के संस्कार के सामर्थ्य से उत्पन्न अपनी इच्छा ही नियामक हो सकती है; अर्थात्—पूर्व-संस्कारों के बल से जैसी जिसकी इच्छा हो वैसा उसे करना चाहिए। (११३)

विवेचन—क्रमशः समग्र देश के साथ बन्धु भाव धारण करने वाला मनुष्य, जब इससे भी ऊँची सीढ़ी पर चढ़ना

चाहता है, तब उसे समस्त विश्व के साथ बन्धुभाव धारण करना चाहिए; अर्थात्—विश्व के प्रत्येक प्राणी के कल्याण की कामना करनी चाहिए। आत्मा और परमात्मा के वीच जव तक वह विषमभाव रखेगा, तव तक वह इस दशा को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए इस विषम भाव को त्याग कर, जगत् के प्राणीमात्र को अपनी आत्मा के समान मानने की भावना को हृदय में धारण करना चाहिए, आत्मा और परमात्मा, एक ही नहीं हैं, दोनों में विषम भाव तो है ही; परन्तु सेवा-धर्म में इस विषमभाव को गौण कर दिया जाय, तभी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' समझ कर जगत्-सेवा का कार्य मनुष्य सरलता से कर सकता है। आत्म-सेवा और जगत्-सेवा में कार्य-कारण का सम्बन्ध है; अर्थात्—मनुष्य आत्म-सेवा करने लगे, तो उससे जगत्-सेवा करने के लिए प्रेरित होता है; और यदि वह जगत्-सेवा करने लगे, तो आत्म-सेवा करने के लिए प्रेरित होता है। प्रत्येक मनुष्य जो भी कुछ प्रवृत्ति करता है, उसे अपना और जगत् का कुछ-न-कुछ कार्य तो होता ही है, किन्तु क्या वह जगत्-सेवा हो गई? इस प्रश्न का उत्तर नकार में देने के लिए एक महत्त्वपूर्ण मर्यादा सूचित की गई है कि 'निष्कामबुद्ध्या' अर्थात्—कामना-रहित बुद्धि से जगत् की सेवा करनी चाहिए। मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति से जगत् की सेवा हो रही हो, परन्तु उसके साथ काम करने वाले मनुष्य की कोई कामना लगी हो, तो इससे वह जगत्-सेवा की तुलना में नहीं आ सकती। ऐसी मर्यादा वाली जगत्-सेवा ही आत्म-सेवा है और आत्म-सेवा ही जगत्-सेवा। (११३)

[तत्व-वेत्ताओं और तत्त्व-विचारकों ने प्रवृत्ति और निवृत्ति की मीमांसा पर अनेक महान् ग्रन्थ लिखे हैं। एक पक्ष प्रवृत्ति के ऊपर निवृत्ति को स्थान देता है और दूसरा पक्ष निवृत्ति के ऊपर प्रवृति को

रखता है । कई मीमांसा-कार गीता या उपनिषद् पर से ही प्रवृत्ति या निवृत्ति की विशेषता घटित करते हैं । ग्रन्थकार इन दोनों मार्गों के तत्त्व पर विचार करके क्या कहते हैं ?]

जगत्-सेवा ॥ ११४ ॥

कृत्वा सेवनमात्मनः कुरु जगत्सेवां समुद्धारिणीम् ।
यद्वा त्वं जगतो विधाय परितः सेवां विधेह्यात्मनः ॥
सेवोद्धारमयी मताऽत्र जगतः सा चेत्प्रवृत्त्यात्मिका ।
नैष्काम्यान्न च गाढबन्धजनिका न्यूना निवृत्त्या न सा ॥

भावार्थ—चाहे तो आत्मा की सेवा करके सब का उद्धार करने वाली जगत्-सेवा कर और चाहे जगत्-सेवा करके आत्म-सेवा कर—दोनों का पर्यवसान एक ही है । यहाँ सेवा शब्द का अर्थ जगत् को मायिक या प्रापञ्चिक सुख में आगे बढ़ने के लिए सहायता करना नहीं है; किन्तु जगत् को आत्माभिमुख करके दुःख से उसका सर्वथा उद्धार करना है । ऐसी सेवा कदाचित् प्रवृत्ति-रूपिणी हो, तो भले ही हो; किन्तु उस प्रवृत्ति में प्रवर्त्तक की निष्कामवृत्ति होने के कारण वह गाढ़कर्मबन्धन-जनक नहीं होती या वह प्रवृत्ति, निवृत्ति से जरा भी कम नहीं होती । निवृत्ति के समान ही होती है । (११४)

विवेचन—पौर्वात्य और पाश्चात्य उभय तत्त्व-विचारकों में प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रतिपादक हैं । यह पहले कहा गया है । तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' अर्थात्—ब्रह्मज्ञान से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात्—(ज्ञान-प्राप्ति के सिवा) दूसरा मार्ग मोक्ष-प्राप्ति के लिए नहीं है । एक अन्य

उपनिषद् में कहा है—'पूर्व के ज्ञानी पुरुषों को पुत्रादि की कामना नहीं थी। सभी लोग यह ख़याल करते थे कि जब हमें आत्मा मिल गया है, तब हमें और किसी की क्या आवश्यकता है। ऐसा कह कर वे सन्तति-सम्पत्ति और स्वर्ग आदि किसी भी वस्तु की एषणा—इच्छा न करते थे और इससे निवृत्त होकर वे ज्ञानी पुरुष स्वेच्छभिक्षाचर्या करते हुए घूमते-फिरते थे।' जर्मन फ़िलासफ़र शोपनहार भी इसी प्रकार एकान्त-निवृत्ति-मार्ग का बोध कराते हुए कहता है कि 'जगत् का सारा व्यवहार, बल्कि जीवित रहना भी दुःख-मय है, इसलिए जल्दी-से-जल्दी तत्त्वज्ञान का सम्पादन करके सब कर्मों का नाश करना ही इस जगत् के मनुष्यों का सच्चा कर्त्तव्य है।' इसी के अनुसार जैन-धर्म के सूत्र-ग्रन्थों में भी निवृत्ति-मार्ग की यथोचित महिमा गाई गई है। इसके विपरीत कई आर्य-ग्रन्थों में प्रवृत्ति को भी निवृत्ति के ऊपर पद दिया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के पाँचवें अध्याय में कहा गया है कि—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

अर्थात्—संन्यास और कर्मयोग, यह दोनों निःश्रेयस्कर; अर्थात्-मोक्ष प्रद हैं; परंतु दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की विशिष्टता अधिक है। इसी प्रकार गणेशगीता के चौथे अध्याय में कहा है—

क्रियायोगो वियोगश्चाप्युभौ मोक्षस्य साधने।
तयोर्मध्ये क्रियायोगस्त्यागात्तस्य विशिष्यते॥

अर्थात्—कर्मयोग और कर्मवियोग-कर्मसंन्यास यह दोनों मोक्ष के साधन हैं और इन दोनों में कर्मयोग, कर्मत्याग या कर्मसंन्यास की अपेक्षा विशेषता रखता है। अन्य आर्यग्रन्थों

में भी कर्मयोग और कर्मत्याग दोनों को मोक्ष का साधन तो माना है; परंतु उनमें कर्मयोग को उच्च पद दिया गया है। पाश्चात्य फिलासफरों का दूसरा पक्ष तो कर्मत्याग को तिरस्कृत ही कर देता है। फ्रेंच तत्त्ववेत्ता ऑगस्टस कॉंट कहता है कि—तत्त्व चिन्तन में ही डूब कर आयुष्य व्यतीत करने को श्रेयस्कर बताना भ्रांतिमूलक है। और यदि कोई तत्त्वज्ञ पुरुष इस प्रकार आयुष्यक्रम बताकर, अपने द्वारा होने वाले लोक-कल्याण के कार्य को त्याग देता है तो यह कहना चाहिए कि वह अपने को प्राप्त हुए साधनों का दुरुपयोग करता है।

इस श्लोक में ग्रन्थकार कर्मयोग और कर्मत्याग, दोनों को नीचे या ऊँचे न रखकर, समान पंक्ति में रखते और कहते हैं कि—चाहे तो आत्म-सेवा करके सब का उद्धार करने वाली जगत्-सेवा कर, और चाहे जगत्-सेवा करके आत्म-सेवा कर। दोनों तुल्य-बल—समान बल वाली हैं और दोनों आत्म-कल्याण कारिणी हैं। पूर्व श्लोक में कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए, जिस प्रकार निष्कामवृत्ति के द्वारा उसकी मर्यादा स्थिर की गई है, उसी प्रकार यहाँ निष्काम-वृत्ति के उपरांत 'सेवा' का प्रकार प्रदर्शित करके दूसरी मर्यादा भी स्थिर की गई है। तीसरी अवस्था—कि जिसमें भी 'सेवा' का विधान किया गया गया है—और चौथे आश्रम की सेवा के बीच एक रेखा खींच दी गई है। देश का ऐहिक कल्याण करने वाली सेवा से आगे बढ़कर, इस आश्रम में मनुष्य को समग्र जगत् का आमुष्मिक कल्याण करने वाली सेवा करना उपयुक्त है और इसलिए *'सेवोद्धारमयी मताऽत्र'* जगत का उद्धार करने वाली सेवा यहाँ समझना चाहिए—मायिक या प्रापंचिक सुख उत्पन्न करने वाली नहीं। यह सेवा प्रवृत्तिरूपी होने पर भी अनिष्टकर नहीं है; परन्तु वह

कब ? जब वह निष्काम भाव से की जाय तब। गीता में भी निष्काम प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को समान बल वाली कहा गया है। ५ वें अध्याय में कहा गया है कि—'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' अर्थात्—जिस मोक्ष स्थान पर सांख्य मार्ग वाले पहुँचते हैं, निवृत्तिमार्ग वाले पहुँचते हैं, उसी स्थान पर कर्मयोगी भी पहुँचते हैं; और उसमें कर्मयोगी के लिए यह मर्यादा बनाई गई है कि—'कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोक-संग्रहम्' अर्थात्—विद्वानों, ज्ञानियों को आसक्ति रहित होकर, अर्थात्—निष्काम भाव से लोक संग्रह करना चाहिए यानी लोगों को ज्ञानी बनाना चाहिए। यह लोक-संग्रह भी ऊपर की गई उद्धारमयी सेवा के विधान का ही एक प्रकार है। प्रत्येक प्रवृत्ति बंधजनक अर्थात्—कर्म का बंध करने वाली है। परंतु यह प्रवृत्ति जब लोगों की उद्धारमयी सेवा तथा निष्काम भाव से योजित होती है, तब वह 'गाढ़' बंधजनक नहीं होती। इष्ट या अनिष्ट, अच्छे या बुरे, किसी भी कर्म का बंधन तो आत्मा को प्राप्त होता ही है। कर्म बंधन भी शुभ और अशुभ, दो मुख्य प्रकार का है। उनमें सत्कर्म से भी कर्म बंधन प्राप्त होता है—कर्मवादी तत्त्ववेत्ताओं का यह कथन है; इसलिए यहाँ 'गाढ़' कर्मबंधन नहीं होता, यह कहकर ऐसी उचित प्रवृत्ति को निवृत्ति की सम कक्षा में रखते हुए ग्रन्थकार ने *'न्यूना निवृत्त्या न सा'* ऐसा विधान किया है। *(११४)*

[निष्काम भाव से समग्र जगत् की उत्तम सेवा करने की प्रवृत्ति के लिए अपने मनस् की स्थिति कितनी उच्च रखनी चाहिए—इसे प्रकट करने के लिए ग्रन्थकार 'विश्वप्रेम' का महत्त्व प्रदर्शित करते हैं।]

विश्व-प्रेम ॥११५॥

विश्वप्रेमनिबन्धनाय करुणाधर्मस्य रक्षाकृते ।
रागद्वेषनिवारणाय समताभावाधिरोहाय च ॥
मन्यस्वात्मसमानमेतदखिलं दुःखे सुखे वा जग-
त्सर्वप्राणिगणं कुटुम्बसमकं नक्तंदिवं भावय ॥

भावार्थ—विश्व अर्थात् समस्त जगत् के साथ प्रेम करने के लिए, करुणा—अहिंसा धर्म का पालन करने के लिए, राग द्वेष की वृत्ति का निवारण करने और समभाव की सीढ़ी पर चढ़ने के लिए, सुख तथा दुःखके सम्बन्ध में इस सारे जगत् को तू अपने समान समझ, अर्थात्—ज्यों तुझे सुख इष्ट और दुःख अनिष्ट मालूम होता है, त्यों सारे जगत् को भी मालूम होता है, अपने मनमें यह निश्चय कर और रातदिन प्राणिमात्र को अपने कुटुम्बी के समान समझने की भावना कर। (११५)

विवेचन—समस्त विश्व के जीवों के प्रति प्रेमभाव प्रकट करने के लिए मनुष्य को किस श्रेणी तक पहुँचना चाहिए? भिन्न-भिन्न धर्म पंथ के प्रचारकों ने विश्वप्रेम या विश्वबन्धुत्व प्रकट करने के लिए जो श्रेणी बतलाई है, वह कौन-सी है? भगवद्गीता में कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! सुख हो या दुःख हो, परन्तु जो अपने समान ही इतर को भी आत्मौपम्य दृष्टि से सर्वत्र समान देखता है, वही योगी उत्कृष्ट माना जाता है। इसी प्रकार आचारांग सूत्र में कहा है कि—'आयओ बहिया पास तम्हा ण हंता ण

विधायए।' अर्थात्—अपने हृदय में सुख या दुःख के प्रति जैसी भवना हो, वैसी ही भावना से दूसरों के सुख-दुःख की ओर देखना चाहिए। यानी सबकी आत्माएँ समान हैं, इसलिए हमको जिस प्रकार सुख इष्ट और दुःख अनिष्ट प्रतीत होता है, उसी प्रकार दूसरे के लिए भी यही समझ कर समस्त वसुधा के प्रति प्रेमभाव धारण करना -विश्वबन्धुत्व प्रकट करना ही विश्व-प्रेम है। गीता, ऐसे पुरुष को परमयोगी कहती है। परन्तु इस 'प्रेम' शब्द से घबड़ा न जाना चाहिए। यह प्रेम – विश्व-प्रेम-स्थूल वस्तुजन्य नहीं है, स्वार्थ-दृष्टि का प्रेम नहीं है; बल्कि '*सव्वेसिं जीवियं पियं*' सबको जीवित रहना प्रिय है-ऐसे ज्ञान के साथ आत्मौपम्य दृष्टि अथवा समता भाव है और इससे '*विश्वप्रेमनिबन्धनाय*' इस प्रयोग के साथ '*रागद्वेषनिवारणाय*' और '*समताभावाधिरोहाय*' यह प्रयोग करके भी ग्रन्थकार ने 'प्रेम' शब्द के अन्तर्गत माने हुए 'राग' का भ्रम दूर कर दिया है। इसी विश्वप्रेम की भावना को मनुष्य में जागृत करते हुए मिसेज़ बीसेन्ट कहती हैं—'हमें निःस्वार्थ वृत्ति धारण करना, स्वात्म भोग देना और आत्म-संयम करना सीखना चाहिए; परन्तु जब तक हम यह नहीं कहने लगें कि 'विश्व में और कोई भी नहीं है, मैं ही सबमें समाविष्ट हूँ' तब तक हम एक ब्रह्म में समाविष्ट नहीं हो सकते'। जब सब मनुष्य यह कहने लगेंगे; अर्थात्—स्वात्म दृष्टि से देखने लगेंगे, तब जगत् में स्वर्ण-युग प्रवर्तित समझा जायगा। जब कोई एक मनुष्य भी अपने जीवन में ऐसा कहना सीख लेगा, तब वह जहाँ जायगा, वहाँ आशीर्वाद रूप हो जायगा।' तात्पर्य यह है कि विश्वप्रेम धारण करने वाले जिज्ञासु मनुष्य को आत्मौपम्य दृष्टि से देखना चाहिए, मनुष्य से लेकर एक सूक्ष्म जंतु तक सब जीवों-प्राणियों के

प्रति उनके सुख दुःख में अपने कुटुम्बी के समान ही भाव रखना चाहिए। ऐसी दृष्टि से देखने वाले के रागद्वेष के स्वल्प बंधन भी अपने आप टूट जायँ, यह कोई नई बात नहीं है। (११५)

[मनुष्य में, ममत्व प्रकट करने वाला प्रेम तो थोड़ा बहुत होता ही है, किसी के प्रेम की वस्तु कैसी होती है और किसी की कैसी। ज्यों ज्यों प्रेम का वर्तुल विशाल होता जाता है, त्यों त्यों उसकी श्रेणी उच्च होती जाती है। प्रेम की कोटि के अनुसार मनुष्य की उत्तमता या अधमता का विचार ग्रन्थकार नीचे के श्लोक में करते हैं।]

सर्वोत्तम विश्वप्रेमी ॥११६॥

आत्मीयं जडदेहमेव मनुते स्वाधमो मानवः।
पुत्राद्यं मनुजोऽधमो निजकुलं ग्रामं पुनर्मध्यमः॥
सोऽयं मानव उत्तमो जनपदं नैजात्मवन् मन्यते।
यो विश्वं निखिलं विशालहृदयः सर्वोत्तमोऽसौ नरः॥

भावार्थ—इस जड़ देह—स्थूल शरीर को ही जो अपना मानते हैं, वे जगत् में अधमाधम समझे जाते हैं, जो अपने पुत्र-पुत्री आदि अपने कुटुम्बियों को अपना मानते हैं, वे अधम मनुष्य कहलाते हैं; जो अपने गाँव के मनुष्यों को अपना मानते और उनके सुख दुःख में भाग लेते हैं, वे उत्तम मनुष्य कहे जा सकते हैं, और जो सारे जगत् के प्राणियों को अपने समान समझते हैं, वे विशाल हृदय के मनुष्य इस जगत् में सर्वोत्तम—उत्तमोत्तम समझे जाते हैं। (११६)

विवेचन—जिस प्रकार भर्तृहरि ने 'एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाःस्वार्थान्परित्यज्यये' इस श्लोक में स्वार्थ-परार्थ की दृष्टि

के मनुष्य के चार भेद करके दिखाये हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त श्लोक में ग्रन्थकार ने प्रेम के वर्तुल की विशालता की कल्पना करके उत्तरोत्तर पाँच भेद किये हैं। आधिभौतिक सुखवाद और आध्यात्मिक सुखवाद की भिन्न-भिन्न शाखाओं का सम्मेलन करने से भी हमें इस प्रकार पाँच प्रकार के मनुष्य इस जगत् में मिलेंगे—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम। कहने की आवश्यकता है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने शरीर की पूर्ति करने योग्य स्वार्थ में ही सब वस्तुओं की समाप्ति मान लेता है, कोई अपने और अपने कुटुम्ब के स्वार्थ में ही सारे जगत् का कल्याण हुआ समझता है, कोई अपनी जाति, समाज या गाँव के हित तक दृष्टि बढ़ाकर ही बैठा रहता है और समझ लेता है कि इसके आगे और कोई विचारने की बात नहीं है; कोई इस दृष्टि को अपने देश तक दौड़ाता है और कोई समग्र विश्व तक ले जाता है, उसी प्रकार प्रतिपादन करने वाले कई प्राचीन विद्वान् भी थे और वे अपने भिन्न-भिन्न पंथ तक चला गये हैं। इनके मत और पंथों पर देशी और विदेशी विद्वान् आज चर्चा कर रहे हैं। प्राचीन काल में जड़ देह की पूर्ति के योग्य स्वार्थवाद का प्रतिपादन चार्वाक ने किया है। इस प्रकार के कुछ मनुष्य जब विचार करते हैं कि अकेले स्वार्थ के साधन से हमें सुख प्राप्त होना सम्भव नहीं है, कारण कि सुख जैसा हमें प्रिय है, वैसा हमारे कुटुम्बियों या आप्तजनों को भी प्रिय होता है, और वे भी जब स्वार्थदृष्टि से अपने ही सुख की ओर देखेंगे, तब कुछ अंश में हमारे सुख का भी उसमें समावेश हो जाना सम्भव है, इसलिए यदि हम उन्हें सुख देंगे, तो वे हमें देंगे—ऐसी दृष्टि से विचार करने वाले आधिभौतिक सुखवादियों की दूसरी श्रेणी है। ऐसे लोगों में जो लोग कुछ दीर्घ दृष्टि वाले होते हैं, वे विचारते हैं कि जैसे हमारा कुटुम्ब सुख

चाहता है, वैसे दूसरे का कुटुम्ब भी चाहता है; इसलिए स्वतः सुख प्राप्त करना और दूसरों को भी प्राप्त कराना या देना आवश्यक है। अन्यथा, हमारे सुखभोग करने में दूसरे लोग अन्तरायभूत—बाधक—होंगे। यदि हम लोगों को मारेंगे, तो वे हमें मारेंगे, और यदि हम उन्हें सुख देंगे, तो वे हमें देंगे—विनिमय भाव के इस सरल सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले लोगों की दृष्टि अपने समाज या गाँव तक ही पहुँचती है। वस्तुतः नीति के सिद्धान्त का आरंभ ऐसे ही लोगों से होता है। ऐसे लोग अहिंसा, अस्तेय आदि सिद्धान्तों को मानते हैं; परन्तु वह केवल इसीलिए कि वे हिंसा में स्वार्थमूलक भय मान लेते हैं। परन्तु इससे अधिक दीर्घ दृष्टि वाले मनुष्य देखते हैं कि अपने नगर को भी दूसरे नगरों का भय होता है। एक नगर में धन-धान्य की विपुलता हो और दूसरे नगर में दुर्भिक्ष पड़ा हो, तो दूसरा नगर, धनधान्य का उपभोग अपने नगर को नहीं करने देता; इसलिए 'स्वदेशसंरक्षणमेव नित्यम्' इस सिद्धान्त को ग्रहण करके अपने देश का विविध प्रकार हित-साधन करने में उद्युक्त होता है। इससे भी विशाल दृष्टि के मनुष्य क्या विचारते हैं? 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' आत्म प्रीत्यर्थ सब वस्तुएँ हमें प्रिय लगती हैं, और सभी प्रेम जब आत्ममूलक हैं, तब आत्मा की पहचान हमें सबसे पहले कर लेनी चाहिए। इसीलिए याज्ञवल्क्य मुनि ने उपनिषद् में यह उपदेश किया है कि—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अर्थात्—आत्मा कौन है, यह पहले देख, सुन और उसका मनन तथा ध्यान कर। इस उपदेश के अनुसार आत्मा के सच्चे स्वरूप को एक बार पहचान लिया कि फिर सब जगत् आत्ममय ही भास होने लगता है। स्वार्थ और परार्थ का भेद ही मनसे दूर हो जाता है। दशवैकालिक

सूत्र के कथनानुसार 'सव्वे जीवावि इच्छंति जिविउं न मरिज्जिउं' का तत्त्वार्थ समझ में आ जाता है और सच्चा विश्व-प्रेम प्रकट होता है। यह उत्तमकोटि का मनुष्य है। इस विचार श्रेणी का अनुसरण करके ग्रन्थकार ने इस श्लोक में उत्तरोत्तर पाँच प्रकार के मनुष्यों की गणना कराई है।

दृष्टान्त—एक नगर की पांथशाला—मुसाफिरखाने में एक वणिक-कुटुम्ब आकर उतरा। उस कुटुम्ब में चार व्यक्ति थे—एक वृद्ध, दूसरा उसका युवक पुत्र, तीसरी उसकी स्त्री और चौथा एक बालक। मार्ग में उनका एक परिचित ब्राह्मण भी साथ हो लिया। पांथशाला की एक कोठरी में युवक वणिक, उसकी स्त्री और बालक सोये और बाहर दालान में वृद्ध वणिक और वह ब्राह्मण सोया। दैवयोग से आधीरात के समय पांथशाला में आग लग गई और जिस भाग में वे सब सोये थे, उसका छप्पर जलने लगा। आग की गर्मी से आकुल हुआ वृद्ध जाग पड़ा और उसने देखा कि छप्पर जल रहा है, तो वह 'अरे बापरे! आग लगी!' चिल्लाता हुआ बाहर भाग निकला। वृद्ध की चिल्लाहट सुनकर कोठरी में सोया हुआ वह युवक वणिक भी जाग पड़ा और उसने कोठरी में धुआँ भरा हुआ देख कर तुरन्त अपनी स्त्री को जगाया और तुरन्त बाहर निकल आने को कहा। स्त्री अपने सोते हुए बालक को गोद में लेकर तुरन्त बाहर की ओर भाग निकली और पति भी पीछे हो लिया; परन्तु दालान में उसने ब्राह्मण को अभी तक सोते हुए देखा। उसे विचार हुआ कि ब्राह्मण अपना परिचित है और फिर मुसाफिरी में उसका साथ हुआ है, इसलिए उसे जगा लेना चाहिए। अतएव उसे हिलाकर उसने जगाया। इस समय छप्पर खूब जल रहा था और ऊँची-ऊँची लपटें उठ रही थीं, वह युवक यह सब देख कर घबड़ा गया और इधर-उधर दौड़कर चिल्लाने लगा—भाइयो पांथशाला

में आग लग गई है, इसलिए शीघ्र उठो और भागो ! यह सुन कर पांथशाला से मुसाफिर उठ-उठ कर भागने लगे। पांथशाला में एक साधु था, उसने ब्राह्मण से कहा—भाई, सब कोठरियों को देखलो, कोई रह तो नहीं गया, वर्ना आफत में पड़ जायगा। ब्राह्मण ने सब ढूँढ़ देखा और आकर साधु से बोला—पांथशाला में अब कोई नहीं मालूम होता, एक कोठरी में सिर्फ एक पठान सो रहा है, पर उस कोठरी का दरवाजा जल रहा है इसलिए अन्दर जाकर उसे जगाया नहीं जा सकता। साधु ने कहा—परन्तु बाहर से आवाज़ देकर तो उसे जगाया जा सकता था ? ब्राह्मण बोला—मैंने बहुत पुकारा, और सब जाग गये; पर वह तो अभी तक घर्र घर्र करके सो रहा है, तो क्या किया जाय, उसका दुर्भाग्य ! यदि एक म्लेच्छ देश में न रहेगा, तो देश का कौनसा सत्यानाश हो जायगा ? यह कहता हुआ वह ब्राह्मण पांथशाला से बाहर हो गया। साधु यह सुन कर दौड़ा और जिस कोठरी में पठान सोया था, उसके दरवाज़े को अपने चिमटे से तोड़ डाला। अन्दर जाकर देखा, तो मालूम हुआ कि अभी-अभी वह पठान जागा है और जैसे ही दरवाजा तोड़ा गया कि वह जान लेकर बाहर भागा। परन्तु कोठरी में उस साधु ने क्या देखा ? वह पठान एक मदारी था। उसके साथ एक बन्दर, एक बकरा और पिंजरे में एक तोता था। तीनों प्राणी चिल्ला रहे थे। छप्पर और खिड़की-दरवाज़े जल रहे थे। कोठरी में अधिक देर रहना साधु के लिए खतरनाक था, फिर भी उसने बन्दर और बकरे को खोला और बन्दर को गोद में लेकर दौड़ते हुए जलते दरवाज़े से बाहर निकला और उसे बाहर छोड़ आया। फिर दूसरी बार उसने बकरे को भी उसी प्रकार बाहर निकाला और अन्त में तोते को भी बाहर कर लिया; परन्तु इस समय तक वह इतना जल गया था कि बाहर

आते ही वह पांथशाला के चौक में ढेर हो गया। मुसाफिर लोग सब पांथशाला के बाहर भाग गये थे, इसलिए उसकी सुध लेने वाला वहाँ कोई नहीं था। पांथशाला जल कर खाक हो गई और सवेरा हुआ। सवेरे लोग आये और साधु को दुर्दशा में देख कर उसकी शुश्रूषा करने लगे। उस समय साधु ने कहा—भाइयो! मुझे जरा भी कहीं दर्द नहीं है, इसलिए मेरी सेवा करने की जरूरत नहीं है; बल्कि जो लोग अपने आसपास के जगत् को नहीं देख सकते हों, उनकी दृष्टि की सेवा करो। इतना कह कर उसने प्राण त्याग दिये! इस घटना में सब प्रकार के मनुष्य प्राप्त हो जाते हैं। अपने शरीर से आगे दृष्टि न बढ़ाने वाला वृद्ध वणिक था, अपने कुटुम्ब को ही अपना समझने वाली युवक वणिक की स्त्री थी. अपने कुटुम्ब के सिवा अपने गाँव के या पहचान के मनुष्य पर ममत्व रखने वाला वह युवक वणिक था, अपने देश बन्धुओं की ही सेवा करने की जिज्ञासा वाला वह ब्राह्मण था और अन्त में पठान ही नहीं बन्दर, बकरे और तोते की जान बचाने के लिए अपने प्राणों को स्वाहा कर देने वाला वह साधु था। इन सब में अधमाधम से लेकर सर्वोत्तम तक पाँचों श्रेणियों के मनुष्यों की दृष्टि का हमें अनुभव होता है। (११६)

[पहले बतलाया गया है कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इस दृष्टि को ग्रन्थकार नीचे लिखे श्लोक में विस्तार के साथ समझाते हैं।]

आत्मदृष्टि से जगत् का निरीक्षण ॥११७॥

हत्वा मोहबलं विहाय ममतामात्म्ये निबद्धां कुले।
पश्य त्वं निखिलं जगद्धिततया चैतन्यदृष्ट्या सदा॥
साद्दश्यादखिलात्मनां विषमतालेशो न भासेत ते।
रागद्वेषनिशातनं सहजतो रीत्याऽनया सम्भवेत्॥

भावार्थ—हे मुमुक्षो ! मोहनीय कर्म के बल को परास्त करके, अपने ही कुटुम्ब के प्रति ममता का उच्छेद करके, इस सारे जगत् को विशाल चैतन्यदृष्टि से तू हमेशा देखा कर। चैतन्यदृष्टि से देखने पर जगत् के अखिल आत्माओं का चैतन्य एक समान प्रतीत होता है और किसी को उच्च तथा किसी को नीच समझने की विषमता का तनिक भी ज्ञान नहीं होता और इस प्रकार सरलता से राग-द्वेष का उच्छेदन संभव हो जाता है। (११७)

विवेचन—आत्मसेवा ही जगत्-सेवा है और जगत्-सेवा ही आत्म-सेवा—ऐसा जो पहले कहा गया है, उसकी पूर्ति के लिए यह श्लोक है। ऐसा ज्ञान मनुष्य को कब होता है? जब वृत्ति में से राग-द्वेष का नाश हो जाता है। यह मेरा कुटुम्ब है, और यह पराया मनुष्य है, या वह मनुष्य तो बिल्कुल जंतु के समान है—ऐसी भावना का जब बिल्कुल नाश हो जाता है और चैतन्यदृष्टि से सारा जगत् आत्म-तुल्य प्रतीत होने लगे, तब मनोवृत्ति की विषमता का नाश होता है, राग-द्वेप का उच्छेदन होता है और विश्वप्रेम का विकास होता है। विश्व-प्रेम भी दो प्रकार का है—एक, निषेध मुख और दूसरा, विधिमुख। इस जगत् में कोई भी मेरा नहीं है—ऐसा समझकर जब सब जीवों के प्रति राग-द्वेप का नाश कर दिया जाता है और तब जो विश्वप्रेम प्रकट होता है वह निषेध मुख है और सारा जगत् मेरा है—ऐसा समझ कर एक जीव के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष या अपनों के प्रति राग और परायों के प्रति विराग या द्वेष नष्ट हो जाना और 'सर्वभूतंस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि;' अर्थात्—सर्वभूतों में स्वात्मा को और स्वात्मा में सर्वभूतों को देखने पर जो विश्वप्रेम प्रकट होता है, वह विधिमुख

है। यह दोनों प्रकार का विश्वप्रेम, तब ही प्रकट होता है कि जब मनुष्य को आत्मा का स्वरूप समझ में आजाय, इसलिए मनुष्य को आत्म-चिंतन करना चाहिए और आत्म-स्वरूप को समझने के बाद या तो निषेधमुख विश्वप्रेम द्वारा निवृत्ति की उपासना, या विधिमुख विश्व-प्रेम के द्वारा निष्काम प्रवृत्ति की उपासना करना चाहिए। केवल कर्मयोग का पक्ष लेने वाले निष्काम होने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं; परन्तु कर्म के निष्काम होने पर भी, उसके बिल्कुल विशुद्ध होने की प्रतीति के बिना वह निरर्थक है। विशुद्ध निष्काम कर्म तो वही मनुष्य कर सकता है, जो आत्मचिंतन के द्वारा आत्म-स्वरूप को समझ लेता, ध्यान के द्वारा सब जीवों के हिताहित को यथार्थ रूप में जान लेता और तब निष्काम प्रवृत्ति में संलग्न होता है। इसीलिए ग्रन्थकार 'पश्य त्वं निखिलं जगद्धिततया चैतन्यदृष्ट्या सदा' ऐसा कहकर, चैतन्यदृष्टिपर—आत्मदर्शन करने की आवश्यकता पर अधिक जोर देते हैं। (११७)



दूसरा परिच्छेद

वैराग्य-प्रकरण

[विश्व-प्रेम और आत्म-भावना का मूल वैराग्य में सन्निहित है, और वैराग्य अनेक कारणों से जन्म धारण करता है। आत्म-दृष्टि की पूर्ण भावना से जो वैराग्य पैदा हो और जिससे राग द्वेष का अन्त हो जाय, वही वैराग्य सर्वोत्तम है। परन्तु इसके सिवा भी अन्य कारणों से वैराग्य पैदा होता है। निम्नलिखित श्लोक में ग्रन्थकार तीन प्रकार के वैराग्य के विषय में चर्चा करते हैं।]

तीन प्रकार का वैराग्य ॥११८॥

यद्दुःखेन गृहं जहाति विरतस्तद्दुःखगर्भं मतं।
मोहादिष्टजने मृते मुनिरभूत् तन्मोहगर्भं खलु ॥
ज्ञात्वाऽऽत्मानमलं मलादुपरतस्तज्ज्ञानगर्भं परं।
सच्छास्त्रेऽधममध्यमोत्तमतया वैराग्यमाहुस्त्रिधा ॥

भावार्थ—किसी मनुष्य पर कोई दुःख या विपत्ति आ जाती है तो वह विरक्त होकर घर द्वार त्याग देता है—यह वैराग्य दुःख गर्भित; अतः अधम प्रकार का है। किसी मनुष्य का अपने किसी स्वजन पर अत्यन्त मोह होता है और उसके मर जाने पर वह विरक्त होकर साधु-मुनि बन जाता है—यह वैराग्य मोह गर्भित; अतः मध्यम प्रकार का कहलाता है। और किसी मनुष्य को पूर्व-संस्कार या गुरु के उपदेश से आत्मभाव होता है और वह जगत् की माया की तुच्छता समझकर संसार

को त्याग देता है और पाप से निवृत्त हो जाता है—यह वैराग्य ज्ञान-गर्भित; अतः उत्तम प्रकार का माना जाता है। (११८)

विवेचन—मनुष्य को अनेक प्रसंगविशेषों से वैराग्य पैदा होता है और उन प्रसंगविशेषों के अनुरूप वैराग्य के भिन्नभिन्न प्रकारों का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। कई मनुष्यों पर जब कोई असह्य दुःख आपड़ता है, तब उन्हें संसार की कटुता का अनुभव होता है और इस कटुता के कारण संसार से ऊबकर उन्हें संसार को त्याग देने की इच्छा होती है। जब तक संसार में मधुरता का अनुभव हो रहा था, तब तक संसार में आसक्ति रही. और कटुता का अनुभव होते ही उसके प्रति ऊब उत्पन्न हो गई, जो एक प्रकार का वैराग्य है; परन्तु वह दुःखगर्भित वैराग्य है, एक प्रकार की संसार भीरुता है और केवल ऐसी भीरुता से किया हुआ संसार का त्याग, आत्मोपकारक नहीं होता—भविष्य की आत्मनिर्मलता या रागद्वेष के त्याग का कारण ही बन सकता है। इस प्रकार ऊब कर एक बार संसार को छोड़ देने पर जो अवकाश मिलता है उसके बीच यदि सद्‌गुरु की प्राप्ति हो जाती है, तो भवसागर को तर जाने में कारणरूप बनने वाला सच्चा वैराग्य पैदा होने के उदाहरण मिल सकते हैं और उस समय वह दुःखगर्भित वैराग्य सच्चे वैराग्य का निमित्त बनकर उपकारक सिद्ध हो जाता है। परन्तु, इस सच्चे वैराग्य से हीन दुःखगर्भित वैराग्य निष्फल है और इसी से ग्रन्थकार ने उसे उचित रूप में अधम प्रकार का माना है। दूसरे प्रकार का वैराग्य मोहगर्भित होता है; अर्थात्—किसी व्यक्ति या वस्तु पर मनुष्य का अत्यन्त मोह अथवा आसक्ति हो और उस मोहनीय वस्तु का नाश या वियोग होने पर जो मानसिक दुःख हो और उसके अनुभव के उभार से वैराग्य उत्पन्न हो जाय, वह मोहगर्भित है। मोहगर्भित

वैराग्य भी शाश्वत नहीं होता, इसलिए वह उच्चकोटि में नहीं आ सकता। परन्तु मोहगर्भित वैराग्य, शाश्वत वैराग्य के जितना निकट है, उतना दुःखगर्भित वैराग्य नहीं। अतएव दुःखगर्भित वैराग्य की अपेक्षा मोहगर्भित वैराग्य कुछ उच्चकोटि रखता है। मनुष्य को जब मोहगर्भित वैराग्य उत्पन्न होता है, तब उसे संसार-सम्बन्ध तथा स्थूल वस्तुविशेष की अनित्यता का कुछ दर्शन हो जाता है और इसी प्रकार दुःखगर्भित वैराग्य से उसे कुछ उच्चकोटि में रखा गया है। मोह, मनका जितना प्रबल विषय है, उतना प्रबल सुख दुःख का नहीं है। इसलिए एक बार मोह पर आघात होने से जो वैराग्य पैदा होता है, वह सुख दुःख के आघात की मान्यता से कुछ बलवान होता है। किसी भी विषय में आसक्ति की जितनी प्रबलता होती है, उतनी ही प्रबलता, एक बार आसक्ति पर आघात होने से पैदा होने वाले वैराग्य की संभव होती है। इस कारण, मोहगर्भित वैराग्य को ग्रन्थकार ने मध्यम कोटि माना है। परन्तु यदि मोहगर्भित वैराग्य से शाश्वत वैराग्य न पैदा हो या कालक्रम से दृढ़ीभूत न हो, तो फिर मोह गर्भित वैराग्य भी आत्मभान कराने या विश्व प्रेम की उत्पत्ति के लिए निरुपयोगी है। उच्च कोटि का वैराग्य तो वही है, सद्विवेक या आत्मभान द्वारा उत्पन्न होकर माया की तुच्छता का साक्षात्कार कराये। एक बार साक्षात्कार हुआ कि फिर चाहे मनुष्य को जगत् न त्यागे, किन्तु वह जगत् को त्याग देता है और पाप उससे दूर भाग जाता है। यह ज्ञान गर्भित वैराग्य ही उत्तम प्रकार का है और यही विश्वप्रेम का मूल है। एक ग्रन्थकार सत्य कहता है कि विवेक के शस्त्र से राग के बन्धन का बल तोड़ डालने की प्रवृत्तिविशेष का नाम 'वैराग्य' है और वह मोक्ष पद का प्रथम सोपान है।

दृष्टान्त—एक सन्त, नगर से दूर नदी के किनारे पर्ण

कुटी बना कर रहते थे। एक साहूकार का लड़का अनेक प्रकार के पदार्थों से उनकी सेवा करने लगा। ऐसे पदार्थों के लिए सन्त उसे मना करते, तो भी वह नहीं मानता और कहता कि—महाराज! अच्छी-अच्छी चीजें खाने-पीने और पहनने ओढ़ने में क्या दोष है कि आपको वे अच्छी नहीं लगतीं? सन्त इसका कोई उत्तर नहीं देते। वह साहूकार का लड़का एक धनाढ्य की सुन्दरी लड़की पर मोहित हो गया था और इसलिए सन्तकी सेवा कर रहा था कि वे कोई ऐसा मन्त्र बतादें कि जिससे वह लड़की उसे प्राप्त हो जाय। एक बार उसने अपनी मनोकामना सन्त को कह सुनाई। सन्त ने कहा—कोई चिन्ता नहीं, मैं अभी उस लड़की को बुलवाये लेता हूँ। लड़की का पिता भी उन सन्त का भक्त था। सन्त ने उसे कहला भेजा कि तुरन्त वह अपनी लड़की को सन्त के पास भेज दे। लड़की जवान और सुन्दरी थी। लड़की के पर्णकुटी में पहुँचने पर, शाम को वह साहूकार का लड़का आया। लड़की उसके सुपुर्द करके सन्तजी ने कहा—इसे तुम जहाँ चाहो ले जाओ, परन्तु एक बात कहे देता हूँ कि यदि तुम इसका स्पर्श करोगे, तो पाँच पहर में तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। साहूकार के लड़के ने पहले तो मोह के कारण उसे अपने साथ ले लिया, पर रास्ते में मृत्यु का भय उसकी छाती पर सवार हो गया और सारी रात उसने उसके साथ बिताई; पर उसे स्पर्श तक न कर सका। प्रातः काल तक उसने मृत्यु के साथ युद्ध किया; पर जीत न सका। उसने मरना स्वीकार न किया इसलिए उस लड़की को छू भी न सका। प्रातःकाल होने पर उसने उस लड़की को उसके घर पहुँचा दिया और वह सन्त के पास आया। सन्त ने उससे पूछा—क्यों भाई, रात कैसे आनन्द में कटी? साहूकार के लड़के ने सच बात कह दी।

सन्त ने कहा—पाँच पहर के बाद मर जाने का जिसे भय है, वह सुख नहीं भोग सकता, तो जिसके सिर पर प्रत्येक क्षण मृत्यु का भय सवार है, वह तनिक भी अशाश्वत सुख किस प्रकार भोग सकता है ? यह सुनते ही साहूकार के लड़के को सच्चा भान हुआ, जगत् के स्थूल भोगों की नश्वरता उसकी समझ में आगई और वह सन्त महात्माओं की सेवा करता हुआ विरागी हो गया। उसे सद्विवेक के द्वारा माया की तुच्छता समझ में आगई और उसने वैराग्य धारण कर लिया—यह उत्तम कोटि का वैराग्य कहा जा सकता है। (११८)

[निम्नलिखित श्लोक में उच्च प्रकार के वैराग्य के भी पुनः दो भेद समझाये गये हैं।]

तीसरे प्रकार का दोमुखी वैराग्य ॥ ११९ ॥

ग्राह्यं तत्र तृतीयमेव विशदं निःश्रेयसार्थं जनै—
स्तद्द्वेधाऽस्ति समानभावजनितं यद्वैक्यभावोद्भवम् ॥
सर्वे मत्सदृशा धियेति ममतात्यागः कुटुम्बेऽग्रिम—
मेकोऽहं मम कोऽपि नेति जनिता निर्मोहता तत्परम् ॥

भावार्थ—तीन प्रकार के वैराग्यों में, तीसरे प्रकार का वैराग्य निर्मल होता है। तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए आदरणीय माना जाता है। उसके भी दो प्रकार हैं—एक समानभाव संकलित और दूसरा ऐक्यभावसंकलित। इस जगत् के समस्त प्राणियों को अपने समान मान लेने से जगत् के साथ आत्म-भाव का सम्पर्क हो जाने पर अपने कुटुम्ब के प्रति ममता का त्याग जिससे हो जाय, वह समानभावसंकलित वैराग्य है और मैं अकेला हूँ, मेरा और कोई नहीं है—इस भाव से जो

निर्मोह अवस्था प्राप्त होती है; वह ऐक्यभाव-संकलित वैराग्य कहलाता है। (११६)

विवेचन—पहले विश्व-प्रेम के जिस तरह दो प्रकार समझाये गये हैं, उसी तरह शाश्वत वैराग्य के भी दो प्रकार हैं। एक समान भाव-संकलित, और दूसरा ऐक्यभाव-संकलित, या एक विधिमुख और दूसरा निषेधमुख। जिस प्रकार जगत् के समस्त प्राणियों को अपने समान समझने से विश्व-प्रेम या वैराग्य पैदा होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों को पराया समझने के निर्मोह भाव से देखने पर भी विश्व-प्रेम या वैराग्य पैदा होता है। दोनों प्रकार का वैराग्य, सच्चा स्वात्मभान हुए विना पैदा नहीं होता। वृत्ति की बहिर्मुखता दूर होकर जब मन की सब वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती हैं, तभी दोनों प्रकार के वैराग्यों में से कोई एक प्रकार का वैराग्य उत्पन्न होता है। इस पर से प्रश्न होगा कि जब विश्व-प्रेम और शाश्वत वैराग्य दोनों समान कोटि के हैं और दोनों के समान प्रकार हैं, तब उन्हें अलग करने का कारण क्या है? कारण यही है कि वैराग्य, निवृत्ति मार्ग पसन्द करने वालों के लिये है और विश्व-प्रेम, निष्काम प्रवृत्ति का मार्ग पसन्द करने वालों के लिए। पहले, दोनों का समान फल कहा गया है, इसलिए यहाँ दोनों मार्गों को पसन्द करने वालों के सर्वोत्कृष्ट गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है। (११६)

[वैराग्य सहज-सुलभ नहीं है। संसार से उदासीनता प्राप्त होना; परन्तु अज्ञान-पूर्वक प्राप्त होना, सच्चा वैराग्य नहीं है। इसलिए सच्चा वैराग्य प्राप्त करने के लिए योग्य गुरु का समागम और मुनि धर्म के योग्य आचार-विचार में प्रवृत्ति उत्पन्न करना आवश्यक है। निम्नलिखित श्लोक में वैराग्य के अभ्यास के लिए आवश्यक बातों का बोध कराया गया है।]

वैराग्य का अभ्यास ॥१२०॥

भूशय्यारसहीनभोजनरमासंसर्गहानादिभिः।
साध्वाचारविचारपालनमयोऽभ्यासो विधेयश्चिरम् ॥
एवं चेन्द्रियनिग्रहेण मनसो दान्त्यात्मशान्त्या परं।
वैराग्यं परिशीलनीयमुचितं वर्षं द्विवर्षावधिम् ॥

भावार्थ—वैराग्य को परिपक्व करने के लिए मुमुक्षुजनों को एक या दो वर्ष तक वैराग्य का अभ्यास करना चाहिए। भूमि शय्या यानी जमीन पर एकाध वस्त्र बिछाकर सोना चाहिए, अच्छे-अच्छे पक्वान्नों का त्याग करके रसहीन भोजन करना चाहिए। स्त्री का संसर्ग छोड़ देना चाहिए। संक्षेप में, साधुओं की तरह आचार विचारों का पालन करते हुए अधिक समय तक अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार, इन्द्रियों का निग्रह और उनका दमन करके आत्मा को अतुल शान्त रखना चाहिए। (१२०)

विवेचन—इन्द्रियों का निग्रह किये बिना वैराग्य नहीं पैदा होता और तपश्चर्या की प्रवृत्ति के बिना निग्रह का साधन नहीं होता। शम-दम-यम-नियमादि का विधान, योगियों के कर्त्तव्य-कर्मों में किया गया है; परन्तु ये साधन सहज ही प्राप्त नहीं हो जाते, इसलिए इन्द्रियों का दमन आवश्यक है। इन्द्रियों पर कठोर नियन्त्रण करने से आत्मा को ग्लानि हो जाती है, इसलिए धीरे धीरे इस अभ्यास में आगे बढ़ना चाहिए। भूशय्यादि के द्वारा स्पर्शेन्द्रिय का, रसहीन भोजन द्वारा जिह्वेन्द्रिय का, स्त्री-संसर्ग त्याग कर विषय वृत्ति का और मुनिजनों के मौन तथा संगीत और सुगन्ध के त्याग आदि अन्य आचारों के द्वारा वाणी, कर्णेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय आदि का संयम-निग्रह करते

रहने. और इस प्रकार का अभ्यास एक दो वर्ष, या चिरकाल तक करके सिद्ध करने पर आगे बढ़ा जा सकता है। इस श्लोक में, इन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास—जोकि वैराग्य का प्रथम सोपान है—एक दो वर्ष के लिए ही करने को कहकर इति नहीं कर दी गई है, क्योंकि सबको इतने ही काल में वह सिद्ध नहीं हो जाता, इसलिए 'वर्ष' द्विवर्षावधिम्' के प्रयोग के साथ 'चिरम्' शब्द का प्रयोग भी किया गया है; अर्थात्—कम अधिकार वाले को इस अभ्यास के लिए अधिक समय की आवश्यकता हो, तो उसे अधिक समय भी लगाकर वैराग्य के अभ्यास को परिपक्व करना चाहिए। साधुजनों के आचारों का वर्णन जैनों के आचाराङ्ग सूत्र में, गीता में तथा उपनिषदों में विस्तार के साथ किया गया है और यदि उन सबका निष्कर्ष निकाला जाय, तो यही कहा जा सकता है कि ज्ञान पूर्वक वैराग्य का अभ्यास करने के लिए इन्द्रिय निग्रह करना आवश्यक है। आचाराङ्ग सूत्र में कहा है कि—'जब तक कान, आँख, नाक, जीभ और स्पर्शेन्द्रिय को विज्ञान शक्ति मन्द नहीं पड़ती है, तब तक तू अपना आत्मार्थ सिद्ध करले।' तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों की शक्ति के शून्य होने से पूर्व ही उनका निग्रह करके आत्मार्थ-साधन करना चाहिए। भगवद्गीता में भी कहा है कि—'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।' अर्थात्—योगी को एकान्त में रहकर चित्त और आत्मा को नियत करके काम वासनाओं और परिग्रहों को त्याग कर, योगाभ्यास करना चाहिए। पहले जो दो प्रकार का उच्च वैराग्य बतलाया गया है, वह इस प्रकार के अभ्यास द्वारा सिद्ध होता है। (१२०)

[बिना ज्ञानका वैराग्य, बिना तेल के दीपक के समान है; इसलिए अब ग्रन्थकार मुमुक्षुओं को ज्ञान प्राप्ति के लिए शास्त्राध्ययन करने का सूचन करते हैं।]

शास्त्रों का अध्ययन ॥१२१॥

साध्वाचारविचारबोधजनकं शास्त्रं यथानुक्रमं ।
ज्ञानार्थं पठितव्यमादरधिया स्थित्वा समीपे गुरोः ॥
तत्त्वज्ञानविशिष्टशास्त्रनिवहाऽभ्यासोऽपि कार्यो मुदा ।
सन्मार्गादिविनिश्चयाय सुधिया जिज्ञासुना श्रेयसे ॥

भावार्थ—वैराग्य का अभ्यास करने वाले मुमुक्षु को निवृत्ति के समय गुरु के पास रहकर, आदर-भाव से विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्रमपूर्वक उन शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए, जिनमें साधुओं के आचार-विचारों के विषय में उपदेश किया गया हो। इसके साथ-साथ सन्मार्ग का भी अधिक निश्चय करना चाहिए और श्रद्धा को शुद्ध बनाने के लिए, श्रेय के लिए, तत्त्वज्ञान के भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अध्ययन भी बुद्धिमान जिज्ञासुओं को अवश्य करना चाहिए। (१२१)

विवेचन—जगत् में कोई मनुष्य श्रेय की खोज करते हैं और कोई प्रेय की। कठोपनिषत् में कहा है कि 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।' अर्थात्—श्रेय और प्रेय मनुष्य को प्राप्त होते हैं, इन दोनों को सम्यक् रूप से देख कर, उन्हें भिन्न करके, धीरजन प्रेय को छोड़ श्रेय को ग्रहण करता है और मन्द बुद्धि वाला मनुष्य योगक्षेमरूपी श्रेय का त्याग कर प्रेय को ग्रहण करता है। यहाँ ग्रन्थकार ने श्रेयार्थी मुमुक्षु से कहा है कि वैराग्य का अभ्यास इन्द्रियदमन आदि से करना चाहिए; परन्तु पशुओं के समान इन्द्रिय-दमन न करके ज्ञानपूर्वक करना चाहिए और इसके लिए ऐसे शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए कि जिनमें वैराग्य के अभ्यास का क्रम-

पूर्वक विधान किया गया हो, अर्थात् साधुजनों के आचार-विचारों का उपदेश किया गया हो। यह अध्ययन भी किस प्रकार करना चाहिए? *'आदराधिया स्थित्वा समीपे गुरोः'* अर्थात्—आदर पूर्वक गुरु के समीप रह कर शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। शास्त्राध्ययन करते समय, शास्त्र के रहस्य को सम्यक् रूप में समझने की आवश्यकता होती है और इसके लिए परापूर्व से गुरु की आवश्यकता मानी जा रही है। (१२१)

[नीचे लिखे श्लोक में कृपालु गुरु की आवश्यकता दिखाई गई है।]

गुरु-कृपा ॥१२२॥

विद्या सिद्ध्यति सद्गुरोः सुकृपया पीयूषमय्या द्रुतं।
गुर्वाज्ञावशवर्त्तितादिसुगुणैः सम्पाद्यते सा कृपा॥
भक्त्या स्वार्पणरूपया त्वहरहः कृत्वा च सेवां गुरोः।
सम्पाद्या विनयेन सद्गुरुकृपा जिज्ञासुना श्रेयसे॥

भावार्थ—अभ्यास-अध्ययन करने वाला, चाहे जितना अभ्यास-अध्ययन करे; परन्तु सद्गुरु की कृपा के विना विद्या की सिद्धि नहीं होती। किन्तु अमृत के समान सद्गुरु की कृपा से तुरन्त ही विद्या की सिद्धि हो जाती है। गुरु की आज्ञा के अधीन रह कर और विनयादि सद्गुणों से गुरु की कृपा प्राप्त की जा सकती है; इसलिए जिज्ञासुओं को श्रेय के लिए सर्वस्व अर्पण करने वाली परम भक्ति से, विनयपूर्वक सर्वदा सद्गुरु की सेवा करके उनकी कृपा प्राप्त करना चाहिए। (१२२)

विवेचन—इस श्लोक में गुरु की कृपा की महिमा गाई गई है। ग्रन्थों के पढ़ने या नेत्रों से जगत् का निरीक्षण करने से विद्या की सिद्धि नहीं होती; वाचन, मनन, निरीक्षण आदि के

द्वारा जो स्वानुभव सिद्ध ज्ञान प्राप्त किया हो, उसमें भी गुरु का विशिष्टानुभूत ज्ञान जब सन्निविष्ट किया जाता है, तभी तेजी से प्रगति होती है। अतएव, मुमुक्षु के लिए गुरु की बड़ी आवश्यकता है। मि० ई० टी० स्टर्डी 'गुरु और शिष्य' के विषय में लिखते हैं कि—'गुरु अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर चलता है और शिष्य अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर। इसी प्रकार समय व्यतीत होता है और ज्यों-ज्यों शिष्य गुरु के गुणों तथा सदाचार की गहराई में पैठता जाता है, त्यों-त्यों गुरु के प्रति उसका प्रेम तथा मान बढ़ता जाता है। शिष्य को जो कठिनाइयाँ मालूम होती हैं, योग्य सूचनाओं के द्वारा गुरु उनका विदारण करता है।' इस प्रकार गुरु में प्रेमभक्ति जागृत होने पर गुरु की कृपा अपने आप प्रकट होने लगती है, और यदि गुरु की कृपा प्राप्त करना हो, तो शिष्य को गुरु के प्रति प्रेमभक्ति रखनी चाहिए; बल्कि पूर्ण रूप से स्वार्पण कर देना चाहिए। बिना ऐसा किये विद्या की सिद्धि नहीं हो सकती। यहाँ कोई शंका कर सकता है कि 'गुरु की कृपा प्राप्त करना अच्छी बात है; परन्तु जगत् में सभी गुरु, शिष्य का कल्याण करने वाले नहीं होते।' गुजरात के सुप्रसिद्ध भक्त कवि अखा ने कहा है कि 'धन हरे धोखो ना हरे, एगुरु शुं कल्याणज़ करे?' अर्थात्—जो धन का हरण तो करता है; पर दुःख, चिन्ता, या विपत्ति का हरण नहीं कर सकता, क्या वह गुरु भी कल्याण कर सकता है? इस प्रकार के गुरु भी होते हैं, उनके प्रति प्रेमभक्ति, स्वार्पण या सेवा-विनयादि किस काम के? इस शंका का समाधान करने के लिए ग्रन्थकार ने केवल 'नाम के गुरु को स्वीकार न करके, सद्गुरु' शब्द का प्रयोग किया है। जो सद्गुरु नहीं है, वह विद्यावान् होने पर भी गुरु बनने का पात्र नहीं है और ऐसे गुरु से किसी भी प्रकार की विद्या

प्राप्त करना उचित नहीं है। जो सद्गुरु होता है, वह शिष्य की पात्रता अवश्य देखता है, उसकी कसौटी करता है, और सुपात्र मालूम होने पर उससे किसी प्रकार का दुराव न रखकर उसका कल्याण करता है। इसलिए, शिष्य की सुपात्रता के गुणों को भी, गुरुकृपा की महिमा के साथ यहाँ बतलाया गया है।

दृष्टान्त—यहाँ एक अद्भुत प्रकार की गुरु कृपा का दृष्टान्त उपस्थित करना उचित प्रतीत होता है। एक साहूकार का लड़का रात दिन एक महात्मा की सेवा में रहने लगा। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया, महात्माजी ने भी उसे घर लौट जाने के लिए कहा; पर फिर भी वह घर नहीं गया। उसका भक्ति-भाव देखकर महात्मा को बड़ा अचरज-सा हुआ। उन्होंने उसकी कसौटी करने का विचार किया और योग-बल से अपनी काया पलटना आरम्भ कर दिया और शरीर को रोग-ग्रस्त बना लिया। अब महात्मा यह परीक्षा करने लगे कि देखें इस अवस्था में शिष्य कैसी सेवा करता है। कफ और खाँसी के कारण महात्मा ने जहाँ-तहाँ थूकना शुरू किया। वस्त्र खराब करने लगे और जमीन को भी गंदी करने लगे। शिष्य उसी मनोयोग से सब कुछ काम करता, सफाई करता और सेवा में तत्पर रहता था। रात दिन सेवा करने पर भी, चिड़चिड़े स्वभाव के कारण गुरुजी न जाने क्या-क्या बकझक करते और कठिन-से-कठिन काम बतलाने में भी न हिचकिचाते थे। 'इधर बिठाओ, इधर सुलाओ, यह करो,' कहकर कष्ट देने लगे। किसी चीज की आवश्यकता होती और वह समय पर न मिलती, तो बड़ा क्रोध करते। चीज भी भिक्षा से माँग कर लानी पड़ती और उनकी तबियत भी सँभालनी पड़ती। अब वे खाने के लिए भी विविध प्रकार की चीजें माँगने लगे। शिष्य भीख माँग कर लाता और

कोई कोई चीज न मिलती, तो कुपित हो जाते ! इतना होते हुए भी शिष्य सब अभिमान छोड़ कर बड़ी तत्परता से गुरु की सेवा करने लगा। इस प्रकार बहुत समय बीतने पर वह शिष्य गुरु से कुछ ऊबसा गया; परन्तु गुरु तो उसकी इस सेवा-भक्ति से प्रसन्न हो चुके थे और अपनी समस्त विद्या उसे देने के लिए तैयार हो गये थे। अन्तिम परीक्षा करने के विचार से गुरु ने अपने बिछौने के पास रक्खा हुआ पानी का घड़ा फोड़ डाला और शिष्य से कहा—'जा पानी का नया घड़ा भरकर ले आ।' शिष्य ने गाँव में जाकर भीख माँग कर दो पैसे प्राप्त किये और नया घड़ा खरीदकर नदी पर पानी भरने के लिए गया। पानी भर कर ज्यों ही उसे उठाना चाहता था कि उसके मनमें विचार हुआ—'मैं साहूकार का लड़का, भीख माँग कर घड़ा लाया और पानी भरकर लिये जा रहा हूँ, तीन तीन वर्षों से गुरु की सेवा कर रहा हूँ, फिर भी गुरु की नजर में वह कुछ भी नहीं है ! इसकी अपेक्षा संसार में रहकर ही भगवान् की भक्ति की होती, तो क्या बुरा था। गुरुजी का अब जो चाहे हो, मैं तो अब सीधा घर जाऊँगा।' यह विचार कर ज्योंही वह घड़े को घाट पर रख कर लौटने लगा कि उसने घड़े की ओर देखा और उसे प्रतीत हुआ, जैसे घड़ा कुछ कह रहा है—

> कोदारेण विदारिता वसुमती पश्चात् खरारोहणं।
> तत्पापिष्टकुलालपादहननं दंडेन चक्रभ्रमम्॥
> रज्वा छेदनताडनं च दहनं सर्वं विसोढं मया।
> आम्यस्त्रीकरटंकणं बहुकृतं तन्नोपिदुःखं महत्॥

अर्थात्—(घड़ा कहता है) पहले तो कुदाली के आघात से जमीन खोदकर मिट्टी खोदी गई, फिर वह मिट्टी गधे पर लाद कर ले जाई गई, फिर कुम्हार ने उसे पैरों रौंदा और चाक पर

चढ़ाकर डंडे से उसे चक्कर दिये गये। और जब घड़े का आकार बना तो उसकी गर्दन काट कर अलग किया गया। कुछ देर रख कर उसे थापी से पीट कर गढ़ा गया। गढ़ जाने पर अवे में जला कर पकाया गया, तब कहीं घड़ा तैयार हुआ। परन्तु यहीं सब समाप्ति नहीं हो गई। घड़ा खरीदने वाली ग्रामीण स्त्री ने टकोरे मार-मार कर भली-भाँति देखा कि टूटा-फूटा तो नहीं है! तब कहीं वह 'पात्र' कहलाया! भाई, इस घड़े रूपी पात्र के दुःख से तेरा दुःख किस बिसात में है? तुझे भी अगर 'पात्र' (विद्या-ग्रहण करने के योग्य) बनना है, तो दुःख को सहन करना ही पड़ेगा। घड़े के इस उपदेश से उस शिष्य का भाव गुरु के प्रति जागृत हो गया और वह घड़ा लेकर गुरु के पास पहुँचा। उसे आश्चर्य हुआ कि गुरु का रोग नष्ट हो गया था! इस प्रकार गुरु ने उसकी सेवा की कसौटी करके, उसकी सुपात्रता देखी और उसे अपूर्व विद्या का दान किया। तात्पर्य यह है कि सद्गुरु की कृपा का फल अद्भुत होता है और सुपात्र शिष्य के योग्य गुण उस कृपा को प्राप्त कर सकते हैं। (१२२)

[परिपक्व वैराग्य के बिना कोई भी अर्थ सिद्ध नहीं होता; इसलिए ग्रन्थकार ने नीचे के श्लोक में वैराग्य के परिपाक के लिए कई मार्गों का निदर्शन किया है।]

वैराग्य का परिपाक ॥ १२३ ॥

वैराग्यं क्षणिकं तु निष्फलमहो ! नो योगनिर्वाहकं।
साध्यं तेन सुनिष्ठितेन नियतं प्राप्तेन पक्वां दशाम्॥
सत्सङ्गेन विरागधर्मकथया चैकान्तवासेन वा।
स्वाध्यायेन सुचिन्तनेन तपसा कुर्याच्च तन्निष्ठितम॥

भावार्थ—क्षणिक वैराग्य निष्फल सिद्ध होता है, उससे संयम का निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए, वैराग्य भली-भाँति निष्ठा से परिपूर्ण, परिपक्व दशा को प्राप्त और नियत हुआ होना चाहिए। मुमुक्षु को सत्संग में रहकर, वैराग्य की धर्म कथा सुन कर, एकान्तवासी रह कर; स्वाध्याय, चिन्तन, मनन तथा यथाशक्ति तपोनुष्ठान करके वैराग्य को परिपक्व करना चाहिये। (१२३)

विवेचन—पहले, दुःख गर्भित, मोहगर्भित और ज्ञानगर्भित आदि, वैराग्य के तीन प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें ज्ञानगर्भित को उत्तम कोटि का समझा गया है। यह तीनों प्रकार का वैराग्य उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ होने पर भी, परिणाम कारक तो तभी होता है कि जब वह परिपक्व हो जाता है। कई लोगों को श्मशान भूमि में, स्वभावतः वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। जिस जगह हज़ारों महान् और साधारण लोगों के शरीर जल कर भस्मीभूत हो गये, उस जगह एक बार हमें भी भस्मीभूत होना है, यह कल्पना ही इस स्थूल जगत् की अनित्यता को मस्तिष्क में स्फुरित कर देती है और वैराग्य पैदा हो जाता है। यह वास्तव में ज्ञान-गर्भित वैराग्य है, फिर भी वह 'श्मशान-वैराग्य' है—क्षणिक है और हृदय पर उसका बहुत ही क्षणिक प्रभाव रहता है। श्मशान से बाहर आये, घर पहुँचे और पुनः अपने काम-काज या रोज़गार-व्यापार में लगे कि तुरन्त ही 'श्मशान-वैराग्य' सौ गाँव दूर भागता हुआ नज़र आता है! इस क्षणिक-वैराग्य से योग कहे जाने वाले संयम का निर्वाह नहीं होता। इसलिए वैराग्य को परिपक्व करना चाहिए और वैराग्य के परिपाक के लिए मुमुक्षुओं को बहुत कुछ परिश्रम करना चाहिए। क्या परिश्रम करना चाहिए? ग्रन्थकार कहते हैं कि सत्सङ्ग करना

चाहिए, वैराग्य की धर्म कथाएँ सुननी चाहिएँ, एकान्तवास करना चाहिए, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन करना चाहिए और यथायोग्य तप करके वैराग्य को परिपक्व करना चाहिए। (१२३)

[ऐसे प्रयत्न के द्वारा जिसने वैराग्य का सेवन किया हो, उस मुमुक्षु का वैराग्य कब परिपक्व हुआ समझा जायगा ? इस परिपक्वता का माप, ग्रन्थकार निम्नलिखित श्लोक में प्रकट करते हैं।]

वैराग्य-परीक्षा ॥ १२४ ॥

चित्तं यस्य न चञ्चलं विकृतिमद् दृष्ट्वाऽपि देवाङ्गनां।
श्रुत्वा कण्टकतुल्यशत्रुवचनं क्षुभ्येन्न यन्मानसम् ॥
धैर्यं मुञ्चति नो मनाग् बहुजनैर्यष्ट्या च यस्ताडितो—
ज्ञेया तत्परिपक्वता सहृदयैरेतैः शुभैर्लक्षणैः ॥

भावार्थ—देवांगना अथवा उनके समान स्वरूपवती तरुणी को देख कर भी जिसकी चित्तवृत्ति विकृत होकर चंचल न हो, शत्रु के कण्टक जैसे तीखे वचन सुन कर भी जिसके मनमें ज़रा भी क्षोभ न हो, बहुत से मनुष्य लकड़ी लेकर प्रहार करें, तो भी जो धीरज का त्याग न करे—ऐसी दशा में समझना चाहिए कि उसका वैराग्य परिपक्व हो गया है, सहृदयजन ऐसे शुभ लक्षणों वाले मनुष्य को ही सच्चा मुमुक्षु समझें। (१२४)

विवेचन—सच्चे वैराग्य की पहचान कर, उसका परिशीलन करने के लिए उचित उद्योग करके, सद्गुरु की सहायता और कृपा प्राप्त करके जब किसी मुमुक्षु का वैराग्य परिपक्व दशा को प्राप्त करता है, तब वह साधु होने का पात्र होता है, या साधुत्व ग्रहण करने का अधिकारी बनता है। वैराग्य की इस उच्च दशा का फल क्या है ? जब चित्तवृत्ति इस दशा को प्राप्त होती है,

तब मन तथा इन्द्रियों का अपूर्व संयम उसे उपलब्ध होता है। इस संयम से ही उसकी क्षुद्र स्थूल वृत्तियों का नाश होता है, उसमें विषयासक्ति नहीं रह जाती, वाणी या देह का उपसर्ग-कष्ट—वह सुख से सहन कर लेता है और अन्य अनेक अप्रिय बाह्य प्रसंगों से भी उसका मन या वृत्तियाँ क्षुब्ध नहीं होतीं। इन्द्रिय-निग्रह किंवा योग से जिसने मन और वृत्तियों पर आत्मा का अंकुश स्थापित कर लिया हो, उसके लिए भर्तृहरि भी कहते हैं कि—

सदा योगाभ्यासव्यसनवशयोरात्ममनसो ।
रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति कृतिनस्तस्य किमु तैः॥
प्रियाणामालापैरधरमधुभिर्वक्त्रकमलैः ।
सनिःश्वासामोदैः सकुचकलशश्लेषसुरतैः ॥

अर्थात्—योगाभ्यास के व्यसन से जिसके आत्मा और मन वश में हो गये हैं और जिस पुण्यशाली पुरुष के आत्मा को मन की अविच्छिन्न मैत्री प्राप्त हो गई है, उस पुरुष को, स्त्री के बोलने का, अधरोष्ठ के मधु का, सुगन्धित निःश्वास वाले मुखकमल का और स्त्रीसमागम का क्या प्रयोजन? तात्पर्य यह कि ऐसी बातों से भी मुमुक्षु पुरुष का चित्त चलायमान नहीं होता। वैराग्य की परिपक्व दशा वाले साधुजन के लिए स्वामी ब्रह्मानन्द कहते हैं—

होत न विषया सक्त, रहत अनुरक्त भजन में।
दुर्मति दुवधा दूर, शूरसुख लाजत जन में॥
जीतन इन्द्रिय जतन, रहत तत्पर दिन राती।
काम क्रोदमदलोभ, आत नहिं निकट अराती॥
वैराग्यधर्म भक्ति विमल, गुनविन समझत ज्ञानकुं।
नित 'ब्रह्म' मुनि निशदिन नमत, ऐसे सन्त सुजानकुं॥

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में वैराग्य की कसौटी सूचित करने के लिए मन तथा इन्द्रियों के स्थूल उदाहरण दिये हैं, जैसे—देवाङ्गना के देखने पर भी चित्त का चंचल न होना, अनेक मनुष्य लकड़ियों से प्रहार करें तब भी मन का क्षुब्ध न होना आदि। इसी प्रकार मन और इन्द्रियों पर अन्य प्रकार के आघात होने का प्रसंग उपस्थित हो, तो भी जिसे शोक या हर्ष नहीं होता, जिसकी वृत्तियाँ कंपायमान नहीं होतीं, अटल रहती हैं, उसका वैराग्य परिपक्व हुआ समझा जायगा—यही कहने का आशय है।

दृष्टान्त—तीव्र वैराग्य द्वारा जिसने मन और इन्द्रियों को अपूर्व संयमित करने में सफलता प्राप्त की थी, उस गजसुकुमार का चरित्र जैनशास्त्र में सुप्रसिद्ध है। गजसुकुमार को सोमिल नामक ब्राह्मण ने अपनी पुत्री ब्याह दी। इसके बाद वैराग्यप्राप्त गजसुकुमार ने नेमनाथ स्वामी से दीक्षा लेकर साधुत्व ग्रहण कर लिया। दीक्षा लेकर तुरन्त ही गजसुकुमार ने गुरु से कहा कि ऐसा मार्ग बताइए, जिससे तुरन्त मोक्ष प्राप्त हो जाय। गुरुजी ने कहा—भिक्षुओं की बारहवीं पड़िमा अंगीकार करके भलीभाँति उसका पालन किया जाय, तो शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो सकता है। गजसुकुमार मुनि, भिक्षु पड़िमा ग्रहण करके श्मशान भूमि में कायोत्सर्ग (काउसग्ग) करके रहने लगे। सोमिल ने उन्हें देखा, तो क्रोध में भर कर उसने बहुत गालियाँ सुनाईं और कहा—हे अयोग्य मनुष्य! जब तुममें कमाने-खाने और अपनी स्त्री की रक्षा करने की शक्ति नहीं थी, और अन्त में साधु बनकर भीख ही माँगनी थी, तब मेरी पुत्री को अंगीकार करके, कुँआरे रनवास में भेजकर उसका जीवन-भव क्यों बिगाड़ा? काउसग्ग में होने के कारण गजसुकुमार ने कोई उत्तर नहीं दिया। परन्तु सोमिल के कंटक के समान वचनों से

उसकी चित्तवृत्ति क्षुभित न हुई और न उनकी समता ही नष्ट हुई। गजसुकुमार को कोई उत्तर न देते देख, अधिक क्रोधित हुए सोमिल ने गजसुकुमार के सिर पर मिट्टी की ओट बनाई और निकट ही जलती हुई चिता से अग्नि लेकर उसके सिर पर रखदी! इस प्रकार मस्तक के जल जाने पर भी, गजसुकुमार की वृत्तियाँ चंचल न हुईं, उन्होंने मुख से एक शब्द भी न निकाला और समाधिभाव से मृत्यु का स्वागत किया। इस प्रकार गजसुकुमार के वैराग्य और साधुत्व की परम कसौटी हो गई। ऐसा निग्रही साधु मोक्ष प्राप्त करे, इसमें कौन आश्चर्य है? (१२४)

शिष्य कैसा होना चाहिए? ॥१२५॥

नम्रः कोमलमानसोऽतिसरलो लज्जाविवेकान्वितो—
निर्दम्भो निरहङ्कृतिर्निरलसः सौम्यः शशीव स्वयम्।
प्रज्ञावान् मितभाषकः सुचरितः श्रद्धायुतो यो भवे—
दौदासीन्यमुमुक्षुलक्षणपटुः शिष्यः स एवोत्तमः॥

भावार्थ तथा **विवेचन**—एक सत्शिष्य में कई अन्य गुणों की भी आवश्यकता है। किसी त्यागी सद्गुरु का शिष्यत्व ग्रहण करने वाले को मुमुक्षु होना चाहिए और मुमुक्षु के जो गुण हो सकते हैं, वही एक सत्शिष्य में भी होने चाहिएँ। पहले बतलाये हुए परिपक्व वैराग्य के सिवा जिसमें नम्रता अथवा विनय हो, जिसका मन सुकोमल हो, अति सरल हो, जिसमें लज्जा तथा विवेक का सद्गुण भी हो, जो निरहंकारी हो, आलसी और प्रमादी न हो, जो चन्द्र के समान सौम्य आकृतिवाला हो, प्रज्ञा यानी बुद्धिवाला हो, मितभाषी हो, जिसका आचार-व्यवहार उच्च प्रकार का हो, जो श्रद्धा में अचल तथा औदासीन्य वृत्तिवाला हो—

मुमुक्षुओं के ऐसे सब लक्षणों से निपुण शिष्य ही उत्तम शिष्य कहा जा सकता है। मुमुक्षु बनने की इच्छा तो संसार में बहुत से मनुष्य रखते हैं और योगी, यति या साधुओं की सेवा करते हैं; परंतु उनमें ऐसे सच्चे मुमुक्षु बहुत ही कम होते हैं, जो सद्गुरु से ज्ञान की कुंजी प्राप्त करके आत्मा का कल्याण करने की इच्छा रखते हैं। सच्चे मुमुक्षुओं की पहचान के लिए ही यह बाह्यान्तर गुण बतलाये गये हैं। (१२५)

दृष्टान्त—एक युवक एक साधु के पास पहुँच कर, उसकी सेवा करके उसका शिष्य बन जाने की इच्छा से उसके पास रहने लगा। वह विनय-पूर्वक गुरु की सेवा-भक्ति करने लगा और उसने अपना सर्वस्व गुरु को समर्पित कर दिया। एक बार, जब वह गुरु की सेवा करके सो रहा था, तब एक सर्प दौड़ता हुआ उसे काटने के लिए आया। गुरु बैठे थे। सर्प को देखकर वे शिष्य के निकट आये और एक लकीर खींचकर सर्प को वहीं रोक दिया। गुरु ने सर्प को बहुत समझाया, तो उसने शिष्य के रक्त से ही अपने को तृप्त कर लेने की इच्छा प्रकट की। गुरु ने तुरंत ही एक छुरी से शिष्य के गले की एक नस काट कर, अंजलि भर रक्त निकाला और सर्प के निकट आने पर उसके मुख पर छिड़क दिया। उस शिष्य के साथ सर्प का किसी पूर्व जन्म का वैर था। इसलिए उसके रक्त से सर्प की तृप्ति हो गई और वह चला गया। शिष्य जाग गया, फिर भी वह आँखें बंद करके स्थिर पड़ा रहा। अपने गले की नस कट जाने, रुधिर निकलने और सर्प के निकट आजाने से शिष्य को कोई भय या कष्ट नहीं हुआ। गुरु ने उससे पूछा—'तुझे डर नहीं लगा ?' शिष्य ने कहा—'पहले तो डर मालूम हुआ; पर जब मैंने देखा कि गुरु जी मेरे पास बैठे हैं, तब मेरा डर जाता रहा।' गुरु के प्रति शिष्य की अनन्य श्रद्धाभक्ति थी। गुरु

उसका अहित नहीं करेंगे, उसे यह विश्वास था। इससे उसने जरा भी संकोच नहीं प्रकट किया। उसके ऐसे स्वार्पण से प्रसन्न होकर गुरु ने भी उसे अपना सारा ज्ञान दे दिया और उसका उद्धार कर दिया। (१२५)

[अब ग्रन्थकार गुरु के लक्षणों का वर्णन करते हैं।]

गुरु कैसा होना चाहिए ॥१२६॥

योगीन्द्रः श्रुतपारगः समरसाम्भोधौ निमग्नःसदा।
शान्तिक्षान्तिनितान्तदान्तिनिपुणो धर्मैकनिष्ठारतः॥
शिष्याणां शुभचित्तशुद्धिजनकः संसर्गमात्रेण यः।
सोऽन्यांस्तारयति स्वयं च तरति स्वार्थं बिना सद्गुरुः॥

भावार्थ—जैसे शिष्य में योग्यता चाहिए, वैसे ही गुरु में भी योग्यता चाहिए। जो बड़े योगीन्द्र इन्द्रियों का दमन करने वाले, धर्म की एक निष्ठा में तत्पर और शिष्यों की मलिन वृत्ति को संसर्ग मात्र से शुद्ध करने वाले हों, वही सद्गुरु अपना निस्तार करते और बिना स्वार्थ के अन्य अनेक जीवों को संसार समुद्र से तार कर पार उतारते हैं। (१२६)

विवेचन—पहले जहाँ-जहाँ गुरु का जिक्र किया गया है, वहाँ-वहाँ गुरु का अर्थ सद्गुरु समझना चाहिए। और यहाँ सद्गुरु के लक्षणों का ही वर्णन किया गया है। जिस प्रकार सत्शिष्य संसार में दुर्लभ है, उसी प्रकार सद्गुरु भी दुर्लभ है। वैसे नाम मात्र के गुरुओं की संसार में कमी नहीं है। कहा है कि—

बहवो गुरवो लोके शिष्यवित्तापहारकाः।
दुर्लभस्तु गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः॥

अर्थात्——संसार में शिष्य का वित्त-धन-हरण करने वाले गुरु तो बहुत हैं, परंतु शिष्य का 'चित्त' हरने वाले गुरु दुर्लभ होते हैं। वैराग्य के परिपाक और आत्मा के कल्याण के लिए नामधारी गुरु बेकार हैं, सद्गुरु ही उपयोगी हो सकते हैं। भक्त कवि अखा ने ठीक ही कहा है कि जो गुरु धन का हरण करता है; पर दुःख, चिन्ता या विपत्ति का हरण नहीं कर सकता, क्या वह गुरु भी कल्याण कर सकता है?

गुरुस्तु को यश्च हितोपदेष्टा।
शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव॥

अर्थात्—सच्चा गुरु वही है, कि जो शिष्य के हित का उपदेश करने वाला हो; और सच्चा शिष्य भी वही है, जो गुरुभक्त हो।

हमारे भारतवर्ष में जिस प्रकार सद्गुरुओं के द्वारा शिष्यों के कल्याण के दृष्टान्त मिलते हैं, उसी प्रकार नाम-मात्र के गुरुओं के द्वारा शिष्यों की हानि के दृष्टान्त भी प्राप्त होते हैं। इसलिए जिस प्रकार गुरु को शिष्य की कसौटी करना आवश्यक है, उसी प्रकार जिज्ञासु शिष्य को गुरु के गुणों पर से उसकी सद्गुरुता की जाँच करना आवश्यक है। मि० ई० टी० स्टर्डी कहते हैं—

'In a country like India, where a large number of people are more less intently bent upon the search for sages, the cases of deception are constant and numerous, and cases frequently occur where the rascal masquerading as a Yogi manages to obtain very considerable sums of money from people whose credulity or whose

greed for acquiring knowledge outweighs their discrimination.' अर्थात्—भारत जैसे देश में बहुत लोग गुरु की खोज में फिरा करते हैं। इसलिए यहाँ ठगी के बहुत उदाहरण मिला करते हैं। कई बार ऐसा होता है कि धूर्त्त और ढोंगी कहे जाने वाले योगी—साधु भोले, और ज्ञानपिपासु लोगों से बहुत-सा धन लेकर हड़प जाते हैं। ऐसे 'वित्तहारक' गुरुओं के जाल में न फँस जाने की सावधानी भी जिज्ञासुओं को रखनी पड़ती है। इसीलिए, जिसे गुरु बनाया जाय, उसे योगीन्द्र होना चाहिए, सर्वशास्त्रपारंगत होना चाहिए, शान्ति, क्षमा, धर्म निष्ठता, इन्द्रियदमन आदिगुणों से युक्त होना चाहिए। और जिनका तेजोबल ऐसा हो कि उसका संसर्ग होते ही उनके तेजोबल (aura) से शिष्य के चित्त की शुद्धि हो जाय, वे ही सद्-गुरु होने के पात्र हैं, और वे ही स्वतः संसार-समुद्र से तर सकते हैं और दूसरों को तार सकते हैं। इसके विपरीत स्थिति होने पर 'दोनों बूड़े बापड़े, बैठ पथर की नाव' वाली दशा दोनों की—गुरु और शिष्य की—हो जाती है। (१२६)

[वैराग्य-प्राप्त मुमुक्षु को सद्गुरु की प्राप्ति होने पर, उसका कर्त्तव्य गुरु को आत्मसमर्पण करना; अर्थात् संसार का त्याग करके—दीक्षा लेकर गुरुका शिष्यत्व स्वीकार करना है। परन्तु संसार का त्याग करने से पहले एक बात का विचार करना चाहिए। और वह है—संसार के अपने सम्बन्धियों की इच्छा अनिच्छा। नीचे के दो श्लोकों में ग्रन्थकार इसी के विषय में सूचना करते हैं।]

सम्बन्धियों-कुटुम्बियों की आज्ञा ॥१२७॥

पुत्रादिस्वजनाः कथञ्चिदपि ते स्वार्थेन मोहेन वा।
कुर्वन्ति प्रतिबन्धनं यदि यमे तन्न्यक्क्रिया नोचिता॥

तान् विज्ञाप्य मृदूपदेशवचनैः सन्तोष्य तन्मानस-
माशीर्वादपुरःसरा नियमतो ग्राह्या तदाज्ञा त्वया ॥

भावार्थ—शिष्यको गुरुका योग मिलने पर दीक्षा का अधिकार प्राप्त हो जाता है, फिर भी दीक्षा लेने से पहले जिज्ञासु को अपने सम्बन्धियों—कौटुम्बिकों की आज्ञा लेनी चाहिए। कदाचित् स्त्री, पुत्र, माँ, बाप आदि सम्बन्धीजन स्वार्थ वश या मोह के कारण, किसी भी प्रकार रोकते हों, तो शिष्य को, जिज्ञासु को उनका तिरस्कार न करना चाहिए; बल्कि कोमल उपदेश-वचनों से उन्हें समझा कर, उन्हें सन्तुष्ट करके, उनके आशीर्वाद सहित उनसे दीक्षा की स्वीकृति लेनी चाहिए। (१२७)

आज्ञा न मिलने पर भाव-संयम ॥१२८॥

नो शक्तो यदि गाढबन्धनवशो वेषं परावर्त्तितुं ।
स्थित्वाऽसौ निलयेऽपि पापविरतो वैराग्ययुक्तस्तदा ॥
स्वाध्यायादिपरायणः कमलवन्निर्लिप्तचित्तः सदा ।
संसेवेत हि भावसंयममलं मुक्त्वा ममत्वं हृदः ॥

भावार्थ—वैराग्य आगया हो, परन्तु सम्बन्धियों के गाढ़ बन्धन के कारण, शायद आज्ञा न मिलने से, वेष बदल कर द्रव्यदीक्षा न ग्रहण की जा सके, तो भी जिज्ञासु को कहीं न भागकर, घरमें ही वैराग्यभावयुक्त रहकर, पाप से निवृत्त होकर सर्वदा कमल की तरह चित्त को निर्लेप रखकर, स्वाध्याय आदि धर्म कर्मों में रहकर और हृदय की ममता को त्याग कर भाव-संयमका पूर्णतः सेवन करना चाहिए। (१२८)

विवेचन—संसार का त्याग करके मुनि-वेष धारण करने से पहले संसार के आप्तजनों की आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए

और यदि कारणवशात् आज्ञा न मिले, तो घर में रहकर ही भाव-संयम धारण करना चाहिए। उपर्युक्त दोनों श्लोकों का तात्पर्य यह है कि आप्तजनों की अवहेलना करके उन्हें दुःखित न करना चाहिए; परन्तु इस तात्पर्य में दो गहन प्रश्न समाविष्ट हैं। प्रथम प्रश्न यह कि जिसके चित्त में वैराग्य बस गया है, उसे अपने मोह-ग्रस्त आप्तजनों से आज्ञा लेने की क्या आवश्यकता है? इस समय यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया है और इस पर खूब चर्चा हुई है। मोह एक अज्ञान दशा है और अज्ञानी या स्वार्थी आप्त-जन किसी को दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा न दें, तो क्या आत्म-कल्याण करने से रुक जाना चाहिए? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या समकिती मनुष्य को मोह ग्रस्त और स्वार्थ-परायण कुटुम्बियों की इच्छा के कारण संसार के कीचड़ में ही लोटते रहना चाहिए? ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं कि सगे-सम्बन्धियों का प्रतिबन्ध होने पर दीक्षा ग्रहण करना उचित नहीं है। उनके मोह या अज्ञान को उपदेश से निवारण करके उन्हें संतोष कराके उनकी आज्ञा के पश्चात् ही दीक्षा लेना उचित है। अल्पवयस्क शिष्यों को माँ-बाप या सगे-सम्बन्धियों की आज्ञा के बिना मूड़ने वाले या दीक्षा देने वाले या छोटे बच्चों का हरण करके अपनी जमात में मिलाने वाले साधु और मुनियों को यह बात पसन्द न आए, यह स्वाभाविक है; परन्तु दीक्षा की इच्छा रखने वाले जिज्ञासु को आप्त-जनों की अवहेलना करके दीक्षा देना या लेना वस्तुतः एक प्रकार की हिंसा है और हिंसा को पाप समझने वाले साधु लोगों का ऐसा हिंसक आचरण करना धर्म-ध्वंस ही कहा जा सकता है। किसी कारण महावीर स्वामी ने अपने चित्त में वैराग्य बस जाने पर भी अपने बड़े भाई की अनिच्छा से एक वर्ष अधिक संसार में रहकर बाद में दीक्षा ग्रहण की थी। स्वार्थ-दशा या मोह-दशा

पर प्रहार करने से उनका नाश नहीं होता, केवल उपदेश से या स्वार्थ का उपादान कारण दूर होने पर उसका निवारण होता है। जब सगे-सम्बन्धी देखते हैं कि दीक्षा के इच्छुक का वैराग्य सच्चा है, उसे संसार में रोक रखना हमारे लिए भार-रूप है और संसार उसके अपने लिए भी भार-रूप है, तब उन्हें अपना स्वार्थ-सिद्ध होता नहीं दीखता और उनका मोह भी विराम पा जाता है, या जब वे देख लेते हैं कि दीक्षा ग्रहण करने वाले वैराग्य-वासित आत्मा को संसार में फँसाये रखने से कष्ट होता है, तो उन्हें उस पर दया आ जाती है और वे उसे प्रसन्नता और सन्तोष से संसार त्यागने या दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दे देते हैं। स्वार्थ-दशा और मोह-दशा के निवारण का यह क्रम जितना सुलभ और उचित है, उतना उचित उसकी अवहेलना करके शिष्य को दीक्षित करने का मार्ग नहीं है। इस प्रकार दीक्षित हुए शिष्यों के द्वारा वस्तुतः अनेक जीवों को क्लेश पहुँचाये जाने के उदाहरण घटित हुए हैं और इससे दीक्षा की क्रिया जनता में बुरी नजर से देखी जाने लगी है। जैन-शास्त्र में दीक्षा लेने के अनेक कारणों का उल्लेख हुआ है। यद्यपि वे सब कारण विशुद्ध नहीं हैं। लज्जा से, उपहास से, देवताओं के भय से, द्वेष से, स्नेह से, लोभ से, हठ से, अभिमान से, विनय से, शृंगार से, कीर्त्ति के लिए पराभव होने से, कौतुक के कारण विस्मय से, व्यवसाय से, भावसे, कुलाचार के कारण और वैराग्य के कारण ऐसे अट्ठारह कारणों से दीक्षा लेने के उदाहरण मिलते हैं; परन्तु सगे-सम्बन्धियों की इच्छा की अवहेलना करके शिष्य को दीक्षित करने और उसे जहाँ-तहाँ छिपाते फिरने का दृष्टान्त कहीं से नहीं मिलता। वस्तुतः ऐसी दीक्षा धर्म की या साधु-संस्थाओं की कुसेवा है और इसीलिए ऐसी दीक्षा को ग्रन्थकार ने वर्ज्य माना है, तब वैराग्य

वासित मुमुक्षु को क्या करना चाहिए? ग्रन्थकार कहते हैं कि साधु-वेष धारण न किया जा सके, तो मनुष्य को आत्म-कल्याण को रोकने की कोई आवश्यकता नहीं। कहा है कि—

> वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां।
> गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ॥
> अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते।
> निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

अर्थात्—भले ही वन में वास किया हो, परन्तु जिनका चित्त रागी होगा, उनमें दोष उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता और चाहे कोई घर में ही रहता हो, पर इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा वहाँ भी तप किया जा सकता है। जो मनुष्य राग से निवृत्त होकर शुद्ध कर्म में प्रवर्तित होता है, उसके लिए घर भी तपोवन ही है।

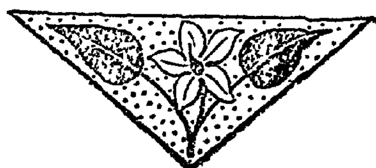
इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि घर में रहकर भी वैराग्य-युक्त रहा जा सकता है, पाप से निवृत्त हुआ जा सकता है। अर्थात्—भाव-संयम की आराधना की जा सकती है। अमुक सीमा तक वेष का महत्त्व है। गृहत्याग का भी महत्त्व है: परन्तु यदि जलकमलवत् निर्लेप रूप से घर में रह कर स्वाध्यायादि किया जाय, सांसारिक कपड़े पहने जायँ, और चित्त-वृत्ति को वैराग्य से पोषित करके वासनाओं पर विजय प्राप्त की जाय, तो इससे आत्मकल्याण की साधना रुकती नहीं।

दृष्टान्त—इषुकार नामक नगरी में इषुकार नामका राजा था। उसकी रानी का नाम था कमलावती। भृगु नामक एक ब्राह्मण राजा का पुरोहित था। उसकी पत्नी का नाम था, जसा। राजा, रानी और भृगु तथा उसकी पत्नी

यह चारों प्राणी पूर्वजन्म के सम्बन्धी थे। पुरोहित भृगु के कोई सन्तान नहीं थी इसलिए पति-पत्नी बड़े शोकाकुल रहते थे। अब स्वर्ग-सुख भोगने वाले दो देवों को मनुष्य-लोक में अवतार लेने का समय आया और वह उन्होंने जान लिया। इसलिए वे इषुकार नगरी में ज्योतिषी का रूप धारण करके आए और जिस-जिस का भाग्य देखने लगे। पुरोहित भृगु भी उनके पास गया और कहने लगा कि मेरे कोई सन्तान नहीं है, यदि मेरे एक पुत्र हो जाय, तो आप जो अनुष्ठान बतलाएँ, कर सकता हूँ। ज्योतिषियों ने कहा—कि, 'तुम्हारे दो पुत्र होंगे, पर वे संयम धारण कर लेंगे; तुम उन्हें संयम धारण करने से रोकना मत।' भृगु ने उस समय तो यह बात स्वीकार करली। यही दोनों देव काल-क्रम से जसा के उदर से पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए और उनके नाम देवभद्र तथा यशोभद्र रखे गए। भृगु ने इस विचार से कि समझदार होने पर लड़के दीक्षा न ले लें, नगर से बाहर एक ब्रह्मपुरी बसा कर वास किया और उसने दोनों पुत्रों को समझाया कि हाथ में झोली लेकर नंगे सिर जो जैन साधु घूमा करते हैं, वे उनके पास भी न फटकें, कारण कि वे बनावटी साधु होते हैं। मीठी-मीठी बातें करते हैं, परन्तु हृदय उनका बड़ा गन्दा होता है और झोली में शस्त्र रखते हैं, जिनसे वे लोगों को मार डालते हैं। यह बातें कह कर भृगु ने लड़कों को समझा-बुझा दिया था और उन्हें ब्रह्मपुरी में ही घेर-सा रखा था, जिससे एक भी जैन साधु वहाँ उन्हें दिखलाई न पड़ता। एक बार दोनों लड़के खेलते-खेलते बाहर निकल गए और दो साधु उन्हें दिखलाई पड़े, इसलिए डर कर वे वृक्ष पर चढ़ गए। दोनों साधु विश्राम के लिए उसी वृक्ष के नीचे आकर रुके और जमीन पर भली भाँति देखकर सूक्ष्म जन्तुओं को रजोहरण से दूर करके वहाँ अपना आसन बिछाकर बैठ गए।

वृक्ष पर चढ़े हुए दोनों लड़कों ने विचार किया कि जो साधु इस प्रकार सूक्ष्म जन्तुओं पर दया दिखला रहे हैं, वे मनुष्य की हत्या कर ही नहीं सकते। पिताजी ने हमें गलत समझाया है। इसी समय उन्हें जाति-स्मरण-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उन्हें स्मरण हुआ कि उन्होंने कैसा इकरार करके यह अवतार धारण किया है। नीचे उतर कर दोनों ने साधुओं की पद-वन्दना की और संयम ग्रहण करने का मनोभिलाप प्रकट किया। दोनों लड़के माता-पिता के पास आए। उन्होंने अपने दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। भृगु समझ गया कि लड़कों की किसी साधु से भेंट हुई है। उसने उन्हें बहुत समझाया। बड़े होकर वेदाध्ययन करके गृहस्थाश्रम के अनेक नए-नए सुख भोगने का उपदेश किया; पर लड़कों पर कोई असर नहीं हुआ और उन्होंने अपना निश्चय न छोड़ा। पूर्वजन्म के योग से उन्हें सच्चा वैराग्य पैदा हुआ था। इसलिए उन्होंने पिता को संसार की असारता का बोध कराया। भृगु ने कहा—हे पुत्रो, तुम्हारी बात सच है, परन्तु अभी हम कुछ समय और गृहस्थाश्रम में रहें और बाद में हम लोग एक साथ ही संयम ग्रहण करेंगे। लड़कों ने कहा—हम लोग अमर रहने का कोई इकरार-नामा तो लिखाकर लाये नहीं है और सच्चा धर्मप्राप्त करने पर सांसारिक किसलिए बने रहें? यह सुनकर भृगु को भी वैराग्य पैदा हुआ और उसने दीक्षा लेने का निश्चय करके अपनी पत्नी से कहा—जब पुत्र ही दीक्षा ले लेंगे, तो उनके बिना संसार में रहकर क्या किया जायगा? पत्नी को यह बात पहले तो नहीं रुची, परन्तु जब भृगु ने उसे बहुत-बहुत समझाया, तब उसने पति को दीक्षा लेने की अनुमति दे दी और तुरन्त ही खुद भी दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। जब राजा इषुकार और रानी कमलावती को यह मालूम हुआ, कि भृगु का सारा कुटुम्ब दीक्षा ग्रहण कर

रहा है, तो उनमें भी दीक्षा ग्रहण करने का भाव जागृत हुआ और दीक्षाग्रहण कर ली। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि कुटुम्बी-जनों की आज्ञा के विना दीक्षा लेना उचित नहीं है और सच्चे वैराग्य के कारण वे लोग दीक्षा की आज्ञा देने से विमुख भी नहीं होते; बल्कि कभी-कभी खुद भी विरागी होकर संयम धारण करने या दीक्षा लेने को उत्सुक हो जाते हैं। (१२७-१२८)



तीसरा परिच्छेद

संसार-त्याग

वैराग्य के निश्चय के साथ दीक्षा ॥१२६॥

यावज्जीवमनुत्तमेन मनसा वैराग्यभावं दृढं।
निर्वक्ष्यामि पराक्रमेण सततं कस्मिन् प्रसङ्गेऽप्यहम्॥
इत्येवं सति निश्चये दृढतरे त्यक्त्वा कुटुम्बं गृहं।
गन्तव्यं गुरुसन्निधौ मतिमता दीक्षां गृहीतुं पराम्॥

भावार्थ—जब वैराग्य के इच्छुक का यह निश्चय हो जाय कि 'चाहे जैसा विकट प्रसंग आने पर भी मैं जीवन-भर अधिक से अधिक आत्मवीर्य के साथ वैराग्य भाव का भली-भाँति निर्वाह करूँगा', तब दीक्षा लेने वाले बुद्धिमान् जिज्ञासु को घर और कुटुम्ब का त्याग करके परम दीक्षा लेने के लिए गुरु के पास जाना चाहिए। (१२६)

विवेचन—पहले वैराग्य के महत्त्व का उल्लेख करके, वैराग्य साधन का मार्ग प्रदर्शित किया गया है। वैराग्य-पूर्वक जो दीक्षा ली जाती है, वही उत्तमोत्तम है और इस प्रकार किये गये संसार-त्याग का ही सुष्ठुरीत्या निर्वाह किया जा सकता है। यह भी कहा गया है कि दीक्षा का कारण हमेशा वैराग्य न हो, तो भी दीक्षा या संसार का त्याग मुमुक्षु के लिए तभी आत्महितकर होता है, जब कि उसमें वैराग्यरूपी अमीरस व्यापक हो गया हो। वैराग्य के बिना अन्य कारणों से यदि त्याग को अंगीकार किया,

तो भी ऐसा त्याग हमेशा नहीं निभ सकता निष्कुलानन्द ने एक पद में यथोचित ही कहा है—

त्याग न टके रे वैराग विना, करिए कोटि उपाय जी,
अन्तर ऊँडी इच्छा रहे, ते केम करीने तजाय जी।
पलमां जोगी ने भोगी पलमां, पलमां गृही ने त्यागीजी,
निष्कुलानन्द ए नरनो वणसमज्यो वैराग जी॥

अर्थात—चाहे कोटि उपाय किये जायँ, पर वैराग्य के बिना त्याग नहीं ठहर सकता। हृदय में बड़ी गहरी इच्छा रहती है, वह किस प्रकार त्यागी जा सकती है? क्षण में जोगी बनने की इच्छा होती है और क्षण में भोगी, क्षण में गृहस्थ बनने की इच्छा होती है और क्षण में त्यागी। निष्कुलानन्द कहते हैं—यह मनुष्य का बिना समझाबूझा वैराग्य है।

इसलिए यहाँ यह बताया गया है कि वैराग्य के निश्चय के साथ ही दीक्षा ग्रहण करना बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है। इस पर भी हेमचन्द्राचार्य जैसों के कुछ उदाहरण भी प्राप्त हो जायँगे कि जिन्होंने वैराग्य भाव से दीक्षा नहीं ली और बाद में वैराग्य प्राप्त होने पर दीक्षा का निर्वाह बहुत ही सुन्दर रूप में किया है। ऐसे और भी अपवाद मिल जायँगे; परन्तु उनसे सार तो यही निकलता है कि दीक्षा का निर्वाह केवल वैराग्य वासित चित्त ही कर सकता है और इसलिए पहले वैराग्यभावापन्न होकर ही दीक्षा ग्रहण करना—संसार का त्याग करना जितना आत्म-हित-कर है, उतना अज्ञान दशा में दीक्षा ग्रहण करके वैराग्य-साधन का प्रयत्न करना नहीं है। बाद में वैराग्य-साधन का प्रयत्न करने से सर्वथा सिद्धि नहीं प्राप्त होती और इससे त्याग लज्जित हो जाता है, दीक्षा कलंकित हो जाती है।

जे वैराग देखाडे करी एतो मन केरी मश्करी।
पलके पलके पल्टे रंग एतो अरवा मायान्त रंग।

इस प्रकार मनुष्य पतित दशा को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने जीवन-भर दीक्षा का निर्वाह करने के दृढ़ निश्चय के साथ संसार और गृह का त्याग करने पर अधिक जोर देने की आवश्यकता समझी है।

दृष्टान्त—कुंडरगिणी नगरी के राजा के कुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के दो पुत्र थे। एक बार धर्मघोष नामक मुनि का उपदेश सुनकर कुण्डरीक ने दीक्षा ग्रहण करली और राजसुखों का त्याग करके वह गुरु के साथ हो लिया। गाँव गाँव और देश-देश घूमते-घूमते कुण्डरीक मुनि के शरीर में दाह ज्वर रोग हो गया। वह गुरु के साथ अपने नगर में लौट आया। उस समय पुण्डरीक राज कर रहा था। अपने भाई के आगमन के समाचार सुनकर पुण्डरीक मुनि की वन्दना करने को गया और वन्दना करके बोला—'हे भाई, तुम बड़े भाग्यवान् हो कि तुमने संयम की साधना की और मैं इस कीचड़ में ही पड़ा रह गया।' और भी अनेक लोग कुण्डरीक को वन्दना कर गये। भाई की ऋद्धि देख कर कुण्डरीक का मन भोगोपभोग करने के लिए तरस ने लगा और संसार के प्रति मोह उत्पन्न हो गया। पुण्डरीक ने समझ लिया कि कुण्डरीक का मन विचलित हो रहा है, तो उसने तुरन्त ही उसे दूसरे गाँव का विहार करा दिया; पर वैराग्य के बिना त्याग कैसे ठहर सकता है? दूसरे दिन वह फिर कुण्डरगिणी नगरी में आ पहुँचा। पुण्डरीक ने उसे बहुत समझाया कि तू संयम का निर्वाह कर, और जीती हुई बाजी को हारे मत; परन्तु कुण्डरीक में वैराग्य पैदा ही नहीं हुआ। अन्त में पुण्डरीक ने वैराग्य-पूर्वक दीक्षा ग्रहण की और कुण्डरीक ने संमय त्याग कर राज करना आरम्भ किया! वह अनेक प्रकार के भोग-विलास-भोगने और तृष्णा को पूर्ण करने लगा। परन्तु

जहाँ भोग होते हैं, वहाँ रोग भी आ पहुँचते हैं! उसे एक महा रोग हो गया और उसी की पीड़ा से मर कर वह सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। (१२६)

['गृही' से 'त्यागी' बनने पर वेप का परिवर्त्तन करना पड़ता है। गृह का त्याग करने से ही त्यागी नहीं हुआ जा सकता उसके लिए गृहस्थ जीवन और जीवन के उपकरणों आदि का भी त्याग करना पड़ता है। नीचे के दो श्लोकों में इसीका निदर्शन कराया गया है।]

गृहस्थ-वेप और शृंगार का त्याग ॥१३०।१३१॥

तुच्छा सद्गुरुपादपङ्कजरजोऽग्रे रत्नमाला तथा।
वस्त्राभूषणमौलिमाल्यरचना तुच्छं निधनादिकम् ॥
नत्वाऽतो गुरुपादयोःस्वशिरसाऽऽदायाङ्घ्रिपुष्पाद्रजः
श्रृङ्गारात्मकवस्त्रभूषणभरस्त्याज्यः शरीरात् स्वयम् ॥
नोपानन्न च पादुका न मुकुटं छत्रं न नो चामरं।
ताम्बूलं न न मुद्रिका न कुसुमं नो केशबन्धाञ्जनम् ॥
न स्नानं न विलेपनं न तिलको नाभ्यङ्गनोद्वर्त्तने।
सन्त्येतानि विभूषणानि गृहिणां नार्हाणि संन्यासिनाम्

भावार्थ—सद्गुरु के चरण कमल की रज के निकट रत्नों की माला तुच्छ है, इसी प्रकार वस्त्र, आभूषण, मुकुट, माला, द्रव्य का खजाना आदि सब परिग्रह भी तुच्छ तथा निःसार हैं; इसलिए जिज्ञासु को गुरु के चरणों में मस्तक नवा कर, चरण कमल की रज मस्तक से लगाकर, वस्त्राभूषण आदि सब शृंगार शरीर पर से अपने हाथों अलग करके त्याग देना चाहिए। (१३०) संन्यासी या साधुओं को पैर में जूते या खड़ाऊ न

पहनना चाहिए। इसी प्रकार मुकुट, छत्र, चामर, ताम्बूल, अँगुली में अँगूठी, फूलों की माला आदि का उपयोग भी नहीं करना चाहिए और न केशपाश सँवारना, आँखों में अँजन लगाना, स्नान करना, विलेपन करना, सिर पर तिलक लगाना तथा शरीर पर उबटन मलना चाहिए। यह सब चीजें गृहस्थों को ही शोभा दे सकती हैं, त्यागी को नहीं। इसलिए दीक्षा लेते ही मुमुक्षु को जीवन-भर के लिए ऐसे सब शृंगारों का त्याग कर देना चाहिए। (१२१)

विवेचन—वैराग्य मानसिक त्याग है और दीक्षा मानसिक के सिवा शारीरिक त्याग। इसलिए गृहस्थ से त्यागी होने पर गृहस्थी के सुख तथा शृंगार के उपकरणों का त्याग कर देना चाहिए। भावसंयम या मानसिक वैराग्य की कसौटी यहाँ ही होती है। पहले कहा गया है कि घर में भी जल-कमलवत् रह कर यदि भावसंयम धारण किया जाय, तो वह कल्याणकारक हो सकता है; परन्तु यह जल-कमलवत् होने की कसौटी दीक्षितावस्था में होती है। कई लोग कहते या मानते हैं कि हम गृहस्थी में रहकर सब व्यवहारों का निर्वाह कर रहे हैं; परन्तु मन से हम निर्लेप हैं। संसार के सुखों का भोग करते हैं; पर सुखों का वियोग होने पर हमें किसी प्रकार का दुःख नहीं हो सकता; कारण कि हमारा मन उनसे अलिप्त है—इस मान्यता और कथन की कसौटी तब होती है, जब साधुत्व या संन्यास की दीक्षा लेकर घर तथा गृहस्थी के उपकरणों तथा सुख-विलासों का त्याग करना पड़ता है। यदि भावसंयम या जलकमलवत् निर्लेप दशा सिद्ध नहीं होगई होती, तो दीक्षितावस्था में साधनों की एक भी कमी या किसी एक वस्तु की आवश्यकता, उससे सहन नहीं हो सकती। इस कारण, दीक्षितावस्था में जिन सुख-

साधनों तथा आभूषणादि का त्याग करने का विधान जैन तथा जैनेतर धर्मों में प्रतिपादित किया गया है, वह मानसिक पुष्टि के लिए है। यह सत्य है कि मानसिक संयम किंवा वैराग्य हीन त्याग या दीक्षा निरर्थक है। ऐसा त्याग, वाह्य त्याग कहलाता है और मानसिक संयम से हीन वाह्य त्याग एक प्रकार का दंभ है। परन्तु, वाह्य त्याग का मानसिक त्याग की पुष्टि के लिए उपयोग करके वैराग्य-पूर्वक जो संसार का त्याग करे, उसे संसार के उपकरणों को त्याग कर, त्याग के ही उपकरण धारण करना चाहिए—ग्रन्थकार का यही आशय है। वस्त्र, आभूषण, अलंकार, छत्र चामर आदि राज विभूषण, अंजन-मंजनादि शरीर सुख के साधन आदि सब का त्याग करके, केवल सद्गुरु के चरण कमल की रज को विनय-पूर्वक सिर से लगाना, उसे ही त्याग का विभूषण मान लेना, त्यागी का परम धर्म है। जैन-धर्म में त्यागी मुनियों के जो धर्म वतलाये गये हैं, वेद-शास्त्रों में भी उन्हीं का अनुसरण करने वाले धर्म वतलाये गये हैं।

आगाराद्भिनिष्क्रान्तः पावित्र्योपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

अर्थात्—घर से वाहर निकल कर, दंड कमंडलादि पवित्र वस्तुएँ साथ लेकर, मौनधारण करके, विषय-वासना को त्याग कर निरपेक्ष संन्यास धारण करना चाहिए। मिट्टी का पात्र, वृक्ष के मूल के निकट निवास, पुराने वस्त्र की कोपीन–लंगोटी–आदि का धारण करना, किसी से सहायता न लेकर रहना; तथा सब प्राणियों को समान दृष्टि से देखना—यह सब संन्यासी के लक्षण हैं।

इतर धर्म के त्यागियों के शास्त्रकथित आचरणों की समालोचना करेंगे, तो हमें यही मालूम होगा कि ग्रन्थकार के कथानुसार संसार-त्यागी, दीक्षित, संन्यासी या साधु के लिए मानसिक त्याग की पुष्टि करने वाले बाह्य त्याग की अनिवार्य आवश्यकता है।

दृष्टान्त—राजगृही के राजा श्रेणिक और रानी धारिणी के पुत्र मेघकुमार को, जब महावीर स्वामी से उपदेश सुनकर धर्म रुचि उत्पन्न हुई, तब उसने दीक्षा लेने का विचार किया। परन्तु पुत्र का यह विचार सुन कर मोहग्रस्त माता को बड़ी ग्लानि हुई। उसने मेघकुमार को बहुत-बहुत समझाया, और संसार के विविध सुखों का भोग करने के बाद साधुत्व ग्रहण करने के लिए कहा; परन्तु उसने इन सब सुखों की तुच्छता माता को समझाई और अन्त में उससे आज्ञा प्राप्त करली। ज्ञाता सूत्र में इस राजकुमार के सुखोपभोग की जिस सामग्री का वर्णन किया गया है, वह इतनी अतुल है कि उस सब सामग्री का त्याग करके दीक्षा ग्रहण करने वाले के वैराग्य की मात्रा कितनी अधिक रही होगी, इसका भान हो जाता है। दो लाख स्वर्ण मुद्राएँ खर्च करके राजा श्रेणिक ने पुत्र के लिए रजोहरण तथा पात्र मँगाये थे। एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देकर नाई से मुंडन कराया था। एक हजार मनुष्यों से उठने वाली पालकी में उसे बिठाया गया और मणि-मुक्ता के बड़े अलंकारों से शृंगार करके मेघ कुमार को भगवान् महावीर के समक्ष दीक्षा के लिए ले जाया गया था। महावीर स्वामी के बैठने की जगह से ईशान-कोण में जाकर मेघकुमार ने अपने हाथों सब आभूषण आदि उतार कर, मुनि वेष धारण करके पंचमुष्टि लुञ्चन किया और दीक्षा ग्रहण की। प्रथम रात्रि को सब मुनि जमीन पर सोये।

दीक्षितावस्था के क्रम से भूशय्याएँ बिछाई गई थीं और मेघ-कुमार अन्तिम दीक्षित था; इसलिए उसकी शय्या भी बिल्कुल अन्त में द्वार के पास बिछाई गई थी। रात्रि के समय इसी द्वार से होकर मुनियों को आना-जाना पड़ता था, इसलिए कभी मेघ-कुमार का हाथ कुचल जाता, कभी पैर और कभी शरीर। आने जाने वाले मुनियों के पैरों की धूल से उसका शरीर भर गया। इस कारण उसे सारी रात नींद न आई। उस समय उसे राज-कुमार के रूप में भोगे हुए सुख तथा मान-मर्तबे का स्मरण हो आया। उसने दीक्षा त्याग देने का विचार किया। यह विचार भगवान महावीर ने जान लिया। उन्होंने उसे उसके पूर्व जन्म की कथा कह सुनाई कि उसने कैसे-कैसे शारीरिक कष्ट उठाये थे, और उसे यह भी समझाया कि यह परिषह कितना निर्जीव है। इससे मेघकुमार दीक्षा में दृढ़ होगया और उसने उत्तम प्रकार से चारित्र्य का पालन किया। बाह्य त्याग की कसौटी पर खरा सिद्ध न हुआ आन्तर त्याग कितना अपूर्ण और अपरिपक्व होता है—इस शास्त्र कथित दृष्टान्त से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है। (१३०-१३१)

[सांसारिक वेष का त्याग करने के पश्चात् दीक्षित को कैसा वेष धारण करना चाहिए ? नीचे के श्लोक में यही बतलाया गया है।]

साधु का वेष ॥ १३२ ॥

देहाच्छादनमात्रवस्त्रयुगलं सौत्रं मुमुक्षूचितं।
शय्यार्थं किल कम्बलं परिमितं काष्ठादिपात्रत्रयम् ॥
शास्त्रोक्तं यमसाधनोपकरणं धर्मध्वजाद्यं तथा।
धृत्वा साधुजनार्हवेषममलं स्थेयं गुरोरन्तिके ॥

भावार्थ—दीक्षा के जिज्ञासु को देह के ढकने के लिए, मुमुक्षु के योग्य दो सूती कपड़े,—एक पहनने और एक ओढ़ने के लिए—सोने के लिए परिमित ऊनी कम्बल, आहारादि के लिए लकड़ी या तूंबे के तीन पात्र, धर्म-ध्वज—रजोहरण आदि शास्त्र-कथित संयम-साधन के उपकरण लेकर, साधु के योग्य निर्मल वेष बना कर गुरु के समीप उपस्थित होना चाहिए। (१३२)

विवेचन—त्याग की दीक्षा लेने पर दीक्षित को कैसा वेष धारण करना चाहिए, या केवल देह के निर्वाहार्थ ही कितने वस्त्र धारण करना और कितने अल्प उपकरणों से काम चला लेना चाहिए—इसी के विषय में यहाँ सूचित किया गया है। तीन वस्त्र, तीन पात्र, और धर्मध्वजादि संयम के उपकरण यहाँ बतलाये गये हैं। जीवन और संयम के लिए यह कम से कम साधन हैं। साधु, मुनि, या संन्यासी के पास वस्त्रों—उपकरणों की ऐसी विपुलता न होनी चाहिए कि जिससे उन्हें शारीरिक सुख की लालसा उत्पन्न हो जाय। केवल शरीर का निर्वाह करने और संयम को साधने के लिए आवश्यक कम-से-कम साधन होने चाहिएँ। और ऐसे साधनों के साथ ही दीक्षा के जिज्ञासु को गुरु के समीप उपस्थित होकर दीक्षा-ग्रहण करनी चाहिए। और पात्र भी ऐसे होने चाहिएँ कि जो मूल्यवान् न हों। धातु के पात्र मूल्यवान् होते हैं, इसलिए जैन तथा जैनेतर धर्मों में त्यागी-संन्यासी के लिए धातु पात्र की मनाई की गई है। और उचित भी है। जहाँ धातु पात्रों की मनाई नहीं की गई है, वहाँ सोने-चाँदी के पात्र और साधन आज प्रविष्ट हो गये दीख पड़ते हैं, यह देखते हुए शास्त्रकारों ने काष्ठ या तूँबे के पात्रों की अनुमति देकर बहुत ही उचित किया है। वेदानुयायी धर्मग्रन्थों में संन्यासियों के लिए कहा गया है कि—

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ॥

× × × ×

अलाबु दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

अर्थात्—संन्यासी का भिक्षापात्र किसी धातु का या छिद्र युक्त न होना चाहिए। स्वयम् मनु ने कहा है कि संन्यासी को तूँबे, काष्ठ या मिट्टी के पात्र ही रखने चाहिए।

ऊपर वाले श्लोक में मुनि के धारण करने योग्य वस्त्रों में सूत और ऊन का ही विधान किया गया है। देशादि भेद ऋतु भेद के कारण सूत्र के बदले ऊन के वस्त्र धारण करने पड़ें, तो किए जा सकते हैं; परन्तु रेशम जैसी अपवित्र वस्तु के बने वस्त्र किसी मुनि या संन्यासी को धारण न करना चाहिए। इसलिए 'सौत्रम्' और 'वेषम् अमलम्' शब्दों का प्रयोग किया गया है। आचाराङ्ग सूत्र में 'भंगियं' शब्द के द्वारा लार से उत्पन्न हुए रेशम के वस्त्रों को ग्रहणीय कहा है; परन्तु चीन देश के मूल्यवान् और सुन्दर वस्त्रों को अनेषणीय बतलाया है, इसलिए कीड़ों को मार कर पैदा किये हुए रेशम को अनेषणीय समझना ही उचित है। (१३२)

[वस्त्रों और उपकरणों की संख्या परिमित करने के पश्चात्, मुनि का बाह्यवेष अन्य मनुष्यों से पृथक् प्रकार का क्यों होना चाहिए? अब ग्रन्थकार इसका विवेचन करते हैं।]

वेष क्यों बदलना चाहिए? ॥ १३३ ॥

**सम्बन्धस्त्रुटितोऽधुना ममतया ज्ञात्या कुटुम्बेन वा।
देशेनापि मितेन वा परिजनैः सम्बन्धिभिः सर्वथा ॥**

देशोऽद्यास्त्यखिलं जगत्तनुभृतः सर्वेऽपि कौटुम्बिका।
इत्येवं परिदर्शनाय जगतो वेषः परावृत्यते ॥

भावार्थ तथा विवेचन—वैराग्यभाव से दीक्षा ग्रहण करली; अर्थात्—जाति, कुटुम्ब, परिमितदेश, नौकर-चाकर और सगे-सम्बन्धियों के साथ का ममतारूपी सम्बन्ध सर्वथा तोड़ डाला, अब समस्त जगत् इस मुमुक्षु का देश, और सारे प्राणी इस मुमुक्षु के कुटुम्बी हो गये—यह भाव प्रकट करने के लिए जाति या देश का वेश छोड़कर, समस्त जगत् के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाला साधु-वेश धारण करना चाहिए। तत्त्वदृष्टि से वैराग्य और वेशका सम्बन्ध है ही। भ्रमर के ध्यान में सर्वदा जागृत रहने वाला भ्रमर बन जाता है। इसी प्रकार साधु के वेषमें ढका हुआ त्यागी अपने वेष की ओर देखकर सदा जागृत रहे, प्रमाद न करे और परिणामस्वरूप पूर्ण साधु बन जाय—इसी हेतु को लेकर वैराग्य और वेश का सम्बन्ध है। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय, तो मैं त्यागी हूँ मैं साधु वेशधारी मनुष्य हूँ, ऐसा जो भान यह साधुवेश आठों पहर कराया करता है, वह इस साधु के मन पर होने वाला एक प्रकार का स्वयं-सूचन (Auto-suggestion) है। चारित्र्य के पालन में यह स्वयं-सूचन सहायता अवश्य करता है; परन्तु विशेष उपकारक तो वह भद्रिकपरिणामी और सरलमन वाले मनुष्यों के लिए ही सिद्ध होता है। जो त्यागी ऐसे चित्तवाले नहीं होते, उनके मन पर वेषका कोई प्रभाव नहीं होता। कुटुम्ब, जाति, देश आदि के साथ का सम्बन्ध छोड़ा और सारे जगत् के साथ सम्बन्ध जोड़ा और वसुधा के समस्त जीवों को कुटुम्बी मान लिया—इसका परिदर्शन (परिदर्शनाय) कराने के लिए यह जाति विशिष्ट या देश विशिष्ट वेष तज दिया और निराला वेश

धारण किया, ऐसी छाप जिन दीक्षितों के मन पर पूर्णतया अंकित हो जाय, उन दीक्षितों के लिए यह वेष तत्त्वतः उपकारक सिद्ध हुआ समझा जा सकता है, अन्यथा 'परिदर्शनाय' के बदले 'प्रदर्शनाय'—दूसरों को दिखाने के लिए ही इस वेश की उपयोगिता रह जाती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि—'चीराजिणं नगिणिणं जडी संघाडी मुंडिणं। एयाणि वि न तायंति दुस्सीलं परियागयं॥ पिंडोलएव दुस्सीले नरगाओ न मुच्चइ। भिक्खाएवा गिहित्थे वा सुव्वए कमई दिवं॥ अ० ५-२१-२२॥ अर्थात्—चीर, वल्कल, अजाचर्म (बकरी का चमड़ा) धारण करने से या नग्न रहने से, जटा रखाने से, कंथा धारण करने से, शिर मुंडाने से और इसीप्रकार के वाह्याचार धारण करने से दुराचारी, कुकर्मी साधु अपने को दुर्गति से नहीं बचा सकता। दुःशील भिक्षा माँग कर आजीविका चलाये, अनाचार का सेवन करे और पापकर्मों का वर्जन न करे, तो नरक से छुटकारा नहीं हो सकता। परन्तु, पवित्र आचरण रखने वाला, साधु हो, या सांसारिक—गृहस्थ—हो, वह स्वर्ग में जाता है। (१३३)



चौथा परिच्छेद

महाव्रत और पापस्थान का परिहार

अहिंसा और सत्य की प्रतिज्ञा ॥१३४॥

जातेऽपि क्षुधया तृषा परिभवे कुर्यां न हिंसां मनाक्।
षट्कायाऽङ्गिषु कस्यचित्तनुभृतः सङ्कल्पमात्रादपि ॥
कस्मिंश्चित् समयेऽपि दारुणतरे क्रोधेन लोभेन वा।
हास्येनापि भयेन वाऽनृतवचो ब्रूयां न किञ्चित्स्वयम्

भावार्थ—दीक्षा लेते समय दीक्षित को इस प्रकार प्रतिज्ञा करनी है। प्रथम अहिंसा प्रतिज्ञा—भूख, प्यास, रोग या मृत्यु चाहे जैसा पराभव हो, तो भी छः काय वाले किसी भी प्राणी की, वचन तथा काया तो क्या, संकल्प तक से भी हिंसा न करूंगा, न कराऊँगा, न करने वाले का अनुमोदन करूंगा। दूसरी सत्यप्रतिज्ञा—चाहे जैसा दारुण-से-दारुण समय आये, तो भी क्रोध से, लोभसे, भय से या हास्य से लेशमात्र भी असत्य वचन न बोलूंगा, न बुलवाऊँगा, न बोलनेवाले का अनुमोदन करूंगा। (१३४)

विवेचन—त्यागी और श्रावक को जैन धर्म में सर्वविरति और देश विरति कहते हैं। जो संसार से सर्वथा विरत होगया है, वह सर्वविरति या साधु है और जो अँशतः—देशतः विरत हुआ है, वह देश विरति अथवा श्रावक कहलाता है। साधु और

श्रावक के धर्म का आधार एक ही तत्त्व है कि जिस प्रकार संन्यासी और सांसारिक मनुष्य के धर्म का तत्त्व भी समान है, केवल उनके धर्म-पालन की मात्रा न्यूनाधिक होती है। साधु और संन्यासी धर्म के तत्त्वों का पालन जितनी उग्रता से कर सकते हैं, उतनी उग्रता से श्रावक या सांसारिक मनुष्य अपने सांसारिक जीवन तथा व्यवसायों के कारण नहीं कर सकता। इसलिए शास्त्रकारों ने श्रावक या सांसारिक—गृहस्थ मनुष्यों के धर्म-पालन की मर्यादा निर्धारित कर दी है और साधु या संन्यासियों के धर्म-पालन की मर्यादा निर्धारित न करके उन्हें सर्वथा त्यागी बनने के लिए सूचित किया है। इसलिए जैन-धर्म में जो व्रत श्रावक के लिए हैं, वही साधु के लिए भी हैं; परन्तु श्रावकों के व्रत मर्यादित होने के कारण अणुव्रत हैं और साधुओं के व्रत महाव्रत। चतुर्थ आश्रम के कर्त्तव्यों का बोध यहाँ कराया गया है, इसलिए महाव्रतों की ही विवेचना इस श्लोक से प्रारम्भ होती है। श्रावकों के इन्हीं अणुव्रतों के विषय में पहले कुछ श्लोकों में उल्लेख हो चुका है।

प्रथम महाव्रत अहिंसा की प्रतिज्ञा है, कि जो एक त्यागी को ग्रहण करने के लिए है। सांसारिक—गृहस्थ—की अहिंसा की प्रतिज्ञा मन, वचन और काया के द्वारा हिंसा न करने और न कराने की होती है और साधु या संन्यासी को तो मन, वचन और काया के द्वारा हिंसा न करने, न कराने और न अनुमोदन करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है। पाप या कर्म-बन्धन मन, वचन और काया इन तीन योगों के द्वारा करना, कराना और अनुमोदन करना यह तीन करण-द्वार होते हैं। इसलिए सब मिलाकर नौकोटि द्वारा कर्म-बन्धन होता है और यह सब प्रकार की हिंसा त्यागने की प्रतिज्ञा दीक्षित की पहली प्रतिज्ञा है। अहिंसा क्या है? यह एक महत्त्व का प्रश्न है। 'हिंस्' (अर्थात्

हन्या करना, घात करना) धातु से हिंसा शब्द सिद्ध हुआ है; परन्तु हिंसा नकारात्मक रूढ़ और अति विस्तृत अर्थ का प्रतिपादक शब्द है। एक प्राणी के देह से प्राण अलग न करने में ही अहिंसा की पूर्णता नहीं हो जाती। आचाराङ्ग सूत्र में श्री महावीर स्वामी कहते हैं कि—"मनुष्य अनेक हेतु और अनेक प्रकार से हिंसा करते हैं। ऐसी कोई भी हिंसा मुनि को न करनी चाहिये। इसलिए श्री महावीर स्वामी ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् गौतम आदि को पहले महाव्रत—अहिंसा की प्रतिज्ञा पाँच भावनाओं के साथ समझाई है—

"हे भगवन् ! मैं सब प्राणातिपात का त्याग करता हूँ। वह इस प्रकार कि सूक्ष्म या स्थूल जंगम (त्रस) या स्थावर जीव का मन, वचन, काया से त्रिविध स्वतः घात नहीं करूँगा, न दूसरे से कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी न करूँगा। ऐसे-जीव घात की निन्दा करता हूँ, उसे गर्हित समझता हूं और ऐसे स्वभाव को मैं त्यागता हूँ। (१) मुनि को ऐसी भावना ईर्या-समिति-सहित करते रहना चाहिये; कारण कि ईर्या-समिति-रहित मुनि प्राणादि का घात करता रहता है। (रास्ते में चलते समय जीव-जन्तुओं का घात न होने के लिए देख-भाल कर चलने को ईर्या-समिति कहते हैं।) (२) मुनि को अपना मन पाप-भरित, सदोष, दुष्कार्य पूर्ण, कर्म-बन्धकारी, कूड़-कपट करने वाला, कहलकारक, द्वेषयुक्त तथा जीव-भूत का उपघातक न बनाना चाहिये; बल्कि पाप-रहित बनाना चाहिये। (३) पाप-भरित, दुष्क्रिया वाला, भूतोपघातक वचन मुनि को उच्चारण नहीं करना चाहिये; बल्कि पाप-रहित वचन का उच्चारण करना चाहिये। (४) मुनि को भंडोपकरण रखने में समिति-सहित रहना चाहिये, रहित नहीं; कारण कि रहित रहने से प्राणादिक का घात होता है। (५) मुनि को आहार

और जल आदि देखकर व्यवहार में लाना चाहिये, कारण कि बिना देखे व्यवहार करने से प्राणादिक का घात होता है।"

इस प्रकार अहिंसा केवल स्थूल जीवों के प्राणातिपात से रुकना ही नहीं, बल्कि मन, वचन और काया से उसका अद्रोह है और इसलिए अहिंसा परम धर्म है। केवल अघातकता नहीं। महात्मा गाँधी जी कहते हैं कि अहिंसा को आज हम जैसी मोटी वस्तु के रूप में देखते हैं, वैसी ही वह नहीं है। किसी को नहीं मारना, यह तो है ही पर कुविचार मात्र हिंसा है, जल्दबाजी हिंसा है, मिथ्या-भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है और किसी का बुरा चिंतना भी हिंसा है। प्रथम महाव्रत की भावनाओं के साथ श्री महावीर स्वामी के द्वारा किया हुआ विवेचन और महात्मा गान्धी जी के उपर्युक्त कथन के रहस्य में कितनी समानता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। ग्रन्थकार ने केवल कुछ सूत्र-रूप शब्दों में अहिंसा की यह व्याख्या की है; परन्तु ऊपर बतलाया हुआ सब रहस्य उसमें समाविष्ट हो जाता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस, इन छहों काया के जीवों की हिंसा वचन और काया के सिवा मन के संकल्प द्वारा भी न करना संक्षेप में प्रथम प्रतिज्ञा कही गई है। मुनि अन्य सब वासनाओं का त्याग कर ही देते हैं, केवल शरीर होने के कारण भूख और प्यास का निवारण करने के लिए आहार और जल की आवश्यकता होती है। अतएव उनमें भी किसी प्रकार हिंसा न हो जाने का तत्त्व इस प्रतिज्ञा में समाविष्ट है। इतनी रहस्यमय प्रतिज्ञा के लिए महाभारत के अनुशासन-पर्व में जो प्रशस्ति-वाक्य लिखे गये हैं, वे बहुत ही उचित प्रतीत होते हैं—

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥

अर्थात्—अहिंसा उत्तम धर्म, उत्तम दम, उत्तम दान और उत्तम तप है। मुनि की सत्य विषयक प्रतिज्ञा भी व्यापक ही होती है। मनु ने "सत्यपूतां वचेद्वाचं" और "क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्" आदि वचनों द्वारा वाणी का संयम सूचित किया है। यहाँ ग्रन्थकार जैन-शास्त्रानुसार इससे अधिक व्यापक संयम संक्षेप में सूचित करते हैं। चाहे कैसा ही दुर्दम्य अवसर उपस्थित हो, तो भी मुनि को क्रोध, लोभ, भय या हास्य से जरा भी असत्य की छाया वाला वचन उच्चारण न करना चाहिये, न दूसरे से कराना चाहिये, न करने वाले का अनुमोदन करना चाहिये। अर्थात्—मुनि जो कुछ बोले सत्य ही बोले और क्रोधादि दुर्वृत्ति से उत्तेजित न हो कर शान्ति और विचार पूर्वक बोले। श्री महावीर स्वामी ने दूसरे मृषावाद रूप वचन-दोष के त्याग की पाँच भावनाएँ इस प्रकार प्रदर्शित की हैं (१) मुनि को विचार कर बोलना चाहिये। (२) क्रोध से नहीं बोलना चाहिये। (३) लोभ से नहीं बोलना चाहिये। (४) भय से नहीं बोलना चाहिये और (५) हास्य करते हुए नहीं बोलना चाहिये। इन पाँचों भावनाओं रूपी वस्त्र से छानकर उच्चारण किया हुआ वाक्य, छना हुआ सत्य होता है और इसलिए ऐसा सत्य बोलने की प्रतिज्ञा किसी भी त्यागी साधु या संन्यासी के ग्रहण करने योग्य हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं। फिर भी सत्य बोलने के लिए कई नियमों की आवश्यकता रहती है और इसके विषय में आगे चलकर लिखा जायगा। (१३४)

[अब नीचे लिखे श्लोक में ग्रन्थकार संक्षेपतः तीसरी और चौथी प्रतिज्ञा का निर्देश करते हैं।]

अस्तेय और ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ।१३५॥

तुच्छं वस्तु तृणादिकं वरतरं वस्त्रादिकं मूल्यवद् ।
गृह्णीयां न विनाऽऽज्ञया क्वचिदहो तन्नायकस्य स्फुटम् ॥

सेवेयापि न मैथुनं त्रिकरणैर्दिव्यं च मानुष्यकं।
सन्नद्धो नवभिश्च गुप्तिभिरहं देहावसानावधिम् ॥

भावार्थ—तीसरी अस्तेय-प्रतिज्ञा यह है—तृण आदि तुच्छ वस्तु हो या वस्त्र आदि मूल्यवान् वस्तु हो; पर उसके मालिक की ठीक आज्ञा लिए विना कहीं भी कोई वस्तु ग्रहण न करूँगा, न कराऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा। चौथी ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा यह है—देव-सम्बन्धी या मनुष्य—तिर्यंच-संबंधी मैथुन—अब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों से गुप्त रह कर जीवन भर सेवन न करूँगा, न कराऊँगा और न करने का अनुमोदन करूँगा। (१३५)

विवेचन—अदत्त—न दी गई—वस्तु को लेना स्तेय या चोरी कहलाती है; और अदत्त वस्तु को न लेना अस्तेय अथवा अचौर्य कहलाता है। गृहस्थ को और त्यागी को किसी की वस्तु विना मालिक की आज्ञा के नहीं लेनी चाहिये, यह तो नीति का एक स्वाभाविक नियम ही है, फिर भी गृहस्थ के लिये जो कई स्वाभाविक अनुमतियाँ नीति शास्त्रकार देते हैं, वे त्यागी को नहीं मिल सकतीं। कोई साधारण-सी चीज हो और वह उसके मालिक की आज्ञा के विना ले ली जाय—इस ख्याल से कि उसका मालिक यदि उपस्थित हो, तो उसके लेने की अनुमति अवश्य दे सकता है। परन्तु, उसकी अनुपस्थिति के कारण अनुमति न ली जा सके, तो उसकी अनुपस्थिति में उसकी आज्ञा के विना उस चीज को ले लेना चोरी नहीं है—चोरी के भाव से वह चीज न ली हो, तो वह स्तेय नहीं है—यह नियम गृहस्थों—सांसारिक मनुष्यों के लिए जगत् में पालन होता आ रहा है। गृहस्थाश्रमी मनुष्यों के लिए इस अनुमति का अस्तेय

के अणुव्रत में शास्त्रकार ने भी उल्लेख किया है; परन्तु त्यागी का अस्तेय व्रत तो इससे बहुत आगे बढ़ा हुआ होता है। इसलिए, ग्रन्थकार 'तुच्छं वस्तु तृणादिकम्' से लेकर मूल्यवान् 'वस्त्रादिकं' तक कोई भी वस्तु उसके मालिक की आज्ञा के बिना न लेने को ही मुनियों का अस्तेय महाव्रत बतलाते हैं, और वह यथार्थ है। 'क्वचिद्' शब्द के द्वारा ग्रन्थकार किसी भी स्थान या संयोग का सूचन करते हैं; अर्थात्--चाहे जैसे कठिन अवसर में भी ऐसी सूक्ष्म या स्थूल चोरी के लिए मना करके मुनि को अपना व्रत तलवार की धार पर पालन करने का सूचन किया है। वीर भगवान् ने इस व्रत को जरा विस्तार के साथ बतलाया है— 'गाँव, नगर, या अरण्य—जंगल—में पड़ा रह गया, कम या ज्यादा, छोटा या बड़ा, सचित्त या अचित्त किसी के द्वारा न दिया हुआ मैं जीवन-भर मन, वचन या काया के द्वारा न लूँगा, न लेने के लिए किसी से कहूँगा, और न लेने वाले का अनुमोदन करूँगा तथा अदत्तादान से अलग हो जाता हूँ, आजीवन ऐसे स्वभाव को त्याग देता हूँ'। इस व्रत का पालन करने के लिए अचाराङ्ग सूत्र में निम्न लिखित पाँच भावनाएँ बतलाई हैं—

'(१) कोई भी वस्तु, साधन या सुविधा अपरिमित नहीं परिमित—मर्यादित रूप में माँगना चाहिए, (२) आहार और जल को गुरु की आज्ञा लेकर व्यवहार में लाना चाहिए। (३) काल और क्षेत्र की भी मर्यादा बाँध कर वस्तु लेना चाहिए। (४) पुनः पुनः मर्यादा निश्चित करने में सावधान रहना चाहिए; कारण कि ऐसी मर्यादा निश्चित न करने से अदत्त का दान ले लिया जाता है। (५) साधर्मिक मनुष्य से भी परिमित वस्तु लेना चाहिए।'

महात्मा गान्धी जी भी सीमा निश्चित न किए हुए परिग्रह को या असंयम पूर्वक व्यवहार में लाई हुई वस्तु को स्तेय—चोरी

समझते हैं। वे कहते हैं—चोरी न करने का सिद्धान्त बहुत गहन है। हमको जिस वस्तु की आवश्यकता न हो, उसके मालिक की वह वस्तु लेना भी चोरी ही है। उदाहरण के रूप में, यदि मैं आवश्यकता से अधिक फल खाऊँ, तो वह चोरी कही जा सकती है। निरर्थक आवश्यकताओं को बढ़ा कर हम अज्ञान में चोर बनते हैं।' महाभारत के अनुशासन पर्व में भी अस्तेय की पुष्टि निम्नलिखित श्लोक द्वारा की गई है—

> अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा।
> मनसाऽपि न इच्छन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः।

अर्थात्—अरण्य या निर्जन स्थान में पराया द्रव्य पड़ा हुआ दीख पड़े, उसे जो मन के द्वारा भी लेने की इच्छा नहीं करते, वे ही स्वर्ग के अधिकारी हैं।

श्लोक के उत्तरार्द्ध में संक्षेप रूप से चतुर्थ—ब्रह्मचर्य महाव्रत की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है। संसारत्यागी या संन्यासी स्व-स्त्री या पर-स्त्री का मैथुन तो त्याग ही देता है; परन्तु वह मन के द्वारा अब्रह्मचर्य का सेवन न करे, या उसके मन में विषय-विकार की जागृति न हो—इसी के लिए मुख्य रूप से यह प्रतिज्ञा है। देव, मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी अब्रह्मचर्य मन, वचन और काया से सेवन न करने, न कराने और न करने वाले का अनुमोदन करने के त्रिकरण और त्रियोग से ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा है। इस प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए ग्रन्थकार नौ गुप्तियों अथवा ब्रह्मचर्य-पालन के नौ प्रतिबन्धों का उल्लेख करते हैं। वे प्रतिबन्ध पहले १७ वें और १८ वें श्लोक के विवेचन में दिये गये हैं। महावीर स्वामी ने ऐसी पाँच भावनाएँ बतलाई हैं, जिनमें उपर्युक्त नौ प्रतिबन्धों का समावेश है—(१) मुनि को बारम्बार स्त्रियों की बातचीत न करनी चाहिए, कारण कि इससे

शान्ति का भंग होता है। (२) मुनि को स्त्री की मनोहर इन्द्रियाँ बारम्बार नहीं देखना चाहिए और न उनका चिंतन करना चाहिए। (३) मुनि को पहले स्त्री के साथ किये हुए काम-क्रीड़ा के रमण का स्मरण न करना चाहिए। (४) मुनि को रस पूर्ण और अधिक खान-पान न करना चाहिए। (५) मुनि को स्त्री, पशु या नपुंसक के व्यवहार में आये हुए बिछौने या आसन को व्यवहार में न लाना चाहिए। नौ प्रतिबन्धों या इन पाँच भावनाओं में, यदि किसी त्यागी या संन्यासी का चित्त स्थिर न हुआ हो, तो भले ही वह शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा हो, और कदाचित् वाणी के द्वारा भी अब्रह्मचर्य का सेवन न कर रहा हो, तो भी मन के द्वारा तो अब्रह्मचर्य सेवन के बहुत से प्रसंगों से उसे गुजरना पड़ता है। और उस समय उसका निर्बल मन विषय-सेवन में मत्त हुए बिना नहीं रहता। कथा तथा व्याख्यानों में देवों, इन्द्रों और अप्सराओं के प्रसंग आते हैं, सभा और उत्सवों में वस्त्राभरण से सजी हुई मनोहर स्त्रियों की उपस्थिति होती है, अतिथि सत्कार का कर्त्तव्य समझे हुए हमारे आर्य स्त्री-पुरुष त्यागी और संन्यासियों को आदरभाव के साथ निमन्त्रित करके विविध रस युक्त भोजन कराते हैं, ऐसे प्रसंगों पर यदि कोई त्यागी सावधान न रहे, तो उसका मन विषय-वासना से आच्छादित हो जाता है, उसे देवों की, गन्धर्वों की और स्त्री-पुरुषों की ही नहीं, बल्कि, पूर्वाश्रम में स्वतः रमण की हुई विषय-क्रीड़ाओं का स्मरण हो जाता है और क्योंकि मन ही वाणी तथा काया के कर्मों का प्रेरक करने वाला है, इसलिए ऐसे मन वाले त्यागी का पतन होते देर नहीं लगती। वेदानुयायी धर्मों के ग्रन्थों में भी त्यागी के ब्रह्मचर्य पालन के लिए, तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए यह सूचित किया गया है कि उन्हें स्त्रियों का स्पर्श न करना चाहिए, उनके साथ बोलना नहीं चाहिए, उनके

विषय में बात-चीत न करनी चाहिए और न सुननी चाहिए। स्त्रियों के स्थान में जाना नहीं चाहिए, स्त्रियों का स्पर्श किया हुआ वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए और मैथुनासक्त पशु-पक्षियों को देखना भी न चाहिए। भोजन भी विषयासक्ति का कारणी भूत होता है, इसलिए उसके निवारण के लिए ऐसा कहा है कि—

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥

अर्थात्—संन्यासी को केवल एक बार भिक्षा माँगकर भोजन करना चाहिए; कम खाना चाहिए, अधिक खाने से उसे स्त्री आदि विषयों की इच्छा उत्पन्न होगी।

दृष्टान्त—लक्ष्मणा नाम की एक राज कन्या पूर्वोपार्जित कर्मों के कारण, मँडवे में ही विधवा हो गई। कालक्रम से उसने दीक्षा ग्रहण करली और विविध महाव्रतों आदि की प्रतिज्ञाएँ ले लीं।। एक बार उसने चिड़े और चिड़िया को काम-क्रीड़ा करते देखा और विचार किया कि 'श्री अरिहंतदेव ने इस क्रीड़ा की आज्ञा क्यों न दी? श्री अरिहंत देव वेद के उदयवाले हृदय के दुःख को नहीं जानते।' पुरुषवेद, स्त्री वेद, और नपुंसक वेद, यह तीन वेद हैं और इन तीनों वेदों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक काम-वासना होती है। साध्वी लक्ष्मणा को इस पक्षी-युगल को देखकर यह विचार अवश्य हुआ था; परन्तु तुरन्त ही उसे अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया और इस मनोविकार के लिए उसे पश्चात्ताप हुआ। परन्तु लज्जा के कारण उसने इस दुर्विचार के लिए गुरु के निकट पश्चात्ताप नहीं किया। अपने आप ही उसके निवारण के लिए पचास वर्ष तक तपश्चर्या की, फिर भी मनमें काँटा रखकर की हुई तपश्चर्या का फल उसे मानसिक अब्रह्मचर्य के दोष से मुक्त न कर सका। (१३५)

[मुनि के करने की पाँचवीं अपरिग्रहप्रतिज्ञा नीचे के श्लोक में बतलाई गई है।]

परिग्रह त्याग की प्रतिज्ञा ॥१३६॥

त्यक्तं क्षेत्रगृहं च रूप्यकनकं धान्यं कुटुम्बं धनं।
हस्त्यश्वादिपरिग्रहश्च निखिलो नेच्छेयमेनं पुनः॥
यद्यद्धर्मसहायकोपकरणं गात्रं च पात्रादिकं।
लेशेनापि न तत्र लोभममतां कुर्यां समैः कोटिभिः॥

भावार्थ--क्षेत्र, घर, सोना, चाँदी, धन, धान्य, कुटुम्ब-परिवार, हाथी, घोड़ा आदि सारे परिग्रहों का मैंने त्याग किया है, इनकी मैं अब कभी इच्छा न करूँगा, न कराऊँगा, और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा। और धर्म में सहायक होने वाले वस्त्र, पात्र तथा शरीर आदि उपकरण जिन्हें शास्त्र में कहे अनुसार रखने की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें रखूँगा। परन्तु उन्हें भी लेशमात्र लोभ या ममता-पूर्वक नौ कोटि से नहीं रखूँगा। (१३६)

विवेचन—संसार के सुखोपभोग तथा उनके साधनों को त्यागने पर, उनके प्रति मोह तथा ममता को छोड़ कर साधु-मुनि बन जाने पर भी, पहले की ऋद्धि-समृद्धि में ममत्व उत्पन्न हो जाता है; इसीलिए यह निष्परिग्रह प्रतिज्ञा है कि साधु-अवस्था में देहनिर्वाह तथा संयमनिर्वाह के जो साधन हों, उनमें लोभ या ममता का भाव न जागृत हो। आचारांग सूत्र में इस प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए नाक, कान, आँख, जिह्वा और त्वचा इन पाँच इन्द्रियों के विषयों का संयम करने के लिए सूचित किया गया है और वह यथार्थ है; कारण कि इन्द्रियों

द्वारा ही चित्त आसक्त होता है और आसक्ति के कारण परिग्रह की इच्छा पैदा होती है। कहा है कि—

दधति तावदमी विषयाः सुखं।
स्फुरति यावदियं हृदि मूढ़ता॥
मनसि तत्त्वविदां तु विवेचके।
क्व विषयाः क्व सुखं क्व परिग्रहाः॥

अर्थात्—जब तक हृदय में मूढ़ता रहती है, तब तक इन्द्रियों के विषय मनुष्यों को सुख देते हैं; परंतु तत्त्ववेत्ताओं और सारासार के विवेचकों के लिए इन इन्द्रियों के विषयों, विषय-सुखों या परिग्रहों का कोई मूल्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि निष्परिग्रही होने के लिए इन्द्रियों के द्वारा होने वाला विषयों का आगमन रोकना चाहिए, और इस प्रकार मुनि अपनी इस जटिल प्रतिज्ञा का निर्वाह कर सकता है।

दृष्टान्त—किसी निर्जीव वस्तु के प्रति भी परिग्रह का भाव रखने से परिग्रह और ममत्व का परिवार कितना अधिक बढ़ जाता है—इसी का एक दृष्टान्त है। एक साधु वनमें पर्णकुटी बनाकर रहता था। दो एक लँगोटियों, दो एक तूँबों और एकाध दर्भशय्या के सिवा उसके पास और कोई भी परिग्रह नहीं था। एक बार उसने देखा कि किसी जंगली चूहे ने, उसकी धोकर सुखाई हुई लँगोटी काट डाली और बेकार कर दी। इसलिए उसे अपने वस्त्र तथा पात्र आदि की रक्षा के लिए चिन्ता हुई। चूहे के भय से मुक्ति पाने के लिए उसने एक बिल्ली पाली। कुटी में चूहों का आना बंद होगया और वस्त्र तथा पात्र सुरक्षित होगये; परंतु अब बिल्ली के पोषण के लिए, साधु को दूध की चिंता हुई। वन में तो फल या कन्द ही मिल सकते हैं, दूध

कहाँ से आये ! इसलिए साधू नगर में जाकर एक दुधार गाय ले आया और कुटिया के आँगन में बाँध दी। गाय के दूध से बिल्ली का पोषण होने लगा; परंतु गाय का पोषण करने की साधु को नई चिन्ता पैदा हो गई। गाय के लिए घास चाहिए, इसके लिए साधु ने कुटिया के आस-पास की जमीन जोतकर जुआर बो दी। जुआर के पौदों से गाय का पोषण करने का विचार साधु ने किया था; परंतु खेत खड़ा देखकर राजा के कारिन्दे जमीन का कर लेने के लिए आये ! साधु के पास रुपया नहीं था; इसलिए कारिन्दे उसे पकड़कर राजा के पास ले गये। इस अकिंचन साधु को कैदी की हालत में देखकर राजा को आश्चर्य हुआ और उसने पूछा कि 'हे साधुवर्य ! आपकी यह दशा कैसे हुई ?' साधु ने उत्तर दिया कि 'हे राजन् ! मेरी यह दशा कराने वाला, एक लँगोटी के प्रति मेरा ममत्व है।' यह कहकर उसने उत्तरोत्तर परिग्रह भाव में जकड़ जाने की सब कथा कह सुनाई। राजा को साधु पर दया आगई और उसे छोड़ दिया। परंतु, साधु ने तत्त्क्षण देख लिया कि सांसारिक अवस्था में बड़ी वस्तुओं के प्रति और त्यागी अवस्था में क्षुद्र वस्तुओं के प्रति ममत्व, दोनों आत्मा के बंधन कारक हैं। जब तक प्रत्येक वस्तु में निर्ममत्वभाव नहीं उत्पन्न हो जाता तब तक वासना नहीं छूटने पाती। यह ज्ञान उत्पन्न होते ही उसने सब परिग्रहों का त्याग करके आत्म-शान्ति प्राप्त की। (१३६)

[महाव्रतों के पूर्ण होने पर, अन्य पाप स्थानकों के त्याग के विषय में मुनि की प्रतिज्ञा का विवेचन अब ग्रन्थकार करते हैं।]

क्रोध-मान-त्याग की प्रतिज्ञा ॥१३७॥

कुर्यां नो मनसाऽपि कोपमरिषु प्राणापहारिष्वपि।
सूरिस्कन्धकशिष्यवत् समतया क्षान्तिं विदध्यां पराम्॥

देवेन्द्रेण च चक्रिणाऽपि बहुशस्तोष्ट्रूयमानोऽप्यहं ।
गर्वं नैव वहेयमल्पमपि मद्देहावसानावधिम् ॥

भावार्थ—चाहे जैसा शत्रु कोपायमान होकर प्राण लेने के लिए आवेगा, तो भी मैं उसके प्रति मन मे भी क्रोध न करूँगा, बल्कि स्कंधक मुनि के पाँच सौ शिष्यों ने जैसी क्षमा-भावना रक्खी, वैसी ही समभावना से मैं भी क्षमा-भावना रखूँगा। देवेन्द्र या चक्रवर्ती के समान कोई आकर अनेक प्रकार स्तुति करे, तो भी मैं लेशमात्र गर्व या अभिमान नहीं करूँगा। जब तक यह देह रहेगी, तब तक इस प्रतिज्ञा को पालूँगा। (१९७)

विवेचन—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में यह प्रतिज्ञा समाविष्ट है कि क्रोधरूपी चांडाल का त्याग करके क्षमा रूपी खड्ग धारण करना चाहिए और प्राण जाने का प्रसंग आजावे, तो भी मुनि को शत्रु पर क्रोध न करना चाहिए। और, इसके लिए स्कंधक मुनि के शिष्यों के अक्रोध या क्षमा को आदर्श माना है। क्रोधी मनुष्य के क्रोध को, प्रतिक्रोध से नहीं जीता जा सकता; बल्कि क्षमारूपी खड्ग से जीता जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी मुनि को क्रोध के प्रति क्रोध न करने के लिए कहा है—

> अक्कोसिज्ज परो भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले।
> सरिसो होई बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले॥

अर्थात्—कोई हमारा तिरस्कार करे, तो उसके प्रति क्रोध न करना चाहिए। कारण कि यही तो सहन शीलता है; इसलिए मुनि को क्रोध न करना चाहिए।

स्कन्धक मुनि के शिष्यों की क्षमावृत्ति अद्भुत और अपूर्व है। श्रावस्ती नगरी के राजा जितशत्रु के स्कन्धक नामक एक पुत्र था और पुरंदरयशा नामक एक कन्या। पुरंदरयशा का

विवाह राजा ने कुंभकार नगर के राजा दंडक से किया था। पालक नामका एक दुष्ट, राजा का पुरोहित था। कालक्रम से स्कन्धक ने श्रावक धर्म ग्रहण कर लिया। एक बार पुरोहित पालक किसी काम से श्रावस्ती नगरी में आया। उसने राज-सभा में मुनियों की निन्दा की। यह सुनकर स्कन्धक ने उसको पराजित करके निरुत्तर कर दिया, इससे पालक स्कन्धक के प्रति द्वेषभाव धारण करके अपने नगर को लौट गया। काल-क्रम से स्कन्धक ने पाँचसौ मनुष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। एक बार आचार्य स्कन्धक अपने पाँचसौ शिष्यों के साथ कुंभकार नगर के उपवन में आकर ठहरे। उनके आगमन का समाचार सुनकर पालक ने अपना बदला लेने के लिए, उपवन में पहले ही से विविध प्रकार शस्त्र छिपा दिये। बाद में उसने राजा से कहा कि—'हे राजन्! हमारे नगर के उपवन में यह स्कन्धक साधु वेष धारण करके आया है और उसके साथ ५०० योद्धा भी साधु वेश में हैं। उसने अपने शस्त्रास्त्र उपवन में ही गाड़ कर छिपा दिये हैं। जब आप उसको वन्दना करने के लिए जायँगे, तब वह आपको मार कर आपका राज्य ले लेगा। आपको मेरी बात पर विश्वास न हो, तो आप स्वतः जाकर उपवन में छिपाये हुए शस्त्रों को देखकर विश्वास कर लीजिए।' यह सुनकर राजा पालक के साथ उद्यान में गया और पालक ने छिपाये हुए शस्त्र निकाल कर दिखलाये। यह देख कर राजा ने क्रोध से सब साधुओं को कैद कराके पालक के सुपुर्द कर दिये। और उससे कहा कि 'जो तुम्हारी इच्छा हो, इन्हें दंड दो।' पालक ने सबको कोल्हू में पैलने को सजा दी। जीने और मरने की इच्छा से रहित सब साधुओं ने अन्तिम आराधना की। पालक ने स्कन्धक को कोल्हू के पास बाँध कर, एक के बाद एक साधु को कोल्हू में पेलना आरंभ किया। स्कन्धक ने

किञ्चित् भी खेद किये विना विचार किया—

भिन्नः शरीरतो जीवो जीवाद्भिन्नश्च विग्रहः ।
विदन्निति वपुर्नाशेऽप्यन्तः खिद्येत कः कृती ॥

अर्थात्—जीव शरीर से भिन्न है और शरीर जीव से भिन्न है—यह जानने वाला कौन पंडित पुरुष, शरीर का नाश होने पर भी हृदय में दुःख उत्पन्न करेगा ? सब मुनि भी शत्रु तथा मित्र को समान दृष्टि से देखने वाले और क्षमारूपी धन के धनी थे, उन्होंने पालक पर जरा भी क्रोध न किया और मर कर मोक्ष पाया। इस प्रकार ४६८ साधुओं का नाश हुआ। अन्त में जब एक किशोर वयस्क साधु को कोल्हू में पेलने के लिए पालक तैयार हुआ, तो स्कन्धक ने कहा—'हे पालक ! इस दया-पात्र बालक को पेलते देखने के लिए मैं शक्तिमान् नहीं हूँ; इस-लिए पहले मुझे पेल डालो और फिर उसे पेलना।' यह सुनकर स्कंधक को अधिक दुखी करने की इच्छा से पालक ने स्कन्धक के सामने ही उस बालक को पेलना आरम्भ किया। उस बालक ने तो धैर्य धारण करके शान्ति-पूर्वक मृत्यु को वरण किया; परन्तु पालक के घृणित कार्य से स्कन्धक को बड़ा क्रोध आगया और उसने मन में यह इच्छा की, कि अगले जन्म में मैं इस दुष्ट पालक तथा उसके राजा और सारे नगर को जला डालूँगा। इस इच्छा के अनुसार, पिलने पर, मर कर स्कन्धक वह्नि-कुमार में देव बनकर अवतरित हुए और अति क्रोधपूर्वक उन्होंने कुंभकार नगर तथा सारे देश को जला डाला। वहाँ जो अरण्यक था, वह दंडक राजा के नाम से, दंडकारण्य नाम से परिचित होगया। इस दृष्टान्त से, शान्तिपूर्वक मृत्यु का स्वागत करने वाले पाँचसौ साधुओं के अक्रोध या क्षमा का ही बोध लेने योग्य है। और साधु या मुनि को इस दृष्टान्त के अनुरूप

ही क्षमावृत्ति धारण करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करनी चाहिए। प्राणों के हरण का प्रसंग उपस्थित हो जाय, तो भी क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाला मुनि यही चिन्तन करेगा कि—

धीरेण हि मरिअव्वं काउरिसेण हि अवस्स मरिअव्वं।
तम्हा अवस्समरणे वरं खु धीरत्तणे मरणं॥

अर्थात्—धीर पुरुष को मरना है और कायर को भी अवश्य मरना है। जब मरना अवश्यंभावी है, तो धीरज के साथ मरना ही उत्तम है।

मान और गर्व के अनेक कारण हैं; परन्तु सांसारिक और त्यागियों के यह कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। सांसारिक मनुष्य को अपनी ऋद्धि के कारण मान और अभिमान उत्पन्न होता है, तो त्यागी को किसी समय अपनी सिद्धि का अभिमान होना संभव है। सांसारिक मनुष्य को अपने उच्च पद और अधिकार का मान-अभिमान उत्पन्न होता है, तो त्यागी को कदाचित् अपने ज्ञान का अभिमान हो सकता है। मान या अभिमान जिस प्रकार सांसारिक मनुष्यों के लिए सम्भव हो सकता है, उसी प्रकार त्यागियों के लिए भी। और जहाँ मान या अभिमान का भाव उत्पन्न हो गया, कि वहाँ त्यागी के ज्ञान, संयम और सिद्धि में विकार उत्पन्न हुए विना नहीं रहता। इसलिए मान-परिहार की प्रतिज्ञा का परिहार बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'देवेन्द्र और चक्रवर्त्ती भी कदाचित् मुनि की स्तुति करें, या उसके ज्ञान, तप, आचारादि की प्रशंसा करें, तो भी मुनि अपने मन में जीवन-भर मान-अभिमान या गर्व का धारण न करे। मान या अभिमान का भाव मुनि में पैदा होना, ज्ञान का अधूरापन ही है, फिर चाहे शास्त्रों पर शास्त्र उलट कर पाण्डित्य प्राप्त किया गया हो। पाण्डित्य ही कोई ज्ञान नहीं है। जिसका ज्ञान

रूपी घट भरा हुआ होता है, उसमें मान रूपी तैल की एक बूँद भी नहीं रह सकती, पानी की सतह पर से ही वह जाती है।

शंका—जो मान या अभिमान का भाव त्याग देता है, उसमें 'स्वाभिमान' हो सकता है या नहीं ?

समाधान—'स्वाभिमान' वास्तव में 'स्वत्व के भान' के समान है। 'मैं मनुष्य हूँ, और यदि कोई मुझ से पशुओं के समान काम करने के लिए कहेगा तो मैं न करूँगा।' अथवा 'मैं साधु हूँ, और चाहे जैसी विषम स्थिति में भी मैं सांसारिक कार्य न करूँगा।'—इस प्रकार मनुष्यत्व या साधुत्व के प्रकटीकरण का भान 'स्वाभिमान' कहलाने पर भी, स्वत्व का भान होने के कारण मानरूपी-कषाय नहीं है। मान, अभिमान, मिथ्याभिमान, स्वमान या स्वाभिमान आदि शब्दों के अर्थ तथा व्याख्याओं के भ्रम में न डालने के लिए ग्रन्थकार ने इस प्रतिज्ञा में विशेष विकसित अर्थ दर्साने वाला 'गर्वम्' शब्द योजित किया है। तात्पर्य यह है कि ऊपर बतलाये हुए शुभ अध्यवसाय में 'स्वमान' या 'स्वाभिमान' मुनि के लिए कषाय रूप नहीं समझा जा सकता।

दृष्टांत—भरत और बाहुबलि नाम के दो भाई थे। भरत चक्रवर्त्ती हो गया; पर बाहुबलि ने उसके आगे सिर न झुकाया। अन्त में भरत ने उसे विवश किया कि वह सिर झुकाकर वंदना करे, या युद्ध के लिए तैयार हो। बाहुबलि युद्ध के लिए तैयार हो गया। दोनों की सेनाएँ बहुत हताहत हुईं। अन्त में सैनिकों के जीवन बचाने के लिए दोनों भाइयों ने परस्पर युद्ध करने की ठानी और निश्चय किया कि नेत्र, वाचा, मुष्टि, बाहु और दंड, इन पाँच चीजों का उपयोग ही युद्ध में किया जाय। परन्तु

इस युद्ध में भरत बहुत जर्जरित हो गया, इसलिए उसने क्रुद्ध होकर चक्र चलाया! भरत के सिर पर कलंक लग गया, कारण कि चक्र से लड़ना निश्चित नहीं हुआ था। चक्र किसी सगोत्र मनुष्य पर आघात नहीं कर सकता था, इसलिए वह लौट आया। बाहुबलि पर उसने आक्रमण नहीं किया। अब बाहुबलि को क्रोध आया। उसने भरत को मारने के लिए घूँसा ताना। उसी समय उसे राज्य लोभ के प्रति तिरस्कार उत्पन्न हुआ और उसने उसे धिक्कारा और कहा—मुझे राज्य नहीं चाहिये। परन्तु भरत के सामने जो उसने घूँसा ताना था उसका क्या हो? उसने उसे भरत के सिर पर न मार कर, उस मुष्टिका से उसने अपने सिर के बाल नोच डाले और दीक्षा ग्रहण करली। दीक्षा ले लेने के कारण उसे भरत को वन्दना करने की आवश्यकता न रही। परन्तु उसे खयाल आया कि मेरे अट्ठानवे भाई दीक्षा ले चुके हैं, और वे सब मुझ से बड़े हैं, उनके सामने तो सिर झुकाना ही होगा! इसलिए उसने विचार किया कि यदि मैं केवल ज्ञान प्राप्त करलूँ तो मुझे किसी के आगे न झुकना पड़े। यह विचार कर बाहुबलि मुनि ने अखण्ड 'काउसग्ग' धारण कर लिया। एक वर्ष बीत गया। अनेक जन्तु तथा पक्षी पीड़ा पहुँचाने लगे; पर वे अचल रहे। किन्तु मन में यही विचार था कि मैं केवल ज्ञान प्राप्त करके अन्य साधुओं से मिलूँगा कि मुझे किसी के आगे झुकना न पड़े, किसी को वन्दना न करना पड़े। अन्त में उनकी बहन ब्राह्मी सुन्दरी ने आकर कहा—'हे भाई, इस अभिमानरूपी हाथी से उतरो, हाथी पर चढ़ने से केवली नहीं हुआ जा सकता; अर्थात्—केवल ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। तुरन्त ही बाहुबलि मुनि को भान हुआ कि मैं केवल ज्ञान को प्राप्त करना चाहता हूँ; पर मुझ में से अभिमान का नाश तो हुआ ही नहीं, मुझे अभी जाकर भाइयों की

पद वन्दना करनी चाहिये। यह विचार कर बाहुबलि मुनि ने भाइयों को वन्दना करने के लिए ज्यों ही कदम बढ़ाये, त्योंही उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। (१३७)

[इस प्रकार सात पापस्थानकों के विषय की प्रतिज्ञा का उल्लेख करने के बाद, ग्रन्थकार नीचे के दो श्लोकों में अन्य ग्यारह पापस्थानों के त्याग की प्रतिज्ञा का उल्लेख करते हैं।]

माया आदि छः पापस्थानों के त्याग की प्रतिज्ञा ॥१३८॥

कौटिल्येन कदाऽपि नैव निकृतिं किञ्चिद् विदध्यामहं।
लेशेनापि नरेन्द्रदिव्यविभवे लोभं न कुर्यां तथा॥
पुत्रादिस्वजने न रागमथ च द्वेषं न शत्रावपि।
कुर्यां नो कलहं कदाऽपि कुपितो दोषस्य वाऽऽरोपणम्॥

भावार्थ—(१) कुटिल भाव से किसी भी समय, कोई भी माया न करूँगा। (२) नरेन्द्र या देवेन्द्र का वैभव देख कर भी, किंचित-मात्र उसका लोभ न करूँगा। (३) पुत्रादि कुटुम्बीजनों के प्रति राग नहीं करूँगा। (४) मेरा जो पहले का शत्रु होगा, उससे भी द्वेष न करूँगा। (५) किसी भी समय किसी के साथ क्रोधायमान होकर लड़ाई-झगड़ा न करूँगा। (६) किसी पर अभ्याख्यान—दोषारोपण न करूँगा। (१३८)

पैशुन्य आदि पाँच पापस्थानों के परिहार की प्रतिज्ञा ॥१३९॥

पैशुन्यं परिवर्जयेयमनिशं स्वाध्यायधर्मे रतो-
निन्दां नैव परस्य कस्यचिदपि स्वप्नेऽपि कुर्यामहम्॥

**नैवं पापरतिं कदाऽपि तनुयां धर्मेऽरतिं चाशुभा-
मुच्छिन्द्यां सह मायया‍ऽनृतमथो मिथ्यात्वशल्यं महत्**

अर्थात्—(१) निरन्तर स्वाध्याय आदि आत्मिक कार्यों में तत्पर रहकर किसी की पैशुन्य—चुगली चकारी—न करूँगा। (२) किसी भी पराये मनुष्य की निन्दा स्वप्न में भी न करूँगा। (३) पाप के कार्यों में रति और धर्म के कार्यों में अरति नहीं रखूँगा। (४) माया सहित, यानी छल-कपट के साथ मृषावाद यानी झूठ बोलने और (५) मिथ्यात्व रूप महाशल्य का सर्वदा उच्छेदन करूँगा। (१२६)

विवेचन—माया, लोभ, राग, द्वेप, कलह अभ्याख्यान; चुगली, निन्दा, रति-अरति, माया मृषावाद और मिथ्यात्व, इन सब पाप स्थानों के परिहार की प्रतिज्ञा ऊपर के दो श्लोकों से सूचित होती है। जैन दृष्टि से यह पाप स्थानक है और सांसारिकों—गृहस्थों—के लिए भी त्याज्य हैं—ऐसी दशा में मुनि या त्यागी के लिए तो सर्वथा मन, वचन और काया से भी त्याज्य है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इस प्रकार के दोषों का त्याग, तो जैनेतरों के लिए भी शास्त्रकारों और साधुजनों ने सूचित किया है। महाभारत में कहा है कि—

मृषावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः।
न च कामान्न संरंभान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत्॥

अर्थात्—मृषावाद का त्याग करना चाहिए, बिना चाहे ही दूसरों का भला करना चाहिए और काम, क्रोध, तथा द्वेष के अधीन होकर धर्म का त्याग न करना चाहिए।

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत्क्वचित्॥

अर्थात्—मन, वचन और नेत्र की चेष्टा द्वारा भी प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में किसी मनुष्य की निन्दा न करना चाहिए।

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्र्या संगम्ये ते नराः स्वर्गगामिनः॥

अर्थात्—जो लोग शत्रु तथा मित्र को सर्वदा मन के द्वारा (राग-द्वेष न रखते हुए) समभाव से देखते हैं, और उनसे भेंट होने पर मित्र भाव से पेश आते हैं, वे स्वर्ग पाने के अधिकारी हैं।

इसी प्रकार ऊपर बतलाये गये सब दोषों के परिहार के विषय में शास्त्र-कथन उपलब्ध होते हैं। सांसारिक मनुष्यों की बजाय त्यागियों को विशेष सावधान रहकर परिहार करना चाहिए, केवल यही कहना है। (१३८—१३९)

अट्ठारह पाप-परिहार की प्रतिज्ञा ॥१४०॥

इत्यष्टादशसंख्यकानि कलुषस्थानान्यहं सर्वथा।
सेवेयापि न सेवयेय मनसा वाचा तथा कर्मणा॥
जानीयां न वरं निरीक्ष्य नितरां संसेवमानं परं।
त्वत्साक्ष्येण गुरो! कृपाऽमृतनिधे! कुर्वे प्रतिज्ञामिमाम्

भावार्थ—ऊपर बतलाई हिंसा से लेकर मिथ्यात्व तक के अठारह पाप स्थानक, सब प्रकार मन, वचन और काया से, मैं स्वतः सेवन नहीं करूँगा, दूसरों से न कराऊँगा और न किसी सेवन करने वाले को भला समझूँगा। हे कृपामृत निधे, गुरु महाराज! आप की साक्षी से मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ, इसे जीवन भर पालन करूँगा। (१४०)

विवेचन—यह श्लोक इस परिच्छेद का उपसंहार है। दीक्षित होने वाले जिज्ञासु को ये प्रतिज्ञाएँ अपने गुरु की साक्षी में करनी चाहिएँ। और त्रिकरण तथा त्रियोग से जीवन-भर उनका निर्वाह करना चाहिए। दीक्षा के संकल्प के साथ चारित्र्य का संकल्प भी करना चाहिए। संकल्प से रहित आचार व्यवहार, मर्यादा-रहित होने के कारण इष्टफल-दायक नहीं होता और इसीसे इन प्रतिज्ञाओं को साधुत्व ग्रहण करने के लिए आवश्यक कर्त्तव्य माना है। (१४०)



पाँचवाँ परिच्छेद

समिति प्रकरण

संयमरूपी बीज की उत्पत्ति ॥१४१॥

उप्तं हृद्भुवि संयमस्य विमलं बीजं प्रतिज्ञामयं।
न स्याच्चेज्जलसेचनं सुसमये तस्योद्गमो नो भवेत्॥
तत्सिक्त्वा गुरुदत्तशिक्षणजलैरभ्यासकेदारकैः।
संरक्ष्यं सततं यथा शिवफलं दद्यादयं पादपः॥

भावार्थ तथा विवेचन—पिछले परिच्छेद में जिन प्रतिज्ञाओं का उल्लेख किया गया है, उनका पालन-पोषण करने के लिए एक त्यागी को जिन आचारादिका आचरण करना चाहिए, उनका उल्लेख करना ग्रन्थकार इस प्रकरण में आवश्यक समझते हैं। प्रतिज्ञा, केवल संयम का पवित्र बीज है; हृदय भूमि में बोये हुए इस बीज के वृक्ष और फल तो तभी होते हैं कि जब उन पर आचार-विचार रूपी जल का सिंचन किया जाय। ऐसा न करने पर, यथा योग्य समय ज़मीन से उस बीज के अंकुर नहीं निकलते, बल्कि वह सड़ जाता है। सिंचन करने का यह जल पवित्र होना चाहिए—क्षारादि से मिश्रित नहीं। इसी प्रकार इस प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए, गुरु के द्वारा प्राप्त शिक्षा-रूपी जल का सिंचन करना चाहिए। कुशिष्य का एक लक्षण यह है कि वह गुरु की शिक्षा या उपदेश को एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देता है। इसलिए, जैसा ग्रन्थकार कहते

हैं, अभ्यास रूपी क्यारी द्वारा इस गुरुदत्त शिक्षा-जल को रक्षित कर रखना चाहिए कि जिससे वह बीज तक पहुँच कर उसे अंकुरित तथा पल्लवित कर सके। पल्लवित होने पर भी उसका सतत रक्षण करना चाहिए। कारण कि अंकुर आने के पश्चात् वह दृढ़ होगा, उसका तना बनेगा, शाखायें निकलेंगी और इस प्रकार वृक्ष बनने पर उसमें अभीष्ट मोक्ष रूपी फल आयेंगे। इस फल के लिए ही संयम के बीज बोये जाते हैं। जैन धर्म शास्त्र में कहा है कि—

पणिहाण जोगजुत्तो पंचहिं समिईहिं तिहिं गुत्तिहिं।
एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो॥

अर्थात्—पाँच समिति और तीन गुप्ति के प्रणिधान योग से युक्त चारित्राचार आठ प्रकार का है। इसी आचार धर्म को इस परिच्छेद में विस्तार पूर्वक वर्णन करने का ग्रन्थकार का संकल्प है। (१४१)

[नीचे लिखे दो श्लोकों में ग्रन्थकार, पाँच समितियों में प्रथम ईर्या समिति अथवा गमनविधि का वर्णन करते हैं।]

ईर्या समितिः गमन विधि ॥ १४२ ॥

गन्तव्यं न विना प्रयोजनमथो चारित्रिणा यत्किचित्।
स्वस्थाने निजयोगसाधनविधौ स्थेयं त्रिधा गुप्तिभिः॥
आहारादिनिमित्तके तु गमने प्राप्ते समित्याऽनया।
गच्छेन्निम्नदृशा धरां युगमितां सम्यग् निरीक्ष्याऽग्रतः॥

भावार्थ—दीक्षित-चारित्र्यवान् मुनि को बिना प्रयोजन कहीं भी न जाना चाहिए। केवल अपने स्थान पर ही योग साधन की विधि में मन, वचन और काया को पाप से गोपित करके

तीन गुप्तियों से स्थिर रहना चाहिए। जब आहारादि के लिए गाँव में जाने की आवश्यकता पड़े, तो ईर्यासमिति का पालन करते हुए, नीची दृष्टि करके आगे की चार हाथ जमीन का भली भाँति निरीक्षण करते हुए चलना चाहिए। (१४२)

अविधि गमन करने के दोष ॥ १४३ ॥

मार्गे दृष्टिसितस्ततो भ्रमयतो दोषा इमेऽनेकशः।
षट्कायाङ्गिविराधना पथि ततः सञ्जायतेऽसंयमः॥
लेपः स्याच्छकृदादिकस्य चरणे सर्पादिदंशोऽथवा।
स्स्मर्देऽभिमुखागतस्य पतनं स्यान्मस्तकस्फोटनम्॥

भावार्थ—रास्ता चलते हुए, ईर्यासमिति का पालन किये बिना चारों ओर दृष्टि फेरते हुए चलने से अनेक प्रकार के दोषों को अवसर मिल जाता है। मार्ग में छः काय के जीवों में से किसी भी काया के जीव पर पैर पड़जाने से उसकी विराधना होती है और इससे संयम नष्ट होजाता है—असंयम का उद्भव होता है। गोबर या विष्टा पर पैर पड़ जाने से पैर गन्दे हो जाते हैं। सर्प या बिच्छु जैसे जहरीले जीवों पर पैर पड़ जाने से, वे काट खाते हैं और मृत्यु हो जाती है। सामने से आते हुए मनुष्य के साथ टकरा जाने पर कभी कभी आदमी गिर जाते हैं या किसी का सिर फूट जाता है। ऐसे ही अनेक दोषों का होना संभव है। (१४३)

विवेचन—ईर्या यानी गति; और समिति यानी संयम-नियम के द्वारा युक्त करने की क्रिया। गमन को संयत करना ही 'ईर्यासमिति' या गमन-विधि है। आँखें मींच कर न चलना; बल्कि देख-समझ कर चलना, प्रत्येक दृष्टि वाले प्राणी का

सामान्य धर्म है। इस सामान्य धर्म का पालन न करने वाले को अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है, इसलिए दृष्टि वाला—आँखों वाला प्राणी तो रास्ता देख कर ही चलता है। परन्तु एक *साधु या मुनि के लिए जो गमन-विधि या ईर्या* समिति आवश्यक है, वह मार्ग देखकर चलने के सामान्य धर्म से विशिष्ट प्रकार की है। अविधि से चलने पर होने वाले दोषों के विषय में यहाँ कहा गया है कि भली भाँति ध्यान देकर न चला जाय, तो पैर गोबर-विष्ठादि से गंदे हो जाते हैं, साँप-बिच्छू आदि काट लेते हैं या किसी के साथ टकरा जाने पर सिर फूट जाते हैं—यह तो चलने वाले को अपने शरीर से होने वाली हानि की साधारण बात हुई; परन्तु अविचार या अयत्न-पूर्वक चलने से, मार्ग के छः काय जीवों के कुचल जाने से, *संयमी को असंयम का* दोष लगता है; कारण कि जिस हिंसा का निवारण किया जा सकता है, वही हिंसा चलने के स्वल्प प्रमाद से हो जाती है और दोष लगता है। इसलिए, इधर-उधर देखते हुए नहीं चलना चाहिए; बल्कि देख-समझ कर यतना-पूर्वक चलना चाहिए। मार्ग पर चलने की यतना कैसी होनी चाहिए ?

युगमात्रावलोकिन्या दृष्ट्या सूर्यांशुभासिते।
पथि यत्नेन गन्तव्यमितीर्यासमितिर्भवेत् ॥

अर्थात्—गाड़ी के जुए प्रमाण अर्थात् चार हाथ आगे की ओर देखने वाली दृष्टि से, सूर्य-किरणों से प्रकाशमान मार्ग पर यत्न-पूर्वक चलना, ईर्या समिति कहलाती है।

'धरां युगमितां सम्यग् निरीक्ष्याग्रतः' इन शब्दों के द्वारा ग्रन्थकार इसी यतना का यत्न करने का—समर्थन करते हैं। दिन में ही चलना चाहिए—रात को नहीं, यह काल-विचार भी

इसमें समाविष्ट हो जाता है। परन्तु, इससे भी विशेष संयमी का धर्म वह प्रथम की तीन पंक्तियों में प्रदर्शित करते हैं। गमन को संयत और नियमित करने का परम हेतु तो चाहे जैसे भी गमन कार्य को ही नियमित, सीमित या मर्यादित करना है। और विवश होकर गमन करना पड़े तभी यतना-पूर्वक गाड़ी के जुए के बराबर—लगभग चार हाथ—भूमि पर आगे दृष्टि रख कर चलना चाहिए, कहने का यही आशय है। आहार, उपदेशदान, एक गाँव से दूसरे गाँव का विहार आदि कारणों से ही गमन करना चाहिए; अर्थात्—आलम्बन-पूर्वक गमन करना चाहिए; अन्यथा स्वस्थान में अपने योग साधन में मन-वचन और काया के पाप से गुप्ति करके रहना चाहिए—यही ईर्यासमिति के यथार्थ पालन करने के समान है। जब गुप्ति-पूर्वक समिति का पालन किया जाता है. तभी समिति के पालन का हेतु सिद्ध होता है और अविधि गमन के दोष रुक पाते हैं। मन में यदि पाप को गोपन करने की वृत्ति रम रही हो, तो पैदल चलते हुए किसी जीव के कुचल जाने या टकरा कर अपना या दूसरे का सिर फूट जाने की चिन्ता रहती है और इससे स्वाभाविक रूप में यतना-पूर्वक गमन करना पड़ता है—चलना पड़ता है। वेद धर्मानुयायी संन्यासियों को उनके धर्म का ज्ञान कराते हुए मनु कहते हैं कि 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्'; अर्थात्—दृष्टि से पवित्र हुआ, यानी आँख से देखने पर निर्दोष प्रतीत होने वाला कदम ही जमीन पर रखना चाहिए, वह भी त्यागी-मुनि के योग्य ईर्या-समिति की साधना के हेतु के लिए ही। इसी हेतु के लिए वह आगे चलकर कहते हैं कि 'संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा। शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत्' अर्थात्—शरीर को पीड़ा होती हो, तो भी जन्तुओं की रक्षा के लिए रात को और दिन को भली भाँति देखकर पृथ्वी पर चलना चाहिए।

दृष्टान्त—वरदत्त नामक एक साधु थे। एक बार वे किसी काम से नगरी से बाहर जा रहे थे, इसी समय उन्होंने देखा कि उनके सामने का मार्ग मक्खी के समान छोटी-छोटी लाखों मेंढ़कियों से भरा हुआ है और एक पैर भी रखने की जगह नहीं है। साधु, खड़े होकर विचारने लगे कि अब क्या करना चाहिए। इतने में पीछे से राजा का मदोन्मत्त हाथी आ गया; इसलिए लौटना भी असंभव हो गया! मुनि स्तब्ध होकर खड़े रहे। देखते-देखते हाथी ने आकर साधु को कमर से पकड़ कर ऊँचा उछाला! उन्हें खयाल था कि इस प्रकार नीचे पछाड़े जाने पर उनके प्राण निकल जायँगे; पर उन्होंने इसकी चिन्ता न की। उनकी चिन्ता का विषय तो यह था कि मैं भूमि पर पछाड़ा जाऊँगा और बेचारी हजारों मेंढ़कियाँ कुचल जायँगी और मर जायँगी। मनोगुप्ति पूर्वक साधु वरदत्त की ईर्या समिति देख कर देवतागण संतुष्ट हुए और उनकी स्तुति करने लगे। उन्हों ने साधु की परीक्षा करने के लिए ही मेंढ़कियों और हाथी की माया खड़ी की थी; परन्तु उस माया से साधु वरदत्त जरा भी चलायमान नहीं हुआ। (१४२-१४३)

[अब ग्रन्थकार भाषा समिति यानी भाषा संयम के विषय में कहते हुए, मुनि के लिए भाषा—वाणी के त्याज्य तथा ग्राह्य प्रकार समझाते हैं।]

भाषासमितिः बोलने में संयम ॥ १४४ ॥

भाषास्वत्र चतुर्विधासु यमिनां भाषाद्वयं युज्यते।
सत्या गीर्व्यवहारगीश्च न पुनर्मिश्रा च मिथ्योचिता॥
स्यादावश्यकता यदा मुनिवरैर्भाष्यं समित्या तदा।
नो चेन्मौनसमाश्रयेण मुनिता संशोभते सर्वथा॥

भावार्थ—शास्त्र में सब मिला कर भाषा के चार प्रकार कहे गये हैं। सत्यभाषा, असत्यभाषा, मिश्रभाषा और व्यवहार भाषा। इनमें से केवल दो भाषाएँ संयमधारियों को बोलना उचित है—एक सत्यभाषा और दूसरी व्यवहारभाषा। असत्य भाषा और मिश्रभाषा बोलना बिल्कुल उचित नहीं है। सत्यभाषा और व्यवहारभाषा भी विशेष आवश्यकता के समय ही बोलनी चाहिए और वह भी समिति-संयम-के बिना न बोलनी चाहिए। यदि बोलने की आवश्यकता न हो, तो मौन धारण करने से ही सर्वथा मुनित्व झलकता है। (१४४)

विवेचन—सत्य बोलना और समिति पूर्वक बोलना, यह पृथक्-पृथक् हैं। सत्य बोला हुआ वचन सत्य हो सकता है; पर समिति युक्त नहीं हो सकता। यदि सत्य वचन, हित वचन और मित वचन न हो, तो वह समिति युक्त वचन नहीं कहा जा सकता। इस कारण इस श्लोक में ग्रन्थकार ने भाषा के—वाणी के प्रकार समझाये हैं। यथातथ्य और सत्य वचन ही सत्य भाषा है; सत्य से जो विपरीत है, वह असत्य भाषा है। सत्य और असत्य से मिश्रित किंवा सत्याभासी असत्य भाषा, मिश्रभाषा है। किसी का अकल्याण न करने या स्वार्थ न साधने के हेतु से व्यवहार में बोली गई भाषा, व्यवहार भाषा है। इनमें से असत्य भाषा और मिश्र भाषा तो मुनि बोल ही नहीं सकता। कारण, कि पहले कहे गये अनुसार ऐसी भाषा बोलने से वह अपने अन्य महाव्रतों का या सत्य प्रतिज्ञा का भंग करता है। भाषा समिति का हेतु, किसी सत्य बात को भी अमुक नियमों और मर्यादाओं से युक्त बोलना है। इस कारण 'मिथ्या' और 'मिश्र' अर्थात्—असत्य और सत्याभासी असत्य भाषा त्याग कर सत्य और व्यवहार भाषा बोलना ही, ग्रन्थकार त्यागी संन्यासी का धर्म

बतलाते हैं। यह सत्य भाषा और व्यवहार भाषा भी आवश्यकता होने पर ही बोलनी चाहिए और समिति से युक्त बोलनी चाहिए। और यदि आवश्यकता न हो, तो सत्य भी न बोल कर मौन धारण करना चाहिए। कारण कि 'मौन' अथवा 'मुनित्व' मुनि का परम अलंकार है। अल्पभाषण या मौन मनुष्य की तेजोवृद्धि करता है और इसके विपरीत वाचालता तेज को हरने वाली है। इसी कारण योग सिद्धि के साधक वर्षों मौन का सेवन करते हैं और उनका मौन योगसिद्धि तथा दीर्घायुष्य का कारण हो जाता है। कभी-कभी, मौन धारण करने से कष्ट भी उठाने पड़ते हैं; परन्तु त्यागी उन कष्टों को सहने के लिए तत्पर रहता है और समितिहीन शब्दोच्चार नहीं करता।

दृष्टान्त—एक संन्यासी अपने एक पात्र को जुड़वाने के लिए, एक बढ़ई के पास गया। बढ़ई के यहाँ एक पठान भी आकर बैठा था। उसके पास पक्षियों का एक पिंजरा था और उसमें तीन कबूतर थे। पिंजरे का दरवाजा टूट गया था, इसलिए उसे ठीक कराने के लिए पठान आया था। बढ़ई, संन्यासी को एक आसन पर बैठने के लिए कह कर पठान का पिंजरा ठीक करने लगा। पिंजरा ठीक करके उसके दरवाजे में कुण्डा लगाना था, इसलिए बढ़ई ने पठान से कहा—जरा इधर आओ, उस कोठरी में से कोई कुण्डा पसन्द कर लो, तो लगा दूँ। पठान बढ़ई के साथ अन्दर की कोठरी में गया। उधर पिंजरे के खुले द्वार से एक कबूतर निकल गया और बढ़ई के बरन्डे के एक कोने में रखी लकड़ियों में घुस गया। इतने में बढ़ई और पठान लौट आये। पिंजरा देखते ही पठान बोल उठा—मेरा तीसरा कबूतर कहाँ गया? उनके जाने पर केवल संन्यासी ही अकेला वहाँ बैठा था, इसलिए उसने संन्यासी से सवाल किया; परन्तु संन्यासी को उत्तर देने में बड़ा धर्म संकट प्रतीत हुआ। उसने

अपने मन में विचारा कि यदि मैं सत्य बोलूँ और कहूँ कि कबूतर उन लकड़ियों के पीछे घुस गया है, तो पठान उसे पकड़ लेगा और आज या कल उसकी हिंसा करेगा। पक्षी की हिंसा में कारणीभूत होने वाली बात मैं क्यों कहूँ। और ऐसा असत्य भी कैसे बोल सकता हूँ कि मुझे मालूम नहीं? मेरी आँखों ने कबूतर को निकलते देखा है; पर आँखें बोल नहीं सकतीं, इसलिए यदि मैं यह कहूँ कि जिसने देखा है, वह बोलेगा, तो मेरा यह कहना भी सत्याभासी असत्य है, ऐसा भी मैं कैसे बोल सकता हूँ? ऐसा विचार करने पर उसे प्रतीत हुआ कि मैं जो कुछ भी बोलूँगा, एक या दूसरे प्रकार वह हिंसा का कारण या समिति हीन कथन बन जायगा, इसलिए मैं कुछ भी नहीं बोल सकता। इसलिए संन्यासी ने बिल्कुल मौन धारण कर लिया। पठान इससे बहुत गुस्सा हो गया और संन्यासी पर ही कबूतर चुराने का इल्जाम लगा कर उसे मारने लगा वढ़ई ने बहुत कुछ बीच बचाव किया; पर पठान ने संन्यासी को तभी छोड़ा, जब कि वह बेहोश होकर जमीन पर गिर गया। इस प्रकार समिति का परिपालन करने में त्यागी को कभी-कभी बड़े उपसर्गों, उपद्रवों और कष्टों को सहन करना पड़ता है। (१४४)

[नीचे के दो श्लोकों में ग्रन्थकार यह विवेचन करते हैं कि सत्य और व्यवहार भाषा भी कैसे दोष वाली हो, तो वह समिति-हीन कही जाती और नहीं बोली जा सकती। और, कैसी भाषा समिति युक्त कही जा सकती है।]

कैसी भाषा बोलनी चाहिए॥ १४५ ॥

नो निन्दावचनं न लाघवकरं भाष्यं परस्यात्मनो।
नैवं हास्यवचो न साहसवचोऽभ्याख्यानवाक्यं न वा॥

काले चैव हितं मितं प्रियतरं सत्यं शुभं मञ्जुलं।
सर्वस्यापि सुखावहं सुयमिना वाच्यं वचः कोमलम्॥

भावार्थ—किसी की निन्दा का एक शब्द भी न बोलना चाहिए। अपना और दूसरे का हलकापन जाहिर करने वाली बात न कहनी चाहिए। किसी का मजाक न उड़ाना चाहिए और बिना विचारे एक दम साहस पूर्ण बात न कहनी चाहिए। किसी पर ऐब न लगाना चाहिए। बिना अवसर न बोलना चाहिए। अवसर पाकर भी हितकर, परिमित, अत्यन्त प्रिय, मधुर, शुभ, सबको सुखकारी, कोमल और सत्य वचन ही संयमी को बोलना चाहिए। इसके विपरीत नहीं। (१४५)

अयोग्य भाषा का त्याग ॥ १४६ ॥

वक्तव्यं पथि गच्छता किमपि नो मार्गे हि मौनं वरं।
सावद्यं तु न भाषणीयमपि चेत्सत्यं प्रसङ्गोचितम्॥
नोचार्यं परमर्मभेदिवचनं नो कर्कशं निष्ठुरं।
किञ्चिन्निश्चयरूपकं न न परव्यङ्गादिसंस्मारकम्॥

भावार्थ—रास्ता चलते कुछ नहीं बोलना चाहिए। मार्ग में मौन ही श्रेयस्कर है। स्थान पर भी सावद्य वचन, कदाचित, सत्य हो और प्रसंगोचित हो, तो भी न बोलना चाहिए। किसी के मर्म पर चोट करने वाली बात न करनी चाहिए, कर्कश और निष्ठुर बात भी न कहनी चाहिए। भली भाँति जाने बिना निश्चय रूप से न बोलना चाहिए। किसी के शरीर में कोई ऐब हो, तो उस ऐब के विशेषण से उसे न पुकारना चाहिए। (१४६)

विवेचन—'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्'

अर्थात्—सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए; पर सत्य होने पर भी अप्रिय न बोलना चाहिए—ऐसा एक सामान्य नियम पहले एक दृष्टान्त के साथ समझाया गया है। अप्रिय सत्य बोलने वाले को कितनी हानि उठानी पड़ती है, यह भी कहा गया है। यहाँ यह समझाया गया है कि भाषा समिति के लिए त्यागी को कैसी भाषा त्यागना और कैसी भाषा बोलना चाहिए निन्दा व्यंजक, दूसरों को पतित या हल्का बनाने वाली, किसी का मज़ाक उड़ाने वाली, अविचारयुक्त, किसी को ऐब लगाने वाली, मर्मभेदी, सत्य पर तीखी, कर्कश और निष्ठुरता से भरी बातें न करनी और कहनी चाहिए। और सत्य भी हित, मित प्रिय, मधुर और कोमल वाणी में त्यागी को बोलना चाहिए—यह दर्साया गया है। भाषा समिति की सामान्य व्याख्या इस प्रकार है—

हितं यत्सर्वजीवानां त्यक्तदोषं मितं वचः।
तद्धर्महेतोर्वक्तव्यं भाषासमितिरित्यसौ॥

अर्थात्—सब जीवों के लिए हितकारी और दोषरहित तथा मितवचन धर्म के हेतु ही बोलना भाषा समिति है। उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसा कहा गया है कि—

कोहे माणेय मायाय लोभेय उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए विगहासु तहेवय॥
एयाइं अट्ठ ठाणाइं परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले भासं भासेज्ज पन्नवं॥

अर्थात्—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मुखरता वा चालता-और विकथा, (निन्दा-स्तुति) यह आठ पाप प्रज्ञावान साधु को त्याग देना चाहिए और आवश्यकता के साथ ही निर्दोष और संक्षिप्त भाषा बोलनी चाहिए।

हित-वचन भी, इतने माप के साथ बोलने का कठोर कर्त्तव्य एक त्यागी या मुनि के लिए क्यों होना चाहिए? कारण यही है कि पहले जो त्रियोग और त्रिकरण से होने वाली हिंसा के प्रकार समझाये गये हैं, उनमें यदि हित-वचन अमित हो, तो वाचिक हिंसा में ही उसकी गणना हो सकती है और ऐसा वचन बोलने वाला मुनि अपनी अहिंसा की प्रतिज्ञा का भंग करने तथा दूसरे को दुःख पहुँचाने वाला बनता है। इस प्रकार वाचा दोष करने वाला 'अहिंसा परमो धर्मः' का पालन करने वाला नहीं समझा जा सकता। इस कारण श्रीमहावीर भगवान्, सूत्ररूप में जिन आठ कारणों से पैदा हुई वाणी न बोलने के लिए कहते हैं, वह वाणी स्थूलरूप में कैसे दोषों से भरी होने पर नहीं बोली जा सकती—ग्रंथकार इन दो श्लोकों में यही समझाते हैं। विशेष रूप से वह मुनि को मार्ग में चलते हुए न बोलने का सूचन करते हैं, इसका कारण यह है कि मार्ग पर चलते समय बोलने या बातचीत करने वाला अपने गमन-दोष को पूर्णतया नहीं त्याग सकता। बोलने में ध्यान रखने वाला पैरों की गति और मार्ग का ध्यान कैसे रख सकता है और कैसे यतनापूर्वक-उपयोगपूर्वक चल सकता है? और निश्चयरूप वाणी भी किसी त्यागी को न बोलनी चाहिए। कारण कि मर्यादित-सीमिति ज्ञान वाले मनुष्य का सत्य दर्शन हमेशा सत्य ही नहीं सिद्ध होता। अपनी दृष्टि से दीखने वाला सत्य, कभी असत्य भी हो सकता है अथवा काल का आवरण दूर होने पर इस समय का सत्य घड़ी भर बाद असत्य भी बन जाता है। ऐसे समय यदि कोई त्यागी निश्चयात्मक वाणी बोला हो, तो वह दूसरे की दृष्टि में असत्य वाणी प्रतीत होती है। इसलिए सीमित या परिमित ज्ञान वाले मुनि को भाषा समिति का पालन करने के लिए निश्चयात्मक वाणी न बोलनी चाहिए।

दृष्टान्त—एक जैन मुनि एक बार एक नगर में आये। वे अनेक शास्त्र तथा विद्याएँ पढ़ चुके थे। परन्तु वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करने की उनकी इच्छा हुई; इसलिए उन्होंने संघपति को सूचित किया कि किसी विद्वान् ब्राह्मण को रोज प्रातःकाल कुछ समय के लिए भेज देने की व्यवस्था कर दें। संघपति ने चक्रदत्त नामक विद्वान् ब्राह्मण से, रोज प्रातःकाल मुनि के पास जाकर उनकी जिज्ञासापूर्ण करने के लिए विनती की, ब्राह्मण ने स्वीकार करली। ब्राह्मण सूर्योदय से पहले ही, जल्दी से मुनि के पास पहुँचा। परन्तु, मुनि उसका मुख देखते ही कुछ असमंजस में पड़ गये। मुनि सामुद्रिक विद्या के जानकार थे और ब्राह्मण के मुख पर की रेखाओं से उन्होंने यह पता लगाया कि उठते ही सबसे पहले इस ब्राह्मण का मुख देख लिया जाय, तो सारे दिन भोजन न मिले। उस समय मुनि ने उसे यह कह कर टाल दिया कि जब मेरी इच्छा होगी, तब आपको बुलवा लूँगा, इस समय आप जाइए और कष्ट के लिए क्षमा कीजिए। इस व्यवहार भाषा से ब्राह्मण को किसी प्रकार का दुःख नहीं हुआ, और वह घर लौट गया। उस दिन हुआ भी यही कि ज्यों ही सब शिष्य नगर में आहार लेने के लिए जाने को तैयार हुए कि त्योंही वृष्टि आरम्भ होगई और सारा दिन वृष्टि होते रहने से आहार माँग कर नहीं लाया जा सका और गुरु तथा शिष्य सबको उपवास करना पड़ा! मुनि ने संघपति से कह दिया कि इस ब्राह्मण की मुख-रेखाएँ ऐसी हैं कि जो कोई प्रातःकाल इसका मुख देखेगा, उसे सारा दिन भोजन न मिलेगा, इसलिए इस ब्राह्मण से मैं वेद का ज्ञान नहीं प्राप्त करना चाहता। किसी अन्य ब्राह्मण को भेजिए, तो अच्छा हो। कुछ दिनों में यह बात संघपति के मुख से निकल कर राजा के निकट तक पहुँची और राजा ने उस ब्राह्मण के मुख का

प्रभाव देखने के लिए उससे कहला दिया कि वह राजशयन गृह के द्वार पर ही रात भर सोये। राजा की आज्ञा के अनुसार चक्रदत्त एक गुदड़ी ओढ़ कर ठंड से ठिठुरता हुआ शयनगृह के द्वार पर ही सो रहा। प्रातःकाल उठते ही शयनगृह से बाहर निकल कर राजा ने चक्रदत्त को उठाया, उसका मुख देखा और कहा—कल मैं जब तुझे फिर बुलाऊँ तब तू आना। ब्राह्मण चला गया; पर राजा ने उसे वहाँ क्यों सुलाया और कल बुलाने के लिए क्यों कहा—यह सब वह कुछ भी नहीं जानता था। कुछ देर में राजा के वनरक्षक दौड़े हुए आये और कहा कि 'महाराज! वन में एक सिंह आया है और वह चरती हुई गौओं को मारकर खा जाता है। दो गायों का प्राण तो वह ले चुका है। यह सुनते ही राजा तुरन्त ही योद्धाओं को साथ लेकर सिंह को पकड़ने के लिए चल पड़ा। सिंह को खोज कर पकड़ने में तीसरा पहर बीत गया और राजा को भूख लग आई। नगर में आते ही राजा को खबर मिली कि राजमाता बहुत बीमार हो गई हैं और उन्होंने भूशय्या ग्रहण करली है; पर अभी प्राण शेष हैं और क्षण-क्षण म आपको (राजा को) याद कर रही हैं। यह सुनकर राजा भूखा-प्यासा माता की सेवा में उपस्थित हुआ। राजमाता ने पुत्र का मुख देखकर ज्योंही आशीर्वाद दिया कि उनके प्राण निकल गये। अब राजमाता के शव का अग्नि-दाह करना था, इसलिए राजा को भूखे-प्यासे शव के साथ श्मशान यात्रा करनी पड़ी और एक पहर रात बीत जाने पर वह महल में लौटा और भोजन पाया। राजा ने यह सोच कर कि चक्रदत्त ब्राह्मण का मुख देखने से ही मुझको दिन भर भोजन न मिला, इसलिए उसने प्रातःकाल ही उसे फाँसी देने की आज्ञा दी। प्रातःकाल उसे चांडाल लोग फाँसी देने के लिए ले गये। ब्राह्मण ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर भयभीत हो गया।

उसे मालूम ही नहीं था कि उसने राजा का ऐसा कौन सा अपराध किया है। मरते समय उसने एक बार राजा से मिलने की इच्छा प्रकट की, इसलिए राजा वहाँ पहुँचा और उससे कहा—हे चक्रदत्त ! कल सवेरे मैंने तेरा मुख देखा इससे मुझे दिन भर भोजन न मिला, इसलिए तेरे जैसे ब्राह्मण को जीवित रहने देना विपत्ति जनक है। चक्रदत्त ने कहा—'हे महाराज ! कल सवेरे आपने मेरा मुख देखा था, इससे आपको सारे दिन भोजन नहीं मिला और मैंने उठकर सवेरे आपका मुख देखा था, उसके प्रभाव से मुझे फाँसी मिल रही है ! अब आप ही बतलाइये कि अधिक भयंकर मुख-दर्शन आपका है या मेरा ?' यह सुनकर राजा विचार में पड़ गया और उसने चक्रदत्त से कहा—'तेरा मुख देखने से सारे दिन भोजन नहीं मिल सकता, सामुद्रिक विद्या के आधार से जैन मुनि भी यह कहते हैं।' हाजिर जवाबी ब्राह्मण बोला—वही मुनि अपनी विद्या के आधार से यह भी कहते हैं कि प्रातःकाल आपका मुख देखने वाले का अकाल ही घात होता है और इस प्रकार आपको परम चांडाल सिद्ध करने के लिए ही मुनि ने यह कहा होगा।' यह सुनकर राजा मुनि पर बहुत क्रोधित हो गया और उसने चक्रदत्त को क्षमा करके, मुनि को तुरन्त नगर से बाहर हो जाने की आज्ञा देदी।

इस दृष्टान्त में मुनि के भाषादोष या समिति हीन वाणी पर विचार करना चाहिये। ब्राह्मण की मुखरेखाएँ देखकर उसके फल के विषय में निश्चययुक्त वचन कहने में मुनि ने असमिति का दोष किया था। अपनी सामुद्रिक विद्या के ज्ञान के आधार से और उस रोज भोजन नहीं मिलने के अनुभव से मुनि को अपना अभिप्राय सत्ययुक्त प्रतीत हुआ था, फिर भी भविष्य काल का अगम्य भेद परखने और ब्राह्मण तथा उसका

मुख देखने वाले के कर्मबन्धन को जानने में मुनि असमर्थ थे, कारण कि वे केवलज्ञानी नहीं थे, इसलिए इस प्रकार की निश्चय युक्त बात कहने का उन्हें अधिकार नहीं था। संघपति के साथ इसी ब्राह्मण के सम्बन्ध में बातचीत का प्रसंग उपस्थित हुआ था, इसलिए उनकी वाणी बिना अवसर की नहीं थी; फिर भी, अवसर पर भी, किसी का मर्मभेदन करने वाली, किसी का अहित करने वाली, किसी का रहस्य खोलने वाली वाणी उन्हें न बोलनी चाहिये थी, और उनके बोलने से ब्राह्मण को अपार कष्ट हुआ, उसकी जान जाने का अवसर आ उपस्थित हुआ, और यदि उसने युक्ति-पूर्वक अपना बचाव न किया होता, तो शायद वह फाँसी पर लटका भी दिया जाता। इसके उपरान्त कर्कश वचन का प्रत्याघात तो इससे भी अधिक सिद्ध होता है, इसलिए ब्राह्मण ने वाणी द्वारा जो प्रत्याघात किया, उससे मुनि राजा के रोष का पात्र हो गये और उन्हें नगर को छोड़ना पड़ा। यह उनकी समितिहीन भाषा के प्रमाण में बहुत ही कम स्थूल दंड कहा जा सकता है। (१४५-१४६)

[अब ग्रन्थकार त्यागी—मुनि की तीसरी एषणा-समिति के विषय में कहते हैं।]

एषणा-समिति : भिक्षा ॥१४७॥

देहः संयमसाधनाय यमिना संरक्षणीयः स्वयं।
तद्रक्षाऽशनमन्तरा भवति नो प्राप्यं कथं तद्भवेत् ॥
आरम्भेण परिग्रहेण पचनं योग्यं न वा पाचनं।
भिक्षैवोत्तमजीविकाऽस्तियमिनां शुद्धा समित्याश्रिता

भावार्थ—संयम का साधन करने के लिए संयमी को देह का रक्षण करना पड़ता है। देह का रक्षण भोजन या खुराक

के बिना नहीं हो सकता। इसलिए उसे भोजन या खुराक किस प्रकार प्राप्त करना चाहिये? वे भोजन तो बना या बनवा नहीं सकते; कारण कि इससे छः काया के जीवों का आरम्भ होता है और परिग्रह का दोष भी लगता है। इन दोनों दोषों के कारण, उनके लिए पचन या पाचन उचित नहीं है, इसलिए संयमी के लिए शुद्धभिक्षा ही उत्तम जीविका है और भिक्षा भी जब समिति-आश्रित हो, तभी शुद्ध कही जा सकती है। (१४७)

विवेचन--त्यागी--संन्यासी के लिए अपना शरीर केवल धर्मार्थ ही संरक्षणीय है और उसका धर्म संयम-साधना के सिवा और कुछ भी नहीं है, अर्थात्--संयम के लिए उसे अपने शरीर का संरक्षण करना चाहिये। शरीर की रक्षा के लिए भोजन, उसके आवरण के लिए वस्त्र, और निवास के लिए स्थान-यह सब चीजें चाहियें और उनको किस प्रकार प्राप्त करना चाहिये? यह उसके लिये एक महत्त्व का प्रश्न है। यहाँ केवल भोजन या खुराक के विषय में कहा जाता है। उसे भोजन किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए। यदि वह भोजन बनाये, या बनवाये, तो उसके पास पैसा चाहिये, पैसे के लिए उसे उद्यम करना चाहिये और परिग्रह युक्त दशा में पड़ना चाहिये। अकिंचन दशा का निर्वाह करने के लिए धन प्राप्ति और धनप्राप्ति से अन्नप्राप्ति अयोग्य है। इस प्रकार का परिग्रह यदि उत्तरोत्तर बढ़ने लगे, तो उसे संयम को अन्तिम नमस्कार ही करना पड़े! और जब वह भोजन सामग्री खरीद कर भोजन बनाने या बनवाने लगता है, तब उसे अनेक प्रकार के आरम्भ करने पड़ते हैं और वह महाव्रत की दृष्टि से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इन दोनों बड़े दोषों को उत्पन्न न होने देकर शरीर को भोजन देने का केवल एक ही साधन 'भिक्षैवोत्तमजीविका' है। मनु भी संन्यासियों को यही आज्ञा करते हैं—

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।

अर्थात्—संन्यासी को अग्निरहित रहना चाहिए; अर्थात्—भोजन बनाना-बनवाना न चाहिए, गृहहीन रहना चाहिए और केवल अन्न के लिए ही गाँव या नगर का आश्रय लेना चाहिए। और केवल 'एक कालं चरेद्भैक्षं' एक समय भिक्षा माँग कर भोजन करना चाहिए। परन्तु संयमी की भिक्षा सामान्य भीख नहीं है। वह शुद्ध होनी चाहिये। दोष-रहित होनी चाहिए और वही एषणा-समिति की विशुद्धता की जाँच के नियमन हैं। यह नियमन जैनदृष्टि से शास्त्रकार ने कैसे बतलाये हैं, वे आगे कहे जायँगे। (१४७)

[भिक्षा द्वारा शरीर-निर्वाह करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करने के पश्चात् ग्रन्थकार भिक्षा-विधि बतलाते हैं और उसके द्वारा समिति के नियमनों का संक्षेप में सूचन करते हैं।]

भिक्षा लेने की विधि ॥१४८॥

भिक्षार्थं गृहिणां गृहे सुविधिना द्वाभ्यां मुनिभ्यां सदा।
गन्तव्यं गुरुसम्मतौ दिनकरे सत्येव योग्ये क्षणे॥
ग्राह्यं प्रासुकमेषणीयमशनं पानीयमेतद्विधं।
साध्वर्थं विहितं न तद्यदि भवेन्नाप्यन्यदोषाश्रितम्॥

भावार्थ—दिन में, सूर्योदय होने के बाद, योग्य समय, गुरु आदि हों, तो उनकी सम्मति लेकर दो भिक्षुओं को एक साथ विधिपूर्वक गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाना चाहिए। वहाँ यदि प्राशुक—अचित्त और एषणीय—निर्दोष आहार और जल हो, तो लेना चाहिए। यदि वह खास तौर पर भिक्षुओं के लिए बनाया हुआ न हो और अन्य दोषों से हीन हो, तभी उस आहार तथा जल को ग्रहण करना चाहिए। (१४८)

विवेचन—भिक्षा भी विधिपूर्वक लेनी चाहिए—अविधि-पूर्वक नहीं। आज हमारे देश में भिक्षा के नाम पर अनेक स्थानों में अन्नसत्र चलाये जा रहे हैं और भिक्षा के लिए कर-लाग और जबर्दस्ती भी हो रही है! यह कोई भिक्षा नहीं है और ऐसी भिक्षा लेने वाला भिक्षुक—भिक्खु नहीं, वरन् भिख-मंगा या भिखारी है। सच्चा साधु, मुनि या त्यागी भिक्षा के लिए किसी की झूठी प्रशंसा नहीं करता और न किसी को सताता है, न किसी के घर धरना देकर बैठता है और न किसी को अन्य प्रकार से विवश करता है। सच्चा साधु विधि-पूर्वक ही भिक्षा लेता और अविधि पूर्वक की भिक्षा को आग्रह होने पर भी ग्रहण नहीं करता। इस कारण, ग्रन्थकार 'सुविधिना' अर्थात्—सुविधिपूर्वक भिक्षा लेने के लिए मुनिजनों को सूचित करते हैं। यह सुविधि क्या है? जैन शास्त्रों में भिक्षा की सुविधि अत्यन्त विस्तृत है और प्रथम दृष्टि में ही यह प्रतीत हुए विना नहीं रहता कि इस समस्त विधि का पालन करने वाला देह का पोषण करने में सच्चा संयमी ही बन जाता है। यह सुविधि इस श्लोक में संक्षेपतः दर्साई गई है। प्रथम तो यह कि सूर्योदय के पश्चात् ही भिक्षा के लिये जाया जा सकता है—रात्रि के समय नहीं, और यह यथार्थ है। रात्रि के समय ईर्या समिति यतना पूर्वक नहीं पालन की जा सकती। दिन में, गुरुकी आज्ञा लेकर, दो मुनियों के साथ गृहस्थ के घर जाना उचित है। गृहस्थ के घर असंयम के अनेक कारण होते हैं, भूल से या दृष्टि दोष से मुनि इन असंयमों का सेवन न करले; इसलिए एक मुनि के साथ दूसरे मुनि का साथ रहना उपयोगी होता है। सूर्योदय के बाद भिक्षा ली जा सकती है; परन्तु गृहस्थों की भोजन-वेला के पहले ही भिक्षा नहीं ली सकती। इसके पहले भिक्षार्थ जाने पर जो भिक्षा मिलती है वह गृहस्थों के

अपने लिए पूरा भोजन बचा लेने के पूर्व ली गई होती है, इस लिए वह भिक्षा अयोग्य समय ग्रहण की हुई कहलाती है। इसी कारण मनु संन्यासियों के लिए यह कहते हैं कि—

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥

अर्थात्—जब रसोईघर से धुआँ निकलना बन्द हो गया हो, कूटना पीसना बन्द हो गया हो, सब लोग भोजन कर चुके हों, भोजन के बर्त्तन धुल मँज कर यथा स्थान रख दिये गये हों, तब यति को भिक्षार्थ जाना चाहिए।

इस विधि को इसलिए सूचित किया गया है कि त्यागी को भिक्षा निर्दोष मिले। घर वालों के खा लेने पर जो भोजन बचा हो, उसी में से भिक्षा मिले और उन्हें भूखा न रहना पड़े या भोजन फिर से बनाने का आयोजन न करना पड़े। 'योग्ये क्षणे' शब्द प्रयोग जो ग्रन्थकार ने किया है, उसका हेतु यही है कि भिक्षा देने वाले को संकोच न हो और उसे भिक्षा देना भार-रूप न मालूम पड़े। और, साधु को भोजन और जल प्राशुक यानी अचित्त तथा एषणीय यानी निर्दोष लेना चाहिए। दूषित भोजन कौन-सा है? ग्रन्थकार ने संक्षेप के कारण इन सब दोषों का विवेचन नहीं किया है। साधु के लिए तैयार किया गया भोजन अप्राशुक और दूषित है। इसलिए, गृहस्थों ने अपने लिए जो भोजन तैयार किया हो उसी में से, जितना बिना संकोच वे दे सकें उतना ग्रहण करना ही प्राशुक तथा निर्दोष है। परन्तु यह तो केवल पहले ही दोष की बात हुई, 'अन्य-दोषाश्रितम्' भोजन भी साधु को ग्रहण न करना चाहिए।

सप्तचत्वारिंशता यद्दोषैरशनमुज्झितम्।
भोक्तव्यं धर्मयात्रायै सैषणासमितिर्भवेत्॥

अर्थात्—४७ दोषों से रहित आहार धर्मयात्रा के लिए व्यवहार में लाना एषणा समिति कहलाती है। इन ४७ दोषों में से १६ दोष आहार देने वाले से उत्पन्न होते हैं, १६ दोष आहार ग्रहण करने वाले मुनि के आश्रित हैं, १० दोष आहार ग्रहण करने के कार्य में और ५ दोष प्राप्त वस्तुओं का उपभोग करने में सन्निहित हैं। (१) साधु के लिए तैयार किया हुआ भोजन देना आधाकर्मी दोष है। (२) साधु का लक्ष्य करके कुछ अधिक भोजन तैयार करके देना, उद्देशक दोष है। (३) आधाकर्मी आहार के अंश वाला भोजन देना, पूतिक दोष है। (४) अर्द्ध शुद्ध और अर्द्ध अशुद्ध मिल गया भोजन देना, मिश्र दोष है। (५) साधु के लिए रख छोड़ा हुआ भोजन देना स्थापना दोष है। (६) गाँव में साधु की उपस्थिति रहे, इसलिए जल्दी विवाहादि उत्सव आरंभ कर दिया जाय और उस आहार को मुनि ग्रहण करे, वह प्राभृतिका दोष है। (७) घर में साधु के आने की सुविधा या प्रकाश के लिए छः काय की हिंसा करना, प्रादुःकरण दोष है। (८) साधु के लिए ही पैसा खर्च करके ली हुई चीज देना, क्रीत दोष है। (९) साधु के लिए ही उधार लेकर कोई चीज देना, प्रामित्य दोष है। (१०) साधु के लिए किसी वस्तु का विनिमय करके, साधु को देना, परावृत्त दोष है। (११) साधु के लिए ही स्वतः लेजा कर देदे, वह अभ्याहृत दोष है। (१२) साधु के लिए ताला खोलकर या भंडार का मुख खोलकर किसी चीज का देना, अभिन्न दोष है। (१३) साधु के लिए ही हवेली के ऊपर से या तहखाने में से कुछ ला कर देना, मालाहृत दोष है। (१४) साधु के लिए ही किसी के हाथ से छीन लिया आहार देना, आछिद्य दोष है। (१५) साधु के लिए ही हिस्सेदारी की वस्तु में से बिना हिस्सेदार की आज्ञा लिये देना, अणिसिठ दोष है। (१६) साधु के

लिए ही आंधन रक्खा गया हो, तो वह अध्यवपुर दोष है—यह १६ दोष आहार देने वाले के हैं, अन्य १६ दोष आहार लेने वाले के इस प्रकार हैं—(१) गृहस्थ के बालकों को खिला कर आहार लेना, धात्रीकर्म दोष है। (२) गृहस्थों का संदेश कह कर आहार लेना, दूतकर्म दोष है। (३) निमित्त प्रकट करके आहारादि लेना, निमित्त दोष है। (४) जाति-कुल की प्रशसा करके आहारादि लेना, आजीविका दोष है। (५) दरिद्र की तरह गिड़गिड़ा कर आहारादि लेना, वयनीक दोष है। (६) वैद्यकोपचार करके आहारादि लेना, चिकित्सा दोष है। (७) क्रोध करके कुछ लेना, क्रोधपिंड दोष है। (८) मान करके कुछ लेना, मानपिंड दोष है। (९) माया करके कुछ लेना मायापिंड दोष है। (१०) लोभ करके कुछ लेना लोभपिंड दोष है। (११) अगली पिछली पहचान निकाल कर खुशामद करके कुछ लेना पूर्वपश्चात्-संस्तव दोष है। (१२) विद्या का ढोंग करके आहारादि लेना, विद्यापिंड दोष है। (१३) मंत्र का ढोंग करके आहारादि लेना, मंत्र दोष है। (१४) चूर्ण-औषधि आदि देकर आहारादि लेना चूर्णयोग दोष है। (१५) वशीकरण कर आहारादि लेना, योगपिंड दोष है। (१६) गर्भ के लिए औषधि देकर आहारादि लेना, मूलकर्म दोष है। आहार ग्रहण विधि के १० दोष यह हैं—(१) दाता जो दे, उसे लेते हुए साधु को उद्गमादिक दोष की शंका उत्पन्न होने पर भी आहार लेना शंकित दोष है। (२) सचित्त पदार्थ से हाथ सने होने पर भी उन हाथों से आहार लेना, प्रक्षिप्त दोष है। (३) नीचे सचित्त और ऊपर अचित्त आहार होने पर ऐसा आहार लेना, निक्षिप्त दोष है। (४) नीचे अचित्त और ऊपर सचित्त होने पर ऐसा आहार लेना, पिहित दोष है। (५) वर्तन में सचित्त हो, तो उसे अलग करके उसमें आहार डाल कर देना, संहृत दोष है।

(६) अंध, गर्भिणी आदि स्त्री के द्वारा आहार लेना, दायक दोष है। (७) सचित्त और अचित्त एकत्रित रूप में आहारादि लेना, मिश्रदोष है। (८) समग्र रूप से अचित्त न हुआ लेना, अपरिणत दोष है। (९) हाथ धोकर दे या देने पर हाथ धोना पड़े ऐसा लेना, लिप्त दोष है। (१०) गिरता या बिखरता हुआ लेना, छंडुक दोष है। ५ दोष वस्तु का उपभोग करने के विषय में यह हैं—(१) स्वाद के लिए दो चार चीजें मिला कर आहार करना संयोजना दोष है। (२) ठूँस ठूँस कर भोजन करना प्रमाणातिक्रम दोष है। (३) आहार देने वाले की प्रशंसा करना इंगालकर्म दोष है। (४) अनिष्ट आहार पर द्वेष करना, धूम्रदोष है। (५) छः कारण के बिना आहार करना, कारण दोष है। इस प्रकार कुल ४७ दोष हुए।

इस प्रकार मुनि को सुविधि पूर्वक और योग्य समय पर निर्दोष आहार और जल ग्रहण करना ही सच्ची भिक्षा है। (१४८)

[निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने का संयम कब साधा जा सकता है ? जब कि मुनि की रसासक्ति छूट जाय। इसी विषय में अब ग्रन्थकार उपदेश करते हैं।]

रसासक्ति का त्याग ॥ १४९ ॥

साम्येनोत्तममध्यमाधमगृहे भिक्षार्थमीयान्मुनि—
र्लब्धं तुच्छमतुच्छमन्नमनघं मान्यं न यद्दूषितम् ॥
मिष्टान्ने हि न मोदते न च मनाक् तुच्छाशने खिद्यते।
लब्धालब्धसमानभावनिपुणः साधुः स एवोत्तमः ॥

भावार्थ—श्रीमान् का घर हो, साधारण घर हो या गरीब घर हो, सब जगह एक समान भाव से भिक्षा लेने के लिए साधु

को जाना चाहिए। जहाँ अच्छा खाने को मिले वहाँ जाना और दूसरे के यहाँ न जाना—ऐसा भेदभाव न रखना चाहिए। भिक्षा-भोजन तुच्छ हो या अतुच्छ-उच्च-हो, सरस हो या नीरस हो, परन्तु यदि वह दोष रहित हो, तो साधु को उसे उत्तम भोजन मानना चाहिए। भिक्षा में मिष्टान्न मिले, तो प्रसन्न न होना चाहिए और तुच्छ नीरस आहार मिले, तो जरा भी खेदित न होना चाहिए। किसी समय कम मिले, या किसी समय बिल्कुल न मिले, तो भी समान भाव से रहने वाला साधु ही उत्तम कहा जाता है। (१५६)

विवेचन—जिसकी दृष्टि संयम-साधना की ओर है, वह संयम-साधना के लिए—देह की रक्षा के लिए ही उसे भोजन देता है और भोजन के लिए भिक्षाचर्या करता है। ऐसा साधु यदि सरस आहार को रुचि और नीरस आहार को अरुचि से ग्रहण करे, तो वह निर्दोष भिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता, वरन उसे अच्छा-अच्छा खाने की रुचि ही, होती है और वह धनवानों के घर ही भिक्षा लेने के लिए जाता है और सदैव-निर्दोष का विचार किये बिना भिक्षा ग्रहण करता है और परिणाम स्वरूप अपने संयम तथा साधुत्व को गँवा बैठता है। इस कारण ग्रन्थकार कहते हैं कि साधु को उत्तम, मध्यम और अधम गृहस्थ के यहाँ जा कर निर्दोष आहार लेना चाहिए और रसासक्तिको त्याग कर, तुच्छ या उच्च, सरस या नीरस जैसा भी भोजन मिले, उसे लेने में हर्ष-शोक धारण नहीं करना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि कई बार गृहस्थ लोग मुनि को भाव पूर्वक निमंत्रित करके, आग्रह करके, अच्छा-अच्छा भोजन दें और, दूसरी जगह ऐसे आग्रह पूर्वक निमंत्रण के द्वारा उत्तम भोजन मिलना संभव न हो, तो भी मुनि को निमंत्रण या अच्छे भोजन की ओर आकर्षित न हो जाना चाहिए और न दूसरे के प्रति विमनस्कता

रखनी चाहिए। मनु कहते हैं कि—'अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥' अर्थात्—पूजित होकर भिक्षा लाभ करने से यति मुक्त हो, तो भी बन्धन में पड़ जाता है। इसी प्रकार धनवानों के मीठे-मीठे भोजन पदार्थ लेने की इच्छा से जाने वाला मुनि संयम-पथ पर चलते हुए भी रसनासक्ति के कारण पथ से भ्रष्ट होता जाता है। भिक्षाचर्या को जैन धर्म में 'गोचरी' कहते हैं और वैदिक धर्मशास्त्र में 'मधुकरी'। जिस प्रकार गाय चरते चरते कुछ घास यहाँ से खाती है, और कुछ वहाँ से, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों से थोड़ा-थोड़ा आहार प्राप्त करना मुनि के लिए 'गोचरी' कहलाती है। जिस प्रकार मधुकर-भ्रमर—अनेक पुष्पों से मधु का संचय करता है, उसी प्रकार अनेक घरों से आहार-पदार्थों को एकत्र करना, संन्यासी के लिए 'मधुकरी' कहलाती है। और फिर भी मधुकर तो उन्हीं पुष्पों पर चक्कर काटता फिरता है, जिनसे मधु प्राप्त हो सकता है, चम्पा जैसे पुष्पों को तो वह छूता भी नहीं। गाय भी सूखे घास पर मुंह मार कर कुछ खा ही लेती है। तात्पर्य यह है कि 'मधुकरी' शब्द से 'गोचरी' शब्द त्यागी की भिक्षाचर्या के लिए विशेष उपयुक्त तथा विशिष्ट अर्थवाहक प्रतीत होता है। गोचरी करते हुए किसी समय मुनि को इच्छित भोजन मिले, किसी समय कम मिले या किसी समय कुछ भी न मिले तो भी उसे इससे हर्ष तथा शोक न धारण करना चाहिये। रुचि अरुचि का ख्याल करके जिह्वा की लोलुपता तथा मानसिक रसवृद्धि का पोषण न करना चाहिये—यही सच्चा साधुत्व है। 'भारस्स जत्ता मुणि भुंजएज्जा' संयम भार का वहन करने के लिए, यानी देह का निर्वाह करने के लिए ही साधु को आहार लेना है। रस की आसक्ति का तो उसे त्याग ही करना चाहिये।

दृष्टांत—एक धर्मशाला में एक संन्यासी ठहरा था। वह नित्य नगर में एक बार मधुकरी करके भोजन लाता और खाता था। धर्मशाला का रक्षक रोज़ देखता कि संन्यासी नित्य नये २ प्रकार का भोजन किया करता है। कभी उसके पात्र में लड्डू होते, कभी खीर होती, कभी कोई मिठाई या अन्य स्वादिष्ट पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार उत्तमोत्तम पदार्थ ही संन्यासी रोज़ खाता है। सवेरे जो कुछ खाने से बचा रहता, उसे शाम के लिए रख छोड़ता और शाम को खा कर पेट पर हाथ फेर कर आराम करता है। एक दिन संन्यासी 'मधुकरी' में इतना अधिक भोजन ले आया कि शाम को खाने पर भी कई मीठी चीजें बच रहीं; इसलिए वह चीजें उसने उस धर्मशाला के रक्षक के ऊँट को खिला दीं। यह देखकर, वह रक्षक संन्यासी के पास गया और बोला—महाराज! आपने तो मेरा नाश कर दिया। संन्यासी बोला—क्यों भाई, क्या बात है? मैंने ऐसा क्या किया है? वह रक्षक बोला—आपने मेरे ऊँट को 'मधुकरी' खिला दी, इसलिए अब उसकी जबान को मुफ्त का माल खाने की चाट लग जायगी। आप तो संन्यासी हैं, इसलिए आपको तो रोज़ मिठाइयाँ मिल जायँगी, परन्तु नीम के पत्ते खाने वाले उस ऊँट को मैं कहाँ से यह सब खिलाऊँगा?

यह सुनकर संन्यासी को भान हुआ कि वह रसासक्ति से योग भ्रष्ट होता जा रहा है। इस रक्षक के शब्दों में यही व्यंग भरा है। ज्यों-ज्यों उत्तमोत्तम मिष्ठान्न खाये जाते हैं, त्यों-त्यों रसासक्ति बढ़ती जाती है और मुफ्तखोरी की चाट लग जाती है। संन्यासी समझदार था, इसलिए उस रक्षक के शब्दों से उसे अपनी भूल सुधारने का अवसर मिला और उसने रक्षक का आभार माना। (१४६)

[भिक्षा के ४७ दोषों को दूर करके भिक्षा ग्रहण करने की विधि जो पहले बतलाई गई है, उसमें ४७ वाँ दोष 'छः कारण बिना आहार करना, कारणदोष' बतलाया गया है। कौन से छः कारणों के लिए मुनि को आहार करना उचित है? इसी के विषय में अब ग्रन्थकार कहते हैं।]

आहार के छः कारण ।१५०।।

न स्यात् क्षुत्सहनं सतां सुयमिनां सेवादिकार्यं भवे—
च्छक्त्या संयमपालनं निजतनुप्राणादिनिर्वाहणम् ॥
दृष्ट्या मार्गनिरीक्षणं हि गमने धर्मस्य वाऽऽराधन—
मेतैः षड्विधकारणैर्यमभृतां भिक्षोचिता नान्यथा ॥

भावार्थ—अधिक देर भूख सहन न कर सकने के कारण, भूख मिटाने के लिए; वृद्ध, जवान, रोगी, नवदीक्षित या गुर्वादिक की सेवा के लिए; संयम-पालन की शक्ति सम्पादन करने के लिए; अपने शरीर और प्राण का निर्वाह करने के लिए; रास्ता चलते हुए ईर्या समिति के पालने को आँखों का तेज बढ़ाने के लिए, और सुख-समाधि से धर्म का आराधन करने के लिए— इन छः कारणों से भिक्षुओं को भिक्षा लेनी या आहार करना उचित है; अन्यथा नहीं। (१५०)

विवेचन—पहले कहा गया है कि 'देहः संयमसाधनाय संरक्षणीयः' अर्थात्—संयमी को संयम की साधना के लिए ही देह का रक्षण करना है—केवल जिजीविषा—जीने की लोलुपता से नहीं। अर्थात्—धर्माराधन के ही साथ सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न छः कारणों की दृष्टि से संयमी को आहार ग्रहण करना तथा खाना उचित है। भूख लगने पर भी आहार न

किया जाय, तो ग्लानि उत्पन्न होती है और इससे धर्माराधन में विक्षेप होता है, वृत्तियाँ अस्थिर हो जाती हैं; इसलिए भूख को शान्त करने के योग्य आहार करना चाहिए। सहचारी वृद्ध, रोगी, नवदीक्षित या गुरु आदि की सेवा के लिए शरीर में आवश्यक बल चाहिए। और बिना आहार के यह बल नहीं रह सकता, इसके लिए भी आवश्यकतानुसार आहार करना चाहिए। संयम का पालन करने के लिए भी शारीरिक शक्ति आवश्यक होती है, और वह शक्ति आहार के बिना प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिए भी अन्नोदक लेना चाहिए। शरीर और प्राण का निर्वाह करने के लिए भी आहार के बिना नहीं चल सकता। व्रत या तप आदि के लिए शरीर को खुराक या भोजन देना बन्द कर दिया जाय, तो शरीर और प्राणों का रक्षण नहीं हो सकता और धर्माचरण भी रुक जाता है; इसलिए आहार करना पड़ता है। ईर्या समिति के लिए दृष्टि का तेज बढ़ाने के वास्ते भी भोजन करना आवश्यक है। और अन्त में धर्म का आराधन सुख-पूर्वक करने के लिए, शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है, इसके लिए भी भोजन करना चाहिये। इन छः कारणों से संयमी को आहार करना चाहिए। परन्तु इसमें उसकी दृष्टि धर्मप्रधान ही होनी चाहिए, और कुछ नहीं। त्यागी-मुनि धर्म के सिवा 'नाभिनन्देत् मरणं नाभिनन्देत् जीवितम्' न मरण में सुख मानता है, न जीवन में ही सुख मानता है, इसलिए आहार प्राप्ति या शिक्षा के विषय में उसका धर्म यही सिद्ध होता है कि—

> अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत।
> प्राणयात्रिकमात्रः स्यात् मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥

अर्थात्—त्यागीजन भिक्षा न मिलने से दुखी और भिक्षा

मिलने से सुखी या हर्षित नहीं होते। केवल प्राण-रक्षा के लिए ही वे भोजन करते और अन्य पदार्थों में आसक्त नहीं होते हैं।

इस प्रकार भिक्षा के लिए छः कारण संयमी के लिए उचित हैं और इसके सिवा अन्य दृष्टि से ली जाने वाली भिक्षा अनुचित या संयमी को संयम मार्ग से भ्रष्ट करने वाली है। (१५०)

[अब ग्रन्थकार सहवासी मुनि के प्रति अन्य मुनि का आहार विषयक विनय बतलाते हैं।]

सहचारियों के साथ आहारादि का समविभाग ॥ १५१ ॥

आनीतं वरभिक्षयाऽशनजलं तद्दर्शयित्वा गुरुं।
भोक्तव्यं सहचारिभिश्च सकलैस्तुल्यांशतः साधुभिः॥
लब्धांशेन निजेन सादरधिया साधूनिमन्त्याऽपरान्।
भोक्तव्यं समभावतो रसमयं स्याद्वाऽशनं नीरसम्॥

भावार्थ—शुद्ध भिक्षा वृत्ति से जो अन्न जल लाया गया हो, उसे गुरु आदि को दिखाकर अपने अन्य सहचारियों के साथ समविभाग करके, सबको समान रूप में देकर आहार करना चाहिए। प्रत्येक भिक्षु को जो मिला हो, आदर पूर्वक उससे दूसरे भिक्षुओं को आमंत्रित करना चाहिए। अगर कोई ले तो अपने हिस्से में से उसे देना चाहिए; अन्यथा रस युक्त हो या नीरस, खुद सम भाव रख कर खाना चाहिए। (१५१)

विवेचन—जहाँ गोचरी और मधुकरी के द्वारा भोज्यपदार्थ प्राप्त करते हैं, जहाँ—सरस या नीरस आहार के प्रति समभाव से देखना है, जहाँ आहार आदि का हेतु जीवन की रक्षा के सिवा और कुछ नहीं है, वहाँ पेट भर भोजन या जिह्वा को स्वाद या

आह्लाद देने वाले पदार्थों की आशा व्यर्थ ही है। स्वादु या अस्वादु, कम या अधिक, जितना भी प्राप्त हुआ हो, उसे भिक्षुओं में समान रूप से बाँट कर सन्तुष्ट रहना ही कर्त्तव्य है। परन्तु इस कर्त्तव्य का पालन करने में भी उचित विनय का स्थान है। गुरु को भोजन के पदार्थ दिखलाने चाहिए, फिर उसके हिस्से करना और उससे भी अन्य सहचारी भिक्षुओं को निमंत्रित करना चाहिए और यदि उनकी लेने की इच्छा न हो, तो अपने हिस्से को समभाव से खुद खाना चाहिए—यह विनय कर्त्तव्य कर्म बतलाया गया है। इस विनय का हेतु केवल शुष्कविधि पालन ही नहीं है। किसी समय कोई मुनि रुग्ण होता है तो उसके लिए किसी अच्छे आहार की अधिक आवश्यकता होती है, ऐसे समय गुरु उसके लिए अमुक आहार रख कर अन्य सब पदार्थों को समान भाग में बाँट लेने के लिए कह सकता है; इसलिए इस विनय का हेतु शुभ ही होता है।

दृष्टान्त—इस विनय का हेतु न समझने वाले; परन्तु भद्र स्वभाव के एक मुनि का दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त होगा। एक बार एक मुनि को गोचरी में एक गृहस्थ के यहाँ से गरम-गरम पकौड़ियाँ प्राप्त हुईं। मुनि ने विचार किया 'कि उपाश्रय पहुँचते-पहुँचते यह ठंडी हो जायँगी, इसलिए मैं अपना हिस्सा यदि इसमें से खा लूँ, तो क्या बुरा है।' पकौड़ियों की संख्या १६ थी, इसलिए मुनि ने रास्ते में ही उनमें से ८ पकौड़ियाँ खालीं और आठ शेष रहने दीं। रास्ता चलते हुए फिर उनका विचार हुआ कि गुरु जी इनमें से आधी मुझे अवश्य देंगे, इसलिए मुझे ४ और मिलेंगी, उन्हें भी मैं खालूँ तो क्या बुरा है। यह विचार कर उन्होंने चार और खालीं और चार बाकी रहने दीं। आगे बढ़ते हुए फिर उन्हें विचार हुआ कि इन चार में से भी

गुरु जी दो मुझे अवश्य देंगे, यह विचार कर उन्होंने दो और खालीं। इसके बाद फिर भी यही विचार आया और एक और भी खाली। उपाश्रय में पहुँचने पर केवल एक पकौड़ी बाकी रह गई। गुरुजी ने आहार की सामग्री देखते ही मुनि से पूछा—हे मुने! तुम्हें यह एक ही पकौड़ी किस श्रावक ने दी है, मुनि भद्र स्वभाव के थे, इसलिए उन्होंने १६ पकौड़ियों की गिनती और अपने मन से उनके समविभाग की बात गुरुजी से कह दी। गुरुजी ने आहार का समभाग करने और सब सामग्री गुरु को दिखाने का हेतु समझाया, तो उन सरल स्वभाव के मुनि को अपना दोष समझ में आगया, और उन्होंने प्रायश्चित्त करके अविनय के लिए गुरु से क्षमा याचना की। (१५१)

[पहले अपरिग्रह की प्रतिज्ञा के विषय में कहा गया है कि मुनि को संग्राहकवृत्ति भी छोड़नी चाहिए। अब ग्रन्थकार, आहारादि के संग्रह द्वारा परिग्रह का पोषण न करने के विषय में वर्णन करते हैं।]

आहारादि का संग्रह न करना ॥१५२॥

यावन्मात्रमपेक्षते मधुकरीवृत्त्या हि तावन्मितं।
ग्राह्यं नैकगृहाऽटनेन गृहिणां न स्याद्यथा न्यूनता ॥
रात्रौ नाशनसङ्ग्रहः समुचितः क्रोशद्वयाद्वाऽपर-
मानीतं न च युज्यते सुयमिनां यामत्रयाऽतीतकम् ॥

भावार्थ—एक बार जितने भोजन की आवश्यकता हो, अनेक घर घूमकर मधुकरी वृत्ति से थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए, कि जिससे देने वाले गृहस्थों को संकोच में न पड़ना पड़े, या फिर से न बनाना पड़े। दिन में लाई हुई भिक्षा दिन में ही उपयोग

में ले लेनी चाहिए। रात को वासी न रखनी चाहिए। दो कोस आगे से लाई हुई और तीन पहर पहले की भिक्षा संयमी को उपयोग में न लानी चाहिए। (१५२)

विवेचन—जिससे स्वल्प भी तृष्णा का पोषण हो, वह परिग्रह है। और यदि त्यागी या संन्यासी को पूर्ण रूप से अपरिग्रही होना हो, तो उसे आहार के पदार्थों का भी संग्रह न करना उचित है। उन्हें रोज प्राप्त करके रोज ही उपयोग में ले लेना चाहिए। आहारादि में भी परिग्रहभाव न हो जाय, इसके लिए इस श्लोक में कहा है कि एक बार या एक दिन के लिए जितने भोजन की आवश्यकता हो, उतना ही विशुद्ध भोजन मुनि को अनेक घरों से इकट्ठा करना चाहिए। और उसका उसी दिन उपयोग कर लेना चाहिए। रात को वासी न बचाना चाहिए कि जिससे रात के लायक आहार का भी संग्रह हो सके। पकाया हुआ भोजन, अमुक समय के बाद बिगड़ जाता है और उसमें विकार या जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए दो कोस से दूर का लाया हुआ या तीन पहर पहले लिया हुआ आहार न करना चाहिए। यही सूचन इसमें समाविष्ट है। यह असंग्रहवृत्ति या निष्परिग्रही दशा कितने उच्च प्रकार की है, यह महात्मा गांधी जी के शब्दों से समझी जा सकती है। वे कहते हैं कि—आदर्श-आत्यन्तिक-अपरिग्रह तो वही हो सकता है जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। अर्थात्—वह पक्षी की तरह विना घर वाला, विना वस्त्र वाला और विना अन्न के विचरण करने वाला होता है, अन्न की उसे नित्य आवश्यकता होती है और दैव उसे देता है। कहाँ यह आदर्श असंग्रहकर्ता और कहाँ भगवान् को भोग लगाने के निमित्त से संग्रह करके बैठे हुए मठाधिपति और नामधारी साधु-सन्त। (१५२)

[नीचे के श्लोक में वस्त्र और स्थान ग्रहण की विधि संक्षेप में समझाई गई है ।]

वस्त्रादिग्रहण करने की विधि ॥ १५३ ॥

वस्त्रादिग्रहणैषणाऽपि बहुशो रीत्याऽनया शोभना ।
नैतेषामपि संचयः समुचितः कालादिमानाधिकः ॥
स्त्रीपुंसादिनिवाससङ्गरहितं स्थानं मुनीनां वरं ॥
ग्रामे वा विपिने सुखासनकृते शोध्यं समित्या सता ॥

भावार्थ—जब भिक्षु को वस्त्रों की आवश्यकता पड़े, तब भी बहुत करके उपर्युक्त रीति के अनुसार गृहस्थों के पास से, अनेषणीय दोष से रहित, एषणा समिति पूर्वक आवश्यक ही वस्त्र लेना चाहिये । मर्यादा से अधिक वस्त्र लेकर उनका संचय न करना चाहिये । भिक्षु के रहने का स्थान गृहस्थों के निवास और संग से रहित हो, तो अच्छा है । एषणासमिति की दृष्टि से जहाँ सुख पूर्वक स्वाध्याय तथा ध्यानादि हो सके, ऐसा स्थान गाँव या वन में खोज लेना चाहिये । (१५३)

विवेचन—जिस प्रकार मुनिको एषणीय—विशुद्ध आहार लेकर उसका संग्रह करना उचित नहीं है, उसी प्रकार उसे वस्त्र भी विशुद्ध लेना चाहिए और उनका संग्रह न करना चाहिए । यही बात इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में कही गई है । इसके पहले मुनि को केवल तीन ही वस्त्र लेने या रखने के विषय में भी सूचित किया गया है । ये वस्त्र भी एषणीय होने चाहिएँ और एषणीयता का सूचन आचारांग सूत्र से प्राप्त होता है । उसमें कहा गया है कि जो कपड़े किसी गृहस्थ ने साधु के लिए खरीदे हों, धो रखे हों, रंग कर रखे हों, साफ किये हों, सुधारे हों, या

सुगंधित किये हों, वे वस्त्र उसी मनुष्य से साधु या साध्वियों को न लेना चाहिए। इसके सिवा सुन्दर, मूल्यवान, चमड़े के, जरी के और इसी प्रकार के कपड़ों को अनेषणीय बताया गया है। आवश्यकता से अधिक वस्त्र लेना किंवा अनेषणीय और मूल्यवान् वस्त्र लेना, परिग्रह के द्वार की जंजीर खोलने के समान है, इसलिए उनका त्याग करना ही मुनिधर्म के उपयुक्त है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में मुनि के लिए एषणीय स्थान का संक्षिप्त सूचन है कि जहाँ स्त्री-पुरुषों का निवास न हो, उनके संग से रहित स्थान हो, वहीं मुनि को स्वाध्यायादि की साधना के लिए निवास करना चाहिए। ऐसा स्थान गाँव में हो या वन में हो, इसकी चिन्ता किये बिना केवल विशुद्धता की दृष्टि से ही उसे पसन्द करना चाहिए।

दृष्टान्त—इस जगह हेमचन्द्राचार्य के लिये हुए एक वस्त्र का उदाहरण उपस्थित करना उचित होगा। हेमचन्द्राचाय एक बार साँभर नामक गाँव में पधारे थे। वहाँ धनजी नामक एक निर्धन श्रावक ने अपनी स्त्री के द्वारा काते हुए मोटे सूत से अपने लिए बना हुआ एक वस्त्र उन्हे भेंट किया। जब हेमचन्द्राचार्य पाटन नगर में आये, तब राजा कुमारपाल आदि ७२ राजा उनका स्वागत करने के लिए पहुँचे। उन्होंने देखा कि आचार्य ने मोटी खादी धारण कर रखी है। कुमारपाल ने कहा—'आप मेरे गुरु हैं, आप ऐसा मोटा कपड़ा पहने हैं यह मेरे लिए लज्जा की बात है।' आचार्य ने उत्तर देते हुये कहा—'तुम्हारे राज्य में, तुम्हारे सधर्मी लोग गरीबी के कारण मुश्किल से किसी प्रकार अपना पेट भर पा रहे हैं, इससे तुम्हें लज्जा नहीं आती? हम तो साधु हैं, हमें इसमें कौन सो लाज है? हमारे लिए, ऐसे कपड़े भी कहाँ से प्राप्त हो सकते हैं? हम तो पुराने और फटे वस्त्र

पहनते हैं। अपने शरीर की हमें चिन्ता नहीं है।' इस उपदेश से कुमारपाल ने गरीबों का संकट दूर करने के लिए प्रति वर्ष एक करोड़ मुहरें खर्च करने का निश्चय किया। (१५३)

[आगे के तीन श्लोकों में ग्रन्थकार स्थानैषणा को विस्तार से समझाते हैं।]

स्थान एषणा-विधि ॥ १५४ ॥

स्थानस्याऽधिपतेर्जनस्य नितरामाज्ञां विनैकक्षणं।
स्थातुं नोचितमात्मनिष्ठितवतां स्थेयं नियोगे ततः॥
यस्याज्ञा निलयस्य तस्य किमपि ग्राह्यं न भोज्यादिकं।
स्थित्वा तत्र यथोचितं न ममता स्वल्पाऽपि कार्या सता।

भावार्थ—जिस मकान में भिक्षु को ठहरना है, उस मकान के मालिक की अनुमति के बिना उसमें एक क्षण भी रहना, आत्मनिष्ठा वाले साधु के लिए उचित नहीं है। इसलिए भली भाँति उससे आज्ञा या अनुमति लेकर ही ठहरना चाहिए। जिसकी आज्ञा से मकान में निवास किया हो, उसके घर का आहार और जल, कुछ भी भिक्षु नहीं ले सकता। जब तक वहाँ रहना हो, तब तक रह कर भी उस स्थान की ममता मन में जरा भी पैदा न करनी चाहिए। (१५४)

निवास-स्थान कैसा होना चाहिए ॥ १५५ ॥

धर्मार्थं गृहिणा कृतं बहुजनैः सम्भूय संघेन वा।
स्थानं नानुचितं सतां निवसितुं निर्मोहभावेन तत्॥
दोषस्याऽत्र च सम्भवो यदि तदा स्थेयं गुहायां वने।
ग्रामे तादृशमेषणीयनिलयं स्याद्दुर्लभं प्रायशः॥

भावार्थ—जो स्थानक गृहस्थों के धर्मध्यान करने के लिए किसी गृहस्थ ने बनवाया हो, या किसी संघ ने बनवाया हो; परन्तु उस स्थानक में भिक्षुगण निर्मोहभाव से उतरें और रहें यह अनुचित नहीं है। ऐसे स्थानक में रहते हुए भी किसी को दोष का होना संभव प्रतीत होता हो, और बिल्कुल निर्दोष रूपमें रहना हो, उसे जंगल या किसी गुफा आदि स्थान में ही रहना चाहिए। गाँव में ऐसा स्थान मिलना प्रायः दुर्लभ है। (१५५)

साधु-उपाश्रय में स्त्रियों का गमनागमन न हो ॥ १५६ ॥

स्थाने यत्र वसन्ति सन्मुनिवरा व्याख्यानकालं विना।
साध्वीनां तरुणीजनस्य बहुशो गत्यागती नोचिते ॥
साध्व्यो यत्र वसन्ति तत्र न नरैर्गम्यं विना पर्षदं।
सद्भिर्नैव कदाचनापि तरुणैर्गाढं विना कारणम् ॥

भावार्थ—जिस स्थान में त्यागी-भिक्षुगण उतरे हों, उस में व्याख्यान आदि के समय के सिवा, जवान औरतों और साध्वियों का अधिक गमनागमन—आना जाना—उचित नहीं है। इसी प्रकार जहाँ साध्वियों का निवास हो, वहाँ सभा या व्याख्यानादि के समय के सिवा पुरुषों और युवक साधुओं को बिना विशेष कारण के न जाना चाहिए। (१५६)

विवेचन—निवास-स्थानक, त्यागी के लिए संयम-निर्वाह का उपकरण मात्र है। इसलिए यह स्थानक ऐसा होना चाहिए कि जो उसे संयम-साधना के लिए अनुकूल और विशुद्ध हो। इसलिए स्थानक के सम्बन्ध में एषणीयता के लक्षण बताते हुए आचारांगसूत्र में 'णो पण्णस्स णिक्खमणपवेस-जाव-धम्मा-णुजोगचिंताए' यह कहा है; अर्थात्- जिस स्थान में प्राज्ञ पुरुषों

को निकलने और प्रवेश करने या धर्म विचारणा में अड़चन होती हो, उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस दृष्टि से मुनि के लिए विशुद्ध स्थान कौन-सा है? ऐसा स्थान मुनि को किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए? ऐसे स्थान में रह कर मुनि को उसे एषणीय ही रखने के लिए किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए? और यदि ऐसा स्थान नहीं प्राप्त हो, तो क्या करना चाहिए? इन सब प्रश्नों पर इस श्लोक में विचार किया गया है। प्रथम तो ऐसा स्थान पसन्द करना चाहिए, जो अपने संयम-साधन में बाधक न हो और उस स्थान के मालिक से उसमें ठहरने या रहने के लिए आज्ञा लेनी चाहिए। चाहे मुसाफिरखाने या धर्मशाला का ही कोई हिस्सा हो, पर उसके रक्षक या प्रबन्धक से आज्ञा लेनी ही चाहिए। और उसमें रहने के लिए आज्ञा लेना तभी इष्ट है, जब यह मालूम हो जाय कि उस स्थान में आते जाते हिंसा न करनी पड़ती हो, किसी को तकलीफ न होती हो, हिंसक या अपशब्द न सुनाई पड़ते हों, चित्तवृत्ति को चंचल करने वाले दृश्य न दीख पड़ते हों, और संयम की साधना सुष्ठु प्रकार से हो सकती हो। इस प्रकार जिस मालिक, रक्षक या प्रबन्धक की आज्ञा ली गई हो, उसके घर से भोज्यादि पदार्थ न लेने चाहिये। इसका कारण स्पष्ट है। जो गृहस्थ मनुष्य रहने के लिए स्थान देता है, वह यदि भोजन के पदार्थ भी दे, तो मुनि एक ही घर के मेहमान बन जाय, और परिणाम-स्वरूप इससे राग या ममता उत्पन्न होना संभव है। कदाचित् वह स्थान का मालिक मुनि की आवश्यकताओं को पहले से ख़याल रखकर मुनि के लिए ही तैयार करने और उन्हें मुनि को देने के लिए ललचा जाय; परन्तु इससे मुनि को ही दोष लगता है और यह भी हो सकता है कि किसी स्थान के मालिक को स्थान के साथ भोज्यसामग्री देते हुए मन में संकोच हो

और बाहर से संकोच न प्रकट कर सकने के कारण वह मन ही मन खीजता हो—ऐसे अनेक कारणों से मकान मालिक के घर से भोजन-सामग्री ग्रहण न करने की आज्ञा उचित है। इसमें विनयधर्म और गोचरी की अहिंसा समाविष्ट है। ऐसा निर्दोष स्थान कभी-कभी बसती में मिलना मुश्किल हो जाता है। जिस घर में गृहस्थ रहते हैं, उसमें स्त्रियाँ, नौकर-चाकर, पशु आदि होते हैं; इसलिए ऐसे स्थान में संयम का निर्वाह कठिन हो जाता है। आचारांग सूत्र में कहा है कि—'जिस मकान में गृहस्थों के समुदाय के बीच से होकर जाना पड़ता हो, और इससे आने जाने में अड़चन होती हो, वह मकान साधु या साध्वियों को नहीं लेना चाहिये। जिस मकान में मालिक या नौकरानियाँ परस्पर लड़ते हों तथा तैलादि से अभ्यंग—मालिश—करते हों, नहाते हों या नग्नरूप में रहते हों, उस मकान में न रहना चाहिये। जो स्थान चित्रों से चित्रित होने के कारण धर्मध्यान के अनुकूल न हो, उसमें न रहना चाहिये।' बस्ती के बीच इन दोषों से रहित कोई मकान मिलना कठिन है; इसलिए किसी गृहस्थ या समुदाय ने धर्म क्रियाओं के लिए कोई स्थान बनवाया हो, तो त्यागी मुनि के लिए उस स्थान का निर्दोष होना अधिक संभव है। वास्तव में ऐसा स्थान कि जो उपाश्रय कहलाता है, उसे गृहस्थ लोग अपने धर्मकार्यों के लिए बनवाते हैं, मुनियों के लिए ही बनवाया हुआ वह नहीं होता, इसलिए ऐसा स्थान मुनियों के लिए एषणीय ही समझा जा सकता है। फिर भी कई लोग ऐसे स्थान में दोष देखते हैं और इससे उपाश्रय में निवास करना उचित नहीं समझते। उपाश्रय का निवास निर्मोह भाव से या ममत्वरहित किया जाय, तो संयम-साधना के लिए अनुकूल हो जाता है। फिर भी, ऐसे उपाश्रयों में रहना जो लोग दोष मानते हों, उनके लिए निर्दोष स्थान केवल प्राकृतिक

रूप में बनी हुई गुफाएँ या वन-उपवन ही हैं। कारण कि यह स्थान मनुष्य के किसी भी आरम्भ समारम्भ के बिना ही बने होते हैं। नगर और गाँवों के मकानों के लिए आरम्भ-समारम्भ करना पड़ता है। इसलिए, नगर में समारम्भ के बिना बना हुआ प्राकृतिक स्थान दुर्लभ होता है। विशुद्ध स्थान खोज लिया हो, प्राप्त कर लिया हो, तथापि वह अशुद्ध बन जाता है; इसलिए उसे शुद्ध रखने के वास्ते भी प्रयत्नशील रहना चाहिये। संयम को बाधा पहुँचाने वाले प्रसङ्ग न उपस्थित हों, या ममत्व, मोह अथवा राग का उद्दीपन न हो, इसके लिए ग्रन्थकार ने, वर्त्तमान समय के वातावरण का विचार करके एक ही मुख्य चेतावनी दी है, और उस चेतावनी को शास्त्रकारों का समर्थन भी प्राप्त है। वह चेतावनी यह है कि व्याख्यान या कथा के अवसर के सिवा साधुओं के निवास-स्थान में युवती स्त्रियों या साध्वियों को अधिक आना जाना न चाहिये। और, साध्वियों के निवास स्थान में भी उपर्युक्त अवसरों के सिवा युवक पुरुषों या साधुओं को, विना उचित कारण के बहुत आना-जाना न चाहिये।

दृष्टान्त—एक बार एक वृद्ध संन्यासी, अपने एक जवान संन्यासी शिष्य के साथ एक धर्मशाला में आपहुँचे। धर्मशाला के रक्षक ने दोनों को अपने निवास के बगल वाले एक स्वच्छ और सुन्दर हिस्से में ठहरने के लिए अनुमति दी, इसलिए दोनों उसी में ठहर गये। शिष्य योग की श्रेणी पर भलीभाँति चढ़ रहा था, नित्य प्राणायामादि में भलीभाँति समय लगाता था और विद्याभ्यास में भी खूब आगे बढ़ा हुआ था। शिष्य सत्कर्मशील था, इसलिए उसके प्रति गुरु को बड़ा सन्तोष और वत्सलभाव था। शिष्य नगर से नित्य मधुकरी लाता और गुरु शिष्य एक ही समय भोजन करके नित्यकर्म, अध्ययन, ध्यानादि

में समय व्यतीत करते थे। कान एक ऐसी इंद्रिय है कि वह अनिच्छा से भी विषय को ग्रहण कर लेती है। धर्मशाला के रक्षक की नई स्त्री और उसकी एक जवान लड़की नित्य घर में बैठी-बैठी नये-नये गीत गातीं, वे गीत शिष्य के कान में आप ही आप प्रविष्ट होने लगे, कारण कि दोनों खण्डों के बीच केवल एक दीवार ही थी। वह शिष्य जब प्राणायाम या ध्यान करने बैठता, तब भी उसका चित्त उन मधुर कण्ठ से गाये जाने वाले गीतों की ओर लग जाता। कुछ ही दिनों में उन गीतों के माधुर्य से वह इतना आकर्षित हो गया कि उनके गाने वाली स्त्रियों के मुख देखने की इच्छा उसे होने लगी। इस इच्छा को तृप्त करने के लिए वह शिष्य एक बार उस रक्षक के घर ही मधुकरी के लिए गया। रक्षक की लड़की ने भाव पूर्वक मधुकरी दी, उस समय उसकी और उस शिष्य की आँखें मिल गईं। उसी समय शिष्य को नेत्र-विकार ने जीत लिया। इसके बाद वह नित्य उसके घर मधुकरी के लिए जाने लगा और उस बाला का दर्शन करके आनन्द प्राप्त करने लगा। शिष्य के चित्त की चलित अवस्था गुरु को कुछ समय में दीख पड़ी; इसलिए उन्होंने उस स्थान को त्याग देने की तैयारी की। परन्तु, शिष्य को तो उस स्थान से ममत्व पैदा हो गया था, इसलिए उसने वहीं रहने का आग्रह किया। गुरु ने शिष्य को अपना संन्यासधर्म समझाया; पर शिष्य ने कुछ न माना। अतएव गुरु चले गये। शिष्य ही उस स्थान में अकेला रहने लगा। दिन पर दिन बीतने लगे। एक बार रक्षक की नई स्त्री और लड़की परस्पर लड़ पड़ीं और एक दूसरी को गालियाँ देने लगीं। रक्षक आया और स्त्री ने उसको उलटी सीधी बातें समझा कर लड़की को पिटवाया। ममत्व के कारण पक्षपाती बने हुए शिष्य को उस लड़की के प्रति दया उत्पन्न हो गई और एक बार एकान्त में उसने लड़की

से कहा— हे सुन्दरी ! पिता के घर में इतना कष्ट उठाने के बजाय यदि तू मेरे साथ चले तो मैं तेरा भली भाँति निर्वाह करूँगा, और तुझे किसी प्रकार का दुःख न होगा ।' वह सरल-स्वभावा लड़की अपनी नवीनमाता और क्रूर पिता से ऊब गई थी। उसे शिष्य की बातों से आश्वासन मिला, और उसे भी उस युवक संन्यासी के प्रति राग उत्पन्न हो गया था। एक बार रात्रि के समय वह लड़की उस शिष्य के पास आ पहुँची और शिष्य उसे लेकर वहाँ से चला गया। रक्षक ने राजा के यहाँ फरियाद की और कोतवाल ने लड़की के साथ उस युवक संन्यासी को गिरफ्तार करके राजा के सामने उपस्थित किया। गुरु को इसका पता लगा, तो वे भी राजा के पास पहुँचे। आपत्तिग्रसित शिष्य ने गुरु के पैर पकड़ लिये और बोला— 'हे गुरुदेव ! इस पतित को बचाइए।' गुरु ने राजा से कहकर शिष्य को मुक्त करा दिया और उससे उसके अपराध का प्रायश्चित्त कराया। परन्तु अब शिष्य को योग-मार्ग में नये सिरे से प्रवेश करना पड़ा ! एषणा-रहित-अशुद्ध-स्थान, संयम की सीढ़ियों पर चढ़ने वाले को किस प्रकार नीचे गिरने का निमित्त बन जाता है, और किस प्रकार क्रमशः अधिकाधिक असंयम चित्त में प्रविष्ट होने लगता है, इसको प्रकट करने वाला यह दृष्टान्त है। (१५४-१५५-१५६)

[कभी कभी अधिक समय तक एक ही स्थान पर रहने से भी राग और ममत्व उत्पन्न हो जाता, और संयम की साधना में बाधक हो पड़ता है; इसलिए निम्नलिखित श्लोक में, संयमी के लिए एक ही स्थान में निवास करने की काल-सीमा प्रदर्शित की गई है।]

निवास की मर्यादा ॥ १५७ ॥

ग्रीष्मे वा शिशिरे सतां निवसनं मासात्परं नोचितं !
वर्षे मासचतुष्टयात्परतरं स्थातुं न युक्तं मुनेः ॥
एकत्राऽधिकवासतो यमभृतां शैथिल्यसङ्गादयो ।
नातः कारणमन्तरेण मुनिभिः स्थेयं हि मानात्परम् ॥

भावार्थ—ग्रीष्म और शीतकाल में विना किसी विशेष कारण के एक महीने से अधिक एक स्थान में न रहना चाहिए। वर्षा काल में चार मास से अधिक न रहना चाहिये। विना कारण एक स्थान में अधिक समय तक रहने से, गृहस्थों के साथ दृष्टिराग—मोह हो जाता है और इससे चारित्र में शिथिलता आदि दोषों का उत्पन्न होना संभव है। इसलिए, विना कारण मुनियों को एक स्थान में मर्यादा से अधिक निवास न करना चाहिए। (१५७)

विवेचन—जब एक स्थान में अल्पकाल का निवास भी त्यागियों के लिए प्रसंगवशात् ममत्वोत्पादक हो पड़ता है और संयम में बाधा उपस्थित करता है, तब चिरकाल का निवास यदि उन्हें पतित करदे, तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है? जुदे-जुदे स्थानों में त्यागी महंत मंदिरों में अपना अड्डा जमाये बैठे हैं और अनेक प्रकार के लोभों तथा विकारों में फँस गये हैं। अनेक संन्यासी भी मठाधिकारी बन बैठे हैं और अनेक यति उपाश्रय के मालिक बन गये हैं, यदि इसका सच्चा कारण देखा जाय, तो केवल एक स्थान के प्रति मोह ही सिद्ध होगा। और इसी मोह के चारों ओर अपने बनाये हुए जाल में ही वे खुद फँस जाते हैं। मध्यकालीन चैत्य-

वासी साधुवर्ग वर्त्तमान यतिवर्ग, मूलरूप से दोनों संयमी जैन साधु-वर्ग होते हुए भी, आज वे संयम से कितनी दूर जा बैठे हैं ? कोई संयमी साधु ऐसे राग के जाल में न फँसे, इसी के लिए एक ही स्थान में निवास करने की काल-मर्यादा बनाना आवश्यक है, और वह इस श्लोक में निर्धारित की गई है। वर्षाकाल—चातुर्मास—में चार महीने एक स्थान में रहना चाहिए और ग्रीष्म और शीतकाल में जगह जगह घूमते—विहार करते रहना चाहिए। एक मास से अधिक कहीं भी न रहना चाहिए। यही सूचन यहाँ किया गया है। कारण कि एक स्थान में इससे अधिक समय रहने पर लोगों से दृष्टि राग हो जाता है और चारित्र शिथिल होने लगता है। संन्यासियों को तथा जैन मुनियों को भी उनके पृथक्-पृथक् शास्त्र वर्षाकाल में एक ही जगह चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा देते हैं। कारण, कि इस चातुर्मास में अनेक जीव-जन्तुओं की सृष्टि होती है, इसलिए इस ऋतु में प्रवास करना हिंसा का कारण हो पड़ता है। यहाँ 'कारणमन्तरेण' अर्थात्—'विना कारण' यह शब्द प्रयोग किया गया है, इसका हेतु यह है कि किसी उचित या महत्त्वपूर्ण कारण से काल मर्यादा का भंग हो सकता है। बीमारी, बीमार मुनि की सेवा, वृद्धावस्था, महामारी का उत्पात आदि कोई कारण हो, तो यह मास कल्प और चातुर्मास कल्प का भंग करना अनिवार्य हो जाता है और इससे अधिक समय तक एक जगह रहा जा सकता है; परन्तु इस कारण के दूर होते ही मुनि को फिर अपनी आचार-मर्यादा का पालन करना आरंभ कर देना चाहिए। (१५७)

[नीचे के दो श्लोकों में यह बतलाया गया है कि मुनि को जगह-जगह किस लिए और किस प्रकार विहार करना चाहिए।]

अप्रतिबन्ध विहार ॥१५८॥

रुद्धं शैवलिनीजलं मलयुतं स्रोतोगतं निर्मलं ।
तद्वत्साधुजना विशुद्धचरिताः स्युश्चेद्विहारोद्यताः ॥
द्रव्यादिप्रतिबन्धतोऽप्रतिहतैर्यावच्च जङ्घाबलं ।
गन्तव्यं क्षितिमण्डले मुनिवरैर्देशानुदेशं क्रमात् ॥

भावार्थ—जिस प्रकार नदी का जल, एक जगह रुद्ध हो जाने पर, मैल या शैवाल से गंदा हो जाता है, और प्रवाहित रहने पर वह निर्मल रहता है। इसलिए, जब तक रोग या जरा अवस्था के कारण जंघाओं का बल क्षीण न हो जाय, तब तक किसी भी द्रव्यादि के प्रतिबन्ध में न बँधकर, मुनियों को एक देश से दूसरे देश, क्रमशः पृथ्वी पर योग्य स्थानों में विचरते रहना चाहिए। (१५८)

साधुओं की पैदल-यात्रा ॥१५९॥

नाऽश्वोष्ट्राद्यधिरोहणं न च कदा गन्त्र्यादियानासनं ।
नो नौकाशिबिकादिरोहणमथो निष्कारणं युज्यते ॥
वस्त्राद्यं निखिलं निजोपकरणं स्कन्धादिनोढ्वा स्वयं ।
पादेनैव वरं विहारकरणं संन्यासिनां श्रेयसे ॥

भावार्थ—साधुजनों को—संन्यासियों को घोड़ा, ऊँट आदि वाहनों पर न बैठना चाहिए। गाड़ी या रथ में भी न बैठना चाहिए। बिना कारण नौका या पालकी में भी न बैठना चाहिए। वस्त्र, पात्रादि अपने सब सामान को मजदूर से न उठवाना चाहिए। अपने कंधे पर रख कर पैदल यात्रा करनी चाहिए। यही त्यागी के लिए श्रेयस्कर है। (१५९)

विवेचन—पहले एक जगह चिरकाल निवास के जो दूषण बताये गये हैं, उसके विपरीत यहाँ अप्रतिबन्ध—बिना रुकावट के विहार करने के लाभ बताये गये हैं। किसी साधु का जीवन, सरिता के बहते हुए जल की तरह निर्मल तभी रह सकता है, जब कि वह मोह या ममत्व के साधनों से दूर रहे और किसी एक स्थान पर दृष्टि राग होने से पहले ही वहाँ से विहार करके दूसरे स्थान में चला जाय, अर्थात् जल की तरह वह भी हमेशा बहता रहे। और उसका यह विहार या वहन, जंघाओं में बल रहने तक अखंड रूप से होते रहना चाहिए। इसका हेतु दूसरे श्लोक में प्रकट किया गया गया है। जंघाबल की अपेक्षा या आवश्यकता इसलिए है कि साधु को गाड़ी या रथ में बैठ कर अथवा ऊँट या घोड़े पर चढ़ कर प्रवास करना उचित नहीं है, और अपने सामान का भार भी अपने आप उठाकर चलना आवश्यक है। बहता जल निर्मल होता है, और इसीलिए ग्रन्थकार ने इस संगति को ग्रहण किया है। फिर भी यह वहन नदी का होना चाहिए। लोहे के पाइप—नल—का बँधा हुआ वहन नहीं। जिस प्रकार पाइप—नल—से बहने वाला जल बद्ध रूप में बहता है और इससे उसमें काई जम जाती या जंग लग जाता है, उसी प्रकार घोड़ा, ऊँट, पालकी, रथ या नौका आदि में बैठ कर विहार करने वाले मुनि की मनोवृत्ति को भी जंग लग जाने का भय रहता है। गमनागमन का जो संयम जंघाबल से विहार करने वाला मुनि या त्यागी साध सकता है, वह संयम पराये पैरों से प्रवास करने वाला त्यागी नहीं साध सकता। और इस प्रकार गमनागमन का परिग्रह बढ़ता है। इसलिए, वाहनों का त्याग करने, अपने पैरों में बल रहने तक एक से दूसरे देश का भ्रमण करते रहने और उड़ते हुए निर्दोष पक्षी की तरह जीवन व्यतीत करने का आदेश त्यागी-मुनि के लिए

किया गया है। अपने सब साज सामान को भी अपने आप उठाने के लिए मुनि से कहा गया है, इसलिए ज्ञानादि या शरीर-निर्वाह के उपकरणों का परिग्रह भी कम होता है और संयम बढ़ता है। इसके विपरीत जो महन्त और संन्यासी रेल से भ्रमण करते फिरते हैं, उनका साजोसामान तो पूरा एक एक डिब्बा होता है। उनकी यात्रा देखने वालों से यह छिपा नहीं है। त्याग ही जिसका धर्म है, और संयम ही जिसकी साध्य वस्तु है, उसे अपने उपकरणों—सामान—का भार उठाने के लिए दूसरे का आश्रय लेना पड़े, क्या यह पामरता नहीं है? फिर भी, वृद्धावस्था के कारण जब पैदल विहार न किया जा सके, या अपने वस्त्र और पात्रों को उठा कर न चला जा सके, तब पालकी जैसे वाहन का उपयोग करने की मुनि को आवश्यकता पड़ती है और बिना पुल वाली नदी को पार करने के लिए नौका में बैठना भी मुनि के लिए आवश्यक हो पड़ता है। ऐसी अनिवार्यता के कारण 'निष्कारण' शब्द की योजना करके ग्रन्थकार ने अपवाद युक्त स्थिति का योग्य रक्षण किया है। रेल और हवाई जहाज के इस जमाने में कदाचित् किसी को यह प्रतीत हो कि पैदल कितनी यात्रा की जा सकती है? और दूर-दूर के देशों में जाकर उपदेशदान किस प्रकार किया जा सकता है? परन्तु भूलना न चाहिए कि पहले किसी जमाने में जैन मुनियों ने भारत की चारों दिशाओं में पैदल यात्रा करके ही उपदेश प्रचार किया और बौद्ध साधुओं ने भी पैदल घूमकर ब्रह्मदेश, चीन और जापान तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। उस समय रेल, स्टीमर या हवाई जहाज नहीं थे। वास्तव में उपदेश प्रचार का आधार गमनागमन की सुविधा पर नहीं है; बल्कि उपदेशक के संयम और तप पर है। (१५८—१५९)

[क्रमशः अब आदान भंडनिक्षेप; अर्थात्—वस्त्र-पात्रादि के

लेने और रखने की समिति का विषय उपस्थित किया जा रहा है।]

वस्त्र-पात्रादि उठाने और रखने की विधि ॥१६०॥

वस्त्रादेर्न च यत्र तत्र धरणं किन्तु व्यवस्थापुरो।
न्यासो योग्यपदे सदा यतनयाऽऽदानं पुनः कारणे॥
तत्सर्वं घटते विना न यमिनां सम्मार्जनं वीक्षणं।
तद्ग्राह्यं न्यसनीयमत्र सकलं सम्मार्ज्य दृष्ट्वा तथा।

भावार्थ—मुनियों को अपने वस्त्रादि उपकरण, जहाँ-तहाँ न रख देना चाहिए, बल्कि व्यवस्थापूर्वक लपेट कर या बाँधकर योग्यस्थान में यतना-पूर्वक रखना चाहिए और जब उनकी आवश्यकता हो. तब उन्हें यतनापूर्वक ही लेना उठाना चाहिए, परन्तु बिना दृष्टि से देखे या साफ सुथरा किये उठाना या रखना उचित नहीं है। इसलिए जो कुछ लेना रखना पड़े, उसे देखकर, साफ-सुथरा करके लेना-उठाना या रखना चाहिए।(१६०)

विवेचन—'आदाननिक्षेप' पाँच समितियों में से चौथी समिति है। जाने या अजाने, सूक्ष्म जंतुओं की हिंसा न हो जाय, इसके लिए मुनियों को अपने उपकरणों की किस प्रकार देख भाल करनी चाहिए, इसी बात का सूचन इस श्लोक में है। आदान-निक्षेप समिति की व्याख्या इस प्रकार है—

> आह्यं मोच्यं च धर्मोपकरणं प्रत्युपेक्ष्य यत्।
> प्रमार्ज्य चेयमादाननिक्षेपसमितिः स्मृता॥

अर्थात्—धर्मोपकरणों को देखकर तथा साफ-सुथरा करके लेना-उठाना और रखना, आदाननिक्षेपसमिति कहलाती है।

किसी भी चीज़ को देखकर संमार्जन करके लेने-उठाने तथा रखने में दो मुख्य लाभ हैं। एक लाभ यह है कि वस्त्र या पात्रादि से यदि कोई जहरी जंतु चिपटा हो, तो देखकर संमार्जन करके लेने-उठाने तथा रखने से, उस जंतु के दंश से बचा जा सकता है—यह लाभ अपने हित का है; परंतु इस समिति का हेतु तो किसी भी जंतु की अकारण हिंसा को रोकना है, और यही परम आध्यात्मिक लाभ है। इस लाभ के लिए—समिति का पालन करने के लिए यहाँ मुनि से कहा गया है कि उसे उपकरण-वस्त्रपात्रादि देख कर या प्रमार्जन करके धीरे यतनापूर्वक रखना और लेना चाहिए। लापरवाही से इधर-उधर न फेंक देना या सरका देना चाहिए। यतनासहित और यतनारहित अपनी वस्तुओं को उठाने-रखने की आदत वालों के कार्यों का तुलनापूर्वक निरीक्षण करने वाले ही समझ सकेंगे कि बाह्यतः साधारण दीखने वाली यतना, मनुष्य को अकारण हिंसा से कितना बचा लेती है। (१६०)

[अब ग्रन्थकार इस समिति के अंगरूप प्रतिलेखन—पडिलेहण—की क्रिया की आवश्यकता को प्रकट करते हैं।]

वस्त्रादि के प्रतिलेखन की क्रिया ॥१६१॥

उद्युक्तो दिवसे सदा नियमतः प्रातश्च सायं यमी।
वस्त्रादेः प्रतिलेखनं विधियुतं कुर्याच्च सूक्ष्मेक्षया॥
स्यादेवं यमरक्षणं न च भवेत् सूक्ष्माङ्गिनां हिंसनं।
नाप्यालस्यनिषेवणं निजतनो रक्षाऽलिसर्पादितः॥

भावार्थ तथा विवेचन—जिस प्रकार वस्तु को उठाने तथा रखने में मुनि को यतनापूर्वक व्यवहार करना चाहिए, उसी

प्रकार अपने नित्य के उपयोग की वस्तु का प्रतिलेखन भी करते रहना चाहिए। कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि जिन्हें बहुत उठाना-रखना नहीं पड़ता, वे सारे दिन अंग पर या साथ ही रहती हैं और उनमें भी सूक्ष्म जन्तु घुस जायँ या चढ़ जायँ, यह संभव है; इसलिए यह प्रतिलेखन क्रिया आवश्यक है। ऐसी वस्तुओं को रोज सुबह-शाम बारीक नजर से विधि-सहित देखना और प्रमार्जन करके रखना या धारण करना चाहिए कि जिससे सूक्ष्म जंतुओं का संरक्षण हो और संयम की पुष्टि भी। इस आध्यात्मिक लाभ के सिवा, दूसरा लाभ इससे यह भी होता है कि प्रमाद और आलस्य दूर होता है। और यदि कभी सर्प-बिच्छू जैसे जहरीले जन्तु वस्त्र पात्रादि पर चढ़ गये हों, तो उनसे अपना रक्षण होता है। (१६१)

[मुनि के लिए शयन भी प्रमाद जनक न हो जाय, इसके लिए ग्रन्थकार नीचे के श्लोक में सूचन करते हैं।]

भूमि या पट्टे पर सोना चाहिए ॥१६२॥

पल्यङ्के शयनासनादि यमिनां नैव क्वचिद् युज्यते।
नो वेत्रासनमञ्चिकादिषु पुनर्नैवापि खट्वादिके॥
पट्टे काष्ठमयेऽथवा क्षितितले दर्भादिसंस्तारके।
साधूनां शयनासनं समुचितं हन्तुं प्रमादादिकम्॥

भावार्थ—संयमधारी साधु को पलंग पर सोना या बैठना कदापि उचित नहीं है। इसी प्रकार आराम कुर्सी, मंचिका-चौकी या खटिया पर भी सोना बैठना उचित नहीं है। लकड़ी का पट्टा तख्ता भूमि या दर्भशय्या पर ही साधु जनों को सोना बैठना

उचित है, क्योंकि इससे प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा आदि भी दूर होते हैं।

विवेचन—पलंग, आरामकुर्सी, खटिया, झूला आदि सभी सुखासन हैं। किन्तु ये सुखासन हैं, इसीलिए ये प्रमाद के साधन भी हैं। प्रमाद को पैदा करने वाले हैं। निद्रा स्वाभाविक है, निद्रा के बिना देह का पोषण और रक्षण नहीं होता; परन्तु सच्ची निद्रा के लिए सुखासन की आवश्यकता नहीं है। जो मजदूर दिन में खूब परिश्रम करते हैं, इसी प्रकार जो मानसिक श्रम करने वाले विद्यार्थी, स्वाध्यायी आदि सारे दिन अपने कार्य में मग्न रहा करते हैं, उन्हें जमीन पर भी गाढ़ निद्रा आते देर नहीं लगती। इसके विपरीत, सुखी पुरुषों को, राजाओं को या धनाढ्यों को, निद्रा को ललचाने के लिए छत्र पलंग, खाट या झूले हिंडोले वगैरह की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार शय्या के ये सुख साधन, वास्तव में प्रमाद का पोषण करने वाले साधन बन जाते हैं। कहा जाता है कि नींद टूटीखटिया भी नहीं देखती। यह उक्ति स्वाभाविक रूप में उमड़ती हुई निद्रा के लिए है। और जो लोग सारा दिन प्रमाद या आलस्य में बिताते हैं, उन्हें सवामन रुई के गद्दे पर लोटते हुए भी बड़ी मुश्किल से निद्रा आती है। संयमी को सोने के लिए सुखसाधन न होना चाहिए अर्थात्—उसे पलंग, खाट, आरामकुर्सी वगैरः की आवश्यकता नहीं है। लकड़ी का तख्ता, जमीन या दर्भशय्या होनी चाहिए 'शय्या भूमि तलं' ही योगी के लिए निद्रा का साधन है। इससे प्रमाद नहीं उत्पन्न होता, और दिन में प्रमाद करने की इच्छा का भी निवारण होता है। नरम गद्दों और बेंत से मढ़ी आराम कुर्सियों में जन्तु घुस बैठते हैं या पैदा हो जाते हैं। ऐसे आसनों पर सोना बैठना संयमी के लिए निषिद्ध होना स्वाभाविक है।

दृष्टान्त—मुगलों का आक्रमण होने पर, जब मेवाड़ के सीसोदिया राणा प्रताप को अपने कुछ सैनिकों के साथ वन में रहना पड़ा था, तब मुगलों से जीत कर अपनी मातृभूमि को लौटा लेने का सतत चिन्तन उनके हृदय में होता रहता था। ऐसा कहा जाता है कि यह कर्त्तव्य-निष्ठा ही उनके लिए सर्वोपरि थी, इसलिए उन्होंने समस्त सुखों का त्याग कर दिया था। कारण कि यदि वे शारीरिक सुखों में मग्न हो जाते, तो प्रमाद वश अपने कर्त्तव्य को भूल जाते—ऐसा उनका खयाल था। सुखशय्या भी प्रमाद की जननी है, इसलिए वे वनवास करते हुए जमीन पर घास बिछाकर सोते थे। यदि वन में भी उन्होंने सुन्दर और मुलायम गद्दों पर सोने की इच्छा की होती, तो वह उनके लिए असंभव न था। वे वन में अनेक सैनिकों, अनुचरों और स्वामीनिष्ठ सेवकों के साथ रहते थे; इसलिए उनके द्वारा उन्हें सुख साधन भी मिल जाते; परन्तु वे प्रमाद के वशीभूत होकर कर्त्तव्यनिष्ठा को भुलाना नहीं चाहते थे—मेवाड़ की स्वतंत्रता का सतत चिन्तन करते रहने के लिए उन्होंने घास पात बिछाकर सोना ही पसन्द किया था। प्रताप योगी या त्यागी नहीं थे। तथापि कर्तव्य-निष्ठा के लिए उनका आचरण, किसी संयमी को शोभा देने योग्य था। परन्तु उनके बाद मेवाड़ की स्वतन्त्रता गवाँ बैठने वाले सीसोदिया राणा लोग, घास की शय्या पर सोने को बिल्कुल शुष्क क्रिया ही समझने लगे और परिणाम यह हुआ कि उनके वंशज, छत्र युक्त पलंग पर मखमली बिछानों पर सोये; परन्तु दो-दो चार-चार मन के गद्दों में दो तिनके घास के डालकर यह दंभ करने लगे कि हम भी महाराणा प्रताप की तरह दर्भ-घास-की शय्या पर सोते और मेवाड़ की स्वतंत्रता की टेक का पालन करते हैं! इसे कहते हैं साँप चला गया और केंचली रह गई! कहाँ प्रमादनिवारक

दर्भशय्या और कहाँ प्रमाद-पोषक रुई का गद्दा, जिसमें कसम खाने के लिए घास या दर्भ का एकाध तिनका डाल दिया गया हो! ऐसे प्रमादी सीसोदियों के हाथों मेवाड़ की स्वतंत्रता का रक्षण न हो सका हो, तो यह कोई नई बात नहीं है। (१६२)

[अन्त में पाँचवीं परिष्ठापना—परिठावणीया—समिति के विषय में कहकर, ग्रन्थकार, समिति प्रकरण की समाप्ति करते हैं।]

परिष्ठापना-विधि ॥ १६३ ॥

त्याज्यं यत्र मलादिकं तदपि वा स्थानं निरीक्ष्यं पुरा।
सच्छिद्रं न जनाकुलं न यदि तन्निम्नं न वा नोन्नतम् ॥
नो मार्गो न च देवताधिवसनं नो सूक्ष्मजन्त्वाचितं।
कार्यस्तत्र मलादिकस्य मुनिना त्यागः समित्या सदा ॥

भावार्थ तथा विवेचन—भिक्षुओं को जहाँ मल-मूत्रादि की परिष्ठापना करनी हो, वह स्थान विशुद्ध होना चाहिए। और इसके लिए उस स्थान को पहले ही से देख लेना उचित है। वह स्थान छिद्रवाला; अर्थात्—चीटियों तथा चूहों आदि जीव-जन्तुओं के बिल वाला न हो, उस जगह लोगों का गमनागमन भी अधिक न होता हो, और न निचाई या ऊँचाई वाला ही हो; बल्कि समतल होना चाहिए। वह स्थान लोगों के आने जाने का न हो और ऐसा भी न हो कि जहाँ देवी-देवता का वास माना जाता हो। और न वह स्थान सूक्ष्म जीव-जन्तुओं से व्याप्त ही होना चाहिए। इस प्रकार जो स्थान सब तरह विशुद्ध हो, उसी स्थान में मुनियों को मल-मूत्रादि का त्याग-परिष्ठापना समिति की रक्षा करते हुए—यतना-पूर्वक करना चाहिए। सूक्ष्म से सूक्ष्म जन्तुओं, मनुष्यों तथा देवताओं तक को अपनी परिष्ठापना के

पदार्थों से जरा भी हानि या कष्ट न पहुँचना चाहिए। संयमी के लिए जो मर्यादा उचित है, उसी का पालन कराने के लिए यह विधि बतलाई गई है। जहाँ-तहाँ गंदगी फैला कर पड़ौसियों या रास्ते से आने जाने वाले मनुष्यों की असुविधा या कष्ट का ख़याल न करने वालों को इस समिति के मर्म से बोध प्राप्त करना चाहिए। अंगीरस, पाराशर, याज्ञवल्क्य, मनु आदि स्मृतिकार भी मूत्र-पुरीषादि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार के विवेक का सूचन करते हैं। इस समिति के मर्म को समझने वाले और अहिंसा के सच्चे उपासक धर्मरुचि नामक मुनि का दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त होगा।

दृष्टान्त—धर्मरुचि नामक एक मुनि एक बार गोचरी करने के लिए निकले और एक घर में जा पहुँचे। उस घर की गृहिणी ने भूल से तितलौकी-कड़वी लौकी का शाक बनाया था, इसलिए वह किसी के खाने योग्य न था। उसे घूरे पर ही फैंकना चाहिए था। परन्तु, मुनि को आया देख कर उसने विचारा कि यह शाक मुनि को ही दे दिया जाय, तो ठीक है। घूरे पर फेंकने के लिए जाने की मिहनत भी बच जायगी! इसलिए उस गृहणी ने कढ़ाई में रखा हुआ सब शाक मुनि के पात्र में डाल दिया। मुनि के आश्रम में आने पर गुरु ने देखा कि शाक लेने में मुनि ने भूल की है, कारण कि वह कड़वी लौकी का शाक है यानी जहरी वस्तु है और खाने से प्राण हानि होगी। गुरु ने मुनि धर्मरुचि से कहा कि यह शाक हमारे खाने योग्य नहीं है, कारण कि जहरीला है; इसलिए किसी विशुद्ध स्थान पर इस शाक को परिष्ठापित कर आओ। मुनि शाक को लेकर परिष्ठापना करने के लिए नगर के बाहर गये और एक विशुद्ध स्थान खोज लिया। मुनि ने पहले शाक का एक टुकड़ा जमीन पर रखा। उसकी

गंध से आकर्षित होकर बहुत से जन्तु वहाँ इकट्ठ हो गये! मुनि ने तुरन्त उस शाक के टुकड़े को उठा लिया और दूसरा विशुद्ध स्थान खोजा। वहाँ भी एक टुकड़ा रखने पर बहुत-से जीव-जन्तु इकट्ठे हो गये। इसके बाद तीसरा स्थान खोजा। वहाँ भी वही हुआ। यह देख कर मुनि को विचार हुआ कि जहरीले शाक की परिष्ठापना करने के लिए कोई विशुद्ध स्थान नज़र नहीं आता। इसको खा कर बहुत से जीव-जन्तु मर जायँगे; इसलिए उन सब के बदले यह अकेला शरीर ही मरण को प्राप्त हो, तो क्या बुरा है? यह विचार करके मुनि धर्मरुचि अन्य जीवों की हिंसा से बचने के लिए खुद ही सब शाक खा गये और उसी जगह मरकर सद्गति प्राप्त की। (१८३)

छठा परिच्छेद

परिषह-विजय

[संयम की साधना के लिए संसार का त्याग किया, त्याग-सूचक वेष धारण किया, महाव्रतों को अंगीकार किया, गुरु के निकट पाप-स्थानों के परिहार की प्रतिज्ञाएँ कीं, पश्चात् समिति और त्रिकरण—गुप्तियों को जान कर तदनुरूप आचरण किया, फिर भी इन सब का निर्विघ्न निर्वाह करना सरल नहीं है। इन सब का आचरण करते हुए अनेक बाधाएँ आती हैं, विघ्न उपस्थित होते हैं, कष्ट उठाने पड़ते हैं, संयोगों का सामना करना पड़ता है। इन सब को सहन करके, संयम के निर्वाह करने का नाम 'परिषह' है। ऐसे-ऐसे परिषहों को सहन करते हुए भी चित्त की वृत्ति को विषम न होने देना, 'परिषह विजय' है। प्रस्तुत परिच्छेद में मुनियों के सहन करने योग्य विविध परिषहों का वर्णन किया गया है। 'बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेईया॥' काश्यप गोत्र में उत्पन्न हुए श्रमण, भगवान् महावीर ने ऐसे बाईस परिषह बतलाये हैं। नीचे के चार श्लोकों में यह बाईसों परिषह संक्षेप में समाविष्ट हैं।]

क्षुधा आदि परिषह ॥१६४॥

भिक्षायां न च लभ्यतेऽशनजलं शुद्धं कदाचित् क्वचिद्।
दैन्यं नात्र तृषः क्षुधः परिषहो ज्ञेयस्तपोभावतः॥
ग्रीष्मे वा शिशिरे भवेत्परिषहस्तापस्य शीतस्य वा।
शौर्येणैव पराजयः किल तयोः कार्यो बलादात्मनः॥

मच्छर आदि के परिषह ॥ १६५ ॥

क्वापि स्युर्मशकादयस्तदपि नो ग्लानिः सतां शोभते।
नो दैन्यं वसनाद्यलम्भजनितं कष्टेऽपि नैवारतिः ॥
नो स्त्रीभिश्चलनं श्रमेण पथि नो खिद्येत चित्ते कदा।
स्थित्यैकाऽऽसनतश्चिरेण मनसो धैर्यं न मुञ्चेन्मनाक् ॥

शय्या आदि के परिषह ॥ १६६ ॥

नो प्राप्ता वसतिः शुभा तदपि नो चित्ते विषादोदयः।
श्रुत्वाऽऽक्रोशवचोऽपि नैव सहसा शान्तो मुनिः कुप्यति
नो द्विष्टे वधबन्धनेऽपि न तथा भिक्षाटने लज्जते।
नाऽलाभे न गदोदये निजतनोश्चिन्तां विधत्ते पुनः ॥

तृणस्पर्शादि परिषह ॥ १६७ ॥

दर्भादौ शयनेऽपि संयमिमुनिः कुर्यान्न खेदं मनाङ्—
नो ग्लानिं मलिनाम्बरादिभिरथो गर्वं न सत्कारतः ॥
औत्कट्येऽपि मतेर्न माद्यति तथा मान्द्येऽपि नो खिद्यति
मिथ्याऽऽडम्बरतो न मुह्यति पुनर्जित्वा रिपूनान्तरान् ॥

क्षुधा आदि के परिषह

भावार्थ तथा विवेचन—परिषह तप का ही अंग है। मानसिक अभिग्रह-पूर्वक किसी प्रकार का देहदमन करना तप है, और अभिग्रह के बिना संयोग वशात् देहदमन करना परिषह। परन्तु परिषह की एक विशेषता भूलने योग्य नहीं है। किसी क़ैदी को जेलखाने की जुआर या बाजरे की रोटी न भाये तो

उसे भूख को --क्षुधाको--सहना पड़ता, दमन करना पड़ता है, और किसी मुनि को विशुद्ध आहार न प्राप्त हो, तो क्षुधा को सहना पड़ता है। क्षुधा, बाईस परिषहों में से प्रथम परिषह है। क़ैदी और मुनि दोनों को क्षुधादि द्वारा देहदमन तो एक समान ही करना पड़ता है, फिर भी क़ैदी का देह-दमन, परिषह नहीं है, मुनि का है। कारण कि क़ैदी विषाद या ग्लानि से क्षुधा को सहन करता है और मुनि समताभाव से क्षुधा को सहन कर लेता है। क़ैदी के मन से जो भूख का सहन करना है, वह मुनि के मन से परिषह है। और दोनों के बीच का यह भेद, दोनों की चित्तवृत्ति के आधार पर ही है। इस प्रकार, सब तरह के परिषहों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। कारण कि परिषह के विषय में, देह तथा मन को विविध कष्ट सहन करने के सिवा और कोई बात नहीं आती। अब हम अनुक्रम से विविध प्रकार के परिषहों का वर्णन करेंगे।

(१) क्षुधा—एषणा समिति का पालन करके आहार प्राप्त करना सर्वदा सुलभ नहीं होता और इससे किसी समय अपूर्ण आहार मिलता है और किसी समय विशुद्ध आहार बिल्कुल नहीं मिलता। ऐसे समय, मुनि को दीन या ग्लान न हो जाना चाहिये, बल्कि समता पूर्वक यह समझ लेना चाहिये कि आज सहज ही तपस्या होगई और इस प्रकार क्षुधा का परिषह सहन कर लेना चाहिये। ऐसे समय यदि मुनि मन में यह विचार करे कि अमुक मनुष्य से कहकर भोजन तैयार करा-लिया जाय, या पेट भरने की कोई अन्य व्यवस्था करली जाय, तो परिषह सहन करने पर भी आध्यात्मिक लाभ को वह गँवा देता है। 'भावतः' अर्थात्—मन के पूर्ण भाव से ही परिषह को सहन करना, तपस्या के रूप में लाभदायक हो सकता है, अन्यथा नहीं।

(२) तृषा—क्षुधा की तरह तृषा—प्यास—के परिषह को सहन करने का अवसर भी मुनि के लिए आता है। ज्यों आहार के विशुद्ध पदार्थ प्राप्त करना मुश्किल होता है, त्योंही अचित्त—विशुद्ध जल भी कभी-कभी कहीं नहीं मिलता, उस समय समता पूर्वक मुनि को तृषा का—प्यास का परिषह सहन करना चाहिये; परन्तु मन में व्याकुलता न आने पाये और न कुए या नदी से सचित्त जल पीने का संकल्प ही मन में पैदा हो।

(३-४) सर्दी और गर्मी—सर्दी के दिनों में कड़ी ठंड पड़े और गर्मी के दिनों में सख्त गर्मी, फिर भी मुनि शीत तथा गर्मी को पराजित कर देता है। यह पराजय 'शौर्येण' और 'आत्मनः बलाद्' करना चाहिये। शीतकाल में मुनि अग्नि से शरीर को न तपाने लगे और गर्मी में पंखे से हवा करके या जल से स्नान करके शरीर को सुखी करने का संकल्प भी न करे। सर्दी और गर्मी का कष्ट समताभाव से सहन कर लेना ही उनका पराजय है; अर्थात्—मुनि का परिषह विजय है।

मच्छर आदि के परिषह

(५) दंश-मशक—किसी जगह मच्छर, डाँस आदि के उपद्रव से और इस प्रकार के जन्तु, उड़कर मुनि के शरीर पर आकर बैठें और काटें, तो भी इससे मुनि को इन क्षुद्र जन्तुओं पर ग्लान या क्रुद्ध न होना चाहिये और न उनको मारने का विचार तक मन में लाना चाहिये। यह परिषह तभी सिद्ध हुआ समझा जा सकता है, जबकि उत्तराध्ययन सूत्र में लिखे अनुसार 'उवेह न हुण पाणे भुंजंते मंससोणियं' अर्थात्—हमारे शरीर के रक्तमांस को जन्तु खा जायँ, तो भी यह सब सहन करना चाहिये; परन्तु उन्हें मारना न चाहिये।

(६) वस्त्रालाभ—वस्त्रों की कमी आ जाय और कोई वस्त्र न रहे, तो भी मुनि को दीन न होना चाहिये; अर्थात्—यह विचार न करना चाहिये कि मुझे नये वस्त्र देकर कोई वस्त्रों की कमी—तंगी को दूर करदे। वस्त्रालाभ, यानी वस्त्रों के प्राप्त न होने से कदाचित् अचेल—वस्त्रहीन—अवस्था उपस्थित हो जाय, तो भी बिना ग्लानि उत्पन्न किये इस परिषह को सहन कर लेना मुनि का धर्म है।

(७) अरति—अपरिग्रह दशा में संयम का निर्वाह करते और गाँव-गाँव में घूमते हुए कुछ कष्टों के सहन करने का समय आ जाय, तो उस समय मुनि को अरति धारण न करनी चाहिए; अर्थात्—उसे अधीर न हो जाना चाहिए। बल्कि, इस परिषह को सहन करना चाहिए।

(८) स्त्री—संसार छोड़ते ही मुनि स्त्री तथा विषयस्मरण को भी छोड़ ही देता है। परन्तु संयम धारण करने के पश्चात् कदाचित् एकान्त में या अन्य रूप में स्त्री आदि का प्रसंग उपस्थित हो जाय, तो उस प्रसंग को मनोदमन पूर्वक निभा लेना चाहिए। अर्थात्—मन को चलित न होने देकर, प्रसंग को सहन कर लेना चाहिए, इसी का नाम 'स्त्री-परिषह' है।

(९) चर्या—पैदल चल कर यात्रा करना चर्या है। चर्या करते हुए थकान आ जाय, आहारादि विषयक अड़चनें सहन करना पड़े, और कदाचित् ऐसी भटकती जिन्दगी से मन ऊब भी जाय; परन्तु मुनि को ऐसी चर्या से चित्त में ज़रा भी खिन्न न होना चाहिए और चर्या परिषह को सह लेना चाहिए। जगह जगह विहार करके बहते हुए जल की भाँति पवित्र चारित्र्य का पालन करना चाहिए।

(१०) **एकासन स्थिति**—इस परिषह को शास्त्र में 'निसीहिया' शब्द से समझाया गया है। स्वाध्यायादि के अवसर पर, चित्त लगा कर एक ही स्थान पर बैठे रहना पड़े, घूमा फिरा न जा सके, ऐसी दीर्घ कालीन एकासन स्थिति से ऊब कर मुनि को धीरज न छोड़ना चाहिए। कोई स्थान ऐसा ही हो कि जहाँ स्थिर ही बैठा रहना पड़े, चलने फिरने से जीवों की हिंसा होती हो, तो वहाँ भी मुनि को समभाव से एकासन स्थिति को सहन करना चाहिये।

शय्या आदि के परिषह।

(११) **शय्या**—शय्या के मानी हैं आश्रयस्थान, जिसे इस श्लोक में ग्रन्थकार ने 'वसति' शब्द द्वारा परिचित कराया है। गाँव-गाँव विहार करते हुए किसी मुनि को रहने-ठहरने के लिए अच्छा स्थान न मिले, या कोई स्थान न मिलने के कारण वृक्ष के तले रहना पड़े, तो भी वह अपने चित्त में विषाद का उदय न होने दे—इसे शय्या परिषह कहते हैं।

(१२) **आक्रोश**—कोई मनुष्य आकर मुनि के साथ आक्रोश के साथ—कर्कश-कठोर शब्दों में बात-चीत करे, तो भी शान्त मुनि को ये बातें सुनकर उस पर तनिक भी क्रोध न करना चाहिए। ऐसी बात-चीत करने वाले को अज्ञान बालक के समान समझाकर उसे क्षमा कर देना चाहिए, या माध्यस्थ्यवृत्ति से उसकी अवहेलना करके मुनि के योग्य मौन धारण करना चाहिए।

(१३) **वध-बन्धन**—साधु को कोई मारे-पीटे, बाँधे या मार डालना चाहे, तो भी साधु को उसके प्रति द्वेष न करना चाहिए और न मन में खिन्नता पैदा करनी चाहिए। बल्कि, इस कष्ट को

समताभाव से सहन करके यह विचारना चाहिए कि 'नत्थि जीवस्स नासोत्ति'; अर्थात्— यह लोग मुझे पीट रहे हैं, या मार डालना चाहते हैं; पर इससे मेरे शरीर का ही नाश होगा, जीव का नाश नहीं हो सकता। (इस परिषह के लिए स्कन्धाचार्य के पाँच सौ शिष्यों का जो दृष्टान्त पहले दिया गया है, वह पाठकों को याद ही होगा।)

(१४) **याचना**—चाहे जैसा बड़ा राजा या धनवान् व्यापारी हो; पर जब वह साधु पद ग्रहण करता है, तो उसे आवश्यक उपकरणों की दूसरों से याचना करनी ही चाहिए। माँगने से— सब चीजों का मिलना कठिन है, इसलिए कई बार याचना निष्फल हो जाती है, फिर भी याचना के बिना कुछ नहीं मिल सकता; इसलिए याचना तो करनी ही पड़ती है। परन्तु याचना करते हुए या भिक्षा माँगते हुए साधु को मन में लज्जा न रखना चाहिए, या पूर्वाश्रम के उच्चकुल या उच्चाधिकार का ख़याल करके ऐसा न विचारना चाहिए कि 'मैं क्यों साधु हो गया? इससे तो गृहस्थाश्रम ही अच्छा था।' इस प्रकार याचना करना या भिक्षाटन करना भी परिषहरूप है।

(१५) **अलाभ**—याचना करने से भी कोई वस्तु नहीं मिलती, इससे साधु को मन में निराश या खिन्न न होना चाहिए। बल्कि, आज नहीं मिला, तो कल मिलेगा—ऐसा संतोष करके उसे इस अलाभ के परिषह को सहन करना चाहिए।

(१६) **रोग**—शरीर में कोई रोग उत्पन्न हो जाय, तो भी मुनि को अपने शरीर की चिन्ता न करनी चाहिए। अर्थात्— वैद्य की चिकित्सा या उपचार के लिए इच्छा या अधीरता न प्रकट करनी चाहिए। शान्तभाव और प्रसन्नमुख से उसे देह पीड़ा को सहन करना चाहिए।

तृणस्पर्शादि परिषह।

(१७) **तृण स्पर्श**—दर्भ-दूब या सूखे घास की शय्या पर सोते-बैठते मुनि को घास की नोकें कष्ट दायक हो पड़ती हैं, खास कर छोटे-संकुचित वस्त्र धारण करने के कारण, इस कष्ट का निवारण कठिन होजाता है, फिर भी मन में खेद न करके समताभाव से मुनि को इस तृण-स्पर्श परिषह को सहन करना चाहिए और मन में यह भावना न लानी चाहिए कि मेरे पास अधिक वस्त्र होते, तो अच्छा था।

(१८) **मल**—गर्मी के दिनों में शरीर से पसीना निकले और वायु से उड़े हुए धूल के कण शरीर पर पड़ कर मैल जम जाय, वस्त्र मैले हो जायँ, तो भी मुनि को ऐसे मैल भरे शरीर या कपड़ों से ग्लान न होना चाहिए; अर्थात्—इस परिषह को सहन करके चारित्र्य में अटल रहना चाहिए।

(१९) **सत्कार-पुरस्कार**—किसी जगह साधु का स्वागत सत्कार हो, अर्थात्—कोई गृहस्थ साधु का अभिनन्दन करे या आसन पर से उठ कर स्वागत-सम्मान करे या भिक्षा के लिए आमंत्रित करे, तो इस स्वागत-सत्कार से साधु को मन में फूल न जाना चाहिए या गर्व न करना चाहिए। जिस प्रकार वह अलाभ होने या कठोर वचन सुनने पर मन में खिन्न नहीं होता, उसी प्रकार सत्कार वचन सुनने पर वह मन में फूलता भी नहीं। अर्थात्—सत्कार को भी परिषह कर लेता या पचा लेता है।

(२०-२१) **प्रज्ञा-अज्ञान**—किसी साधु में बुद्धि या प्रज्ञा तीक्ष्ण हो, तो इससे उसे फूल न जाना चाहिए; बल्कि यह

सोचना चाहिए कि मेरा ज्ञान अभी सिन्धु के बिन्दुसमान ही स्वल्प है। इसके विपरीत कोई साधु बुद्धिमन्द या अज्ञान हो, तो इससे उसे चिन्तित न होना चाहिए; बल्कि इस अज्ञान को अपने पूर्व ज्ञानावरणीय कर्मों का फल-रूप मान कर, उसको नष्ट करने के लिए ही उद्योग करना चाहिए। इस प्रकार प्रज्ञा और अज्ञान दोनों मनोवृत्तियों को किसी कषाय की ओर प्रवृत्त न करे, तभी यह समझा जा सकता है कि मुनि ने यथार्थ रूप में इस परिषह को सहन किया है।

(२२) दर्शन-सम्यक्त्व—अन्य दर्शनियों के मिथ्या आडंबर से मुनि को घबड़ा कर या ऊब कर यह न मान लेना चाहिए कि मैं परलोक और आत्मा की निर्मलता की बातों में ठगा रहा हूँ। उसे इस परिषह का सहन करके, स्थिर बुद्धि के साथ आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

दृष्टान्त—जुदे-जुदे परिषहों के जुदे-जुदे दृष्टान्त हैं; परन्तु दीक्षा लेने के बाद श्री महावीर स्वामी का जीवन सब प्रकार के परिषहों का सागर हो गया था, इसलिए यहाँ उन्हीं का दृष्टान्त उपस्थित करना उचित होगा। दीक्षा लेकर भगवान् महावीर ने तुरन्त ही हेमन्त ऋतु में विहार किया। इन्द्र ने उन्हें एक देवदूष्य वस्त्र दिया था; परन्तु भगवान् महावीर ने उस वस्त्र को शीतकाल में पहनने का विचार तक नहीं किया। केवल तेरह मास तक उस वस्त्र को उन्होंने कंधे पर रखा था और उसका भी त्याग कर दिया था। चार मास तक भ्रमरादिक जन्तु उनके शरीर से चिपट कर उनका रक्त-मांस चूसते रहते थे। ईर्या समिति से देखते हुए रास्ता चलते देख बच्चे भयभीत हो जाते और इकट्ठे होकर लात-घूँसों का प्रहार करते; परन्तु भगवान् महावीर वह सब सह लेते थे। स्त्री-पुरुषों से युक्त वसती में रहते हुए, कई स्त्रियाँ भग-

वान् महावीर से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ किया करतीं, परन्तु भगवान् उनका परिहार कर देते और वैराग्य मार्ग में लीन रहते थे। गृहस्थों से मिलना-जुलना छोड़ कर वे ध्यान में निमग्न रहा करते थे। कभी-कभी, विहार करते हुए अनार्य लोग उन्हें डण्डों से मारते, या बाल खींच कर कष्ट देते, और कठोर बातें कहते थे; परन्तु भगवान् ऐसे कठोर परिषहों की कोई परवाह न करते। नृत्य, गीत आदि सुनने के लिए लालायित नहीं होते थे। और स्त्रियों को परस्पर काम-कथा में तल्लीन देख कर भी वे राग-द्वेष-रहित—माध्यस्थ पूर्वक रहते थे। विहार करते हुए, वे कभी निर्जन झोंपड़ियों में, पानी की पियाउओं में, हाट में, लुहार की दूकान के दालान में या घास की गंजी में रहा करते थे। किसी समय गाँव में, बगीचे में या शहर में रहते, तो किसी समय श्मशान, सूने घर या किसी वृक्ष के नीचे भी रहते थे। सर्प जैसे जहरीले जन्तु और गिद्ध जैसे पक्षी उन्हें काट लेते थे। शून्य घरों में जारकर्म के लिए गये हुए दुष्ट लोग भगवान् को वहाँ देख कर कान पकड़ कर निकाल देते, और गाँव के रक्षक शस्त्रों के वार करते थे। स्त्रियाँ उन पर मोहित होकर विषय-व्याकुलता प्रकट करती थीं। कभी-कभी सुगंधित और दुर्गंधित वस्तुओं के, भयंकर शब्दों के भयानक उपसर्ग होते थे; पर इन सबको भगवान् शान्त भाव से सह लेते थे। जब शिशिर ऋतु में ठंडी हवा जोर से चलती थी, जब लोग थरथर काँपते रहते थे, जब अन्य साधु ऐसे समय हवा से बचने के लिए बन्द जगह खोजते थे, तथा वस्त्र पहनना चाहते थे, जब तपस्वीगण लकड़ियाँ जला कर शीत का निवारण करते थे, तब भगवान् महावीर खुली जगह में रह कर शीत को सहन करते थे। कभी-कभी अत्यन्त शीत पड़ने पर जब उसका सहन करना बड़ा विकट हो जाता; तब रात्रि के समय कुछ देर बाहर घूम-फिर

कर, फिर साम्यभाव से बैठ कर उस शीत को सहन करते थे। लाट देश में विहार करते हुए महावीर भगवान् को बहुत-बहुत परिषह सहन करने पड़े थे। इस देश में रहने के लिए उन्हें बहुत ही साधारण स्थान मिलते थे। वहाँ के लोग उन्हें मारते, भोजन भी रूखा-सूखा मिलता और लोग कुत्तों को छूलगा भगवान् को कटवाते थे। बहुत ही कम लोग उन्हें कुत्ते के काटने से बचाते थे। लाट देश के एक भाग, व्रज-भूमि के लोग बड़े क्रोधी थे और साधु को देख कर कुत्ते छोड़ दिया करते थे। बौद्ध भिक्षु इस प्रदेश के जानकार थे, अतः वे कुत्तों के उत्पात से बचने के लिए अपने हाथ एक मोटी लकड़ी रखते थे। फिर भी कुत्ते उनका पीछा करते थे और काट खाते थे। वहाँ के नीच लोगों के कटुवचन भी भगवान् ने खूब सहन किये। एक बार जंगल में चलते-चलते शाम तक उन्हें कोई गाँव नहीं मिला। किसी गाँव के किनारे पहुँचते ही तुरन्त वहाँ के अनार्य लोग सामने आकर उन्हें मारते और कहते कि 'यहाँ से दूर चला जा।' कई बार लाट देश में लोग भगवान् को घूँसे से, भाले की नोक से, पत्थर से, हड्डी के खप्पर से मार-मार कर पुकारते थे। कभी-कभी भगवान् महावीर को पकड़ कर अनेक उपसर्ग करके मांस काट लेते, उन पर धूल फेंकते, उन्हें उठा कर नीचे पटक देते या आसन से नीचे गिरा देते थे; परन्तु जिस प्रकार शूरवीर पुरुष संग्राम में आगे रह कर किसी से पीछे नहीं हटता, उसी प्रकार भगवान् महावीर इन उपसर्गों से पीछे न हट कर सबको सहन करते हुए विचरते थे। (१६४ से १६७)



सातवाँ परिच्छेद

साधुओं की दिनचर्या

[संयम का निर्वाह करने के लिए ग्रन्थकार इस परिच्छेद में साधुओं के नित्य-नैमित्तिक कार्यों का कथन करते हैं।]

साधुओं की दिन-चर्या ।१६८।।

शेषे जागरणं निशोऽन्त्यचरणे स्वाध्याय आवश्यकं ।
स्वाध्यायः प्रतिलेखनं च यमिनां यामे दिनस्यादिमे ।।
ध्यानं याममितं ततो मधुकरी यामे तृतीये पुन-
स्तुर्येऽपि प्रतिलेखनं च पठनं सायंदिनावश्यकम् ।।

भावार्थ—रात्रि का पिछला पहर शेष रहने पर ही साधु को जागना और उसी समय स्वाध्याय तथा रात्रि का आवश्यक प्रतिक्रमण आरम्भ करना चाहिये। इसके पश्चात् प्रातःकाल दिन के पहले पहर में प्रतिलेखन और स्वाध्याय करना चाहिये। दिन के दूसरे पहर में एक पहर तक ध्यान करना चाहिये। तीसरे पहर में मधुकरी वृत्ति से भिक्षाहारादि शरीर-कृत्य करना चाहिये। चौथे पहर में बिछौने आदि का प्रतिलेखन तथा स्वाध्याय और सन्ध्यासमय दिन का आवश्यक प्रतिक्रमण करना चाहिये। (१६८)

विवेचन—जो संयम को साधने वाला है, वह साधक अथवा साधु है और जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण। जिसने

कर्म-संन्यास ग्रहण कर लिया है, वह संन्यासी है। संन्यासाश्रम चौथा आश्रम है और बहुधा आरम्भ के तीन आश्रमों का पालन करने के पश्चात् ब्राह्मण लोग चौथे आश्रम में प्रवेश करते हैं, अतएव श्रुति-स्मृति-कार, संन्यासियों के लिए नित्यकर्म के नियम निश्चित नहीं करते; परन्तु संन्यास के पहले वाले तीन आश्रम, कि जिनमें ब्राह्मण, साधक की अवस्था में ही रहता है, उनके लिए श्रुति-स्मृति-कारों ने दिन-चर्या के नियमन स्थिर किये हैं। इसी प्रकार जैन-साधु छद्मस्थ अवस्था में होते हैं—केवल ज्ञानी नहीं होते--अतएव उनके लिए दिन-चर्या के नियम होने चाहियें कि जिससे वे संयम के सच्चे साधक अर्थात्—साधुत्व में पूर्ण बन जायँ। इन नियमनों में सब से पहला नियमन रात्रि के अन्तिम पहर में जाग जाना है। रात्रि के चार चरण या पहर होते हैं। उनमें से "अन्त्यचरणे" यानी अन्तिम चरण में जागने का विधान यहाँ किया गया है। मनु "ब्राह्मे मुहूर्ते-बुध्येत"—ब्राह्म मुहूर्त्त में उठने के लिए कहते हैं। "रात्रेस्तु पश्चिमो यामो मुहूर्त्तो ब्राह्म उच्यते"—रात्रि का अन्तिम पहर ब्राह्ममुहूर्त्त है। उत्तराध्ययन सूत्र में "तइयाए निद्दमोक्खंच" यानी रात्रि के तीसरे पहर में निद्रा त्यागने के लिए कहा है; परन्तु इसमें तीसरे पहर का अन्त समझना चाहिये। अतएव सब मिलाकर जागने का सर्वानुमत समय तीसरे पहर का अन्त या चौथे पहर का आरम्भ ही है। जागने पर ग्रन्थकार ने स्वाध्याय और आवश्यक प्रतिक्रमण करने के लिए कहा है। कूर्म पुराण में लिखा है कि, "ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय ध्यायेत परमेश्वरम्"--ब्राह्म मुहूर्त्त में उठ कर परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में "चउथ्थी भुज्जोवि सज्झायं" अर्थात्—स्वाध्याय में ध्यान लगाने के लिए कहा है। इस प्रकार रात्रि के अन्तिम पहर का नियमन पूरा होता है। इस नियमन को सुदृढ़ करने के लिए

"स्मृति-रत्नावलि" नामक ग्रन्थ में यह कहा है कि "ब्राह्मे मुहूर्त्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी" अर्थात्—रात्रि के अन्तिम पहर की निद्रा पुण्य का क्षय करने वाली है। सूर्योदय से दिन के पहले पहर का आरम्भ होता है। वेदानुयायियों के लिए जो समय शौच, स्नान, सन्ध्यावन्दनादि के लिए है, उसी समय में यहाँ साधुओं के लिए प्रतिलेखन तथा स्वाध्याय का विधान है। दूसरा पूरा पहर ध्यान में ही बिताने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं और सच्चरित्र ब्राह्मण भी इस समय को देवचिन्तन, प्राणायाम, तर्पणादि में व्यतीत करके तीसरे पहर भोजन करते हैं। ग्रन्थकार "मधुकरी यामे तृतीये" सूचित करते हैं और इसी प्रकार का सूचन संन्यासियों के लिए मनु ने किया है। इसके बाद दिन के अन्तिम पहर में प्रतिलेखन और स्वाध्याय करके शाम को वेदानुयायियों के सन्ध्या-प्रयोग की भाँति "सायं दिनावश्यकम्" करना चाहिए। इस प्रकार साधु की दिन-चर्या शास्त्रकारों ने सुघटित कर दी है और उसके नियमनों में संयम-साधना पर ही पूरा ध्यान दिया है। (१६८)

[नीचे लिखे श्लोक में रात्रि-कृत्य और उनके नियमनों के शुभ हेतु का वर्णन किया जाता है।]

व्यर्थ समय न गँवाना ॥१६९॥

स्वाध्यायः क्षणदैकयाममनघं ध्यानं निशीथावधि।
निद्रैकं प्रहरं ततो विधिरयं संन्यासिनां नैत्यकः॥
स्यादेतत्क्रमपालनं यदि तदा कालोऽवशिष्येत नो।
साधूनां विकथा-प्रलाप-कलहासूया-वितण्डाकृते॥

भावार्थ—रात्रि के पहले पहर में स्वाध्याय तथा दूसरे पहर

में मध्य रात्रि तक निर्मल ध्यान करना चाहिये और रात्रि के तीसरे पहर में एक पहर तक सोना चाहिये। संन्यासियों-साधुओं के लिए यह हमेशा का विधान है। इस प्रकार क्रम-पूर्वक समय की व्यवस्था की जाय, तो साधुओं को विकथा, बकवाद, कलह, ईर्ष्या, असूया या वितण्डावाद जैसी कर्म-बंध-जनक बातों के लिए बिल्कुल ही अवकाश नहीं रहता और समय का पूरा-पूरा सदुपयोग होता है (१६६)

विवेचन—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" अर्थात्—जो निशा—रात्रि सब प्राणियों के सोने के लिए है, उस रात्रि में संयमी मनुष्य जागता है। इन शब्दों का तात्पर्य यह है कि रात्रि में अधिकांश मनुष्य जब प्रमाद के वशीभूत हो सोते हुए आराम से समय व्यतीत करते हैं, तब संयमी लोग स्वाध्याय, ध्यान और आत्मचिन्तनादि में समय बिताते हैं। इसलिए संयमी लोगों के रात्रि के कर्त्तव्य-कर्म का सूचन करते हुए यहाँ प्रथम पहर में स्वाध्याय और दूसरे पहर में मध्यरात्रि तक ध्यान का प्रतिपादन किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही कहा है कि रात्रि के समय "पढमे पोरिसि सज्झायं बिइयं झाणं झियायइ"—दिन में जो कुछ अध्ययन किया हो, उसका पुनरावर्त्तन रात्रि के पहले पहर में कर लिया जाय, तो अध्ययन परिपक्व हो जाता है। इसके बाद रात्रि का तीसरा पहर सोने के लिए होता है। संयमी और साधकों के लिए कम सोना ही उचित है। इसके पश्चात् चौथा पहर या ब्राह्म-मुहूर्त्त आता है कि जिसके विषय में गत श्लोक में कहा गया है। इस प्रकार साधुओं का दिन और रात्रि का नित्य-कर्म या टाइम-टेबुल पूरा होता है। जो सर्वसंग-परित्यागी है, उसके लिए ऐसे टाइम-टेबुल के बंधन की क्या आवश्यकता ? इस शंका के प्रत्युत्तर के लिए श्लोक के

उत्तरार्ध में इस टाइम-टेबुल का हेतु प्रदर्शित किया गया है। नवदीक्षित साधु हो, दीक्षा-काल को परिपक्क किया हुआ साधु हो या वृद्ध संन्यासी हो, परन्तु उसे प्रमाद से बचा लिया जाय, तो इससे उसका विशेष कल्याण साधन होता है। इस प्रमाद-निवारण के लिए कोई आत्म-हितकर नित्य-कर्म होना चाहिए और वह इस प्रकार नियोजित होना चाहिए कि जिससे शरीर के प्रति कर्त्तव्य का पालन हो। अर्थात्, देह का यथायोग्य रक्षण हो सके। संयम की साधना हो और प्रमाद के लिए समय ही न रह जाय। यदि निरीक्षण पूर्वक देखा जाय, तो मालूम होगा कि दोनों श्लोकों में प्रकट किया गया नित्य-कर्म इस हेतु को परिपूर्ण करने वाला है। यदि इस नित्य-कर्म को यथाविधि आचरण में लाया जाय, तो प्रमाद के लिए अवकाश—फुरसत ही न मिले और फुरसत के अभाव से ठाले—ठलुए लोगों को लड़ाई-झगड़ा, गाली-गलौज, निन्दा-स्तुति, ईर्ष्या-द्वेष, आदि का समय ही न मिले। इस प्रकार यह नित्यकर्म का पालन ही आत्मा को भारी--दूषित करने वाले कर्मों से साधु का निवारण करता है। और इससे उसकी संयम-साधना अधिक प्रगतिमान् हो जाती है। (१६६)

[ऊपर वाले श्लोक के उत्तरार्द्ध का हेतु, नीचे के श्लोक द्वारा अधिक स्पष्ट किया गया है।

प्रमाद दूर करने के लिए समय की मर्यादा ॥१७०॥

यावत्पंचविधिप्रमादविजयो न स्याद्गुणारोहणं।
तावन्नैव मुनेस्ततः प्रतिदिनं रुन्ध्यात्प्रमादाश्रवम् ॥
तद्रोधाय तडागसेतुसदृशी बद्धा जिनेन्द्रैरियं।
मर्यादा समयस्य रात्रिदिनयो रक्ष्या च सा सर्वदा ॥

भावार्थ तथा विवेचन—प्रमाद पाँच प्रकार के हैं—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। इन प्रमादों पर जब तक विजय नहीं प्राप्त किया जाता, तब तक गुणस्थान की उच्च श्रेणी पर नहीं चढ़ा जा सकता। जैन शास्त्रानुसार जब तक प्रमाद नहीं दूर होता, तब तक १४ गुणस्थानों में से छठे से ऊपर नहीं चढ़ा जा सकता; अर्थात्—प्रमाद से आत्म निर्मलता की भावना का अवरोध हो जाता है। इसलिए प्रमादजन्य आश्रव मुनि को रोकना चाहिए। आश्रव, यानी पाप के आगमन का द्वार। इस द्वार का इस प्रकार बन्द करना चाहिए कि जिस प्रकार पानी को रोकने के लिए तालाब का बांध बनाया जाता है। इस प्रकार बाँध बनाने की आवश्यकता पर विचार करके जिनेन्द्र भगवान् ने साधु-मुनियों के लिए रात्रि और दिवस के नित्य कर्मों की मर्यादा बनाई है, जिनका वर्णन पहले के दो श्लोकों में किया गया है। यदि इन नित्यकर्मों का यथाविधि पालन किया जाय, तो प्रमाद दूर होकर साधक की साधना भी विजय के साथ प्रगतिमान हो जाय। इसलिए, प्रमाद दूर करने वाले नित्यकर्मों के अनुसार प्रत्येक साधु को सर्वथा आचरण करना ही चाहिए—इसी में उसका सच्चा हित है। (१७०)

[नित्यकर्म के पालन में, विशेषतः उसके हेतु का पालन करने की ओर दृष्टि रखने के लिए सूचित करते हुए ग्रन्थकार यह प्रदर्शित करते हैं कि कालक्रम के उल्लंघन के समय, नित्यकर्म के हेतु का रक्षण करने के लिए क्या करना उचित है।]

कालक्रम का उल्लंघन होने पर भी कालमान का उल्लंघन न करना चाहिए ॥ १७१ ॥

देशाचारविशेषतो मधुकरीकाले यदि व्यत्यय—

स्तत्रापि प्रहरद्वयं तनुकृते निद्राशनादिक्रिया ॥
ध्यानार्थं परिपूर्णयामयुगलं स्वाध्यायसंसिद्धये ।
रद्वयं यामचतुष्टयं मुनिवरैर्नो कालमानोत्क्रमः ॥

भावार्थ और विवेचन—दिन का एक पहर आहारादि शरीर कृत्यों के लिए और रात्रि का एक पहर निद्रारूपी शरीर कृत्य के लिए नित्य कर्म में निश्चित किया गया है। यह, ऊपर के दो श्लोकों में हम देख गये हैं। इन दो पहरों को छोड़ने पर, रात और दिन के कुल छः पहर स्वाध्याय, आवश्यक-प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, ध्यानादि के लिए रखे गये हैं। कारणवशात् यदि काल के अनुक्रम में परिवर्त्तन करना पड़े, तो करना चाहिए? इसके लिए इस श्लोक में कहा गया है कि यदि इस अनुक्रम का उल्लंघन करना पड़े, तो भी शरीर कृत्यों और धर्म कृत्यों के काल मान का उल्लंघन न करना चाहिए। उदाहरण स्वरूप, किसी जगह मधुकरी के लिए तीसरा पहर अनुकूल न हो, तो दूसरा पहर हो सकता है। छोटे गाँवों में किसानों की वस्ती होती है और किसान लोग वहुधा भोजन कार्य जल्दी समाप्त करके, खेती के काम के लिए निकल जाते हैं; इसलिए ऐसी जगहों में दूसरे पहर के समय गोचरी करनी पड़ती है; अन्यथा कदाचित् एषणीय आहार-जल मिलना असंभव हो जाता है। ऐसी दशा में, तीसरे पहर का गोचरी का कार्य दूसरे पहर में पूर्ण करके, दूसरे पहर का स्वाध्यायादि का कार्य तीसरे पहर में करना चाहिए। अर्थात्—काल-क्रम में परिवर्त्तन किया जा सकता है। परन्तु, स्वाध्यायादि कार्यों के लिए एक पहर निश्चित् कर दिया गया है, उस एक पहर को स्वाध्यायादि के लिए व्यय करना ही चाहिए! तात्पर्य यह है कि दिन के कृत्यों और रात्रि के कृत्यों का क्रमोल्लंघन

करते समय, अक्षरशः पालन न किया जा सके, तो क्रम का उल्लंघन करके भी इन कृत्यों के हेतु का पालन करने के लिए कालमान का तो यथास्थित रक्षण करना ही चाहिए। सब मिला कर, दो पहर निद्रा और आहार के लिए, दो पहर ध्यान के लिए, और चार पहर स्वाध्याय प्रति लेखनादि कार्य के लिए इस प्रकार आठ पहर की व्यवस्था का भली भाँति निर्वाह करना चाहिए। समय को ज़रा भी व्यर्थ न जाने देना चाहिए। और न शरीर कृत्यों के लिए अधिक समय लेना चाहिए कि जिससे शरीर में प्रमाद को प्रवेश करने का तनिक भी अवसर मिल सके।

दृष्टान्त—विनयचन्द्र जी नामक एक मुनि के दो शिष्य थे। एक का नाम धर्मरति था और दूसरे का धर्मानन्द। कालक्रम से धर्मरति बीमार होगया और उसकी बीमारी बढ़ गई; इसलिए धर्मानन्द तथा गुरुजी को उसकी सेवा शुश्रूषा के लिए बहुत समय लगाना पड़ता था। इनसे नित्यकृत्य के नियम का पुनः पुनः उल्लंघन होने लगा। फिर भी गुरु यथाशक्ति शिष्य को नित्यकर्म का उल्लंघन नहीं करने देते थे। एक बार रात के समय धर्मरति की हालत ख़राब होगई—बीमारी बढ़ गई। किसी को रात भर उसके पास रहने की आवश्यकता पड़ी। धर्मानन्द, दिन के अध्ययन का पुरावर्त्तन और स्वाध्याय करके रात के पहले पहर में खाली हुआ, और गुरु के पास आकर कहने लगा—मैं अब ध्यान करने के लिए बैठता हूँ, आज्ञा दीजिए। गुरु ने विचार करके कहा—ध्यान इस समय न करोगे, तो कोई हर्ज नहीं, तुम जाकर सो जाओ। धर्मानन्द शय्या पर जाकर सोने लगा। गुरु ने यह क्रमोल्लंघन इसलिए कराया था कि यदि हो सकेगा, तो वे सारी रात धर्मरति के

पास बैठकर जागेंगे और उसकी हालत सँभालेंगे। परन्तु, यदि उन्हें सोने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तो रात्रि के तीसरे पहर में धर्मानन्द को जगा कर, धर्मरति के पास बिठा देंगे और खुद सो जायँगे। धर्मानन्द जब एक पहर सोकर कुछ जागा, तो गुरु ने कहा—'धर्मानन्द, मुझे नींद आ रही है, और तुम निद्रा ले चुके हो, इसलिए यदि तुम धर्मरति की शय्या के पास बैठकर जागो, तो मैं जरा सो जाऊँ।' धर्मानन्द बोला—गुरुदेव, तीसरे पहर में तो साधु के लिए सोना ही कर्त्तव्य है, और आप मुझ से जागने के लिए कहते हैं, यह ठीक नहीं करते।' गुरु ने समझ लिया कि धर्मानन्द केवल नित्यकर्म को ही जानता है; परन्तु कारणवशात् जब इस क्रम का उल्लंघन करना पड़ता है तब विवेक बुद्धि का जिस प्रकार उपयोग करना चाहिए, यह बात नहीं समझता। परन्तु रोगी की शय्या के निकट शिष्य को यह सब समझाने का समय न था; इसलिए गुरु ने कोई उत्तर नहीं दिया। धर्मानन्द फिर सो गया और गुरु सारी रात जागते बैठे रहे। और धर्मानन्द दो पहर सो चुका। जब प्रातःकाल धर्मानन्द को मालूम हुआ कि धर्मरति की शुश्रूषा के लिए गुरुजी ने सारी रात जागरण किया है, और उसने दो पहर सो कर क्रम का भंग किया है, तब उसे अपने आप समझ में आगया कि उसने प्रमाद के सेवन में ही एक क़दम चढ़ाया था। वह पानी-पानी होगया और गुरु के चरणों में गिरकर बोला—गुरुदेव! मुझे अपने अविनय और प्रमाद के लिए क्षमा कर दीजिए और प्रायश्चित्त कराइए।

[साधु आत्म-हित-साधक से कामना-साधक न बन जाय, इसके लिए ग्रन्थकार एक श्लोक में प्रबोध करके इस दिनचर्या प्रकरण को समाप्त करते हैं।]

मंत्रतन्त्रादि में समय न गँवाना चाहिए ॥१७२॥

नो क्रीड़ा न कुतूहलं जनमनःप्रह्लादनार्योचितं।
नो मन्त्रादिविभूतिमोहजननं नोच्चाटनापादनम् ॥
नोत्पातादिनिमित्तशास्त्रकथनं नो मोहनं मारणं।
किन्त्वात्मोन्नतये विधातुमुचितं स्वाध्याययुक्तं तपः ॥

भावार्थ—स्वाध्यायादि आत्मिककार्य छोड़कर त्यागियों को खेल खिलवाड़ या लोगों को खुश करने के लिए कोई कौतुक आदि न करना चाहिए। इसी प्रकार मंत्रतन्त्रादि की विभूति प्रकट करके लोगों को मोह में न डालना चाहिए। उच्चाटनादि का प्रयोग न करना चाहिए, उत्पातादि निमित्त शास्त्र का प्रकाश न करना चाहिए और न मारण-मोहन विद्याओं की साधना करनी चाहिए। केवल आत्मा की उन्नति के लिए स्वाध्याय, ध्यान, तपादि का अनुष्ठान करना ही त्यागियों के लिए उचित है। (१७२)

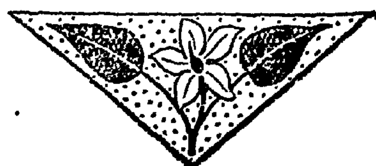
विवेचन—संसार का त्याग, आत्म-हित के लिए है। आत्म-हित की साधना में सांसारिक कर्म बाधक होते हैं, इसलिए उनका त्याग किया जाता है; परन्तु इस त्याग से जो कुछ स्वल्प सिद्धि प्राप्त होती है, उससे भी कई त्यागी पतित हो जाते हैं। योग सिद्धि के लिए साधु बने हुए लोग मदारी की तरह खेल दिखला कर भिक्षा माँग खाने को योग के ८४ आसनों का उपयोग करते हुए देखे गये हैं! इसी प्रकार अनेक त्यागी कहलाने वाले नाम मात्र के साधु सन्त, मंत्रतन्त्रादि के कुतूहल में पड़कर, त्याग की महिमा घटाते हैं, और मंत्रतन्त्रादि हमेशा कामना-युक्त होते हैं, इसलिए वे त्यागी को त्याग से भ्रष्ठ कर

देते हैं। कामनाओं के पीछे लगा रहने वाला, कामना के लिए मंत्रतन्त्रादि का प्रयोग करने वाला, धन कमाने के लिए इन विभूतियों के पीछे लोगों को बहकाने वाला, संसार का त्याग करने पर भी, अधिकाधिक बन्धन में पड़ जाता है। एक समय ऐसा था कि, जैन मुनियों और बौद्ध भिक्खुओं में भी तंत्र विद्या बहुत प्रसारित हो गई थी, और धर्म पतित होने लगा था। परन्तु सच्चे साधु का यह लक्षण नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के १५ वें अध्ययन में कहा है कि—

मंतं मूलं विविहविज्जचिन्तं वमणविरेयणधूमनेत्तसिणाणं।
आउरे सरणं तिगिछियं च तं परिणाय परिव्वए स भिक्खू॥

अर्थात्—मंत्र, जड़ी बूटी, विविध वैद्यक, वमन, विरेचन, आँख के अंजन, विलाप और सान्त्वन आदि का उपयोग, बीमार होने पर जो स्वतः नहीं करता और दूसरों के लिए भी नहीं कराता, वह सच्चा साधु कहलाता है। अपने या दूसरे के शरीर के लिए भी ऐसे प्रयोग करना, आत्म-हित साधक के लिए अनुचित है, इसीलिए ग्रन्थकार ने यहाँ, साधुओं को इन बातों से दूर रहने के लिए आज्ञा की है। तंत्र-मंत्र विद्या के प्रयोगों में वशीकरण, स्तंभन, मोहन, उच्चाटन, मारण और शान्तिकरण आदि विभाग मुख्य हैं। इनमें से किसी का भी उपयोग मुनि को अपने या दूसरों के लिए न करना चाहिये। उपद्रव का शान्तिकरण, किसी का अनिष्ट करने के लिए नहीं है, तो भी उसमें कामना का हेतु समाविष्ट है; इसलिए निष्परिग्रही और निष्काम साधु के लिए वह उचित नहीं है। उसे तो केवल आत्मोन्नति को ही अपना लक्ष्य बनाकर 'स्वाध्याययुक्तं तपः' स्वाध्याय, ध्यान तथा तपादि का ही अनुष्ठान करना चाहिये। यह ध्यान में रखना चाहिये कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं समातीं। आत्मसिद्धि

के लिए धर्मानुष्ठान और कामनासिद्धि के लिए मंत्रानुष्ठान-तंत्रानुष्ठान—दोनों एक साथ नहीं रह सकते। कारण कि वे परस्पर विरुद्ध दिशा में चलने वाले बल हैं। इस समय जहाँ-तहाँ योग-भ्रष्ट योगी और साधु भीख माँगते खाते दिखलाई पड़ते हैं, इसका कारण यही है कि वे एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा पाये। (१७२)



आठवाँ परिच्छेद

साधुसमाज की मर्यादा

[वेदानुयायियों के आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों के प्रणेता जो ऋषि मुनि थे, वे तत्त्वचिंतन के लिए वन में वास करते थे और उनके पास अनेक जिज्ञासु पहुँचा करते थे और इसलिए प्रत्येक गुरु का एक कुल बन जाता था। ऐसे गुरुकुलों में तत्त्वज्ञान और विद्याओं का अध्ययन किया जाता था। इस प्रकार के पुरातन गुरुकुलों का अस्तित्व वेदानुयायी जगत् में आज नहीं रहा; परन्तु ऋषि-मुनियों के तत्त्वज्ञान की वसीयत प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों ने छोटे-छोटे गुरुकुल या पाठशालायें स्थापित करके वेदाध्ययन को किसी प्रकार चालू रखा है। वेदानुयायियों की गुरुकुल संस्थाएँ इस प्रकार विकृत हो गई हैं, फिर भी बौद्ध और जैन धर्म की संघ संस्थायें आज विद्यमान हैं। वेदानुयायी श्रमण इस समय नहीं हैं, सांसारिक ब्राह्मण ही श्रमणों का कार्य ले बैठे हैं; परन्तु जैन श्रमण-संस्थाएँ उत्तरोत्तर अनेक विघ्नों के बीच भी चल रही हैं। इसका कारण है मर्यादा से युक्त साधु-समाज। इस परिच्छेद में, इस समाज की रचना, इसकी उपयुक्तता और इसके अधिकारी वर्ग के कर्त्तव्य का बोध कराया जा रहा है।]

व्यवहार और निश्चय दृष्टि से साधुता ।१७३।।

लिङ्गं सर्वमिदं यदत्र कथितं बाह्यं मुनेर्लक्षणं ।
तस्यावश्यकता मता व्यवहृतेमार्गे समाजाश्रिते ॥

दृष्ट्या निश्चयरूपया त्वभिमतं प्राधान्यमात्मोन्नतेः।
सैवाभ्यन्तरलक्षणं सुविदितं मोक्षस्य संसाधकम्॥

भावार्थ—साधु के वेष और बाह्याचार पर जो कुछ पहले कहा गया है, वह सब साधुत्व का बाह्य लक्षण है। समाज को साधुत्व का परिचय कराने के लिए, व्यवहार के मार्ग में उसकी आवश्यकता है। निश्चय दृष्टि से तो आत्मोन्नति का ही प्राधान्य अभीष्ट है, और वही मोक्ष को साधने वाला, साधुत्व का प्रसिद्ध आन्तरिक लक्षण है, अर्थात्—आत्म-विकास में ही सच्चा साधुत्व है, और इसीसे साधुत्व का माप हो सकता है। (१७३)

विवेचन—साधुओं के वेष, दिनचर्या, दिनचर्या के विषय का विवेक, दिनचर्या को निर्दोष रखने के नियमन आदि के विषय में जो कुछ पहले बतलाया गया है, वे सब, साधुत्व के बाह्य लक्षण हैं। वे लक्षण संयम का पोषण करते और सच्चा साधुत्व उत्पन्न करने वाले साधन बन सकते हैं, सही; परन्तु बाह्य लक्षणों का पालन ही हमेशा सच्चा साधुत्व नहीं होता। उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन में गौतम, केशीकुमार को समझाते हैं कि साधुओं के छोटे-छोटे बाह्य लक्षण इसलिए बनाये गये हैं कि जिससे लोग उन्हें पहचान सकें। संयम के निर्वाह और ज्ञान ग्रहण के लिए भिन्न-भिन्न वेषों की योजना की गई है। परन्तु, हे केशीकुमार! श्री पार्श्वनाथ और श्री वर्द्धमान भगवान् की यह आज्ञा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ही मोक्ष का साधन हैं, बाह्य लक्षण नहीं।' इस प्रकार देखते हुए समझ में आ जायगा कि साधुता का सारा बाह्याचार, संयम का पोषक होने पर भी, वही साधुता नहीं है। केवल व्यवहार नय की दृष्टि से ही वह साधुता है। तीन वस्त्र धारण करके, ईर्या समिति

का पालन करता हुआ कोई साधु जा रहा हो, उसे हम कहते हैं कि 'वह साधु है।' परन्तु, यह केवल व्यावहारिक उक्ति है। उसका बाह्याचार साधु के समान होने पर भी, उसमें मोक्ष-साधक साधुता है या नहीं, यह हम नहीं जानते, इसलिए निश्चय नय की दृष्टि से हम नहीं कह सकते कि 'वह साधु है।' निश्चय नय से तो वही साधु है कि जिसने सच्ची संयमसाधना करके आत्मा को उन्नति-पथ-गामी बनाया हो; जिसने कर्मों की निर्जरा करके गुण स्थानक की उच्चश्रेणी पर कदम रखा हो और जिसने नये कर्मबन्धन को रोक दिया हो।

शङ्का—व्यवहार दृष्टि से दीख पड़ने वाला साधु, निश्चय दृष्टि से साधु हो या न भी हो, तो व्यवहार दृष्टि की उपयोगिता क्या है और साधुता के बाह्य लक्षणों का, आचार का, वेष का यह सब ढकोसला क्यों करना चाहिए? आत्मोन्नति का सच्चा साधक होने पर भी कदाचित् कोई साधुता के बाह्य लक्षणों का भली-भाँति पालन न करता हो, तो वह असाधु नहीं है, तब फिर यह सब बाह्य लक्षणों का विधान क्या निरुपयोगी नहीं सिद्ध हो जाता? .

समाधान—नहीं, वह उपयोगी है। उन्नति के किसी भी मार्ग का जब अंकन करना होता है, तब सामान्य समाज के अपवाद रूप किन्हीं विशिष्टशक्तिसम्पन्न व्यक्तियों को दृष्टि में रख कर अंकन नहीं किया जाता। समाज के साधारण व्यक्तियों को दृष्टि में रख कर, उनको उन्नत करने के मार्ग का ही रेखांकन होता है। इस प्रकार साधुओं के कर्त्तव्य का रेखांकन, इन सब आचारों द्वारा किया गया है, वह सामुदायिक दृष्टि से ही हुआ है और उनका आचार, किन्हीं विशिष्टशक्तिसंपन्न पुण्यशील

व्यक्तियों के लिए निरुपयोगी भी हो सकता; परन्तु इससे उसकी व्यावहारिक उपयोगिता नष्ट नहीं होती। और, न यह सब ढकोसला ही है; बल्कि सामान्य जनसमुदाय के संयम की रक्षा करने के लिए ही यह लक्षण और आचार नियोजित किये गये हैं। अनुभव ने उसकी उपयोगिता सिद्ध भी करदी है, इसलिए साधुओं को इस व्यवहारदृष्टि का त्याग करना हितकर नहीं है। व्यवहार के 'समाजाश्रित' मार्ग के लिए उसकी जो उपयोगिता ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बतलाई हैं, उसका भी यही अभिप्राय है। व्यवहार दृष्टि की प्रधानता के कारण, बाह्याचारी कुसाधु, संभव है अपने को साधु के रूप में परिचित कराने लगें; परन्तु यदि इस आचार के बन्धन को भी दूर कर दिया जाय, तो किसी भी प्रकार के बाह्याचार का पालन न करके, निश्चय दृष्टि से साधु कहलाने वाले ढोंगियों से यह संसार अवश्य पट जाय और वे साधु, समाज के लिए शाप बन जायँ। इस प्रकार भी व्यवहार दृष्टि की साधुता उपयोगी सिद्ध होती है।

दृष्टान्त—चक्रवर्ती भरत को, शीशमहल में आभूषणों का मोह दूर हो जाने पर, आत्मिक दिव्य स्वरूप का भान हुआ और केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। इसके बाद उन्होंने दीक्षा ग्रहण करली। माता मरुदेवी, जब प्रथम जिनेश्वर–अपने पुत्र–भगवान् श्री ऋषभदेव को वन्दना करने जा रहीं थीं, तब अपने पुत्र को, तीर्थंकर के दिव्य रूप में देख कर यह भान हुआ कि कोई किसी का नहीं है, और यह भाव होते ही मोहनीय कर्म को तोड़ दिया और उसी समय केवल ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को वरण किया। इस दृष्टान्त में भरत को जहाँ पहले केवल ज्ञान हुआ और बाद में उन्होंने साधु वेष धारण किया, वहाँ माता मरुदेवी को बिना दीक्षा लिए केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया था,

यह बतलाया गया है कि जैन धर्म में बाह्याचार का महत्त्व आवश्यकता से अधिक नहीं आँका गया है और आत्मोन्नति को ही सच्चा महत्त्व दिया गया है। (१७३)

व्यवहार-दृष्टि से साधुओं के आचार की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता साधुओं को उनके अध्ययन-आचारादि में नियंत्रित रखने की है। निम्नलिखित श्लोक में ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि ऐसे नियामक कौन और कितने होने चाहियें।]

आचार्य और उपाध्याय ।१७४।।

गच्छे साधुसमाजरक्षणकृते सङ्घेन संस्थापितः।
स्यात्सर्वोत्तमसाधुताङ्कितमतिः सन्नायकश्चैककः ॥
एवं शास्त्रविदग्रणीर्गुणमणिः स्यात्पाठकोऽप्येकको-
नाचार्येण च पाठकेन रहितो गच्छो भवेच्छोभनः ॥

भावार्थ—गच्छ या साधु-सम्प्रदाय के साधु-समुदाय का रक्षण करने के लिए, संघ को एक ऐसे नायक अथवा आचार्य की संस्थापना करनी चाहिये, कि जिसमें सब से श्रेष्ठ उच्चकोटि की साधुता हो और जो अच्छी शास्त्र सम्पत्ति रखता हो। और किसी ऐसे व्यक्ति को पाठक-उपाध्याय—नियत करना चाहिये, जो शास्त्रवेत्ताओं में अग्रणी तथा समभावादि गुणों से भूषित हो। आचार्य तथा उपाध्याय से हीन गच्छ या सम्प्रदाय शोभा नहीं देता। (१७४)

विवेचन—जैसे वेदानुयायियों का गुरुकुल होता है, वैसे ही जैन साधुओं के गुरुकुल को 'गच्छ' कहा जाता है और यह साधु-समुदाय छोटी-मोटी टोलियों में सतत विहार करता रहता

है; इसलिए एक जंगम गुरुकुल ही होता है। यदि साधुओं के एक बड़े समुदाय की आचारादि व्यवस्था ठीक रखने के लिए एक नायक या आचार्य न हो, तो वह समुदाय उसी प्रकार विश्रृंखल हो जाता है, सड़ जाता है या पतित होने लगता है, जिस प्रकार सेनापति या मार्ग-दर्शक नेता के बिना सेना अंधी-सी हो जाती है। इस प्रकार एक नायक के रूप में आचार्य की संस्थापना, गच्छ—सम्प्रदाय या गुरुकुल में करनी चाहिये कि जो समस्त मुमुक्षुओं को नियमन में रखें, उनके आचारादि पर अंकुश रख सकें, मार्ग से भ्रष्ट होने पर उन्हें चेतायें और पुनः सन्मार्ग पर लायें। आवश्यकता पड़ने पर प्रायश्चित्त करायें और यदि कोई साधु उन्मार्ग का ही आग्रही हो, तो उसे गच्छ या सम्प्रदाय से बहिष्कृत भी कर दें। ऐसा नेता, नायक या आचार्य, हमेशा श्रेष्ठ साधुत्व और शास्त्र सम्पत्ति से युक्त होना चाहिये। कारण कि बिना ऐसी योग्यता के वह अपने उत्तर-दायित्व का भली भाँति निर्वाह नहीं कर सकता। आचार्य के साथ सम्प्रदाय में एक पाठक या उपाध्याय भी होना चाहिये। आचार्य सर्व श्रेष्ठ और शास्त्र सम्पत्ति से युक्त होता है और वह साधारण छोटे-मोटे साधुओं को शास्त्राध्ययन कराने की सामर्थ्य रखता है; परन्तु इन सब कामों में उसकी मदद करने के लिए उपाध्याय की आवश्यकता होती है कि जो साधुओं के अध्ययन का भार अपने ऊपर लेले और आचार्य का भार कम कर दे। यह उपाध्याय शास्त्रवेत्ता तथा समभाव वाला होना चाहिये। इस प्रकार गच्छ या सम्प्रदाय में एक आचार्य और एक उपाध्याय की आवश्यकता है, कि जो साधु-समुदाय को नियमन में रख कर उन्हें सतत आत्मकल्याण के मार्ग पर लगाता रहे और परोपकार करे। इनकी यह परोपकारिता कितनी अधिक मूल्यवान् है? पंचपरमेष्ठी के नमस्कार महामंत्र में—नवकार मंत्र में भी उनको

स्थान दिया गया है—'नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं' इन दो पदों को कौन नहीं जानता ? (१७४)

[आचार्य की योग्यता और उनके कर्त्तव्य कर्म का बोध नीचे के दो श्लोकों में कराया गया है ।]

आचार्य की योग्यता ।१७५॥

सर्वेषां हितसाधने समदृशा शक्तिर्यदि स्यात्परा ।
सम्पत्स्यात्सकलाऽपि शास्त्रविहिताचार्यस्य योग्योदित
आद्यं सूरिपदं समुन्नततरं तेनैव मेधाविना ।
नोचेद्दत्तमपि स्वयं हितधिया त्याज्यं विलम्बं विना ॥

भावार्थ—साधु-साध्वी आदि चतुर्विध संघ को समदृष्टि से देखने और सब का समान हित-साधन करने की जिसमें परम-शक्ति हो, और शास्त्रकथित आचार्य के योग्य सर्व प्रकार की सम्पत्ति जिसके पास विद्यमान हो, उसी मेधावी पुरुष को उच्च-कोटि का आचार्यपद स्वीकार करना चाहिये । यदि ऐसी योग्यता न हो, तो संघ के द्वारा दिया हुआ सूरिपद भी, समाज के हित के लिए, विना विलम्ब उसे त्याग देना चाहिये । (१७५)

आचार्य का कर्त्तव्य ॥१७६॥

गच्छाचारसुपालनं स्वयमलं गच्छव्यवस्थापनं ।
भाविक्लेशनिदानबीजदहनं ज्ञानक्रियोद्धारणम् ॥
धर्मोत्साहविवर्द्धनं जगति सद्धर्मस्य संचारणं ।
सङ्घे स्वास्थ्यसमाधिसाम्यजननं कृत्यं हि सूरेरिदम्॥

भावार्थ—गच्छ के आचार्य को चाहिए कि गच्छ के साधु-

साध्वी-समुदाय में शास्त्रमर्यादानुसार आचार का पालन करायें, अपनी ओर से गच्छ की व्यवस्था भली भाँति करें, भविष्यत् में कोई क्लेश उत्पन्न होना संभव प्रतीत हो, तो उसका मूल-कारण खोजकर क्लेश के बीज को नष्ट कर डालें, ज्ञान और क्रिया-चारित्र का उद्धार करें, समाज में धर्म का उत्साह बढ़ायें, जगत् के चारों कोनों में धर्म का संचार करें। संघ में स्वस्थता, समाधि और समभाव की प्रवृत्ति उत्पन्न करें। यह सब आचार्य का कर्त्तव्य है। (१७६)

विवेचन—आचार्य, समस्त साधु-समाज का नियामक होता है; इसलिए, साधु समाज का संरक्षण करने के लिए उसे अपने सम्प्रदाय से समस्त साधुओं का एकसमान हित साधन करने की समदृष्टि रखनी ही चाहिए, यह प्रकट है। ऐसी समदृष्टि वाला और समर्थ साधु ही आचार्य हो सकता है, और यदि यह योग्यता उसमें न हो, तो साधु-समाज में अनेक प्रकार के उपद्रव और विद्रोह उठ खड़े होते हैं। कारण, कि साधुओं के स्वभाव भी मनुष्यस्वभाव के समान ही होते हैं। इसके सिवा आचार्य में शास्त्र-कथित सर्व सम्पदाएँ भी होनी चाहिएँ। यह सम्पदाएँ दशाश्रुतस्कंध सूत्र में बतलाई गई हैं—(१) आचार सम्पदा—महाव्रत, समिति, गुप्ति, १७ प्रकार के संयम, १० प्रकार के यतिधर्म आदि अखंड आचार का पालन करे और सङ्घ को शुद्धाचार में प्रवृत्त करे; आठ प्रकार के मद से, अहंकार से और क्रोधादि से रहित हो; द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार प्रकार के प्रतिबंधों से रहित हो; चपलताहीन, इन्द्रियों का दमन करने वाला, त्यागवृत्ति रखने वाला और आचारवान् होना चाहिए। (२) सूत्र संपदा—बहुश्रुत हो, स्वसमय तथा परसमय जानने वाला हो, अर्थात्—सर्वसूत्रों का पारगामी और

वादी और प्रतिवादी को उत्तर देने में समर्थ हो; जितने आगमों को पढ़े, उनको निश्चय रूप से धारण करे, शुद्ध स्पष्ट उच्चारण करे। (३) शरीर संपदा—प्रमाणोपेत ऊँचा पूरा शरीर हो; दृढ़ संहनन हो, सब इन्द्रियों से युक्त हो, हाथ आदि अंगोपाङ्ग सुन्दरशोभनीय हों कि जिससे उनका दर्शन दूसरों के लिए प्रिय कारी हो। (४) वचन-संपदा—ऐसा बोलने वाला हो कि दूसरे लोग मान जायँ; अर्थात्—भली भाँति विचार करके बोले; मधुर, कोमल और गंभीर वचन बोले, अप्रतीतिकारी वचन न बोले। (५) वाचना सम्पदा—प्रामाणिक शिष्य को वाचना देने की आज्ञा दे; वाचना लेने वाले शिष्य का उत्साह बढ़ाये और क्रमशः वाचना दे, वाचना को भलीभाँति समझाए और अपवाद का रहस्य भी अच्छी तरह समझादे। (६) मति-सम्पदा—किसी भी बात को शीघ्र, सही रूप में और बिना दूसरों की सहायता के ग्रहण करले; सुने, समझे, उसके विषय में भली भाँति विचार करे; किसी भी बात या वस्तु का निश्चय करे और कोई भी बात या वस्तु सुनी या देखी न हो, कठिन हो, तो भी बिना दूसरे की सहायता के ग्रहण करले। (७) प्रयोग-सम्पदा—किसी वादी के साथ शास्त्रार्थ करना हो, तो पहले अपनी शक्ति, ज्ञान तथा वादी की शक्ति ज्ञान आदि का विचार करे, क्षेत्र अनुकूल है, या प्रतिकूल; राजा प्रजा अनुकूल हैं, या प्रतिकूल; सुशील हैं, या दुःशील, आदि बातों का विचार करे, स्व और पर का विचार करे यानी शास्त्रार्थ के फल का विचार करे, इससे जैन धर्म के प्रति राजा-प्रजा का प्रेम घटेगा या नहीं, आदि बातों का विचार करे; वादी किस विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहता है और उसका ज्ञान अपने में कितना है—यह सब विचार करके ही शास्त्रार्थ का प्रयोग करे। (८) संग्रह-सम्पदा—क्षेत्र संग्रह, अर्थात्—ग्लान, वृद्ध, रोगी वगैरः के लिए गच्छ के

साधु, क्षेत्र का संग्रह करें और विचारें कि अमुक साधु के अमुक क्षेत्र में रहने से उसकी संयम यात्रा का निर्वाह होगा और श्रोता को लाभ पहुँचेगा। शीतोष्ण या वर्षा ऋतु के लिए साधु-समाज के लिए आवश्यक उपकरणों का खयाल रखे, ज्ञान और ज्ञानार्थियों का संग्रह करे, समय आने पर उनका उपयोग, शासन के कार्य में करे। शासन को शोभित करने वाले सुशिष्य की सम्पदा का संग्रह करे। इस प्रकार की समस्त सम्पदाएँ यदि आचार्य में होती हैं, तो वह सम्प्रदाय के प्रमुख के रूप में अपना कर्त्तव्य यथायोग्य प्रकार से पालन कर सकता और साधु-समाज को सुयोग्य नियमन में रखके उनको उन्नति-पथानुगामी बना सकता है। जो साधु दीक्षा या चरित्र में समय की दृष्टि से बड़ा होता है, उसे अधिक योग्य समझने की सामान्य प्रथा है और इसी से कई सम्प्रदायों में दीक्षा के कारण बड़े माने जाने वाले साधु को आचार्य-पद दिया जाता है; परन्तु यदि ऐसे साधुओं में आचार्य की सम्पदाएँ पूर्ण रूप में नहीं हों, तो वह आचार्य के पद को भलीभाँति वहन नहीं कर सकता। कदाचित् साधु के बड़प्पन के प्रति सम्मान-भाव या विनयन की दृष्टि से ऐसे साधु को आचार्य-पद दिया जाता हो, तो उसे साधु तथा श्रावक-समाज के हित के लिए अपने आप ही इस पद का त्याग देना चाहिए और किसी अन्य सम्पदा-युक्त सुसाधु को यह पद देने के लिए कहना चाहिए। शास्त्र-कार ने इन सब सम्पदाओं की जो आवश्यकता प्रकट की है, वह उचित है—आचार्य के कर्त्तव्य का विचार करते हुए यह साफ़ प्रकट हो जाता है। साधु-समुदाय को शास्त्र-विहित आचारों का पालन कराने वाला मार्ग-दर्शक और उनका रक्षक आचार्य ही है। उसे भली-भाँति साधु-समुदाय की व्यवस्था रखनी पड़ती है, अर्थात्—साधुओं को उनका कल्याण करने वाली और श्रावकों का भी हित करने

वाली आज्ञाएँ दीर्घदृष्टि पूर्वक देनी पड़ती हैं। साधुओं के स्वभाव-भेद के कारण या अन्य किसी कारण से कोई क्लेशजनक उपद्रव होना सम्भव प्रतीत होता है, तो उस क्लेश की चिकित्सा करके उसका निदान खोजना और उसे नष्ट कर देने का भार भी आचार्य पर ही है। ज्ञान और क्रिया-चारित्र जो कि मोक्ष तक पहुँचाने के लिए रथ के दो पहिये हैं, उनका उद्धार कर के इस रथ को गतिमान् रखना, समाज में धर्मोत्साह बढ़ाना, धर्म का सर्वत्र प्रचार करना और तद्विषयक योजनाएँ करके अपने अङ्गोपाङ्ग रूपी साधुओं-द्वारा उसे अमल में लाना, संघ में शान्ति, स्वस्थता, समता प्रसारित करना आदि अनेक कार्यों का भार भी आचार्य पर है। उपर्युक्त आचार सूत्र, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोग और संग्रह-विषयक सम्पदाएँ यदि आचार्य में न हों या कम हों, तो वह सम्प्रदाय का जहाज सुष्ठु गति से नहीं चला सकता और न अपना भार भली-भाँति उठा सकता है। इस प्रकार कर्त्तव्य-भार की दृष्टि से देखने पर आचार्य की सम्पदाओं का मिलान भली-भाँति हो जाता है। (१७५-१७६)

[अब इस श्लोक में उपाध्याय का कर्त्तव्य बतला कर ग्रन्थकार इस परिच्छेद को समाप्त करते हैं :]

उपाध्याय का कर्त्तव्य ॥ १७७ ॥

पाठ्याः पुत्रदृशा सदैव मुनयः सर्वेऽपि विद्यार्थिनो।
नो चौर्यं न च पक्षपातकरणं तत्त्वार्थपाठे कदा ॥
सच्छैल्या पठनार्हशास्त्ररचना कार्या पुनर्नव्ययो—
पाध्यायेन विचक्षणेन समये स्वीये परस्मिंस्तथा ॥

भावार्थ तथा विवेचन—उपाध्याय का कार्य मुख्यतः पाठन

है। अर्थात्, मुमुक्षु साधु विद्यार्थियों को शास्त्र-पठन कराना पड़ता है। इसलिए उपाध्याय को शास्त्र-पारंगत, स्व-समय—स्वदर्शन और परसमय परदर्शन में भी निष्णात होना चाहिए, इसमें तो कोई सन्देह नहीं; परन्तु अपना ज्ञान अन्य साधुओं को देते हुए, पढ़ाते हुए, उन्हें इस प्रकार देखना चाहिए कि जिस प्रकार एक वत्सलपिता अपने पुत्रों की ओर देखता है। समझदार पिता स्वभावतः पुत्रों के प्रति सुकोमल दृष्टि रखता है और प्रत्येक पुत्र के प्रति भेद-भाव या पक्षपात नहीं रखता। सबकी ओर समदृष्टि से देखता है। इसी प्रकार उपाध्याय को समदृष्टि से समस्त विद्यार्थियों को शास्त्रीय तत्त्वों का ज्ञान कराना चाहिए। विद्यार्थी से ज्ञान चुराना न चाहिए। अर्थात् शास्त्र का अर्थ गुप्त न रखना चाहिए। इसी प्रकार किसी को कम और किसी को अधिक शिक्षा देने का भेद-भाव या पक्षपात न करना चाहिए। शास्त्रीय तत्त्वों का ज्ञान सरलता से कराने वाली नई-नई शैलियों में पढ़ने योग्य शास्त्रों की रचना करनी चाहिए। साधु-समाज के प्रति यही एक विचक्षण उपाध्याय का कर्त्तव्य-कर्म है। (१९७)



नवाँ परिच्छेद

तपश्चर्या

तपश्चर्या ॥१७८॥

**स्वाध्याये न मनोरुचिर्यदि भवेन्मान्द्यान्मतेः कस्यचि
द्ध्याने नापि मनःस्थितिर्गुरुगमाभावाच्चलत्वाद्धृदः ।
तस्याभ्यन्तरशुद्धये त्वनशनादिद्वादशानां पुराऽ-
नुष्ठानं तपसां यथाक्रममिदं निष्काममावश्यकम् ॥**

भावार्थ—मन्द बुद्धि होने के कारण यदि स्वाध्याय में साधु की रुचि न हो और गुरुगम के अभाव से या हृदय की चंचलता से ध्यान में मन स्थिर न होता हो, तो साधु को आभ्यन्तर शुद्धि के लिए निष्कामवृत्ति से क्रमशः अनशन आदि बारह प्रकार के तपों का, अनुष्ठान करना आवश्यक है। (१७८)

विवेचन—पहले, साधु के दिन के कृत्यों में शरीर कृत्यों के सिवा पूरा समय स्वाध्याय और ध्यान में व्यतीत करने का विधान किया है। मोक्ष के ध्येय तक पहुँचने के लिए यही दो क्रियाएँ आवश्यक हैं। और शरीर कृत्य, देह के निर्वाह के लिए आवश्यक है। स्वाध्याय और ध्यान में हम गीता के ज्ञानयोग और भक्तियोग की झंकार सुनते हैं। ज्ञान का साधन स्वाध्याय है और भक्ति का साधन ध्यान है। ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यात्। ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः। भक्त्या मामभिजानाति। इत्यादि पृथक्-

पृथक् वाक्यों में से किसी में ज्ञान की, किसी में भक्ति की, और किसी में ज्ञान और क्रिया की साधना द्वारा मोक्ष-प्राप्ति बतलाई गई है। परन्तु, वस्तुतः ज्ञान और भक्ति का परस्पर सम्बन्ध है। महात्मा गाँधीजी कहते हैं कि 'त्याग शक्ति उत्पन्न करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकार का ज्ञान तो बहुतसे पंडित पा जाते हैं।। वेदादि उन्हें कण्ठ होते हैं परन्तु इनमें से बहुत से लोग भोगादि में लिप्त रहते हैं।' इसलिए ज्ञान के साथ भक्ति चाहिए। परन्तु ज्ञान से रहित भक्ति का अतिरेक कैसा होता है? गांधी जी कहते हैं कि 'जो लौकिक कल्पना में भक्त है, वह त्रिलज्ञा है, ठलुआ है, माला लेकर जप करने वाला है, सेवा कार्य करते हुए भी उसके जप में विक्षेप होता है। इसलिए वह खाने पीने आदि भोग भोगने के समय ही माला को हाथ में से अलग रखता है। चक्की चलाने केलिए या रोगी की सेवा सुश्रूषा करने के लिए कभी नहीं।' इसलिए भक्ति के साथ ज्ञान भी चाहिए। अकेला ज्ञान, या अकेली भक्ति मोक्ष देने वाली नहीं होती। ज्ञान के परिणाम से भक्ति अपने आप उत्पन्न होती है। इस जन्म में नहीं तो जन्मान्तर में होती है और भक्ति के परिणाम से ज्ञान अपने आप उत्पन्न होता है। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति अन्योन्यपूरक होकर मोक्ष का साधन बन जाते हैं। गीता इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहती है कि 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति॥' बहुत-बहुत जन्मों के बाद ज्ञानवान् मनुष्य प्रभु को पहचान और समझ पाता है कि सारा संसार प्रभुमय ही है। इसी प्रकार भक्ति के लिए कहा है कि 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।' अर्थात्— भक्ति से मनुष्य को प्रभु के विषय का तात्विक ज्ञान होता है। इस प्रकार भक्ति द्वारा ज्ञान का और ज्ञान द्वारा भक्ति का योग होने पर वह मोक्ष-प्राप्ति का साधन बनता है। परन्तु किसी की

मति ऐसी मन्द हो कि ज्ञानप्राप्ति के लिए स्वाध्याय में उसकी रुचि न हो और अभ्यास करने पर भी उसमें प्रगति न हो पाये; और इसी प्रकार किसी का हृदय ऐसा चंचल हो या गुरुगम का अभाव हो कि जिससे भक्ति के साधन में भी मन प्रवृत्त न होता हो, तो क्या करना चाहिए? स्वाध्याय और ध्यान किंवा ज्ञान और भक्ति, दोनों के अधिकारियों को ज्ञान और भक्ति के अधिकारी बने सिवा तो निर्वाह ही नहीं हो सकता; कारण कि इनके बिना मोक्ष के ध्येय पर नहीं पहुँचा जा सकता। अनधिकारी को अधिकारी बनाने का साधन है—तपश्चर्या। अनशन आदि बारह प्रकार के तपों का यथाक्रम निष्काम वृत्ति से सेवन करने पर आभ्यन्तर की शुद्धि हो सकती है और यह शुद्धि होने पर ज्ञान और भक्ति तथा स्वाध्याय और ध्यान में मन प्रगतिमान् हो जाता है। इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि—

> जहा महा तलागस्स संनिरुद्धे जलागमे।
> उस्सिचणाए तवणाए कम्मेण सोसणा भवे॥
> एवन्तु संजयस्सापि पापकम्म निरासवे।
> भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।

अर्थात्—जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के पानी आने के मार्ग को रोक देने से और तालाब के पानी को उपयोग में लाने तथा सूरज की गर्मी पड़ने से वह धीरे-धीरे सूख जाता है, उसी प्रकार यदि साधु पाप कर्मों के आने के मार्ग को रोक दे, और तप करे, तो कोटि-कोटि जन्मों के लगे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाय। मनु भी कहते हैं कि 'तपसा कल्मषं हन्ति' तप से मन का मैल नष्ट होता है, यानी आभ्यन्तर की शुद्धि होती है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' अर्थात्—यदि श्रद्धावान् पुरुष

ज्ञान के पीछे लग जाय और इन्द्रिय-निग्रहरूपी तप का आश्रय ले, तो वह ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान और भक्तिरूपी बीज के प्रतिकूल मनरूपी खेत को, अनुकूल बनाने के लिए तप का अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकार के अनुष्ठान से ही चित्तक्षेत्र में ज्ञान-भक्ति के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं और स्वाध्याय तथा ध्यान में रुचि उत्पन्न होती है। पतंजलि भी इसी विधान की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि क्रियायोगः' अर्थात्—तपश्चर्या, स्वाध्याय और ईश्वर का प्रणिधान, यानी ध्यान ही क्रिया योग—कर्मयोग—है। इसी क्रियायोग का प्रतिपादन करने की ओर यहाँ ग्रन्थकार का लक्ष्य रहा है और अगले परिच्छेदों में भी रहेगा। (१७८)

[तप, शरीर का विषय है; और इन्द्रिय-निग्रह मन का। और मुक्ति तो मन के द्वारा ही प्राप्त होनी चाहिये। तब, तप से मन को किस प्रकार लाभ पहुँच सकता है? इस स्वाभाविक शङ्का का निरसन ग्रन्थकार निम्नलिखित श्लोक द्वारा करते हैं।]

बाह्य तप से आभ्यन्तर तप में प्रवेश ।१७९॥

आरभ्याऽनशनाच्च बाह्यतपसो गन्तव्यमभ्यन्तरे ।
वैयावृत्त्यपथेन शान्तिनिरतैर्व्युत्सर्गनिष्ठावधि ॥
तच्चैवैहिकपारलौकिकसुखप्राप्तीच्छयाऽप्यल्पया ।
नो कीर्तिस्तुतिवाञ्छयाऽपितु निराकर्त्तुं पुरा कर्मणाम् ॥

भावार्थ—बाह्य तप के प्रथम प्रकार अनशन—उपवास से आरम्भ करके दूसरे-तीसरे आदि बाह्य तपों का अनुष्ठान करते हुए वैयावृत्य के मार्ग से व्युत्सर्ग तप की निष्ठापर्यन्त पहुँचना चाहिये। यह तपोनुष्ठान भी इस लोक या परलोक के सुख की

प्राप्ति, या कीर्ति तथा स्तुति की तनिक भी इच्छा से नहीं; बल्कि पूर्व कर्मों का निराकरण करने के लिए ही करना चाहिये। (१७६)

विवेचन—बाह्य तप, आभ्यन्तर तप में प्रवेश करने का द्वार है। और, इसीलिए बाह्यतप की आवश्यकता है। कई लोग बाह्य तप के लाभ समझते हुए, शारीरिक लाभों को भली भाँति समझा देते हैं। उपवासादि करने से शरीर स्वस्थ रहता है और ऊनोदरी करने से रोग नहीं उत्पन्न होते, या अमुक संख्या में उपवास करने से अमुक रोग दूर हो जाते हैं—यह सब शारीरिक लाभ, तपके हैं, सही; परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि-बिन्दु से—कर्म की निर्जरा के हेतु से तप करने वालों को भूल न जाना चाहिये कि शरीर की स्वस्थता ही तप का लक्ष्य नहीं है। तप तो चित्त-शुद्धि के लिए, वृत्तियों का दमन करने के लिए और वासना की प्रबलता को दूर करने के लिए किया जाता है। और अगर इसके लिए शरीर की स्वस्थता का कुछ अंश त्यागना पड़ता हो, तो उसे त्यागकर भी तप करना, उसका आध्यात्मिक लक्ष्य है। जब तक इस दृष्टि-बिन्दु से तप न किया जाय, तब तक बाह्य तप आभ्यान्तर तप का प्रवेश द्वार नहीं बन सकता और तप द्वारा चित्त-शुद्धि करने का हेतु सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए, एक के बाद एक बाह्य तप के अनुष्ठान करते हुए आभ्यन्तर तप में प्रवेश करना ही उपयुक्त है और बाह्य तप का यही हेतु है। बाह्य तप के छः प्रकार हैं—अनशन यानी उपवास, ऊनोदरिक यानी भूख से कम खाना, भिक्षाचर्या यानी घर-घर घूमकर भिक्षा माँगकर खाना, रस-परित्याग यानी स्वादिष्ट भोजन का त्याग या जिह्वा-लोलुपता पर विजय, कायक्लेश यानी गर्मी सर्दी का सहन करना; और प्रतिसंलेखना यानी शयन-आसन

में निःसंग तथा स्थिर रह कर इन्द्रिय निग्रह करना—तथा कषायों का घटाना क्रमशः यह छः प्रकार के तप करने से आभ्यन्तर तप में यानी चित्त-शुद्धिकारक तप में प्रवेश किया जाता है। शारीरिक तप से शारीरिक विषयों का दमन होता है और शारीरिक विषयों के दमन से मानसिक विषयों का उत्पात शान्त होने लगता है, इसी कारण बाह्य तप को आभ्यन्तर तप का प्रवेश द्वार कहा गया है। परन्तु यदि इस बाह्य तप को शारीरिक दृष्टि से—शारीरिक स्वास्थ्य के लिए किया जाय, तो इसमें आभ्यन्तर लाभ नहीं होता। या इस जन्म में तपरूपी शारीरिक कष्ट सहने से, दूसरे जन्म में देवलोक की ऋद्धि प्राप्त होगी—यह इप्सा रखने पर भी अभ्यन्तर लाभ नहीं होता। इसलिए ग्रन्थकार ने पूर्व श्लोक में 'निष्कामम्' शब्द का उपयोग किया है और इस श्लोक में भी इसी शब्द के विवरण रूप से कहा गया है कि पारलौकिक सुख, कीर्ति, स्तुति इत्यादि की वाञ्छना के बिना पूर्व कर्मों की निर्जरा करने के लिए ही तप करना चाहिए। सफल तप के लिए कहा गया है कि—'निर्दोषं निर्निदानाढ्यं तन्निर्जराप्रयोजनम्। चित्तोत्साहेन सद्बुद्ध्या तपनीयं तपः शुभम्॥' अर्थात्—निर्दोष, कामना रहित और केवल निर्जरा के लिए, सद्बुद्धि के द्वारा मन के उत्साह से तप करना शुभ है। इस समय श्रावक-श्राविकाएँ बहुत बाह्य तप करते हैं; परन्तु उनमें बहुत कम आभ्यन्तर दृष्टि बिन्दु होता है। और, जो कुछ थोड़े बहुत लोग बाह्य तप का हेतु आभ्यन्तर तप में प्रवेश करना समझते हैं, वे भी तप में क्रम या नियमितता नहीं रखते, इसलिए वह आभ्यन्तर दृष्टि बिन्दु को निष्फल कर देता है। निरन्तर उपवास ही करते जाना, आयंबिल ही करना या एकाशन ही करते रहना, और तप का समय पूर्ण होते ही उनका त्याग करके सब प्रकार के आहार-विहार आरंभ कर देना,

शारीरिक तप के सारे प्रभाव को नष्ट कर देता है और सब वासनाएँ और वृत्तियाँ पूर्ववत् अनियंत्रित होकर नाच रंग करने लगती हैं। इस प्रकार बाह्य तप निष्फल सिद्ध हो जाता है। इस निष्फलता के सिद्ध न होने के लिए पूर्व श्लोक में ग्रन्थकार ने 'यथाक्रमम्' अर्थात्—क्रम रख कर तपश्चर्या करने के लिए कहा है और इस श्लोक में अनशन से आरंभ करके, एक के बाद एक प्रकार का तप करने का सूचन किया है। यह क्रम त्याग देने से, या कुछ तप करके इन्द्रियों को फिर स्वतन्त्र छोड़ देने से, तप के लाभ भी नष्ट हो जाते हैं। ऊपर बतलाये हुए बाह्य तपों को अनुक्रम से करके, छः प्रकार के आभ्यन्तर तपों में प्रवेश करना चाहिए। वे छः प्रकार के तप ये हैं:-प्रायश्चित्त यानी गुरु के निकट पाप की आलोचना करना और किये हुए पापों पर पश्चात्ताप करना; विनय यानी गुरु के प्रति पूर्ण विनय और संमानभाव से व्यवहार करना; वैयावृत्य यानी गुरुआदिक की सेवा करना; स्वाध्याय यानी शास्त्राध्ययन करना; ध्यान यानी धर्मध्यान यानी शुक्लध्यान में निमग्न होना, और व्युत्सर्ग यानी कायोत्सर्ग करना। इनमें भी अनुक्रम ठीक रखने के लिए वैयावृत्य के मार्ग से होकर ठेठ व्युत्सर्ग तक निष्ठापूर्वक पहुँचने का विधान सुघटित रूप में किया गया है। ऊपर बतलाये हुए बाह्य और आभ्यान्तर तप के छः छः प्रकारों के विषय में विस्तार पूर्वक विवेचन अब ग्रन्थ के पिछले भाग में किया जा रहा है। (१७६)

[नीचे के श्लोक में ग्रन्थकार बाह्य तप के आरम्भिक दो प्रकारों—उपवास और ऊनोदरी—के विषय में विवेचन करते हैं]

उपवास और ऊनोदरी ।।१८०।।

एकैकान्तरभोजनेन सततं कृत्वोपवासादिकं।

कार्या वृद्धिरपूर्वशक्त्युदयने यावच्च संस्तारकम् ॥
नो शक्तिर्यदि तावती प्रतिदिनं न्यूनत्वमापादये-
दाहारे वसनादिकोपकरणे भावे कषायात्मके ॥

भावार्थ—तप के इच्छुक को पहले कभी-कभी उपवास करके सतत तपस्या आरंभ करनी चाहिए, पश्चात् एक-एक दिन के अन्तर से उपवास करना चाहिए और ज्यों-ज्यों शक्ति बढ़ती जाय, त्यों-त्यों तपस्या में वृद्धि करते जाना चाहिए और अन्त में संस्तारक तक पहुँचना चाहिए। यदि नित्य या एक-एक दिन के अन्तर से भी उपवास की शक्ति न हो, तो प्रतिदिन ऊनोदरी तप करना चाहिए, यानी जितना भोजन रोज किया जाता है, उसको कम कर देना चाहिए। वस्त्रादि उपकरणों को भी घटा देना चाहिए और क्रोधादि कषायों में भी कमी करनी चाहिए। इस प्रकार द्रव्य और भाव से ऊनोदरी तपका अभ्यास करना चाहिए। (१८०)

विवेचन—यहाँ उपवास और ऊनोदरी तप का विधान संक्षेप में किया गया है। तप करने की शक्ति भी धीरे-धीरे बढ़ानी पड़ती है, कारण कि देह की इन्द्रियों और वृत्तियों ने जिन-जिन विषयों का सेवन अनियंत्रित रूप में किया है, उनसे उन्हें पीछे हटाना, उन्हें नियंत्रित करना और इस प्रकार उन्हें आभ्यन्तर शुद्धि की साधिका बनाना ही तप का हेतु है। इन्द्रियों वृत्तियों पर कठोर प्रहार करके उन्हें ग्लान बना देना तप का हेतु नहीं है और न इससे तप सिद्ध होता है।

रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यनेन तप्यन्ते।
कर्माणि चाशुभानीत्यतस्तपो नामनैरुक्तम् ॥

अर्थात्—रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तथा अशुभ कर्म इससे तपित हो जाते हैं, इसलिए इसका नाम 'तप' रखा गया है। इन्द्रियों, वृत्तियों और अशुभ कर्मों को तपाने वाला तप उन पर प्रहार करने वाला हो ही नहीं सकता। शक्ति से बाहर, दबते हुए या जबर्दस्ती सहन करते हुए उपवासादि तपस्या करना बिल्कुल अनिष्टकारक है, इसलिए कहा है कि—

सो अ तवो कायव्वो जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ।
जेण न इंदिय हाणी जेण जोगा न हायंति॥

अर्थात्—जिस तप के करने से मन दुष्ट न हो, इन्द्रियों की हानि न हो और योग भी नष्ट न हो, वही तप करना चाहिए। इस प्रकार शान्ति-समाधिपूर्वक तप करना और उसमें आगे बढ़ने के लिए धीरे-धीरे क़दम बढ़ाना चाहिए। पहले कई दिनों में उपवास करना चाहिए, फिर एक-एक दिन के अन्तर से करना चाहिए और बाद में एक साथ दो, फिर तीन, फिर चार, इस प्रकार धीरे-धीरे आगे बढ़कर, ज्यों-ज्यों तप करने की शक्ति बढ़ती जाय, त्यों-त्यों पहले बतलाये हुए छहों प्रकार के बाह्य तप सिद्ध करना चाहिए, यानी अन्तिम संस्तारक तक पहुँचना चाहिए। इस विधान में ग्रन्थकार ने 'सततं' शब्द का हेतु-पूर्वक व्यवहार किया है। यद्यपि इस शब्द का, उपवास के कथन के सम्बन्ध में व्यवहार किया गया है, तथापि वह सब प्रकार के बाह्य तपों में 'सततता' को रक्षा करने का द्योतक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, तप, रस-रुधिरादि को तपित करने के लिए है और जब तक विषय कषाय नहीं तपते, तब तक आभ्यन्तर की शुद्धि नहीं होती। यदि स्वल्प तप से, इन्द्रियों-वृत्तियों को कुछ तपा कर तप को छोड़ दिया जाय, तो तपित

वृत्तियाँ ठंडी पड़ जायँ और तप का प्रभाव नष्ट होने पर पुनः विषय-कषाय में प्रवृत्ति होने लगे; इसलिए उपवासादि सर्व प्रकार के तपों को सतत ही करते रहना चाहिए, यही बात यहाँ कही गई है जो उचित ही है। इस प्रकार किया हुआ उपवासादि तप, अभ्यन्तर तप का साधन बन जाता है; अर्थात्—इससे मानसिक शुद्धि होती है—अनेक वैज्ञानिकों ने प्रयोगों के द्वारा इसे सिद्ध किया है। डॉ० एडवर्ड हुकर ने अनेक प्रयोगों के पश्चात् अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि "उपवास से मानसिक बल बिल्कुल क्षीण नहीं होता। कारण, कि मस्तिष्क का पोषण करने वाला तत्त्व मस्तिष्क में ही उत्पन्न होता है। उसका पोषण करने के लिए शरीर के और किसी भाग की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसके लिए अन्न की भी आवश्यकता नहीं है. कारण कि वह स्वतः अपना पोषण करता है और अपना काम नियमित रूप में किये जाता है। जीवन की समस्त शक्तियों का उद्भव मस्तिष्क में ही होता है। जब मस्तिष्क काम करने से थक जाता है, तब उसकी थकान भोजन से दूर नहीं होती, विश्राम से होती है। निद्रा का विश्राम, मस्तिष्क का उत्तमता से पोषण करता है और दिन में किये हुए परिश्रम से विगलित हुए शरीरों में, रात्रि के विश्राम के कारण प्रातःकाल ताजगी और प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है। मानसिक शक्ति मस्तिष्क पर आधार रखती है और मस्तिष्क का पोषण करने के लिए भोजन की आवश्यकता नहीं है—यह इस पर से समझा जा सकता है। जब मनुष्य मानसिक चिन्ता, या राग-द्वेषादि विकारों से घिरा रहता है, तब उसकी भूख सबसे पहले नष्ट हो जाती है। और शरीर में जब कोई रोग-विकार उत्पन्न हो जाता है, तब भी भूख मर जाती है। भूख का मर जाना, रोग या विकार का चिन्ह है, यह नहीं समझना चाहिए; परंतु मनुष्य

की प्रकृति का संघटन कुछ ऐसा है कि रोग या विकार को मिटाने के लिए ही भूख का नाश या उपवास, उपचार के लिये निर्मित हुए हैं। इसी कारण आर्यवैद्यक शास्त्र में भी स्पष्ट कहा गया है कि 'शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि करने वाला उपवास रूपी तप, एक बड़ी दिव्यौषधि है। जैनशास्त्र में उपवास अनशन तप के दो मुख्य प्रकार बतलाये हैं—एक, स्वल्प समय के अनशन का और दूसरा, जीवनभर के अनशन का। इन दोनों के अनेक उपभेद हैं। सामान्य उपवास चाहे जितनी संख्या के हों, वे स्वल्प समय वाले कहे जाते हैं और जीवन-भर का अनशन संस्तारक कहा जाता है। मन को बिना ग्लान किए, सद्बुद्धि से, कर्म बन्धन तोड़ने के उत्साह से जीवन-भर का अनशन ग्रहण करना, उल्लास-पूर्वक मृत्यु को आलिंगन करने का कार्य है। यह मन की परम उच्च दशा है और इससे इस तप का प्रकार अन्तिम माना गया है।

ऊनोदरी तप के मुख्य दो प्रकार हैं—एक द्रव्य ऊनोदरी, और दूसरा भावऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी के मानी हैं—भोजन, वस्त्र, पात्रादि में कमी करते जाना; और भाव ऊनोदरी के मानी हैं—क्रोधादि कषायों में प्रयोगपूर्वक कमी करना। ऊनोदरी का शब्दार्थ यह है कि 'पेट को ऊना (कम, न्यून) रखना।' भूख से कम खाना, आवश्यकता से कम वस्त्र रखना, कम पात्रों या अन्य उपकरणों से काम चला लेना, यह तप है। कारण, कि इसका सीधा प्रभाव इंद्रियों की संयमवृत्ति पर होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि उपवास करने की शक्ति न हो, तो ऊनोदरी तप करना चाहिए, यानी रोज रोज कुछ कम खाना चाहिए।

द्वात्रिंशाः कवलाः पुंस आहारस्तृप्तये भवेत्।
अष्टाविंशतिरेवेष्टाः कवलाः किल योषितः॥

अर्थात्—पुरुष ३२ निवाले और स्त्री २८ निवाले आहार करने से तृप्त होती है; परन्तु निवाले का अर्थ करते हुए कोई कहीं दो चार रोटियों की पुड़िया बना कर मुख में रखले और निवाला गिन ले, इसलिए शास्त्रकार ने निवाले का भी माप बाँध दिया है, वे कहते हैं कि 'कुक्कुट अंड' के समान, यानी मुँह फटने पर जितनी जगह बन जाती है, उतना बड़ा निवाला समझना चाहिए। और पण्डित आशाधर 'सहस्रतण्डुलमितः, यानी एक हजार चावल के बराबर एक निवाला मानते हैं। इस प्रकार के ३२ निवाले, पुरुष का आहार है। १ से ८ निवालों तक पूर्ण ऊनोदरी, ९ से १२ तक समार्ध ऊनोदरी, १३ से १६ तक विभाग ऊनोदरी, १७ से २४ तक प्राप्त ऊनोदरी और २५ से ३० तक किंचित् ऊनोदरी तप किया गया समझा जाता है। इस ऊनोदरी तप में भी क्रमशः आगे बढ़ने पर पूर्ण ऊनोदरी और परिणाम स्वरूप अनशन करने के लिए शरीर सशक्त होता है और तप में भलीभाँति प्रगति की जा सकती है। परन्तु वास्तव में ऊनोदरी तप को अनशन से सरल नहीं समझना चाहिए। पहले समग्र पूर्ण उपवास कठिन प्रतीत हो और इसके कारण चाहे कोई ऊनोदरी तप करे; परन्तु जिन्होंने उपवास करने की शक्ति को विकसित किया है, उन्हें ऊनोदरी तप, साधारण उपवास से कठिन प्रतीत होता है और ऊनोदरी तप को, जो शास्त्रकार ने उपवास के बाद स्थान दिया है, वह उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कठिनता का विचार करके ही दिया मालूम होता है। अपूर्ण भोजन करने से मन और तन का अधिक परिषह सहन करना पड़ता है। कारण; कि इससे खुली हुई भूख को दबाना पड़ता है। उपवास में भूख मर जाती है और इससे ऊनोदरी के समान परिषह नहीं सहन करना पड़ता। एप्टन सिंकलेयर नामक विद्वान् ने रोज एक छोटा फल खाकर कई दिनों तक ऊनोदरी करने का निश्चय

किया था; परन्तु इससे, उपवास से भी अधिक कष्ट मालूम होने लगा और इससे उन्होंने फल खाना छोड़ कर पूर्ण उपवास करना ही पसन्द किया। इस द्रव्यऊनोदरी के साथ यदि भाव ऊनोदरी तप न किया जाय, तो तप का पूरा लाभ नहीं होता। कहा है कि—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः॥

अर्थात्—जिस उपवासादि में कषाय, विषय और आहार का त्याग किया जाय, उसे ही उपवास समझना चाहिए, बाकी लंघन है।

दृष्टान्त— बाह्य तप, विशेष कर अनशन का उत्तम दृष्टान्त धन्ना अणगार का तप है। धन्ना कुँअर का ब्याह ३२ स्त्रियों से हुआ था। उसके पास अतुल धन था। एक बार भगवान् महावीर का उपदेश सुनने से उन्हें त्याग की अभिलाषा हुई। उन्होंने बड़े आग्रह से माता से आज्ञा लेकर दीक्षा ली। दीक्षा लेकर तुरन्त ही धन्ना कुँवर ने दो दिन के अन्तर से अनशन और रसपरित्याग, दोनों प्रकार के तप का प्रारंभ किया। साथ साथ अन्य प्रकार के तप भी करने लगे और आठ मास में इतनी तपस्या कर डाली कि शरीर में रक्त का एक भी बिन्दु और एक भी मांसपेशी न रह गई! कंकाल पर लिपटा हुआ चमड़ा ही रह गया; परन्तु इससे धन्ना कुँवर के मन में कोई ग्लानि या क्लेश न हुआ। तपस्या के प्रति, उत्तरोत्तर भाव बढ़ता गया। कषायों का शमन हो गया, चित्त विशुद्ध हो गया, आत्मा निर्मल हो गई। देह में रक्त की एक बूँद न होने पर भी उनके मुख पर अलौकिक तप का तेज देदीप्यमान होता था। शरीर क्षीण होने पर भी इन्होंने अन्त में विपुलगिरि पर जाकर जीवन भर

पादोपगमन अनशन किया और एक मास के अनशन के पश्चात् अन्त में उन्होंने शक्ति-समाधि से प्राण विसर्जन किया। वे सर्वार्थ सिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाले देव बन गये। भगवान् कहते हैं कि यहाँ विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर, दीक्षा धारण करके, कर्मों का नाश करके, केवल ज्ञान पाकर वे मोक्ष लाभ करेंगे। (१८०)

[बाह्य तप के और भी तीन प्रकारों का नीचे के श्लोक में वर्णन किया गया है।]

भिक्षावृत्ति, रस परित्याग और काय क्लेश ॥ १८१ ॥

दोषान् षण्णवतिं विहाय विशदा ग्राह्या हि भिक्षोचिता।
तत्राभिग्रहधारणं सुयमिनां द्रव्यादिभेदैः सदा ॥
आचाम्लादिविधानतो मुनिजनैस्त्याज्या घृताद्या रसाः
स्थित्वाऽनेकविधासनैरभिमुखं सूर्यस्य कुर्यात्तपः ॥

भावार्थ—तपस्वी मुनि को आहार के छियानवे दोषों का वर्जन करके निर्मल भिक्षा लेना और उस में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अनेक प्रकार अभिग्रहधारण करना, बाह्य तप का तीसरा प्रकार है। आयंबिल-आचाम्ल-नीवी, आदि तप के लिये घी, दूध, तेल, गुड़, वगैरः रसों का त्याग करना, तपस्वी मुनि के लिए बाह्य तप का चौथा प्रकार है। आसन करके, सूर्य के सामने आतापना—धूप—लेते हुए तप करना, कायक्लेश नामक पांचवां तप है ॥१८१॥

विवेचन—'भिक्षाचरी' को 'वृत्तिसंक्षेप' तप भी कहा जाता है। भिक्षाचरी में भिक्षावृत्ति को संक्षिप्त करके तपस्या करने का हेतु निहित है। मनुस्मृति में कहा है कि—

भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादीभवेद् व्रती।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता॥

अर्थात्—व्रती को हमेशा भिक्षा मांग कर खाना चाहिये; परन्तु किसी एक ही गृहस्थ का अन्न खाने वाला न बन जाना चाहिए। व्रती की वृत्ति, उपवास रूपी तप करने से जैसी हो जाती है, भिक्षाचरण करने से भी वैसी ही हो जाती है।

पहले एषणीय आहारादि ग्रहण करने का जो साधुधर्म बतलाया गया है, उस में ९६ दोषों से रहित आहार को ही एषणीय माना है; परन्तु एषणीय आहार करने में भी कमी करना संयम साधना इस तप का हेतु है। इस में मुनि को द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के द्वारा अभिग्रह धारण करना होता है द्रव्य से मुनि को यह अभिग्रह धारण करना चाहिये कि भिक्षा में मैं अमुक वस्तु ही ग्रहण करूंगा। क्षेत्र से मुनि को यह अभिग्रह धारण करना चाहिये कि अमुक निश्चित स्थान से ही वस्तु ग्रहण करूंगा। क्षेत्र से अभिग्रह करने में मुनिको गोचरी के ६ प्रकारों में से कोई एक प्रकार मन में धार लेना चाहिये गोचरी के छः प्रकार यह हैं—(१—२) पेटिका—बक्स या सँदूक—के पूरे या आधे आकार में यानी गांव या मुहल्ले को चौमुख समझकर उस के चारों कोनों के चार घरों में भिक्षा के लिये जाना। (३) गोमूत्रिका, यानी सर्पाकार में अमुक घरों को छोड़ कर अमुक घर से ही भिक्षा लेना। (४) पतंग-वीथिका, यानी उड़ती पतँग के समान एक दूसरे से बहुत दूरी वाले घर से भिक्षा लेना। (५) शम्बूकावर्त्त यानी, शँख के बल के समान अमुक घरों को छोड़ कर अमुक घर से भिक्षा लेना। (६) आयतम-गत्वा प्रत्यागत, यानी अमुक दूरी तक सीधे चले जाने पर लौट कर अमुक अमुक घरों से भिक्षा लेना। मुनि को

काल से यह अभिग्रह धारण करना चाहिये कि अमुक समय ही आहार ग्रहण करूंगा। भाव से यह अभिग्रह धारण करना चाहिये; अर्थात् मन में यह धारणा करना चाहिये कि मुझे कोई पात्र में से लेकर कोई वस्तु देगा, तो ले लूंगा; या वर्तन में डालते डालते देगा तो ले लूँगा, या डाल कर फिर निकाल कर देगा, तो लेलूंगा, या दूसरे को देते हुए मुझे देगा, तो लेलूँगा। या दिखा कर देगा, तो लेलूँगा आदि। इस प्रकार की भिक्षाचर्या से मुनि आहार सम्बन्धी विशिष्ट सँयम की साधना कर सकता है और यही उस की तपश्चर्या है। दूसरे तप नियत हैं और यह तप अनियत है। द्रव्यादि से धारण किया हुआ उपर्युक्त अभिग्रह कब पूरा होता है यह नहीं कहा जा सकता, इसी से यह अनियत तप समझा जाता है। अभिग्रहधारी मुनियों को बहुत बहुत दिनों तक एषणीय आहार न मिलने के दृष्टान्त शास्त्रों में वर्णित हैं।

एक रसनेंद्रिय को ही अतृप्त रखने से प्रमाद रुक जाता है, नीरोग रहा जा सकता है और अन्य सब इन्द्रियां अपने, अपने विषय से निवृत्त हो जाती हैं; इसलिए संयमी के वास्ते रस-परित्याग बड़ा महत्त्वपूर्ण तप है। 'इंद्रियाणां जये शूरः' इंद्रियों को जो जीत लेता है, वही शूर पुरुष है और ऐसा शूरत्व सम्पादन करने के लिए, इंद्रियों को जीतने का साधन, रस-परित्याग ग्रहण करने योग्य है। इसके विपरीत 'दुद्धदही विगइओ आहारेइ अभिक्खणम्' जो दुष्ट साधु होता है वह दूध, दही, घी आदि विगयों—विकृतियों को वारम्बार खाता है। विकृतियाँ १० प्रकार की हैं। मधु—शहद—, माँस मदिरा और मक्खन, ये अभक्ष्य विकृतियाँ सर्वथा त्याज्य हैं, और दूध, दही, तेल, गुड़, तथा पक्वान्न, यह छः विकृतियाँ संयमी के लिए त्याज्य हैं। यह सब रस, विकृतियाँ कहलाती हैं; कारण कि इन्हें विगड़ते देर नहीं लगती, इनमें जन्तु पैदा होते और मरते हैं और यह

विषयोत्पादक पदार्थ भी हैं, इसलिए असंयम के कारणभूत हो जाते हैं। दूध, दही आदि जो छः विगय—विकृतियाँ—हैं, उन्हें मुनि सर्वथा नहीं त्याग सकते, कारण कि शरीर का निर्वाह करने के लिए जिस प्रकार भोजन की आवश्यकता है, उसी प्रकार आँखों के तेज की रक्षा के लिए कुछ अंश में इन विगयों—विकृतियों—की भी आवश्यकता होती है, फिर भी मुनि इनका सेवन स्वच्छन्द होकर न करने लगे, इसलिए कहा है कि—

विकृतिकृद्रसानां यत्त्यागो यत्र तपो हि तत्।
गुर्वाज्ञां प्राप्य विकृतिं गृह्णाति विधिपूर्वकम्॥

अर्थात्—विकार पैदा करने वाले रसों का त्याग करना रस-परित्याग नामक तप कहलाता है। और गुरु की आज्ञा लेकर विधिपूर्वक ही विकार पैदा करने वाली कोई वस्तु ग्रहण की जा सकती है। रस-परित्याग नामक तप करने वाले मुनि को तो जिह्वालोलुपता और विकारों से बचने के लिए ऐसे पदार्थों का सेवन कम करके अन्त में बन्द ही कर देना चाहिये। इसीलिए, तप की सिद्धि करने के हेतु से ग्रन्थकार ने आयंबिल—आचाम्ल आदि करने का विधान किया है कि जिससे रस-रहित—रूखा और विकृतिहीन आहार ही किया जा सके। कायक्लेश तप, बाह्य तप का पाँचवाँ प्रकार है। परिषह, अपने और दूसरे से पैदा हुआ क्लेशरूप होता है; और कायक्लेश, केवल अपने ही पैदा किये हुए क्लेश का अनुभव, इनमें इतना अन्तर है। और इसी कारण यह तप है। योग के ८४ आसनों में पद्मासन, वीरासन, उत्कटुकासन, लगुडासन आदि आसनों से सूर्य के सामने बैठ या खड़े रह कर कार्योत्सर्ग करके आतपना-धूप—लेना, कायक्लेश नामक तप कहलाता है। इस प्रकार के आसनों और धूप से काया को

क्लेश हो, पर आत्मा या मन को क्लेश न होना चाहिये। और तभी वह तप है, यह न भूल जाना चाहिए। कहा है कि 'काय-किलेसो संसारवास निव्वेअ हेउत्ति' अर्थात्—कायक्लेश तप संसारवास में निर्वेद करने का हेतुभूत होता है। अतएव उसमें मनःक्लेश की संभावना नहीं होनी चाहिए। (१८२)

[नीचे के श्लोक में बाह्यतपों में से अन्तिम तप प्रतिसंलेखना के विषय में कहा जाता है।]

प्रतिसंलेखना तप ।१८२॥

कार्यश्चेन्द्रियनिग्रहो मुनिवरैर्जेयः कषायोच्चयो-
रुध्वा योगमनिष्टमिष्टसुखदो योगो नियोज्यः शुभः ॥
निस्सङ्गः शयनासनादिषु सदा वर्त्तेत गुप्तेन्द्रियः।
षड्भिर्बाह्यतपोभिरेभिरनिशं कर्म्माणि भिन्द्यान्मुनिः

भावार्थ—तपस्वी मुनि को इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए, बढ़ते हुए कषायों को जीतना चाहिए। अनिष्ट अशुभ योग का निरोध करके इष्ट सुख देने वाले शुभ योग में स्थिर रहना चाहिए। शयन, आसन आदि में निस्संग रहना और इन्द्रियों को सर्वदा गोपित कर रखना, यह छठा प्रतिसंलेखना तप है। इन छः प्रकार के बाह्यतपों से, तपस्वी मुनि को निरंतर कर्मों का छेदन करते रहना चाहिये। (१८२)

विवेचन—इस श्लोक में प्रतिसंलेखनातप के चार प्रकार बताये गये हैं। जैन धर्म के ग्रंथों में इस तप को कहीं संलेखना और कहीं संलीनता के नामों से पुकारा गया है। प्रतिसंलेखना, यानी गोपित करने की–छिपाने की–गुप्त रखने की क्रिया। इंद्रियों को गोपित रखना, इंद्रिय प्रतिसंलेखना है। इंद्रियाँ रागी और कामी

दो प्रकार की हैं। आँख और जीभ रागी इंद्रियाँ हैं; कारण कि जब किसी वस्तु पर राग उत्पन्न होता है, तब इंद्रियों का व्यापार होता है। कोई सुन्दर दृश्य हो. और जब मन उसे देखने की इच्छा करे, तो आँखें उस ओर घूम जाती है। या कोई बढ़िया चीज हो और जब मन उसे खाने की इच्छा करे, तब जीभ उसका स्वाद लेती है। परन्तु कामी इंद्रियाँ तो मन की इच्छा बिना भी विषय-भोग की वस्तु का समागम कर लेती हैं। इच्छा न होने पर भी बाजों का मधुर स्वर कान में प्रविष्ट होकर विषय को जगाता है; इच्छा न होने पर भी फूल या उनकी सुगन्ध वायु के साथ मिलकर नाक में प्रविष्ट होती और विषय को जगाती है। इच्छा न होने पर भी शीतल वायु तप्त देह को स्पर्श करके सुखी करती और विषय को जगाती है। इसलिए यह इन्द्रियाँ कामी हैं। इन पाँचों इन्द्रियों की प्रतिसंलेखना करना यानी 'कार्यश्चेन्द्रियनिग्रहः' इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। रागी इन्द्रियों की अपेक्षा कामी इन्द्रियों का निग्रह अधिक कठिन है। आँखें मूँद लीं, या कोई खाद्य पदार्थ हाथ से उठाकर मुख में न रखा, तो आँख और जीभ का निग्रह होगया; परन्तु अनिच्छा से कानों में शब्द प्रविष्ट हों, नाक में सुगन्ध प्रविष्ट हो, और शरीर को वायु का स्पर्श हो, तो भी विषय को जागृत न होने देना बड़ा कठिन है। और यह निग्रह कठिन है; इसीलिए तप है। उववाइ सूत्र में इस प्रकार के इन्द्रिय निग्रह का एक ही मार्ग सूचित किया गया है और वह यह कि इन्द्रियों को विषय-साधन की ओर जाने से रोकना चाहिये। फिर भी यदि यह साधन अनिच्छा से इंद्रियों को विषयोपभोग कराये, तो राग या द्वेष धारण न करके चित्त की समता स्थिर रखनी चाहिये—इससे निग्रह अपने आप हो जायगा। प्रतिसंलेखना का दूसरा प्रकार 'जेयः कषायोच्छ्रयः' बतलाया गया है। क्रोध,

मान, माया और लोभ—यह चार कषाय हैं। साधु जीवन में इन कषायों का त्याग ही कर्त्तव्य होता है, फिर भी इनका उदय हो आना संभव है। और उस समय इनका निरोध करना चाहिये और निरोध करने का प्रयत्न करते हुए भी उदय हो, तो प्रत्येक कषाय के विकार को निष्फल करना, 'कषायप्रतिसंलेखना' तप कहा जाता है। क्रोध को क्षमा से, मान को विनय से, माया को सरलता से और लोभ को संतोष से निष्फल करने यानी कषायों पर विजय प्राप्त करने वाले लाभ को मुनि प्राप्त कर सकता है। प्रतिसंलेखना का तीसरा प्रकार 'योगप्रतिसंलेखना' है। जब मन, वचन और काया अनिष्ट योग में प्रवर्त्तित हो रहे हों, तब उन्हें इस योग से रोक कर इष्ट-सुखद योग में प्रवर्त्तित करना 'योगप्रतिसंलेखना' तप कहा जाता है। जब मन बुरे विचारों में प्रवृत्त हो रहा हो, तब उसे उनसे रोक कर सद्विचारों में लगाना; मुख से कटु—कर्कश शब्द निकालना चाहते हों, या निकल रहे हों, तो उन्हें रोक कर मधुर शब्दों का प्रयोग करने और हाथ-पैर आदि अवयवों को समाधि में—कछुए की तरह सिकोड़ कर निश्चल रखने से प्रतिसंलेखनातप सिद्ध होता है। शयनासनप्रतिसंलेखना, निस्संग दशा है। मुनि को अपना शयन और आसन ऐसी जगह रखना चाहिये कि जहाँ वह निस्संग दशा में रह सके। यानी ऐसी संगति से अलग रहना चाहिए कि जिससे इन्द्रियों का गोपन कठिन हो जाय। बाग-बगीचा, मन्दिर, हाट, पानी की प्याऊ आदि जिन स्थानों में मुनि उतरे, उनमें इन्द्रिय गोपन में उपद्रव करने वाले व्यक्ति—स्त्रियाँ, नपुंसक, या मादा पशु आदि—न होने चाहिएँ। ऐसी निस्संग दशा में रहने से वह गुप्तेन्द्रिय होकर रह सकता और तप सिद्ध कर सकता है। इस प्रकार बाह्य तप के छः प्रकार को आचरण करने से मुनि कर्म-बन्धनों को काट सकता और

आने वाले कर्मों को रोक सकता है। (१८२)

[बाह्य तप का विषय पूर्ण होने पर अब आभ्यन्तर तप के विषय में प्रवेश होता है और उनमें से पहले *प्रायश्चित्त नामक* आभ्यन्तर तप का वर्णन किया जाता है।]

आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त ॥ १८३ ॥

स्याच्चेन्मूलगुणे तथोत्तरगुणे दोषो लघुर्वा महाँ—
स्तत्कालं गुरुसन्निधौ मुनिवरैरालोचनीयः स्वयम् ॥
दद्युर्यद् गुरवो विशुद्धिनियतं छेदं तपो वेतर—
त्प्रायश्चित्तमतिप्रसन्नमनसा तत्तद्विधेयं द्रुतम् ॥

भावार्थ—मुनि को मूलगुण—महाव्रतों में और उत्तर गुण—ईर्या समिति आदि समिति-गुप्ति में, छोटा या बड़ा दोष लग गया हो, तो तत्काल अपने गुरु के पास जाकर, अपने आप उस दोष का आलोचन करना चाहिये, यानी वह दोष गुरु के समक्ष प्रकट करना चाहिये। गुरु महाराज, दोष की विशुद्धि करने के लिए जो कुछ तप करने के लिए कहें, उसे अत्यन्त प्रसन्न मन से, ज़ल्दी कर लेने का नाम प्रायश्चित्ततप है। (१८३)

विवेचन—पहले, मुनि धर्म का विवेचन करते हुए, महाव्रत विषयक प्रतिज्ञाओं, कषाय परिषह की प्रतिज्ञाओं और समिति-गुप्ति ग्रहण करके उनके पालने के नियम आदि के विषय में कहा गया है। इन प्रतिज्ञाओं, परिहारों और नियमों आदि में जब कारणवशात् किंवा अकस्मात् मुनि से स्खलना हो जाती है, तब वह दूषित अथवा पापी बन जाता है। ऐसे दोष होने पर, उनसे मुक्त होने के लिए तुरन्त ही यत्न करना, ऐसे संयोगों

में मुनि के लिए प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है। 'प्रायश्चित्तं हि पापानां पश्चात्ताप इति स्मृतः' पाप का प्रायश्चित्त ही पश्चात्ताप है। परन्तु मन ही मन पश्चात्ताप किया जाय, तो प्रायश्चित्त नहीं होता। इसलिए पाप की आलोचना गुरु के समीप करना ही प्रायश्चित्त है। ईसाई धर्म में जिसे Confessions कहते हैं, और के समीप 'कन्फेशन्स' यानी पाप का प्रकाश करने का जो विधान है, वह वस्तुतः प्रायश्चित्तरूप तप ही है। अपने किये हुए पाप, जो गुप्त होते हैं, जिन्हें कोई नहीं जानता उन्हें अपने आप गुरुजनों से कह देना, सहज नहीं है। मन को जब तक अत्यन्त आर्द्र नहीं बना लिया जाता, तब तक यह नहीं हो सकता। 'निशीथचूर्णी' में कहा है कि—'तं न दुक्करं जं पडिसेविज्जइ, तं दुक्करं जं सम्मं आलोइज्जई।' अर्थात्—अकार्य का प्रतिसेवन करना दुष्कर नहीं है, बल्कि उसकी सम्यक् प्रकार से आलोचना करना ही दुष्कर है। आलोचना इतनी दुष्कर है, इसीलिए उसे प्रायश्चित्त रूपी तप कहा गया है। ईसाई धर्म के मानने वाले जब मृत्यु के समीप पहुँच जाते हैं, तब पाप को प्रकट करके आलोचना करते हैं और इससे उन्हें विश्वास होने लगता है कि जैसे उनका पाप-भार कम हो गया है और आत्मा को शान्ति मिल गई है। ऐसे अनेक उदाहरण उनके यहाँ मिल सकते हैं। ऐसे प्रायश्चित्त से आभ्यन्तर-मानसिक लाभ कैसे होते हैं? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—

> लहु आह्लाइजणणं अप्पपरनिवत्ति अज्जवं सोही।
> दुक्करकरणं आणा निस्सल्लत्तं च सोहि गुणा॥

अर्थात्—गुरु के समीप पाप प्रकट करने से अन्तर में लघुता आती है, मन का भार कम हुआ प्रतीत होने से आह्लाद उत्पन्न होता है, अपनी और पराये की निवृत्ति होती है, आर्जव

सिद्ध होता है, शुद्धता प्राप्त होती है, मन में ऐसा प्रतीत होता है कि पाप को प्रकट करने का दुष्कर कार्य हमने कर लिया, गुरु की आज्ञा (गुरु जिस व्रत-तप को करने के लिए कहें) प्राप्त होती है, और अन्तर निःशल्य—निष्कंटक बन जाता है। यह सर्वशोधि कहलाने वाले आलोचना के आभ्यन्तर गुण हैं। मन ही में पश्चात्ताप करने से प्रायश्चित्त सिद्ध नहीं होता; कारण कि मन का स्वभाव चंचल है और परिस्थिति बदलने या पश्चात्ताप का प्रभाव संयोगवशात् नष्ट होने पर, मन पुनः पाप प्रवृत्ति की ओर ललचा जाता है। इसलिए गुरु के समीप प्रायश्चित्त करना आवश्यक हैं। इससे मन की विशुद्धि हो जाती है, लघुता—ऋजुता आ जाती है और पाप में पुनः प्रवृत्ति होना बहुत कम सम्भव रह जाता है। पाप की आलोचना, तप तो है; परन्तु प्रायश्चित्त की पूर्णाहुति तो तभी होती है, जब गुरु जिस तप की आज्ञा करें और तुरन्त ही प्रसन्न मन से उसे करना आरम्भ करदिया जाय। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि— 'आलोयणा रिहाइयं पायछित्तं तु दसविहं ।। जो भिक्खू वहइ सम्मं पायछित्तं तमाहियं ।।' अर्थात्—गुरु के समीप पाप की आलोचना करने और दसविधि से प्रायश्चित्त करने और उसे शरीर से भली भाँति सहने को प्रायश्चित्त कहते हैं। उववाई सूत्र में ग्रन्थकारों द्वारा यह दसविध प्रायश्चित्त इस प्रकार कहा गया है—(१) गुरु के समीप पाप को प्रकट करना, (२) मिथ्या दुष्कृत देकर प्रतिक्रमण करना, (३) आलोचना और मिथ्या दुष्कृत, दोनों करना। (४) दूषित वस्तु का त्याग करना। (५) कायोत्सर्ग करना। (६) आयंबिलादि तप करना। (७) दीक्षा में छः मास तक नीचे उतरना। (८) पुनः दीक्षा लेना। (९) जिस कार्य से पाप लगा हो, उससे दूर रहना। (१०) समुदाय के बाहर रह कर तप करना। गुरु की आज्ञा के अनु-

सार इनमें से एक या अधिक प्रकार का तप करने से प्रायश्चित्त होता है और इस प्रकार शुद्धि हो जाती है। (१८३)

[अब विनय रूपी दूसरे आभ्यन्तर तप के विषय में कहा जाता है।]

विनय ॥ १८४ ॥

मूलं धर्मतरोः किलास्ति विनयः सप्तप्रकारो मतः।
सेव्यं सर्वविधोऽपि दर्शनगतो भेदो विशेषेण वै॥
उत्थानासनदानवन्दननमस्कारैश्च भक्त्यादिभि—
र्गुर्वादौ विनयः क्रियेत मुनिभिस्त्यक्त्वाऽखिलाऽऽ-
शातनाः ॥

भावार्थ—विनय, धर्म रूपी वृक्ष का मूल है। इसके सात प्रकार हैं, और वह सब सेवनीय हैं। परन्तु उनमें दर्शनगत भेद, यानी दर्शन विनय विशेष सेवनीय है। दीक्षित मुनि को गुरु आदि की सब आशातना दूर करके, जब गुरु आदिक बाहर से आयें, तो उठ कर खड़े हो जाना चाहिए और बैठने के लिए आसन देना चाहिए, वन्दना नमस्कार करना, और भक्ति पूर्वक विनय करना—आभ्यन्तर तप का दूसरा प्रकार है।

विवेचन—'विनय वैरी को भी वश में कर लेता है, यह कहावत है। वशीकरण-महामन्त्र के समान विनय कोई सामान्य वस्तु नहीं है। ग्रन्थकार विनय को 'धर्मतरोः मूलम्' धर्मरूप वृक्ष का मूल कहते हैं कि जिस प्रकार वीर भगवान् ने विनय को शासन का मूल कहा है—

विणयो सासणे मूलं विणयो निव्वाणसाहगो।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो॥

अर्थात्—विनय शासन का मूल है, विनय निर्वाण प्राप्ति में सहायक होता है। जो विनय से रहित है, उसमें धर्म और तप कहाँ से हो सकता है, तात्पर्य यह है कि विनय धर्म का स्तंभ है। उववाई सूत्र में विनय के सात प्रकार बतलाये गये हैं—ज्ञान की विनय, दर्शन की विनय, चारित्र्य की विनय, मन से विनय, वचन से विनय, काया से विनय और लोकोपचार विनय। सब प्रकार के ज्ञानियों के प्रति विनय प्रकट करना ज्ञान विनय, गुरु-जनों की शुश्रूषा करना और आशातना न करना दर्शन-विनय, पाँच प्रकार के चारित्र्य के प्रति विनय प्रकट करना चारित्र्य विनय, मन से विनय प्रकट करना मनोविनय, वचन से विनय प्रकट करना वचन-विनय, काया से विनय प्रकट करना काया-विनय, और देश, काल, भाव के अनुकूल रहकर गुरु आदि के प्रति शुभप्रवृत्ति करना लोकोपचार विनय कहलाता है। यह सातों प्रकार के विनय ग्रहण करने योग्य हैं, फिर भी ग्रन्थकार ने दर्शन-विनय पर अधिक भार दिया है, इसलिए हम विनय के इस प्रकार को अधिक गहराई से देखेंगे। दर्शन-विनय के मुख्य दो भेद हैं—शुश्रूषा-विनय और अनाशातना विनय। इसलिए श्लोक के उत्तरार्द्ध में इन दोनों मुख्य भेदों का समावेश किया गया है। गुरु बाहर से आयें, तो उठ कर खड़े होना, आसन के लिए आमंत्रण करना, या जहाँ बैठना चाहें, आसन बिछा देना, सत्कार-सम्मान-वन्दना-आगत-स्वागत, दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार और जाते समय पहुँचाने के लिए जाना—इस प्रकार सब तरह भक्तिपूर्वक शुश्रूषा करना, शुश्रूषा-विनय है। अरिहंत, धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रियावान्, स्वधर्मी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवल ज्ञानी—इन पन्द्रह जनों की आशातना नहीं; बल्कि, संमान-पूर्वक भक्ति करनी चाहिए और उनके गुण-कीर्ति को

प्रकाशित करना चाहिए। इस प्रकार ४५ प्रकार के अनाशातना विनय सूत्र-ग्रन्थों में बताये गये हैं।

मनुस्मृति में, शिष्य के द्वारा गुरु के प्रति प्रकट किये जाने वाले विनय के विषय में कहा है कि—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥
ऊर्ध्वं प्राणाह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥

अर्थात्—गुरु की शय्या अथवा आसन पर परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष कदापि न बैठना चाहिए। और अपनी शय्या या आसन पर बैठे हों, और गुरु आजायँ, तो उन पर से उठ कर उन्हें अभिवादन करना चाहिए। अपने से विद्यादि गुणों में वृद्ध, गुरु आदि पुरुष जब आ जाते हैं, तब युवक पुरुषों के प्राण बाहर निकलने के समान हो जाते हैं, और जब वे उन गुरुजनों का प्रत्युत्थान तथा अभिवादन से सत्कार करते हैं, तब लौटते हैं।

इस प्रकार गुर्वादिक के प्रति किया हुआ शुश्रूषा और अनाशातना विनय, तप रूप बन जाता है। और इससे आन्तरिक निर्मलता की प्राप्ति होती है।

अन्यैर्गुणैः प्रभ्रष्टोऽपि यद्यस्ति विनयो दृढ़ः।
भूयो गुणानवाप्नोति अर्हन्नको निदर्शनम्॥

अर्थात्—अर्हन्नक (अरणीक) मुनि गोचरी करने जाते हुए एक चन्द्रमुखी स्त्री के मोहपाश में बँध गये और वे नवयुवक मुनि उसी स्त्री के यहाँ रहकर सुख-विलास भोगने लग गये; परन्तु अर्हन्नक मुनि में से विनय दूर नहीं हुआ था, इसलिए

जब उनकी माता खोजती-खोजती साध्वी के वेष में उनके समीप जाकर खड़ी हुई कि तुरन्त ही इस विनयान्वित पुत्र तथा साधु ने, माता का उपदेश सिर चढ़ा कर, उस दुष्कृत्य का त्याग कर दिया और प्रायश्चित्त में पादपोगमन अनशन स्वीकार कर लिया और उसी में अपने प्राणों का अन्त कर दिया। इस प्रकार, विनय आन्तरिक निर्मलता का साधन बन जाता है।

दृष्टान्त—उज्जयनी नगरी में म्बात्रोद्यान नामक एक उद्यान में, चंडरुद्र सूरि नामक एक जैन आचार्य शिष्य परिवार-सहित पधारे। सूरि ऐसे क्रोधी थे कि शिष्यों के छोटे-छोटे दोष देखकर भी उन्हें बड़ा क्रोध आ जाता। पर एक दिन उन्होंने विचारा कि यह सब शिष्य मुझसे अकेले नहीं सँभाले जा सकते और क्रोध के कारण आत्मा का कार्य विनष्ट होता है; इसलिए वे शिष्यों से कुछ दूर एकान्त में धर्म-ध्यान करने लगे। एक दिन कुछ युवक घूमते-घूमते उद्यान में आ पहुँचे। उनमें, एक नव-विवाहित वणिक पुत्र भी था। उसको आगे करके अन्य युवक साधुओं के पास पहुँचे और बोले—'महाराज! हमारे इस मित्र की स्त्री भाग गई है और यह बेचारा दुखिया होगया, और संसार से विराग आ गया है, आप कृपा करके इसे दीक्षा दीजिए।' साधुओं ने विचार किया कि गुरुदेव ही इन मसखरों को ठीक करेंगे, इसलिए कहा—'हम लोग शिष्य ठहरे, व्रत या दीक्षा हम लोग नहीं दे सकते, दीक्षा लेनी हो; तो हमारे गुरुजी यहीं विराजमान हैं, उनके पास जाइए।' मस्ती में चूर वे युवक गुरुजी के पास पहुँचे और परस्पर हँसते हुए गुरुजी को वन्दना करके बैठ गये। वणिक् पुत्र बोला—महाराज! मैं घर से भाग आया हूँ, और मुझे आपके चरणारविंदों की लगन लगी है, आप मुझे प्रव्रज्या दीजिए, तो मैं भी इस भवसागर

को तर जाऊँ।' युवकों की मस्खरी से गुरु कोपायमान होगये और बोले—'दीक्षा लेनी हो, तो तुरन्त राख ले आओ।' एक जना जाकर राख ले आया और गुरु जी ने उस नवविवाहित युवक को पकड़कर राख से उसके केशों का लुञ्चन कर डाला और उसे संयम धारण करा दिया! यह देखकर अन्य युवक भाग खड़े हुए कि कहीं हमारी भी यही गति न हो जाय! उस नव-विवाहित और अब नवदीक्षित वणिकपुत्र ने विचार किया कि मैंने अपनी जिह्वा से व्रत स्वीकार किया है, अब मैं घर कैसे जा सकता हूँ।' चाहे भूल से ही हो, पर मनुष्य जो एक बार कह देता है, वह तो पत्थर की लकीर है! अब वह कैसे मिट सकती है? अब तो जो पासा पड़ा वह ठीक है। बिना परिश्रम के चिन्तामणि मिल गया, उसे कैसे छोड़ा जा सकता है?' युवक की मनोदशा बदल गई थी, उसने गुरुजी से निवेदन किया—महाराज—'हम लोग यहाँ रहेंगे, तो मेरे घर के लोग सुख से हमें नहीं रहने देंगे और कदाचित् वे लोग मेरा व्रत भी भंग करवा देंगे और यह सारा साधु-परिवार साथ रहेगा, तो विहार छिप नहीं सकता; इसलिए हम दोनों किसी दूसरी जगह चले चलें।' गुरुजी ने कहा—'अब तो शाम हो गई और मुझको दिखता भी नहीं।' शिष्य ने कहा—'आपको मैं कंधे पर बिठा कर ले चलूँगा।' इस प्रकार गुरु-शिष्य रात को रवाना होगये। अँधेरी रात में, ऊँची-नीची जमीन पर शिष्य के पैर बार-बार लचक जाते थे और गुरुजी को झोंके लगते थे। गुरुजी बार-बार उसके सिर पर डंडा जमाते थे। इस प्रकार चोट खा-खाकर शिष्य का सिर फूट गया और खून बहने लगा; पर शिष्य के मुख से एक अक्षर भी नहीं निकल रहा था और विचार कर रहा था कि—'ओह! यह महात्मा, शिष्य परिवार में सुख से विराज रहे थे, वहाँ से लाकर मुझ अभागे ने इन्हें कैसा दुःखी किया!

गुरु को जीवन भर सुख देने वाले कोई भाग्यवान् शिष्य होते हैं, पर मैंने तो पहले दिन ही इन्हें महान् कष्ट दिया !' इस प्रकार मन ही मन अपनी निन्दा करते हुए शिष्य को ज्ञान पैदा हुआ और ज्ञान के बल से वह समतल भूमि पर गजगति से चलने लगा, गुरु को झोंके लगना बन्द हो गया, इसलिए उन्होंने शिष्य से पूछा—'तुझे मार्ग दिख रहा है ?' शिष्य ने कहा—'आपकी कृपा से सब दीख रहा है।' 'गुरु ने जान लिया कि शिष्य को ज्ञान पैदा होगया है, इसलिए वह एकदम शिष्य के कंधे से उतर पड़े और हाथ जोड़कर, मान तोड़कर शिष्य से क्षमा माँगी और विचारने लगे कि 'इस नये शिष्य को धन्य है कि मैंने क्रोध में डंडों से उसे बार-बार पीटाः पर वह मन, वचन और काया की समता से जरा भी विचलित नहीं हुआ और मुझे संयम ग्रहण किये युग बीत गये, आचार्य पद पाया, क्रोध के दोषों को समझा, फिर भी क्रोध को नहीं त्याग सकता—धिक्कार है मुझे ! इतने वर्षों तक मैंने असिधारा व्रत का पालन किया। पर वह क्रोध के कारण निष्फल होगया। अब मुझे कभी क्रोध न करना चाहिए।' यह विचारते हुए गुरु को भी ज्ञान हुआ। इस प्रकार शिष्य का दर्शन-विनय रूपी तप दोनों का कल्याणकारक सिद्ध होगया। (१८४)

[अब 'वैयावच्च' नामक तीसरे आभ्यन्तर तप के विषय में कहा जाता है।]

वैयावृत्त्य ॥१८५॥

भिक्षायानयनेन भारवहनोपाङ्गादिसम्बाधनै—
वैयावृत्त्यतपस्तपस्विभिरलं कार्यं श्रुतज्ञानिनाम् ॥

एवं ज्ञानिभिरप्यभीष्टतपसां ग्लानत्वरोगोद्भवे।
भैषज्यानयनादिसाधनभरैः सेव्यास्तपोधारिणः॥

भावार्थ—वैयावच्च—वैयावृत्त्य—यानी सेवा भक्ति। तपस्वी मुनि को चाहिए कि श्रुतपरायण ज्ञानी मुनियों के लिए भिक्षा माँग कर लादे, विहार के समय उनका सामान उठा ले, हाथ-पैर दबादे, इस प्रकार तपस्वी ज्ञानी की वैयावृत्त्य करके आभ्यन्तर तप का तीसरे प्रकार का अनुष्ठान करना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञानी मुनिको भी उचित है कि जब तपस्वी की अवस्था ग्लान हो जाय, या कोई रोगादि उत्पन्न हो जाय, तब औपधि लाकर, पथ्यादि का प्रबन्ध करके तपस्वी की सेवा करते हुए वैयावृत्त्य तप का आदर करे। (१८५)

विवेचन—कोई साधु स्वाध्याय द्वारा ज्ञान मार्ग को पकड़ते हैं और कोई तपादि द्वारा भक्ति मार्ग। इन दोनों मार्गावलम्बी साधुओं को, कारण उपस्थित होने पर, पारस्परिक वैयावृत्त्य सेवाभक्ति करनी चाहिए। इस प्रकार की सेवा भक्ति, एक प्रकार का तप है। तप तथा ज्ञान की ऋद्धि वाले साधु को, अपने से नीची या ऊँची श्रेणी के साधु की—श्रेणी का विचार किये विना—प्रसंगवशात् सेवाभक्ति करनी चाहिए। महत्ता-लघुता का विचार छोड़ देना चाहिए। ऐसा करना वास्तव में मानसिक तप ही है। सेवाभक्ति, एक ऐसा गुण है कि उसका अतिरेक होने पर भी उसके द्वारा सेवा करने वाले का कोई अनिष्ट नहीं होता। इसी लिए कहा है कि—

वेयावच्चं निययं करेह उत्तमा गुणे धरंताणं।
सव्वं किर पडिवाई वेयावच्चं अपडिवाई॥
पडिभग्गस्स मयस्स व नासइ चरणं सुअं अगुणणाए।
न हु वेयावच्चं चिअ असुहोदय नासए कम्मं॥

अर्थात्—यद्यपि कोई मनुष्य चाहे कैसे ही अन्य उत्तम गुण धारण करले, तथापि उसके वे सब गुण कभी न कभी प्रतिपाती हो जाते हैं यानी भ्रष्ट हो जाते हैं। परन्तु वैयावृत्त्य गुण अप्रतिपाती है, इस गुण से प्राणी कभी भी भ्रष्ट नहीं होता। इसलिए निरन्तर वैयावृत्त्य करना चाहिए। मद से मनुष्य का चरित्र नष्ट हो जाता है, और आवृत्ति के बिना—बार-बार याद किये बिना—श्रुत नष्ट हो जाता है। परन्तु वैयावृत्त्य गुण कभी नष्ट नहीं होता। वैयावृत्त्य अशुभोदय वाले कर्म का नाश करती है। यह उसकी विशेषता है। शास्त्र में वैयावृत्त्य के दसप्रकार बतलाये हैं, आचार्य, उपाध्याय, नवदीक्षित शिष्य, रोगी साधु, तपस्वी, स्थविर, साधर्मिक, कुल (गुरु भाई), गण (सम्प्रदाय के साधु और चतुर्विधसंघ की वैयावृत्त्य—यह दस प्रकार की वैयावृत्त्य है। गुरुजन या तपस्वी, रोगी आदि छोटे-बड़े साधुओं को रोग से या परिषहादि के कारण अस्वस्थता आगई हो, तब उन्हें भिक्षा ला देना, विहार के समय उनका भार उठा लेना, थक गये हों, तो उनके हाथ-पैर दबा देना, रोग उत्पन्न हो गया हो और रोगी साधु की इच्छा हो, तो उसके लिए औषधि ले आना, आदि अनेक प्रकार से सेवाभक्ति करके उन्हें शान्ति पहुँचाना चाहिए। साधुओं के लिए वैयावृत्त्य के यही मुख्य प्रकार यहाँ समझाये गये हैं। वैयावृत्त्य का पात्र, हमसे दीक्षा, ज्ञान, तप, वयस, पद आदि में उच्च है या नीचा है—इसका विचार त्याग देने पर जो तप होता है, उसके सम्बन्ध में गौतम ने महावीर स्वामी भगवान् से पूछा था कि 'वेयावच्चेण भंते किं जणयइ ?'—हे भगवन् ! वैयावृत्त्य करने से क्या होता है ? भगवान् ने उत्तर दिया—गोयमा ! नीयं गोयं कम्मं न बंधइ'—हे गौतम ! वैयावृत्त्य से नीच गोत्र कर्म नहीं बँधता। मनुस्मृति में भी कहा है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥

अर्थात्—गुरु आदि वृद्धों की सेवा करने वाले तथा उनको अभिवादन करने के स्वभाव वाले पुरुष की आयु, वुद्धि, यश और बल की वृद्धि होती है।

दृष्टान्त—नंदिषेण मुनि, किसी भी रोगी, ग्लान या वृद्ध मुनि की सेवा भक्ति के लिए हमेशा तत्पर रहते, और ऐसा अवसर मिलने पर अपने को धन्य मानते थे। और अनशनादि तपस्या भी खूब करते थे। मुनि की ऐसी सेवा भावना के विषय में, देवलोक के देवताओं के बीच भी चर्चा चल पड़ी और सबने उन्हें धन्य-धन्य! कहा। परन्तु दो देवताओं को नंदिषेण मुनि की परीक्षा करने का विचार हुआ। एक देव ने वृद्ध कोढ़ी साधु का रूप धारण किया और दूसरे ने जवान साधु का। वृद्ध साधु, नगर से दूर जंगल में रहे और जवान साधु नदिषेण के स्थानक पर आ पहुँचा। नंदिषेण ने एक मास के उपवास किये थे, और उनका पारणा करने के लिए वे बैठना ही चाहते थे कि उस जवान साधु ने पहुँचकर कहा—'नंदिषेण मुनि! मेरे गुरु अत्यन्त वृद्ध और रोगी हैं, और मैं बहुत थक गया हूँ, आप उनको ले आयें, तो बड़ा शुभ हो।' वृद्ध और रोगी साधु की सेवा का प्रसंग आया समझकर, सेवाभाव-तत्पर नंदिषेण मुनि, पारण करना छोड़ कर तुरन्त जंगल में गये और वहाँ एक वृक्ष के नीचे वृद्ध, कोढ़ से ग्रसित दुःखित और ग्लान साधु को उन्होंने देखा। उन्होंने वृद्ध साधु से अपने साथ आने के लिए कहा, तो साधु बोला—'मुझे प्यास लगी है, इसलिए नगर में से पानी ले आओ।' नंदिषेण फिर नगर में गये; परन्तु कहीं भी शुद्ध एषणीय जल नहीं प्राप्त हुआ। अन्त में तीसरे पहर एक लोटा पानी मिला। उसे लेकर

नंदिषेण मुनि वृद्धसाधु के पास आये । वृद्धसाधु तो एक दम कोपायमान हो गये थे !—'ओ नंदिषेण ! प्यास से मैं मर रहा हूँ और तुमने पानी लाने में इतनी देर कर दी !'—यह कह कर वृद्धसाधु ने क्रोध से लोटे को ठुकरा कर सब पानी फैला दिया ! नंदिषेण ने साधु को शान्त किया और कहा—'गुरुवर ! पानी तो सब ढुल गया, कहिए तो फिर ले आऊँ ।' साधु ने कहा—नहीं, पानी नहीं चाहिए । तुम मुझे उठा कर ले चलो, मैं चल नहीं सकता ।' नंदिषेण साधु को कंधे पर बिठा कर चल दिये । मार्ग में वृद्ध साधु अपनी रोग पीड़ित देह से रक्त और पीव गिराने और मलमूत्र तक त्यागने लगा; पर नंदिषेण अपने मन में यही कह रहे थे—ओह बेचारे वृद्ध मुनि को कितना कष्ट हो रहा है ! इनका शरीर रोग से कितना आक्रान्त हो गया है ! कब मैं स्थानक पर पहुँच कर इन्हें सुखी करूँगा ।' ऐसा भाव धारण करने से नंदिषेण को ज्ञान हुआ और साधु वेपधारी दोनों देवों को भी नंदिषेण की वैयावृत्त्य पर विश्वास हो गया; इसलिए इस कसौटी के लिए उन्होंने क्षमा माँगी । (१८५)



दसवाँ परिच्छेद

तपश्चर्याः स्वाध्याय

[आभ्यन्तर तप के छः प्रकारों में से तीन प्रकार—प्रायश्चित्त, विनय और वैयावृत्त्य के विषय में गत परिच्छेद में कहा गया है। बाकी के तीन प्रकार—स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग, बड़े गहन और विस्तृत होनेके कारण, तीन भिन्न भिन्न परिच्छेदों में उन्हें सन्निविष्ट किया है। उनमें से प्रथम प्रकार, स्वाध्याय तप का अधिकार इस परिच्छेद में दिया गया है।]

स्वाध्याय के प्रकार ॥ १८६-१८७ ॥

शास्त्राणां किल वाचनं च मननं तद्वन्निदिध्यासनं।
स्मृत्यर्थं पठनं रहस्यसहितं तात्पर्यसंशोधनं ॥
शङ्कायां गुरुसन्निधौ सविनयं पृष्ट्वा तदुच्छेदनम् ।
भाषाज्ञानपुरस्सरं विनयिनां स्वार्थं विना पाठनम् ॥
नैपुण्ये सकलागमेषु जनिते व्याख्यानविस्तारणं ।
सज्जिज्ञासुसभासमक्षमुचितं धर्माभिवृद्ध्यै सदा ॥
सत्त्वाकर्षकतत्त्वशास्त्ररचना साहित्यसंचारणं ।
ज्ञातव्याः सकला अपीह यमिभिः स्वाध्यायभेदा इमे॥

युग्मम् ॥

भावार्थ—तात्त्विक शास्त्र ग्रन्थों को पढ़ना, मनन करना, निदिध्यासन करना, स्मरण रखने के लिए पाठ करना, रहस्य

सहित धारण करना, प्रत्येक काव्य के अर्थ और तात्पर्य का शोधन करना, किसी जगह शंका होती हो, तो गुरु आदि के पास जाकर, विनय के साथ पूछकर शंका का समाधान कर लेना चाहिए। शास्त्र की भाषा का ज्ञान भलीभाँति प्राप्त करके, निःस्वार्थ भाव से जिज्ञासुओं को पढ़ाना चाहिए। सर्व शास्त्रों में निपुणता प्राप्त करने के पश्चात् जिज्ञासुओं के समक्ष, धर्म की वृद्धि के लिए, विस्तार से व्याख्यान देना चाहिए। लोगों को आकर्षित करने वाले तात्त्विक शास्त्रों की रचना करनी चाहिए। धार्मिक साहित्य का प्रचार करना चाहिए। स्वाध्याय के यह सब प्रकार संयमियों के करने योग्य हैं। (१८६—१८७)

विवेचन—स्वाध्याय की महिमा जैन और जैनेतर शास्त्रों में भी वर्णित है। जैन शास्त्रों में स्वाध्याय को एक प्रकार का तप माना है। कारण कि इन्द्रियों और मन का भलीभाँति संयम किये बिना स्वाध्याय नहीं हो सकता। मनुस्मृति में स्वाध्याय की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि—

> यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
> तस्य नित्यं क्षरत्येव पयो दधि घृतं मधु॥

अर्थात्—जो मनुष्य शुद्ध होकर सर्वदा विधि के साथ एक वर्ष तक स्वाध्याय करे, उसके लिए वह स्वाध्याय सर्वदा दूध, दही, घी और मधु बरसाता है। तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय से मनुष्य सुखी और सम्पत्तिमान् होता है। महानिशीथ सूत्र में स्वाध्याय रूपी तप के लिए कहा है कि—

> बारसविहंमि तवे, अब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
> नवि अत्थि न वि च होहि, सज्झायसमं तवो कम्मं॥

अर्थात्—सर्वज्ञ भगवान् के कहे हुए आभ्यन्तर और बाह्य

बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान कोई तप कर्म नहीं है और न होगा। शास्त्रग्रन्थों में स्वाध्याय के पाँच भेद बतलाये गये हैं—वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। ग्रन्थकार ने इन पाँच प्रकारों के उपभेदों का लक्ष्य करके, कुल ग्यारह प्रकार इन दो श्लोकों में प्रदर्शित किये हैं। वाचन, मनन और निदिध्यासन, वास्तव में वाचना के ही भेद हैं। किसी भी श्लोक या वाक्य का, आँख तथा मुख से वाचन करने पर 'वाचना' शब्द का पूर्ण अर्थग्रहण नहीं होता; यानी मुख या नेत्र से वाचन, मन से मनन, और चित्त में इस वाचन को धारण करने से निदिध्यासन होता है—'वाचना' की क्रिया पूर्ण होती है। इस प्रकार वाचना, एक वाक्य और उसके अर्थ का मानसिक संग्रह-मात्र है, अथवा अवधान है। और इसीसे वह स्वाध्याय का एक अंग है। यदि वाचन करने पर—पढ़ने पर—समझने में या उसके अर्थ में कोई शंका होती हो; तो गुरु से पूछना और शंका का छेदन या निवारण करना, पृच्छना नामक दूसरा प्रकार है। अनुप्रेक्षा को ग्रन्थकार ने दो भागों में बाँट दिया है। एक रहस्यधारणा और दूसरा तात्पर्यशोधन। अनुप्रेक्षा का शब्दार्थ करें, तो यह होता है कि सूत्रार्थ का उच्चारण किये बिना मन में उसका ध्यान करना। स्वाध्याय का नवनीत ही उसका रहस्य है। ऐसे रहस्य के साथ तात्पर्य का शोधन करना, मौन रहकर स्वाध्याय-विषय का निर्मल ध्यान करने की ही विधि है। ऐसे ध्यान से, चितिशक्ति के समीप यह प्रकट हो जाता है कि समझे हुए वाक्यार्थ का रहस्य क्या है और उस रहस्य को वाक्य या वाक्यों में संगठित कर लेने का तात्पर्य क्या है। इस हेतु से अनुप्रेक्षा को दो भागों में बाँट कर, विस्तार के साथ समझाया गया है। स्वाध्याय के तत्त्व का ध्यान करने के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

संकुलाद्विजने भव्यः सशब्दान् मौनवान् शुभः ।
मौनजान्मानसः श्रेष्ठो जापः श्लाघ्यः परः परः ॥

अर्थात्—बहुत से मनुष्यों के बीच रहकर स्वाध्याय के तत्त्व का ध्यान करने के लिए बैठने की अपेक्षा एकान्त अधिक अच्छा है। मुख से बोल कर स्वाध्याय करने की अपेक्षा मौन अच्छा है, और मौन स्वाध्याय की अपेक्षा मानसिक स्वाध्याय,—जाप-ध्यान-चिंतन—उत्तरोत्तर अधिक अधिक प्रशंसनीय है। स्वाध्याय का पाँचवाँ प्रकार धर्म-कथा है। धर्म कथा के भी चार उपभेद ग्रन्थकार ने यहाँ प्रकट किये हैं और यह उपभेद शास्त्र में नहीं प्रकट किये गये हैं; फिर भी उनकी उपयुक्तता छिपी न रहेगी। पाठन, व्याख्यान, साहित्य प्रचार और ग्रन्थ-रचना—यह धर्म-कथा के उपभेद हैं। अपने को प्राप्त हुए ज्ञान का लाभ, अन्य जिज्ञासुओं को विशुद्ध रूप में पाठन द्वारा पहुँचाना, इसमें किसी भी प्रकार के स्वार्थ का साधन करने का संकल्प न करना, यह वास्तव में उच्चप्रकार की धर्म-कथा ही है। यहाँ 'भाषा ज्ञानपुरस्सरं' शब्दों का प्रयोग किया गया है। शास्त्रग्रन्थों में निपुणता प्राप्त करने के बाद, जिज्ञासुओं की सभा में व्याख्यान देना, उपदेश करना और इस प्रकार धर्म की अभिवृद्धि करना, तो विशुद्ध धर्म-कथा ही है। आकर्षक और तात्त्विक ग्रन्थों की रचना करना तथा धार्मिक साहित्य का प्रचार करना—धर्म कथा के दो भेद भले ही आधुनिक समझे जायँ, तथापि इनकी उपयोगिता को कोई इन्कार नहीं कर सकता। जिस समय महावीर भगवान् ने उपदेश किया था, उस समय ग्रन्थ-लेखन की या ग्रन्थ-प्रचार की प्रवृत्ति का अस्तित्व नहीं था। सूत्रों के ग्रन्थारूढ़ होने पर ग्रन्थों की सुन्दर प्रतियाँ तैयार करके उनका प्रचार करने की प्रथा उपकारक समझी जाने लगी और श्रोता तथा विद्यार्थियों की सुगमता के लिए सूत्रों पर भाष्य, टीकाएँ,

चूर्णियाँ और पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना हुई। 'धम्मकहा' का हेतु धर्म का उपदेश देना था, और ग्रन्थ-रचना तथा धार्मिक साहित्य का प्रचार भी उपदेश का हेतु पूर्ण करने के लिए आधुनिक काल का अनुकूल साधन है, इसलिए स्वाध्यायरूपी तप के अन्दर उसका समावेश और उसका मुनियों के तपाचरण में विधान करके ग्रन्थकार ने बहुत ही उचित किया है, इसमें सन्देह नहीं। इतना सही है कि धर्म-कथा के इन सब उपभेदों का मुनि के लिए 'तप' के रूप में ही अस्तित्व रहे, संयम में विक्षेप करने वाली प्रवृत्ति न बन जायँ! स्वाध्याय के सब प्रकारों का अनुष्ठान करते हुए भी संयमी का ध्यान, उससे होने वाली तप संसिद्धि की ओर ही लगा रहना चाहिए। (१८६—१८७)

[अब ज्ञान के आठ आचारों के विषय में कहा जाता है कि जिनका पालन स्वाध्याय रूपी तप की फलसिद्धि के लिए आवश्यक है।]

ज्ञान के आठ आचार ॥ १८८ ॥

अस्वाध्यायविवर्जनेन पठनं स्वाध्यायकाले सदा।
गुर्वादौ विनयं विधाय तदपि प्रेम्णा प्रकृष्टेन वै॥
कार्यं योग्यतपो गुरोरुपकृतेर्नो विस्मृतिः सर्वथा।
शब्दार्थोभयशुद्धिरष्ट पठनाचारा इमे शोभनाः॥

भावार्थ—स्वाध्याय काल में—असज्झाय टालकर—शास्त्र का पठन करना, अध्यापक-गुर्वादिक के प्रति विनय का भली-भाँति पालन करके पढ़ना, जो पढ़ना हो उस पर उत्कृष्ट प्रेम रख कर रुचि पूर्वक पढ़ना, शास्त्र के अनुसार उपधान तप करना, जिस अध्यापक ने पढ़ाने में परिश्रम किया हो, उस विद्यागुरु का उपकार न भूलना या न छिपाना, शास्त्र के पाठ का शुद्ध उच्चारण

करना, शब्द और अर्थ की शुद्धि का रक्षण करना,—ज्ञान के यह आठ आचार शास्त्र में कहे गये हैं। इनका उपयोग करके शास्त्र पढ़ने से विद्या सुशोभित होती है। (१८८)

विवेचन—विवरण के साथ यहाँ जो आठ ज्ञानाचार बतलाये गये हैं। शास्त्र में संक्षेपतः वह इस प्रकार बतलाये गये हैं—'काले विणए बहुमाणे उपहाणे तह य निन्हवणे। वंजण अत्थ तदुभए अठविहा नाणमायारो ॥' (१) वेदानुयायी जिसे 'अनध्याय' कहते हैं, उसे जैन शास्त्र में 'असज्झाय'—अस्वाध्याय कहते हैं। यह असज्झाय ऐसा समय होता है कि जिस समय शास्त्र का वाचन-पाठन नहीं होता और यदि किया जाय, तो दोष लगता है। जैन-शास्त्रों में ३२ असज्झाय बतलाये गये हैं। हड्डी, मांस, रक्त या विष्ठा निकट पड़े हों, श्मशान हो, चन्द्रग्रहण या सूर्य-ग्रहण हो, कोई बड़ा आदमी मर गया हो, राज्य पर कोई विघ्न आ गया हो, निकट कोई मुर्दा पड़ा हो, तारे टूटे हों, दिशाएँ लाल हो गई हों, अकाल ही गरजने, बरसने और बिजली चमकने लगी हो, जब द्वितीया के चद्रोदय के चार घड़ी के समय आकाश में कोई नवीन चिन्ह दीख पड़े, ओस पड़े, कुहरा छा जाये, आँधी आ जाये, आषाढ़ सुदी १५ और वदी १, भादों सुदी १५ और वदी १, कार्तिक सुदी १५ और वदी १, चैत्र सुदी १५ और वदी १, सूर्योदय के पूर्व दो घड़ी, मध्यान्ह में दो घड़ी, शाम को दो घड़ी और मध्य रात के समय दो घड़ी स्वाध्याय न करना चाहिए। यह ३२ काल स्वाध्याय के लिये अनुपयुक्त हैं—दोपपूर्ण हैं। इनका त्याग करके इतर सज्झाय काल में—स्वध्याय काल में (१) शास्त्रों का पठन पाठन करना चाहिए (२) शिक्षा देने वाले अध्यापक या गुरु के प्रति पूर्ण विनय रखते हुए शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। विनयरूपी तप के विषय में पहिले कहा

ही गया है। (३) जो विषय पढ़ना हो, उसको स-सम्मान तथा उत्कृष्ट प्रेम के साथ पढ़ना चाहिये। रुचि के विना, बेगार की तरह पढ़ना निरर्थक है और ज्ञान जैसी वस्तु की अवहेलना है। कहा है कि—

> इग-दु-ति-मासखवणं संवच्छरमवि अणसिओ हुज्जा।
> सज्झायझाणरहिओ एगोवासफलं पि न लभिज्जा ॥

अर्थात्—एक मास, दो मास या तीन मास के मासक्षपण करे अथवा एक वर्ष तक अनशन करे; परन्तु यदि वे स्वाध्याय ध्यान रहित हों, तो एक भी उपवास का फल नहीं प्राप्त किया जा सकता। (४) अध्ययन के विषय पर दृष्टि रखकर, आचार्य गुरु जिस किसी तप को करने के लिये कहें, उस तपको 'उपधान' कहा जाता है। ऐसा उपधान तप करने से जिज्ञासु की बुद्धि और वृत्ति निर्मल होती है और फिर अध्ययन विषयक जिज्ञासा की कसौटी भी भली हो जाती है। सुष्ठुरीत्या उपधान करके स्वाध्याय करने वाला अधिक निर्मल चित्तवाला साधु बन जाता है, स्वाध्याय में उस की वृत्ति एकाग्र हो जाती है और जैसी सेवा वह ज्ञान की करता है, वैसी ही सेवा करने के लिये ज्ञान उस की सेवा में उपस्थित रहता है। अध्यापक या विद्यागुरु का उपकार न भूलना चाहिये। न छिपाना चाहिए-यह भी ज्ञान का प्रशस्त आचार है। किसी समय, तीव्रबुद्धि शिष्य गुरु या अध्यापक से भी अधिक अध्ययन-अभ्यास करके आगे बढ़ जाता है, या किसी तुच्छ व्यक्ति से भी ज्ञान ग्रहण करने की जिज्ञासु को आवश्यकता पड़ती है, ऐसे समय गुरु का, अध्यापक का उपकार भूल न जाना चाहिये। या उपकार को स्वीकार करते लजाना न चाहिये (६) शास्त्र के मूल पाठ का शुद्ध उच्चारण करना चाहिए (७) अर्थ में भी शुद्ध

ता की रक्षा करना और जरा भी परिवर्तन न करना चाहिये। (८) मूल तथा अर्थ दोनों की शुद्धता समान रूपमें रक्षित रखकर अभ्यास करना चाहिये कि जिस से 'रक्ष' के स्थान पर 'भक्ष' जैसा हास्य जनक और दोषपूर्ण प्रयोग होना रुक जाय। इस प्रकार आठ आचारों सहित यदि ज्ञान की उपासना की जाय, तो जिज्ञासु स्वाध्याय रूपी अनुपम तप को सिद्ध कर सकता है।

दृष्टान्त—गुरु के उपकार को छिपाने वाला एक दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त होगा। एक नदी के किनारे एक बगुला बैठा हुआ मछली का शिकार कर रहा था। पानी में तैरती हुई मछलियों पर वह बड़े जोर की झपट करता और एक मछली को ही चोंच में पकड़ निकालता और अन्य दो तीन मछलियों को अपने पंजों में दबा रखता। फिर एक के बाद एक मछली को ऊपर उछाल कर चोंच से पकड़ लेता! नदी के उस पार बैठा हुआ एक भील बगुले की यह शिकार की कला देख कर बड़ा चकित हुआ। उसने भी बगुले का अनुकरण करना आरंभ किया। नदी में से कंकड़ बीन कर वह हाथ से ऊँचा उछालता और फिर कंकड़ को मुख से पकड़ लेता। धीरे-धीरे कंकड़ को दाँत से पकड़ लेने की कला भी उसने सिद्ध की। इसके बाद उसने कंकड़ की अपेक्षा लोहे की कील, मुख से दाँतों से पकड़ लेने का अभ्यास किया, और जब वह भली-भाँति सध गई, तब उसने छुरी पर अभ्यास किया और जब वह भी सध गई, तब तलवार का अभ्यास किया। इसके बाद उसने राजा-रजवाड़ों में घूमकर अपनी कला दिखलाई और मान-संमान प्राप्त करने लगा। एक राजा उसके इस प्रयोग से बहुत खुश हुआ और उसने पूछा—'क्यों जी, तुम्हें यह सुन्दर कला किस गुरु ने सिखलाई?' यह प्रश्न सुन कर वह भील विचार में पड़ गया। वास्तव में यह कला उसने बगुले

से ही सीखी थी। परन्तु उसे ख्याल हुआ कि यह बात कहने से उसकी प्रतिष्ठा चली जायगी; इसलिए उसने कहा—'इसे मैंने स्वतः ही बहुत परिश्रम करके सीखा है।' राजा ने कहा—अच्छा, तलवार का प्रयोग मुझे एक बार और करके दिखलाओ, उसे फिर देखने की इच्छा है।' गुरु के उपकार को छिपा कर, झूठ बोलने का दोष करने वाला भील, फिरसे तलवार को उछाल कर दाँत से पकड़ने का प्रयोग करने के लिए तैयार हुआ। उसने विचार किया कि उसकी इस स्वयं-सिद्ध कला से राजा को उसके प्रति बड़ा आदरभाव उत्पन्न हो गया है। इसलिए उसने और भी घमंड में आकर बड़ी अदा के साथ उसने तलवार को उछाला, परन्तु तलवार के नीचे आते ही, घमंड ने निशान चुका दिया, और आकर दाँतों में आने के बदले, उसके मुख और नाक पर पड़ी और वह सख्त घायल होकर उसी समय मर गया। (१८८)

[अब स्वाध्याय तप के उपसंहार में यह बतलाया जाता है कि उत्तरोत्तर कैसे विषयों का अभ्यास करके स्वाध्याय की सिद्धि करनी चाहिए।]

स्वाध्याय निष्ठा ॥१८९॥

ज्ञानाचारसमादरेण चरणद्रव्यानुयोगौ पुराऽ-
धीत्याऽध्यात्मविचारशास्त्रजलधेः पीत्वा च तत्त्वामृतम्
सम्पाद्य स्थिरतां धियो विमलतां चित्तप्रसादं तथा ;
प्राप्तव्यं जनितोत्तरोत्तरगुणैः स्वाध्यायनिष्ठापनम् ।

भावार्थ तथा विवेचन—पहले जो ज्ञान के आठ प्रकार बतलाये गये हैं, उनका सम्यक् प्रकार से आदर-पूर्वक संयम धारी को प्रथम चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग का अध्ययन

करना चाहिए । चरणानुयोग का अर्थ है—साधुओं के आचार का शास्त्र और द्रव्यानुयोग का अर्थ है—जगत् के सूक्ष्म पदार्थ आदि का ज्ञान । जब संयमी, पहले अपने आचार में दृढ़ और निर्दोष बन जाय और इस जगत् के पदार्थों तथा उनके पर्यायों का ज्ञान अपने चित्तरूपी भंडार में भली-भाँति भरले, तब ही वह सूक्ष्म पदार्थ—आध्यात्मिक विषय आदि के कठिन प्रदेश में गति करने योग्य बनता है: इसलिए ग्रन्थकार पहले चरण द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने के लिए कहकर, बाद में कहते हैं कि जिसमें आत्मिक विचारणा हो, उस आध्यात्मशास्त्र रूपी समुद्र का मथन करना चाहिए और उसमें से तत्त्वामृत का पान करके आत्मा की स्थिरता, बुद्धि की निर्मलता और चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिए । इस प्रकार 'उत्तरोत्तरगुणैः' अर्थात्—एक के बाद एक कदम आगे बढ़ाते हुए, गतिपूर्वक गुणश्रेणी पर चढ़ना चाहिए और स्वाध्याय की समाप्ति करनी चाहिए । स्वाध्याय की उच्च-से-उच्च चोटी पर पहुँचने का मार्ग इस प्रकार धीरे-धीरे पहाड़ पर चढ़ना है । (१८९)



ग्यारहवाँ परिच्छेद

तपश्चर्या: ध्यान

[अनुक्रम से तप का ग्यारहवाँ प्रकार 'ध्यान' उपस्थित हो रहा है। यह आभ्यन्तर तप का प्रकार है। ध्यान के लिए उसके क्षेत्र—चित्त—को दोष-रहित करना, आसन सिद्ध करना, श्वासोच्छ्वास पर जय प्राप्त करके प्राण के साथ चित्त का सम्बन्ध स्थापित करना और पश्चात् ध्यान के प्रकारों को पहचान कर शुभध्यान का आरम्भ करना आदि, इन सब विस्तृत विधियों को इस दीर्घ परिच्छेद में ग्रन्थकार कहना चाहते हैं। सबसे पहले नीचे के दो श्लोकों में ग्रन्थकार चित्त की निर्मलता साधने के हेतु उसके आठ दोषों से मुमुक्षु को परिचित करते हैं।]

चित्त के आठ दोष ॥१६०-१६१॥

दोषो ग्लानिरनुष्ठितौ प्रथम उद्वेगो द्वितीयस्तथा।
स्याद् भ्रान्तिश्च तृतीयकश्चपलतोत्थानं चतुर्थो मतः॥
क्षेपैः स्यान्मनसः क्रियान्तरगतिर्मुक्त्वा प्रवृत्तक्रिया-
मासङ्गः प्रकृतक्रियारतिरतो दुर्लक्ष्यतोर्ध्वं पुनः॥
तत्कालोचितवर्त्तनेऽरुचिरथो रागश्च कालान्तर—
कर्त्तव्येऽन्यमुदाहृयो निगदितो दोषः पुनः सप्तमः॥
उच्छेदः सदनुष्ठिते रुगभिधो दोषोऽष्टमो गद्यते।
ध्याने विघ्नकरा इमेऽष्ट मनसो दोषा विमोच्याः सदा॥

भावार्थ— किसी भी धार्मिक अनुष्ठान में ग्लानि उत्पन्न होना, चित्त का प्रथम दोष है। अनुष्ठान करते हुए उद्वेग रहना, दूसरा दोष है। अनुष्ठान के स्वरूप में भ्रांति होना— कुछ के बदले कुछ करना, तीसरा भ्रान्ति दोष है। अनुष्ठान में बैठने पर चित्त में चंचलता रहना, उत्थाननामक चौथा दोष है। चालू क्रिया छोड़ कर, दूसरी क्रिया में वृत्ति दौड़ाना, क्षेप नामक पाँचवाँ दोष है। चालू क्रिया से घबड़ा कर, बाद के अनुष्ठान का लक्ष्य न रखना, अर्थात् उत्तर क्रिया की उपेक्षा करना, आसंग नामक छठा दोष है। चालू अनुष्ठान में अरुचि रख कर, कालान्तर में करने वाले अनुष्ठान के प्रति राग रखना, अन्यमुद् नामक सातवाँ दोष है। सदनुष्ठान का उत्थापन करना—उच्छेद करना रुग् नामक आठवाँ चित्त का दोष है। चित्त के यह आठ दोष ध्यानश्रेणी पर चढ़ने में विघ्न उत्पन्न करने वाले हैं; इसलिए ध्यान के जिज्ञासुओं को इन दोषों का सर्वदा के लिए त्याग करना चाहिए। (१९०-१९१)

विवेचन—ध्यान, चित्त का विषय है; इसलिए सबसे पहले चित्त रूपी क्षेत्र को विशुद्ध करना चाहिए, यानी उसे दोष रहित बना लेना चाहिए। पतंजलि ने योगशास्त्र में चित्त की पाँच अवस्थाएँ बतलाई हैं, और हेमचन्द्राचार्य ने चार। वे पाँच अवस्थाएँ यह हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, और निरुद्ध। अन्य मत से—विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन—यह चार अवस्थाएँ हैं। इनमें से एकाग्र और निरुद्ध या श्लिष्ट और सुलीन—यह दो अवस्थाएँ, दोष रहित चित्त के ध्यान की सुसज्जित अवस्थाएँ हैं। और शेष अवस्थाएँ, दोष युक्त चित्त की जुदी-जुदी अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं के कारण चित्त में उत्पन्न होने वाले दोषों के प्रकार इस श्लोक में प्रदर्शित किये

गये हैं। पतंजलि के मतानुसार, "चित्त में विक्षेप करने वाले नौ प्रकार के अन्तराय हैं—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥' ।अर्थात्—व्याधि, स्त्यान (मूढ़ता), संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—यह नौ चित्त के विक्षेप हैं और सदनुष्ठान में अन्तराय हैं। जिस प्रकार यह नौ अन्तराय चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्था के अंकुर हैं, इसी प्रकार इन तीनों अवस्थाओं के अंकुर, यहाँ प्रकट किये गये आठ दोष भी हैं। संक्षेप में कहें, तो पतंजलि के बतलाये नौ दोष और यह आठ दोष, कि जो हरिभद्र सूरि के कथनानुसार हैं, एक समान ही हैं। ध्यान, या अन्य धर्मानुष्ठान के प्रति अन्तःकरण में ग्लानि उत्पन्न होना, विषाद होना, चित्त का प्रथम दोष है। किसी समय शरीर के रोग-ग्रस्त या थके होने के कारण, ऐसी ग्लानि उत्पन्न हो जाती है, और यह स्थिति ध्यान के लिए इष्ट नहीं है। किसी प्रकार की तृष्णा या इच्छा से चित्त में चिन्ता-उद्वेग का उत्पन्न होना, उसका दूसरा दोष है। पतंजलि जिसे अविरति दोष कहते हैं, वह इसी प्रकार का है। किसी अनुष्ठान का रूप यह होगा, या वह होगा—ऐसा संदेह होते रहना और साधन को असाधन तथा असाधन को साधन मान कर कुछ के बदले कुछ करना भ्रान्ति नामक तीसरा दोष है। पतंजलि-कथित भ्रान्तिदर्शन और संशय नामक दोषों का समावेश, इस एक दोष में हो जाता है। चंचलता के योग से उत्थान—चलित-विचलित अवस्था उत्पन्न होना और क्षेप—एक अनुष्ठान को छोड़ कर दूसरे अनुष्ठान के लिए इच्छा करना चित्त का चौथा तथा पाँचवाँ दोष है। यह दोनों दोष पतंजलि-कथित अनवस्थितत्व के फलरूप हैं; अर्थात्—चित्त की अस्थिरता के परिणाम रूप हैं। एक

अनुष्ठान में व्यस्त-त्रस्त या घबड़ा कर, अन्य अनुष्ठानों की उपेक्षा करने से आसंग उत्पन्न होता है, जो पतंजलि-कथित प्रमाद तथा आलस्य रूपी दोषों का ही परिणाम कहा जा सकता है। पतंजलि-कथित अलब्धभूमिकत्व नामक चित्त-दोष, साधक के चित्त को असन्तोष से बहिर्मुख रखता है, इसी प्रकार अन्य-मुद् नामक सातवाँ दोष, चालू—हो रहे—अनुष्ठान से साधक को असन्तुष्ट और अरुचिमान् रखकर, आगे होने वाले अनुष्ठानों के प्रति राग उत्पन्न कराता है। और अन्त में तदनुष्ठान का उत्थापन—उच्छेद—कराने वाला रुग् नामक दोष, तो पतंजलि-कथित स्त्यान-मूढ़ता—'चित्तस्याकर्मण्यता' की श्रेणी में आजाता है। इसके सिवा, दुःख, मनःक्षोभ, अंग के अजेयत्व और श्वास-प्रश्वास के विक्षेप को भी पतंजलि चित्त के दोष मानते हैं। परन्तु, ग्रन्थकार ने यहाँ इन दोषों को अलग नहीं किया और आगे बढ़ते हुए मन तथा प्राण का सम्बन्ध-साधन करने का, अंग को अजेयत्व प्राप्त करने के लिए आसनसिद्धि का, श्वास-प्रश्वास के दोष दूर करने के लिए प्राणायाम का विधान किया है, वह विशिष्ट दोषों का विरेचन करने का हेतु पूर्ण करने के लिए है। यह सब दोष चित्त के स्वाभाविक दोष हैं, अतएव वे मनुष्य के स्वभाव के साथ ही पैदा हुए हैं। मनुष्य-स्वभाव, सत्व, रजस्, और तमस् इन तीन गुणों से बना है, इसलिए इन तीनों गुणों के जुदे जुदे रूपों द्वारा, चित्त रूपी क्षेत्र के अन्दर अपना कर्त्तव्य पालन करता है। भगवद्गीता में कहा है कि—

> सर्वद्वारेषु देहेस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
> ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥
> लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
> रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

अर्थात्—इस देह की सब इन्द्रियों में जब ज्ञान रूपी प्रकाश उत्पन्न होता है, तब चित्त में सत्त्वगुण ही अधिक बढ़ा हुआ समझना चाहिये। चित्त में रजोगुण की अधिक वृद्धि होने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशान्ति और इच्छा उत्पन्न होती है। चित्त मे तमोगुण की अधिक वृद्धि होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद तथा मोह उत्पन्न होते हैं। इस पर समझ में आ जायगा कि चित्त में सत्त्वगुण के प्रधान होने पर भी जब इस में रजस् और तमस् विशेष व्याप्त हो जाते हैं और सत्व को गौण बनाकर खुद प्रधान बन जाते हैं, तब चित्त की दशा क्षिप्त, विक्षिप्त तथा मूढ़ हो जाती है। और ऊपर बतलाये हुए आठों दोष अपना व्यापार करने लगते हैं। चित्त तीनों गुणों से बना हुआ होने पर भी, इन गुणों में प्रधान या गौण बनने की शक्ति निहित है। जब चित्त की स्थिति ऐसी हो जाती है कि इस में सत्वगुण ही प्रधान हो जाय और रजस् तमस् का तिरोधान हो, तभी उपर्युक्त दोष स्वभाव के साथ पैदा हुए होने पर भी तिरोहित होते और ध्यान रूपी क्रिया के लिए चित्त क्षेत्र विशुद्ध बनता है। चित्त की ऐसी निर्दोष अवस्था तभी सिद्ध होती है कि जब वह सत्वप्रधान बन जाय, अर्थात्—एकाग्र और निरुद्ध हो जाय। पतंजलि में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' ऐसा जो महत्त्व-पूर्ण सूत्र कहा है, वह निरोध. ऐसी दोष-रहित या एकाग्र और निरुद्ध चित्तावस्था में ही संभव है। (१६०–१६१)

चित्त की दोषरहित या समस्थिति प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए? इस दोष को दूर करने के लिए पतंजलि 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' इस एक तत्त्व का अभ्यास-अध्ययन करने के लिए कहते हैं।

यह एक तत्व क्या है ? वे जुदे जुदे तत्त्व बतलाते हैं और उनमें 'वीतराग विषयं चित्तम्' तथा 'यथाभिमतध्यानाद्' का भी समावेश करते हैं। इन दोनों अभ्यासों की श्रेणियाँ ग्रन्थकार ने ग्रहण की हैं और तद्विषयक विधान में आगे बढ़ने के लिए ध्यानसिद्धि के अवलम्बन स्वरूप आसन-सिद्धि के विषय में पहिले कहते हैं।

आसन के प्रकार ॥ १६२ ॥

पर्यङ्कोत्कटिकाब्जवज्रलकुटाङ्गोत्सर्गवीरासन—
गोदोहासनभद्रकासनमिति ध्यानासनान्यूचिरे ॥
यद्यद्भाति सुखासनं स्थिरतया तस्यैव तेष्वादरो ।
हेयं कष्टदमासनं प्रथमतो ध्यानाचलारोहणे ॥

भावार्थ—पर्यंकासन, उत्कटिकासन, अब्ज-कमलासन, वज्रासन, लकुटासन, कायोत्सर्गासन, वीरासन, गोदोहासन, और भद्रकासन-यह नौ आसन ध्यानासन कहे गये हैं, तथापि आरंभ में ध्यान रूपी पर्वत पर चढ़ने के लिये, इन में से जो आसन सुख रूप मालूम हो और जिससे अधिक स्थिर रहा जा सके, उसे प्रथम ग्रहण करके कष्टप्रद आसन का त्याग करना चाहिए (१६२)।

विवेचन—चित्त की दोषरहित या समस्थिति की साधना, ध्यान का प्रथम पाद का पहिला कदम है। इस लिए ध्यान के मार्ग पर चलने से वे दोष दूर हो कर ध्यानसिद्धि भी प्राप्त हो जाती है। इस कारण, ध्यान की पूर्व पीठिका में चित्त के दोष दर्साये गये हैं; परन्तु ध्यान की प्रक्रिया से इतर चित्तदोषों के दूरी करण की विधि नहीं प्रकट की गई।

ध्यान की प्रक्रिया का आरम्भ करते हुए सबसे पहिले आसन

सिद्धि करनी चाहिये। योग के ८४ आसन हैं और योग के ग्रन्थों में इन सब आसनों की विधियें बतलाई गई हैं; परन्तु वह सब आसन ध्यान सिद्धि के लिये आवश्यक नहीं हैं। कारण कि इनमें से बहुत से आसनों का हेतु वायु पर जय प्राप्तकरना, या शरीर और उसकी शिराओं को स्वस्थ रखना है। इस कारण ग्रन्थकार ने ध्यान के लिए 'हेयं कष्टदमासनं' अर्थात्—कष्टप्रद आसनों को त्याग करने और सुखद आसनों को ग्रहण करने के लिए कहा है। काया को क्लेश देने वाले आसन—कष्टप्रद आसन, ध्यान सिद्धि में विघ्नकारी हो पड़ते हैं, इसलिए ऐसे आसनों को निरुपयोगी समझ कर, यहाँ केवल पर्यङ्कासन, उत्कटिकासन, कमलासन, वज्रासन, लकुटासन, कायोत्सर्गासन, वीरासन, गोदोहासन और भद्रासन—इन नौ आसनों को ध्यान के लिए उपयोगी माना है। इन नौ आसनों में से भी जो आसन मुमुक्षु को सुखासन प्रतीत हो, उसी को उसे उपयोगी समझना चाहिए। ध्यान में आसन का हेतु देह तथा मन की चंचलता, आलस्य आदि रजो और तमो गुण का नाश करना है—'आसनेन रजो हन्ति॥' यानी सुखासन करने का हेतु कष्टप्रद आसन का त्याग करना है; परन्तु ध्यान करते हुए आलस्य या तन्द्रा आने लगे, ऐसा सुखासन न करना चाहिए। प्रस्तुत नौ आसन ऐसे हैं कि जिससे रजोगुण दूर होता और देह को कष्ट नहीं हो पाता है। इन सब आसनों के सिद्ध करने की विधि नीचे लिखे अनुसार है—

पर्यंकासन—दोनों जंघाओं के निचले हिस्सों को पैरों के ऊपर रखकर, दाहिने और बाँयें हाथों को नाभि के पास ऊपर उत्तर-दक्षिण आड़े रखने से पर्यङ्कासन होता है। भगवान् महावीर के निर्वाण के समय यही आसन था। जानु और हाथों को पसार कर सोने को, पतंजलि पर्यंकासन कहते हैं।

उत्कटिकासन—नितम्बों को पैरों की पगथलियों से टिका कर

जमीन पर बैठने को उत्कटिकासन कहते हैं। इसी आसन में भगवान् महावीर को केवल ज्ञान हुआ था। लौकिक भाषा में जिसे उँकडू बैठना कहते हैं, वह यही आसन है।

पद्मासन-कमलासन—दाहिने पैर को बाँयीं जाँघ पर मध्य में और बाँयें पैर को दाहिनी जाँघ पर मध्य में रखना और दोनों तलुओं पर पहले बाँया हाथ चित रख कर उस पर दाहिना हाथ चित रखना चाहिए। दाढ़ी को हृदय के समीप चार अंगुल दूर रख कर, जीभ को ऊपर के दाँतों के मूल में स्थिर करके, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि करना चाहिए। यही पद्मासन या कमलासन है। योग शास्त्र में इस आसन को चित्त, प्राण तथा इन्द्रियों की स्थिरता प्राप्त करने वाला कहा है।

वज्रासन—बाँया पैर दाहिनी जंघा पर और दाहिना पैर बाँयीं जंघा पर रखकर वज्र की आकृति समान, पीछे की ओर दोनों हाथ रख कर उन हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़ना, यानी पीठ के पीछे हाथ करके बाँयें पैर के अँगूठे को बाँयें हाथ से और दाहिने पैर के अँगूठे को दाहिने हाथ से पकड़ना, वज्रासन कहलाता है। हठ योग में सिद्धासन को वज्रासन कहा जाता है।

लकुटासन—यह आसन योग शास्त्र के ग्रन्थों में नहीं है। जैन शास्त्र ग्रन्थों में है। जिस प्रकार गधे पर भार की गोन लादी जाती है, उसी प्रकार मस्तक का शिखास्थान और पैर, इन दोनों के आधार पर देह की कमान बना कर स्थिर होना लकुटासन या लगुडासन कहलाता है। (हेमचन्द्राचार्य नौ सुखासनों में लकुटासन को न गिन कर दंडासन को गिनते हैं। बैठ कर अँगुलियाँ, गुल्फ-तलुओं और जंघा, तीनों जमीन को छूलें, इस प्रकार पैर लम्बे करना दंडासन कहलाता है 'ज्ञानार्णव' में दंडासन का नाम नहीं है।)

कायोत्सर्गासन—दो भुजाओं को नीचे लटकती छोड़ कर, खड़े या बैठे हुए काया की अपेक्षा किये विना रहना, कायोत्सर्गासन कहलाता है।

वीरासन—नीचे पैर किये सिंहासन पर बैठे हुए यदि आसन खींच लिया जाय, और तब मनुष्य जिस स्थिति में रह सकता है, उसे वीरासन कहते हैं। यह वीरासन काय क्लेश तप के सम्बन्ध में व्यवहृत होता है। सुखासन के रूप में जो वीरासन है, वह इस प्रकार है—बाँया पैर दाहिनी जाँघ पर और बाँयीं जाँघ पर दाहिना पैर हो।

गोदोहिकासन—पैर के अँगूठे और अँगुलियों के आधार पर यानी पैर के पंजों के बल दोनों जाँघों पर दोनों हाथों की कोहनियाँ टिका कर बैठना गोदोहिकासन है। संक्षेप में कहा जाय, तो गाय को दोहने के लिए जिस प्रकार बैठा जाता है, उस प्रकार ध्यान करने के लिए बैठना गोदोहिकासन है।

भद्रासन—नितम्ब के बाँयें भाग में बाँये पैर की एड़ी, और दाहिने भाग में दाहिने पैर की एड़ी लगा कर बैठना चाहिए, इस प्रकार जब दोनों पैरों के तलुओं का सम्पुट हो जाय, तो दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर गूँथ कर, दोनों हाथों को पैरों पर रख लेना, भद्रासन कहलाता है। कठिन आसनों से शरीर थक गया हो, तो यह आसन उस थकावट को दूर कर देता है। (ज्ञानार्णव' में भद्रासन का 'सुखासन' नाम दिया गया है।)

इनमें से कोई भी आसन दीर्घ समय तक स्थिर करने का अभ्यास करना आवश्यक है और इसके लिए ग्रंथकार ने 'स्थिरतया' शब्द का प्रयाग किया है। आसन में स्थिरता प्राप्त हुए विना ध्यान भली भाति नहीं साधा जा सकता। योग-प्रदीपिका में कहा है कि "कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्"

अर्थात्, स्थिरता, आरोग्य, और अंगलाघव का साधन हो, वही आसन करना चाहिये। पतञ्जलि भी "स्थिरसुखासनं" सूत्र के के द्वारा आसन की स्थिरता का बोध कराते हैं। (१६१)

[आसन-सिद्धि करने के बाद प्राणायाम की दिशा का बोध करने के हेतु ग्रन्थकार प्राण और मन का सम्बन्ध समझाते हैं।]

प्राण और मन का सम्बन्ध ।१६३।।

यावत्प्राणगतिर्भवेन्न नियता तावत्स्थिरं नो मनो।
मिश्रत्वादुभयोर्मनःपवनयोः क्षीराम्बुवत्सर्वथा ॥
छेदे प्राणगतेर्मनोगतिरपि च्छिन्नैव तस्याः पुन-
र्विच्छेदे विषयैः सहेन्द्रियगतिर्नष्टैव सिद्धिस्ततः ॥

भावार्थ—जब तक प्राण की गति नियन्त्रित नहीं होती, तब तक मन स्थिर नहीं होता, क्योंकि मन और प्राण दूध और पानी का तरह ओत-प्रोत हो गये हैं। यदि प्राण की गति भंग हो जाय, तो मन की गति को भी भंग हुई समझना चाहिये और मन की गति का भंग हो जाय, तो विषयों के साथ इंद्रियों की गति भी रुक गई समझना चाहिये और विषयों के प्रति इंद्रियों की गति का रुक जाना ध्यान की सिद्धि है। (१६३)

विवेचन—'प्राण' शब्द के द्वारा यहाँ 'वायु' का बोध होता है। जब तक देह में वायु की गति होती रहती है, तभी तक जीवन है और जब यह वायु देह में से हमेशा के लिए निकल जाती है, तब देह की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार वायु की गति के साथ इस स्थूल देह की जीवित अवस्था का सम्बन्ध है। यदि प्राण या वायु की इस गति को नियन्त्रित किया जाय, तो मन भी नियन्त्रित हो जाता है। मन और प्राण दूध और पानी

की तरह ओत-प्रोत हैं। हेमचन्द्राचार्य मन और प्राण को "सम्वितौ नीरक्षीरवत्" कहते हैं। यानी प्राण को नियत करने से मन भी नियत हो जाता है और प्राण को अनियत रखने पर मन चंचल हो उठता है। हठयोग—प्रदीपिका में कहा है कि—

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥

अर्थात्--जब प्राणवायु चलायमान होता है, तब चित्त भी चलायमान हो जाता है और जब प्राण-वायु निश्चल होता है, तब चित्त भी निश्चल रहता है। जब प्राण-वायु और चित्त निश्चल होते हैं, तब योगी निश्चल होता है, इसलिए वायु का निरोध करना चाहिये।

प्राण-वायु की स्थिरता पर मन की स्थिरता का भी आधार है, इसलिए यदि प्राण-वायु की गति का भंग किया जाय, तो मन की गति का भी भंग हो जाय। यानी वह स्थिर—निश्चल हो जाय। मन के निश्चल होने या मन की गति का भंग होने से मन की आज्ञा का अनुसरण करने वाली इन्द्रियों की गति का भी भंग हो जाता है। अर्थात्, इंद्रियाँ अपनी प्रवृत्ति को रोक देती हैं। इंद्रियाँ स्व-स्व विषय की रागी हैं। वे हमेशा विषय कषाय में गतिमान् रहती हैं, परन्तु उनकी गति का भंग होने पर उनके विषय-कषाय-प्रवृत्ति रूपी व्यापार का भी भंग हो जाता है और ऐसा होने पर ध्यान की सिद्धि अपने आप हो जाती है। इसलिए प्राणवायु की गति का भंग करना चाहिये। अर्थात्, निरोध करना चाहिये। (१६३)

[प्राण की गति का निरोध करना प्राणायाम है। इस प्राणायाम को किस प्रकार सिद्ध करना चाहिये? नीचे के दो श्लोकों में ग्रन्थकार इस विषय की चर्चा करते हैं।]

प्राणायामः-रेचक, पूरक तथा कुंभक ।१६४।१६५॥

प्राणायाम उपाय एक उदितो ध्यानस्य संसिद्धये ।
श्वासोच्छ्वासगतिच्छिदात्मकतया ख्यातःपुनःस त्रिधा
वायुः कोष्ठगतोऽतिमन्दगतितो निःसार्यते यद्बहिः ।
सोऽयं रेचकनामको निगदितो भेदस्तदीयोऽग्रिमः ॥
घ्राणाद्द्वादशकाङ्गुलस्थपवनं त्वाकृष्य यत्पूर्यते ।
कोष्ठे पूरकनामकः स मुनिभिर्भेदो द्वितीयो मतः ॥
नाभावेव स पूर्यमाणपवनो यत्नेन यद्रुध्यते ।
सोऽयं कुम्भकनामकः सुविदितो भेदस्तृतीयः पुनः ॥

भावार्थ—मन को स्थिर करके—ध्यान की सिद्धि प्राप्त करने के लिए प्राणायाम एक उपाय बतलाया गया है। श्वासोच्छ्वास की गति के निरोध यानी प्राणायाम के तीन प्रकार प्रसिद्ध हैं। पेट में खींची हुई वायु को बहुत धीरे-धीरे बाहर निकालना, प्राणायाम का रेचक नामक पहला प्रकार शास्त्रकारों ने बताया है। (१६४) नाक से बारह अंगुल दूर की बाहरी वायु को खींचकर कोठे में भरना, पूरक नामक प्राणायाम का दूसरा प्रकार बतलाया गया है। कोठे में भरी हुई वायु को नाभि-स्थान पर रोक रखना, प्राणायाम का कुंभक नामक तीसरा प्रकार कहा गया है। (१६५)

विवेचन—पूर्व श्लोक में प्राण की गति के भंग की जो आवश्यकता बतलाई गई, उसका भावात्मक अर्थ यह है कि प्राण-वायु की गति का निरोध करना, इसी का नाम प्राणायाम है। हेमचन्द्राचार्य अपने योग शास्त्र में कहते हैं कि "प्राणायामो

गतिच्छेदः श्वासप्रश्वासयोर्मतः ॥" पतञ्जलि भी प्राणायाम की यह व्याख्या करते हैं कि "श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः" अर्थात्, श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद करना—निरोध करना—उसकी गति को रोकना प्राणायाम कहा जाता है। इस निरोध के तीन विभाग हैं—"रेचकः पूरकश्चैव कुंभकश्चेति स त्रिधा ॥" रेचक, पूरक और कुम्भक। बाहर की वायु नस्कोरों—नथुनों के द्वारा अन्दर जाती है, इसे श्वास कहते हैं और अन्दर की अशुद्ध वायु नस्कोरों के द्वारा बाहर निकलती है, उसे प्रश्वास कहते हैं। श्वास के समय बाहर की वायु नाक में होकर गले के पिछले हिस्से से कण्ठ के द्वारा फेफड़े में जाती है। कण्ठ में जो श्वास-नालिका है, वह गर्दन से नीचे पीठ तक चली गई है और उसके दो विभाग हो गये हैं, प्रत्येक भाग एक-एक फेफड़े में जाता है। इस प्रत्येक बड़े भाग की शाखाएँ भी फेफड़ों में चारों ओर फैल जाती हैं। उनकी भी अनेक शाखाएँ हो जातीं और बहुत सूक्ष्म होकर उनके सिरों की बगल में और उनके ऊपर करोड़ों सूक्ष्म गोलियाँ सी होती हैं। वे पारदर्शक होती हैं और फेफड़े के ऊपर तथा अन्दर रहती है। इन पर रक्त की केशवाहिनियों का जाल फैला हुआ है और उनमें शरीर का दूषित रक्त घूमता रहता है। श्वास लेने पर बाहर की हवा इन्हीं में भर जाती है। और वह हवा दूषित रक्त के साथ मिलकर उसे शुद्ध करती है। इस प्रकार श्वास और प्रश्वास से शरीर में अनेक परिवर्त्तन होते हैं। परन्तु यदि नाक से श्वास न लेकर अन्न नलिका से ली जाय, तो वह ओजड़ी और आँतों में होकर मलद्वार से निकल जाती है। जब ओजड़ी और आँतों में खाद्यांश नहीं होता, तब कुछ हवा भरी रह जाती है और वह डकार या मलद्वार के वायु संचार से बाहर निकल जाती। इस प्रकार नासिका द्वारा ही प्राण वायु का किया गया पान हितकारक है।

इसलिए प्राणायाम नासिका द्वारा ही करना चाहिए। प्राणायाम का प्रथम अंग जो रेचक है, वह फेफड़ों से नासिका-द्वारा वायु का रेचन करने की क्रिया है। परन्तु यह रेचन, गहरी साँस से न करके 'अतिमंदगतितः' यानी बहुत धीरे-धीरे करना चाहिए। जोर से रेचन करने पर बल क्षीण होता है। इसीलिए धीरे-धीरे रेचन करने के लिए कहा गया है। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि—'रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः' दूसरी नाड़ी से वायु को धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए—जोर से नहीं। रेचक-पूरक का हेतु यह नहीं है कि 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ स संभ्रमौ' लुहार की धौंकनी के समान रेचक-पूरक को संभ्रम के साथ करना चाहिए। जब मंदगति से वायु का विसर्जन किया जाय, तभी वह रेचक होता और प्राणायाम का अंग बनता है। प्राणायाम का दूसरा अंगपूरक है। नाक से बारह अंगुल दूरी के वायु को खींच कर कोठे में यानी फेफड़ों से लेकर नाभि तक भर लेने को पूरक कहा जाता है। यह पूरक भी धीरे-धीरे ही किया जाता है। 'प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः' अर्थात्—सूर्य नाड़ी द्वारा वायु को खींच कर धीरे-धीरे उदर को भरना चाहिए। योग ग्रन्थों में यही विधान किया गया है। इस प्रकार कोठे में भरी हुई प्राण-वायु को रोक रखना, नया वायु को न खींचना और रोकी हुई वायु को न छोड़ना कुम्भक कहा जाता है। इस कुंभक से प्राण की गति का नाश होता है। योगशास्त्र में कुंभक के आठ प्रकार बताये गये हैं; पर उनकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। परन्तु कुंभक करने की शक्ति जितनी बढ़ जाती है, प्राणायाम की क्रिया उतनी ही फलवती सिद्ध होती है। रेचक और पूरक करने के सम्बन्ध में योगी जन एक विशेष सूचन करते हैं कि दाहिने नस्कोरे से वायु खींच कर बाँये नस्कोरे से छोड़ना और पुनः

दाहिने नस्कोरे से वायु खींच कर बायें नस्कोरे से छोड़ना चाहिए। इस प्रकार का प्राणायाम विशेष हितकारी है। और इस प्रकार एक नस्कोरे से वायु खींचने और छोड़ने में दूसरे को दबा रखने के लिए अँगुलियों का प्रयोग करने में कोई हानि नहीं है। इस प्राणायाय को, अनुलोम—विलोम प्राणायाम कहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने प्रारंभ में रेचक, फिर पूरक और अन्त में कुंभक करने के लिए कहा है। यह प्राणायाम का एक क्रम है और तांत्रिक क्रम है। पतंजलि इसी क्रम का सूचन करते हैं। दूसरे क्रम में, पहले पूरक, फिर कुंभक और अन्त में रेचक किया जाता है। इसे वैदिक क्रम कहा जाता है। इसको याज्ञवल्क्य ने सूचित किया है। परन्तु यह दोनों क्रम, प्राणवायु की गति का भंग या उच्छेद करने और चित्त को निर्मल बनाने के लिए समान उपयोगी हैं। प्राणायाम का अभ्यास कहाँ तक बढ़ाना चाहिए, इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि—

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रौ च कुंभकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥

अर्थात्—प्रातःकाल, मध्याह्न, सन्ध्याकाल और मध्यरात्रि—इन चारों कालों में धीरे-धीरे अस्सी तक चार बार प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। (अभ्यास करने वाले को 'असज्झाय' के समय को छोड़ देने का खयाल रखना चाहिए।) यही प्राणायाम की मुख्य विधि है। (१६४—१६५)

[इस प्रकार प्राणायाम करने से क्या फल प्राप्त होता है, नीचे के श्लोक में ग्रन्थकार यही बतलाते हैं।]

प्राणायाम का फल ॥१६६॥

प्राणाऽपानसमानकप्रभृतयः पञ्चाऽनिला देहगा—
स्तत्स्थानादिकबोधनेन मुनिना कार्यः शुभस्तज्जयः ।
स्यात्प्राणादिजये शरीरमखिलं नीरोगमभ्यासतो ।
हृत्पद्मं विकसेच्च सत्वरमलं साध्या भवेद्धारणा ॥

भावार्थ—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच वायु देह में होती हैं। इन प्रत्येक के स्थान और स्वरूप को मालूम करके ध्यान के जिज्ञासुओं को उन पर विजय प्राप्त करना चाहिए। प्राणादि वायु को जीतने से शारीरिक रोगों का निवारण हो सकता है। और शरीर के निरोग होने से ध्यान का अभ्यास भली भाँति किया जा सकता है। इससे हृदय कमल जल्दी विकसित होता और धारणा भली-भाँति साध्य हो जाती है। (१६६)

विवेचन—शरीर में प्राणादि नामक पाँच प्रकार की वायुओं का वहन होता है। मुख्य तो 'प्राण' और 'अपान' ही हैं, परन्तु स्थान-भेद से तथा क्रिया-भेद से इनके पाँच प्रकार माने गये हैं। श्वास द्वारा बाहर की प्राणवायु हृदय प्रदेश में जाती है, वह रक्त को सब प्रकार से चेष्टा-संचार—कराती है और क्षुधा-तृषा उत्पन्न करना उसकी क्रियाएँ हैं। गुदा और उसके आस-पास के स्थान में रहने वाली वायु "अपान" है। मल-मूत्र को नीचे ले जाना और वीर्य का विसर्जन करना इसका काम है। समान वायु नाभि-मंडल में रहती है। खाये-पीये रसों को भली भाँति संचालित करके, शरीर को पुष्ट करके, सब रसों को नाड़ियों में यह विभक्त कर देती है। उदान

वायु का स्थान कंठ है। और श्वास इसकी क्रिया है। शरीर को झुकाना, उठाना, वाणी को स्पष्ट करना इसका कार्य है। व्यान वायु सारे शरीर में व्याप्त है। यह प्राण-अपान को धारण करने में मदद करती है। प्राण-अपान का कुंभक आदि कार्य इससे होता है। यह सारे शरीर में रक्त का संचार कराने वाली और स्पर्शेन्द्रिय की सहायक है। इन प्राणादि वायुओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके इनको जीतना मुनियों के लिए आवश्यक है। कारण कि इनको जीतने से शरीर निरोग होता है और ध्यानादिक अभ्यास के द्वारा हृदयरूपी-कमल—अनाहत चक्र—के विकसित होने से धारणा सिद्ध होती है। जब तक प्राणायाम से श्वास-प्रश्वास की गति नियन्त्रित नहीं होती, तब तक शरीर की नाड़ियाँ मल से प्राप्त रहती हैं और उनमें भिन्न-भिन्न वायुओं की गति नियमित रूप में नहीं हो सकती। 'मलाकुलासु नाड़ीसु मारुतो नैव मध्यगः' अर्थात्—मल से भरी हुई नाड़ियों में वायु मध्यचारी नहीं हो पाती; परन्तु—

> शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
> तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः॥

जब सारा मलाकुल नाडीचक्र शुद्ध हो जाता है, तभी प्राण के संग्रहण में योगी शक्तिमान होता है।

> विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
> सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥

विधि-पूर्वक किये गये प्राणायामों में से नाडीचक्र विशुद्ध हो जाता है और प्राणवायु सुषुम्नानाडी के मुख को खोलकर प्रवेश करती है।

> मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
> यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥

जब सुषुम्ना के मध्य में प्राणवायु का संचार होता है, तब मन की स्थिरता उत्पन्न होती है और यह स्थिरता ही मनोन्मनी अवस्था है।

सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्राणवायु का संचार होते ही नाभि प्रदेश में स्थित कुंडलिनी जागृत होती है। मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क से लेकर गुदा तक जो चक्र हैं, उनमें से एक चक्र का नाम कुंडलिनी है। यह कुंडलिनी सर्वदा सुप्त अवस्था में ही रहती है। प्राणायाम के द्वारा योगीजन इसे जागृत करने का यत्न किया करते हैं।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥

जब इस प्रकार सोई हुई कुंडलिनी जागती है, तब सर्व ग्रन्थियाँ भिद जाती हैं और सब कमल खिल जाते हैं।

ग्रन्थकार ने संक्षेप में यहाँ यह कहा है कि प्राणादि को जीतने पर 'हृत्पद्म' विकसेत्' हृदय-कमल विकसित होता है—इसका विस्तृत अर्थ यह है कि प्राण के सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करने पर कुंडलिनी जागृत होती है और सब कमलों का विकास होता है। केवल 'हृत्पद्म' अकेले हृदय-कमल का ही उल्लेख करने का हेतु यह है कि हृदय-प्रदेश में स्थित कमल. 'अनाहत चक्र' कहलाता है और जब कुंडलिनी जागृत होती है, तब योगी को इस चक्र में से अनहद—अनाहत—नाद सुनाई पड़ता है। ध्यान-सिद्धि का यह एक उच्च सोपान है। जब कुंभक किया जाता है, तब उसका धक्का कुंडलिनी को लगता है, और उसके सर्पाकार होने पर भी जागृत होकर सीधी हो जाती है और प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करके प्रत्येक चक्र को भेदता हुआ ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँचता है। यह ब्रह्मरन्ध्र मस्तिष्क की जगह है। उस

समय मनोवृत्ति शान्त हो जाती है, अनेक जन्मों की वासना के संस्कारों का नाश हो जाता है और विवेकबुद्धि उत्पन्न होती है। यह समाधि की दशा है। अनाहतचक्र में नाद सुनना मध्यम दशा है। इस सब विषय को ग्रन्थकार ने संक्षेप में समझाया है; कारण कि इसकी सिद्धि बिना गुरु के समझाये असंभव है और गुरु का समझाना आवश्यक भी है। सुप्रसिद्ध थियोफिस्टपंडित लेडबीटर सच ही कहते हैं कि—'I should advise every one to abstain from them unless directed to try them by a competent teacher who really understands what they are intended to achieve.' अर्थात्—'मैं प्रत्येक जिज्ञासु को सलाह देता हूँ कि योग क्रियाओं को भली भाँति समझाने और करने वाले गुरु की देखरेख के बिना इन क्रियाओं को करने का प्रयत्न न करना चाहिए।' (१९६)

[ध्यान शुद्धि और चित्त शुद्धि के लिए यह द्रव्य प्राणायाम की बात हुई; परन्तु इससे भी विशिष्ट जो भाव प्राणायाम है, अब उसके विषय में ग्रन्थकार कहते हैं।]

भाव प्राणायाम ॥ १९७ ॥

बाह्यप्राणविशोधनं न सफलं स्यात्सर्वथा योगिना—
मत्रास्ति क्षतिसम्भवोऽपि न ततोस्याऽत्यादरःशोभनः
तत्त्यक्त्वा बहिरात्मभावमखिलं भावं निपूर्यान्तरं।
स्थातव्यं परमात्मभावशिखरे ध्यानाङ्गमेतद्वरम् ॥

भावार्थ—ऊपर बताये हुए द्रव्य प्राणायाम की रीति से, यद्यपि बाह्य प्राण की शुद्धि होने से, रोगादि की निवृत्तिरूप फल

होना संभव है, तथापि आत्मध्यानपरायण योगियों के लिए वह पूर्ण नहीं है, यानी बाह्यप्राणशोधन सर्वथा सफल नहीं है। बल्कि इसकी रीति में कोई परिवर्त्तन हो जाने से हानि होना भी संभव है। इसलिए इसका अधिक करना आवश्यक नहीं है। भाव प्राणायाम के स्वरूप को समझ कर ही उसे करना चाहिए। भाव प्राणायाम में बहिरात्मभाव का रेचक, अन्तरात्मभाव का पूरक और परमात्मभाव का कुंभक करना चाहिए। यह भाव-प्राणायाम, ध्यान का उत्तम अंग है। (१६७)

विवेचन—पतंजलि, योग के आठ अंग बतलाते हैं—'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि ॥' यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि--यह आठ अंग हैं। इनमें से चार अंगों के विषय में, यहाँ तक विवेचन हो चुका है। पतंजलि ने जो क्रम बताया है, उनका ग्रहण यहाँ नहीं किया गया है, तो भी उसके आशय की रक्षा करते हुए इस विषय में कहा गया है। राजयोग या हठयोग में चित्त पर विजय प्राप्त करने के लिए, आसन-प्राणायाम का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है, तो भी चित्त पर विजय प्राप्त करने का एक दूसरा मार्ग भी है और वह भाव प्राणायाम है। वायु के निरोध द्वारा प्राणायाम का साधन करने से चित्त पर जो विजय प्राप्त किया जा सकता है, वही विजय भावप्राणायाम से भी किया जा सकता है। इसी भावप्राणायाम के विषय में यहाँ कहा जा रहा है। वायु पर विजय प्राप्त करने वाले द्रव्य-प्राणायाम के लाभ तो बतला दिये गये हैं; परन्तु उनसे हानि होना भी संभव है। योगशास्त्र के ग्रन्थों में प्राणायामादि क्रियाओं से अनेक प्रकार के रोगों का नष्ट होना बतलाया गया है, वह सच है। अमुक प्रकार के आसनों से अंगोपांगों पर अच्छा अधिकार प्राप्त

किया जा सकता है और शरीर की सहनशक्ति में वर्द्धन करने के सिवा आरोग्य की रक्षा भी की जा सकती है; परन्तु यह प्रक्रिया 'न सफलं स्यात्सर्वथा' सर्वथा सफल नहीं होती और इसके साधक-जिज्ञासु की आशा पूर्ण नहीं हो पाती—यही वह कहना चाहते हैं। कारण कि उसमें कोई भूल या परिवर्त्तन होने से हानि होना संभव है। योगशास्त्र के ग्रन्थों में भी यह भय स्पष्ट रूप में प्रकट किया गया है, हठयोग-प्रदीपिका में कहा है कि—

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः॥
हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णादिवेदना।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः॥

अर्थात्—युक्त प्राणायाम से सब रोगों का नाश होता है; परन्तु अयुक्त प्राणायाम से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। हिचकी, श्वास, कास, शिरो रोग, कर्ण रोग, और ज्वरादि, नाना प्रकार के रोग, प्राणवायु के कोप से हो जाते हैं। इस मार्ग के ग्रहण करने वालों को पंडित लेडबीटर स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देते हैं—
'We are sometimes told that such a faculty can be developed by means of exercises which regulate the breathing, and that this plan is one largely adopted and recommended in India. It is true that a type of clairvoyance may be developed along these lines but too often at the cost of ruin both physical and mental. Many attempts of this sort have been made in Europe and America. This I know personally because many who have ruined their constitutions and in some cases

brought themselves to the verge of insanity, have come to me to know how they could be cured. Some have succeeded in opening astral vision sufficiently to feel themselves perpetually haunted; some have not even reached that point, yet have wrecked their physical health or weakened their minds that they are in utter despair; some one or two declare that such practice has been benificial to them.' अर्थात्—कई बार हम से यह कहा जाता है कि दीर्घ श्वास-प्रश्वास के व्यायाम—प्राणायाम—से दिव्य दर्शन शक्ति का विकास किया जा सकता है और भारत में इस पद्धति का अनुसरण तथा सूचन भली भाँति किया जाता है। यह बात सच है कि एक प्रकार की दिव्य-दर्शनशक्ति, इस भाँति पैदा की जा सकती है; परन्तु उसके लिए बहुत समय तक शारीरिक और मानसिक शक्तियों को बलि देना पड़ता है। यूरोप और अमेरिका में इसप्रकार शक्तिविकास करने के अनेक प्रयत्न हुए हैं, इस बात को मैं स्वतः जानता हूँ, कारण कि इस पद्धति के अनुसार प्रक्रिया करने वाले बहुत से लोग मेरे पास आये कि जिन्होंने अपने शारीरिक संघटन का नाश करा दिया था और अन्य लोगों को भी यह पागलपन सवार करा दिया था, वे यह जानना चाहते थे कि इस प्रकार के रोगों से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है। कई लोग दिव्यदृष्टि प्राप्त करने में सफल हुए हैं और इससे वे हमेशा अपने आस-पास प्रेतात्माओं को घूमते देखते हैं! कई, अभी इस स्थिति तक नहीं पहुँचे हैं, तो भी अपने शरीर के आरोग्य का नाश कर चुके और मन को यहाँ तक निर्बल बना चुके हैं कि उन्हें बिल्कुल निराशा होगई है। केवल दो एक ही मुझे ऐसे मिले कि जिन्होंने

इस पद्धति को अपने लिए लाभदायक बताया है।' और सिद्धि के लिए प्राणायाम की कोई अनिवार्य आवश्यकता भी नहीं है। हेमचन्द्राचार्य इस विषय में स्पष्ट कहते हैं—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः ॥
पूरणे कुंभने चैव रेचने च परिश्रमः ।
चित्तसंक्लेशकरणान्मुक्तेः प्रत्यूहकारणम् ॥

अर्थात्—प्राणायाम से पीड़ित हुआ मन स्वस्थ नहीं रहता; कारण कि प्राण का निग्रह करते हुए शरीर को कष्ट होता है और शरीर को कष्ट होने से मन में चपलता आती है। पूरक, कुंभक और रेचक करने में परिश्रम होता है। परिश्रम से मन में संक्लेश-खेद होता है और मन की संक्लेशित स्थिति मोक्ष-मार्ग का एक वास्तविक विघ्न है।

इस द्रव्य प्राणायाम के बदले यदि भाव प्राणायाम किया जाय, तो वह अभय और सिद्धिदायक हो सकता है। जिस प्रकार प्राणायाम में वायु का रेचक, पूरक और कुंभक किया जाता है, उसी प्रकार भाव-प्राणायाम में बहिरात्म-भाव का रेचक, अन्तरात्म-भाव का पूरक और परमात्म-भाव का कुंभक करना चाहिये, कि जो ध्यान का उत्तमोत्तम अंग है। योग सूत्र-कार पतञ्जलि केवल हठयोग की क्रियाओं या प्राणायामादि का ही प्रतिपादन नहीं करते। वे कहते हैं कि "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" अर्थात्—अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध होता है। (कि जो योग की व्याख्या है।) पुनः "यत्नोऽभ्यासः" इस सूत्र के द्वारा वे अभ्यास की यह व्याख्या करते हैं कि चित्त के निरोध करने का जो अत्यन्त मानसिक उत्साह है, वही

यत्न है और 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥' अर्थात् विषयों से राग-शून्य चित्त की जो वशीकार संज्ञा—वितृष्णा है, वह वैराग्य है। इन अभ्यास और वैराग्य को वायु पर विजय प्राप्त करने की एक ही दिशा में उद्बोधित नहीं किया जा सकता; बल्कि भाव-प्राणायाम की दूसरी दिशा में भी किया जा सकता है और इससे ध्यान सिद्धि के इतर मार्ग का भी उद्बोधन होता है। ग्रन्थकार ने इसी मार्ग को बतलाया है। पण्डित लेडबीटर भी इसी मार्ग को सही-सलामत मानते हैं। वे योग-प्रक्रियाओं से दिव्य शक्तियों को विकसित करने के बदले एकाग्रता, ध्यान और धारणा का मार्ग बतलाते हैं, कि जो भाव-प्राणायाम का ही एक स्वरूप है। वे कहते हैं कि 'The man who would try for the higher must free his mind from worry and from lower cares; while doing his duty to the uttermost, he must do it impersonally and for the right's sake and leave the result in the hands of higher powers.........But the man who wishes to try to unfold these faculties within himself will be very ill-advised if he does not take care first of all to have utter purity of heart and soul, for that is the first and greater necessity.' इन शब्दों का तात्पर्य है कि जो मनुष्य उच्चशक्ति पैदा करने का यत्न करना चाहता हो, उसे सांसारिक दुःखों और तुच्छ प्रकार की चिन्ताओं को अपने मन से निकाल कर बाहर कर देना चाहिए। (बहिरात्म-भाव का रेचक) इसके पश्चात् यथायोग्य कर्त्तव्यों का भली भाँति पालन करना चाहिए, बिल्कुल निष्काम-भाव से; अपने लिए नहीं, बल्कि सत्य के लिए करना चाहिए। (अन्तरात्म-भाव का पूरक) और

अन्त में उनका फल परमात्मा के हाथ में ही रहने देना चाहिए। (परमात्म-भाव का कुम्भक)...परन्तु जो मनुष्य अपने में इन शक्तियों का साक्षात्कार हुआ देखना चाहता हो, वह यदि अपने अन्तःकरण और आत्माको पवित्र रखने का ध्यान न रखे, तो यह अनुचित समझा जायगा. कारण कि इस प्रकार के विकार के लिए पवित्रता परम आवश्यक वस्तु है। एक ही पहाड़ की चोटी पर जाने के लिए जिस प्रकार अनेक मार्ग होते हैं, उसी प्रकार एक ही ध्यान की सिद्धि के लिए दो मुख्य मार्ग ग्रन्थकार ने बताये हैं। उनमें से पहला द्रव्य-प्राणायाम है, और दूसरा भाव-प्राणायाम। द्रव्य-प्राणायाम की अपेक्षा भाव-प्राणायाम का मार्ग विशेष कठिन अवश्य है, परन्तु द्रव्य प्राणायाम का मार्ग जितना भय पूर्ण है, भाव-प्राणायाम का मार्ग उतना ही निर्भय है। द्रव्य-प्राणायाम के मार्ग का अनुसरण करने वाले राजयोग का साधन करने जाकर हठयोग में पड़ जाते हैं और उसमें भी सिद्धि न होने पर या तो शारीरिक-मानसिक आरोग्य गँवा बैठते हैं और या चरित्र में पतित हो जाते हैं। परन्तु भाव-प्राणायाम के मार्ग में पतित होने का कोई कारण ही नहीं उपस्थित होता। इसलिए इसमें कदम बढ़ाना धैर्यशाली, परन्तु दृढ़ और निर्भय है और इससे उसे उच्च स्थान दिया गया है। (१६७)

[अब योग के पाँचवें अंग प्रत्याहार के विषय में समझाया जाता है।]

प्रत्याहार ॥ १६८ ॥

यावद्धावति चञ्चलेन्द्रियगणो बाह्येषु शब्दादिषु।
स्याच्चित्तं मलिनं बहिस्तदनुगं ध्यानस्य नो संभवः ॥
अत्यावश्यक इन्द्रियार्थविजयश्चित्तं विधातुं स्थिरं।
प्रत्याहार उदाहृतोऽयममलो योगस्य सत्साधनम् ॥

भावार्थ—जब तक चपल इन्द्रियाँ बाह्यशब्दादि की ओर दौड़ा करती हैं, तब तक चित्त भी मलिन होकर उनके पीछे पीछे भटका करता है। यानी ध्यान की सिद्धि होना संभव नहीं होता। इस लिये चित्त को स्थिर करने के वास्ते विषय की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को पकड़ कर वश में रखना आवश्यक है। इसी का नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहार भी योग का एक निर्मल साधन है ॥१८८॥

विवेचन—द्रव्यप्राणायामादि या भावप्राणायामादि से चित्त की चंचलता का एक बार नाश कर दिया गया, यानी चित्त को स्थिर कर लिया गया, फिर भी यदि इन्द्रियां वशीभूत नहीं रहतीं तो इस से चित्त पुनः अपने आप पतित होने लगता है। कहा है कि—

इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य द्रवते प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥

अर्थात्—यदि सब इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय का स्खलन हो जाता है, तो जिस प्रकार चर्मपात्र के छिद्र से जल बह जाता है, उसी प्रकार उस स्खलन से उस पुरुष की प्रज्ञा बह जाती है। इस लिये इन्द्रियों को अपने अपने विषय की ओर जाने से रोकना चाहिये और स्थिरचित्त का अनुसरण करने वाली बना कर मुमुक्षु को प्रत्याहार का आदर करना चाहिये। पतञ्जलि कहते हैं कि—'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ अर्थात्—अपने विषय के असम्बन्ध में, इन्द्रियों का, चित्त के स्वरूप का अनुसरण करना प्रत्याहार है और उस की सिद्धि से इन्द्रियों की परम विजय होती है।

यह कह कर ग्रन्थकार इन्द्रियों के सब प्रकार के कार्यों को रोकना नहीं चाहते। 'यावद्धावति चंचलेन्द्रियगणः' इन शब्दों के उपयोग का हेतु यह है कि इंद्रियाँ चंचलता के साथ विषयों की ओर दौड़ती हैं, यही अनिष्ट है, यह नहीं कि इंद्रियों के सब कार्य ही निर्मूल कर दिये जायँ। इंद्रियाँ अपना कार्य समबुद्धि से न करें, रसिकता से उनमें डूब न जायँ, यही तात्पर्य है। आँख से हजारों चीजें नजर पड़ती हैं, तो भी यदि उन दृश्य पदार्थों की ओर देखने में राग-भाव न हो, तो इससे बन्ध नहीं प्राप्त होता। प्रिय और अप्रिय हजारों शब्द सुनने में आयें, तो भी उनके ग्रहण करने में राग या द्वेष न हो, या प्रिय शब्द के सुनने में सुख का भाव और अप्रिय शब्द सुनने में दुःख का भाव उत्पन्न न हो, तो इससे यह नहीं कहा जा सकता कि श्रवणेन्द्रिय चंचलता की ओर—अपने विषय की ओर दौड़ती है। यानी इससे बन्ध नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार जीभ, नाक और स्पर्शेन्द्रिय के लिए समझ लेना चाहिये। जिसने इंद्रियों पर विजय प्राप्त करली है, उसके लिये इन्द्रियों का व्यापार या कार्य-कर्म बन्धकारक नहीं है, इसीसे कहा जाता है—ज्ञानी का भोग भी निर्जरा का हेतु है।' परन्तु कई सम्प्रदायों में अजितेन्द्रिय भी आजकल जितेन्द्रियों का स्वाँग भर कर इन्द्रियों के विषय का रसिकता से भोग करते हैं और इससे इस प्रकार की मान्यता इस समय निन्दनीय समझी जाती है। गृहस्थावास में तीर्थंकर भोगावलिकर्मों का भोग करते हुए भी, बहुत कर्मों को न बाँधते थे. इसका कारण यह था कि विषयों पर उनकी राग-द्वेष की परिणति अत्यन्त मन्द थी और वे उदासीन परिणामी थे। प्रत्याहार मन की इसी स्थिति का वाचक है। और योग का एक साधन है। परन्तु बाह्य इंद्रियों के निग्रह के बिना, आन्तर इन्द्रियों का निग्रह, सर्वथा सब किसी के लिए सम्भव न होने

के कारण, बाह्य और आन्तर उभय इंद्रियों का निग्रह, प्रत्याहार के साधक को करना उचित है। (१९८)

[अब योग के एक विशेष अंग 'धारणा' के विषय में कहा जाता है।]

धारणा ।१९९॥

नासाग्रं हृदयं मुखं च नयनं नाभिश्च भालं श्रुति-
स्तालु भ्रू रसना च मस्तकमिति स्थानानि योगस्य वै॥
एषामन्यतमे स्थलेऽभ्यसनतश्चित्तस्य यद्बन्धन-
मेतल्लक्षणधारणाऽपि सततं साध्या समाध्यर्थिभिः॥

भावार्थ—नासिका का अग्रभाग. हृदय, मुख, नेत्र, नाभि, कपाल, कान, तालु, भौंह, जीभ और मस्तक—यह ग्यारह स्थान ध्यान अथवा धारणा के बतलाये गये हैं। इनमें से किसी भी स्थान पर, अभ्यास के बल से चित्त को रोकना, धारणा है। समाधि के इच्छुक को निरन्तर अभ्यास करके धारणा को सिद्ध करना चाहिये। (१९९)

विवेचन—ध्येय प्रदेश में चित्त के बंध का नाम धारणा है। कहा है कि—

> प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
> वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥
> एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते॥

अर्थात्—प्राणायाम से पवन को और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश में करके, चित्त को शुभ स्थान पर स्थित करना धारणा कहलाती है। पतंजलि धारणा को चित्त का देशबन्ध कहते हैं। चित्त को किस-किस देश में बाँधना चाहिये, इसके विषय में

ग्रन्थकार ने यहाँ ग्यारह स्थान गिनाये हैं—नासिका का अग्रभाग, हृदय, मुख, नेत्र, नाभि, कपाल, कान, तालु, भौंहे, जीभ और मस्तक। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य धारणा के ११ स्थान बतलाते हैं। और लगभग ऐसी ही दस आध्यात्मिक धारणायें गरुड़ पुराण में बतलाई गई हैं—

> प्राङ्नाभ्यां हृदये चाथ तृतीये च तथोरसि।
> कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु॥
> किंचित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्तिताः॥

अर्थात्—नाभिचक्र, हृत्पद्म, अनाहत चक्र, कण्ठ, जिह्वा का अग्रभाग, नाक का अग्रभाग, नेत्र, भ्रू का मध्यस्थान, मूर्धा और मूर्धा के ऊपर का दस अंगुल स्थान—यह दसों स्थान धारणा के बतलाये गये हैं।

जिसने आसन और प्राणायाम की सिद्धि करली है, उसे धारणा की सिद्धि के लिए अधिक यत्न नहीं करना पड़ता; परन्तु जो लोग कच्चे अभ्यास से धारणा को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें कुछ अधिक परिश्रम करना पड़ता है; इस कारण ग्रन्थकार ने 'अभ्यसनतः' और 'सततं' इन दो क्रियाविशेषण अव्ययों का व्यवहार किया है। इस शब्द प्रयोग का तात्पर्य यह है कि सतत अभ्यास के द्वारा ही चित्त को जुदे जुदे स्थानों में बाँधा जा सकता है और धारणा सिद्ध की जा सकती है। ध्यान तथा समाधि के शिखर पर चढ़ने के लिए, धारणा एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। और सोपान की तरह ही उसका उपयोग करना चाहिए। जिस प्रकार आसन सिद्ध करने वाले और आगे न बढ़ कर, आसनों के व्यायाम से लोगों को चकित करने वाले खिलाड़ी बन जाते हैं और प्राणायाम करने वाले भी आगे न बढ़ कर, वायु को वशीभूत करने के

चमत्कार दिखला कर प्रतिष्ठा पाते हैं, उसी प्रकार धारणा की सिद्धि पर पहुँचे हुए नेता भी कभी कभी पतित हो जाते हैं। उपर्युक्त ग्यारह अंगों में मन को स्थिर करने का अभ्यास करने से, बहुत कुछ सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जीवन, मरण, पराजय, लाभालाभ आदि की जानकारी, चमत्कृति, दिव्यशब्दश्रवण आदि प्राप्त होने पर अर्धदग्ध योगी उस ओर मुड़ जाता और समाधि के अपूर्व आनन्द को धता बता देता है! इससे लौकिक ख्याति भले ही कुछ प्राप्त हो जाय, पर आत्महित का साधन नहीं होता और आत्मा पतित होने लगती है। उसके साधित इन्द्रिय-निग्रह और चित्त की स्थिरता आदि का जो आध्यात्मिक लाभ है, उसे भी वह खो देता है। इसलिए मुमुक्षु को धारणा तभी करनी चाहिए कि जब वह समाधि का ही इच्छुक हो, अन्यथा नहीं। इसी कारण ग्रन्थकार ने 'समाध्यर्थिभिः' इन शब्दों का प्रयोग हेतुपूर्वक किया है। (१६६)

[अब ग्रन्थकार 'ध्यान' विषय पर आते हैं। और प्रथम ध्यान का लक्षण समझाते हैं।]

ध्यान का लक्षण ॥ २०० ॥

ऐकाग्र्यं मनसः स्वलक्ष्यविषये ध्यानं मतं तज्जिनै-
र्लक्ष्यं चेदशुभं तदाऽशुभमिदं स्यादार्त्तरौद्रात्मकम् ॥
हेयं तद्द्विविधं सदा मुनिवरैर्ध्यानं तु सेव्यं शुभं।
यल्लक्ष्येण शुभेन सम्भवति वै तद्धर्म्यशुक्लात्मकम् ॥

भावार्थ—अपने लक्ष्य या ध्येय की ओर मन को एकाग्र करना, जिन भगवान् ने ध्यान कहा है। यह ध्यान शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। लक्ष्य-ध्येय—यदि अशुभ हो,

तो वह आर्त्त और रौद्र रूप अशुभ ध्यान हो जाता है। इन दोनों प्रकारों का अशुभ ध्यान मुनियों को सर्वथा त्याग देना चाहिए। शुभ लक्ष्य—ध्येय—के साथ मन को एकाग्र करने से, धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान रूपी शुभध्यान की निष्पत्ति होती है, इन्हीं दो ध्यानों को ग्रहण करना चाहिए। (२००)

विवेचन—अपने लक्ष्य में चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है, फिर वह लक्ष्य चाहे इष्ट हो, या अनिष्ट, शुभ हो या अशुभ। शुभ लक्ष्य का ध्यान हितकर और अशुभ का अहितकर—यह प्रकट ही है। योग के किसी भी ग्रन्थ में अशुभ ध्यान के कर्त्तव्य नहीं बतलाये, फिर भी ध्यान के प्रकारों में अशुभ ध्यान को गिनना पड़ता है; इसलिए यहाँ शुभ तथा अशुभ सब प्रकार के ध्यानों का ज्ञान कराया गया है। याज्ञवल्क्य सगुण और निर्गुण ध्यान को आदरणीय बतलाते हुए कहते हैं—

अन्यान्यपि बहून्याहुर्ध्यानानि मुनिपुंगवाः।
मुख्यान्येतानि चैतेभ्यो जघन्यानीतराणि तु॥

अर्थात्—मुनिगण और भी कई ध्यान बतलाते हैं; परन्तु उनमें यह दो (सगुण और निर्गुण) ध्यान मुख्य हैं, अन्य निम्न श्रेणी के हैं। जैन शास्त्र ध्यान की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

अन्तोमुहुत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु॥

अर्थात्—एक ही वस्तु में अंतर्मुहूर्त्त मात्र जो चित्त का अवस्थान-एकाग्रता-है, वह छाद्मस्थिक का ध्यान और योग का निरोध जिनेश्वरों का ध्यान है। छाद्मस्थिक अवस्था का ध्यान यदि शुभ हो, तो वह मोक्ष का हेतु हो जाता और अशुभ

हो, तो वह संसार का हेतु बन जाता है। ध्यान की गिनती में तो दोनों आते हैं; परन्तु ध्यान की शुभाशुभता ही मोक्ष और बन्ध की कारणीभूत होती है।

अहो ध्यानस्य माहात्म्यं येनैकापि हि कामिनी।
अनुरागविरागाभ्यां भवाय च शिवाय च॥

ओह! ध्यान का कैसा माहात्म्य है कि जिससे एक ही कामिनी-स्त्री अनुराग और विराग के द्वारा संसार और मोक्ष के लिए साधनभूत हो जाती है। अशुभ ध्यान के दो प्रकार-आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान हैं, और शुभध्यान के दो प्रकार धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं। जैसा लक्ष्य हो, वैसा ही उस ध्यान का प्रकार समझना चाहिए। अशुभ प्रकारों का त्याग और शुभ प्रकारों का आदर करना चाहिए।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान की गणना अप्रशस्त और त्याज्य ध्यान के रूप में यहाँ की गई है; परन्तु अनावश्यक होने के कारण ग्रन्थकार ने उन्हें विशेष स्पष्ट नहीं किया है। श्री महावीर भगवान ने इन दोनों ध्यानों के प्रकार सूत्र में समझाये हैं। अप्रिय संयोग आजाने पर उसके वियोग का चिंतन करना, प्रिय संयोग की सदोदितस्थिति के लिए सोचना, रोग के हो जाने पर उसके वियोग की और सुखकारी कामभोग की प्राप्ति होने पर उसका वियोग न होने की आकांक्षा करना आर्त्तध्यान कहलाता है। जो आर्त्तध्यान के चक्कर में आ जाता है, वह चिन्ता करता है, रोता चीखता है-यही उसके लक्षण हैं। हिंसा का, झूठ का, चोरी का और भोगोपभोग के संरक्षण का अनुबंध करना रौद्रध्यान कहलाता है। इस ध्यान के चक्कर में आया हुआ मनुष्य हिंसादि का थोड़ा बहुत दोष अवश्य करता है। अनिष्टशास्त्रों का अध्ययन करता है और मरने तक पाप के

लिए पश्चात्ताप नहीं करता। यह दो अप्रशस्त ध्यानों की बात हुई। दूसरे दो, जो प्रशस्त ध्यान हैं, उनके विषय में ग्रन्थकार ने आगे विस्तार से विवेचन किया है। (२००)

[ध्यान का लक्षण समझाने के बाद, निम्न श्लोक में ग्रन्थकार प्रशस्त ध्यान की आवश्यकता समझाते हैं।]

ध्यान की आवश्यकता ॥ २०१ ॥

मोक्षः कर्मलयात्मकः स च भवेन्नैवात्मभानं विना।
तद्भानं सुलभं भवेन्न यमिनां चित्तस्य साम्यं विना॥
साम्यं सिद्ध्यति नैव शुद्धिजनकं ध्यानं विना सर्वथा।
तस्माद्ध्यानयुगं श्रयेन्मुनिवरो धर्म्यं च शुक्लं पुनः॥

भावार्थ—कर्म का सर्वथा विलय होना मोक्ष है। यानी कर्म और दुःख के बन्धन से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है और आत्मा का भान हुए बिना उसका संभव नहीं है। चित्त की साम्यावस्था के बिना संयमी को भी आत्मा का भान होना सुलभ नहीं है, चित्त की साम्यावस्था भी मल और विक्षेप को दूर करने वाले शुभ ध्यान के बिना सर्वथा संभव नहीं है। इस-लिए संयमधारियों को मोक्ष प्राप्ति के लिए परम्परा से धर्मध्यान और शुक्लध्यान का आश्रय लेना चाहिए। (२०१)

विवेचन—शुभ ध्यान का फल आत्म-साक्षात्कार है और आत्म-साक्षात्कार मोक्ष का साधन है। इसलिए शास्त्रों में ध्यान की परमावश्यकता बतलाई है। जब तक चित्त ध्यान के द्वारा साम्य—अवस्था नहीं प्राप्त करता, और साम्यावस्था के लिए चित्त के मलविक्षेप रूपी दोषों का नाश नहीं होता, तब तक मुमुक्षु को आत्मा का भान नहीं होता। इसीलिए कहा है—

सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति यावन्तः केऽपि मानवाः।
ध्यानतपोबलेनैव ते सर्वेऽपि शुभाशयाः ॥

अर्थात्—जो कोई सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे, वे सब शुभाशय वाले ध्यान तप के बल से ही सिद्धता प्राप्त करते हैं।

निर्जराकरणे बाह्यात्छ्रेष्ठमाभ्यन्तरं तपः ।
तत्राप्येकातपत्रत्वं ध्यानस्य मुनयो जगुः ॥

अर्थात्—निर्जरा करने में बाह्य तप से आभ्यन्तर तप श्रेष्ठ है, इसमें भी ध्यान तप एक छत्र है चक्रवर्ती है—मुनिगण ऐसा कहते हैं।

ध्यान के बिना आत्मा का भान नहीं होता और केवल शुभ ध्यान से ही आत्म भान होने पर संसार तर जाने के उदाहरण मिलते हैं। पहले चक्रवर्ती भरत तथा माता मरुदेवी के दृष्टान्त दिये गये हैं, उन पर से मालूम होगा कि केवल शुभध्यान के ही योग से उन्होंने वे सिद्धियाँ पाई थीं। कोई कहेंगे कि उन्होंने प्राणायाम, आसन और धारणा की भूमि को तय करके नियमानुसार तपश्चर्या कहाँ की थी? गरुड़ पुराण में जैसे इसी शंका का उत्तर देते हुए कहा है।

आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः ।
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराहि प्रकीर्तिताः ॥

अर्थात्—आसन और स्थान की विधियाँ योग के लिए अत्यन्त उपकारक नहीं हैं—यह सब विस्तार उत्तमाधिकारी को योग में विलम्ब करने वाले कहलाते हैं। इस पर से समझ में आ जायगा कि धीरे-धीरे आगे बढ़ने की शक्ति रखने वाले मुमुक्षु के लिए, पूर्वोक्त सब क्रम आवश्यक होने पर भी परमावश्यक तो ध्यान ही है। कारण कि मुंडकोपनिषद् में कहे अनुसार

'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥' अर्थात्—ध्यान करने वाला पुरुष ही, चित्त शुद्ध होने पर परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार जैन और जैनेतर शास्त्रग्रन्थ ध्यान पर ही आत्मसाक्षात्कार और परिणामतः सिद्धिपद का आधार बताते हैं 'ध्यान विन्दु' उपनिषद् में ध्यान की महिमा यहाँ तक बताई गई है कि—

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनान् बहून् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कथंचन ॥

अर्थात्—यदि पर्वत के समान ऊँचे और अनेक योजन तक विस्तार वाले पाप हों, तो भी ब्रह्म का ध्यान करने से उन सब पापों का भेदन हो जाता है, अन्य किसी भी उपाय से नहीं होता।

दृष्टान्त—राजर्षि प्रसन्नचन्द्र राजगृही नगरी के निकटस्थ वैनारगिरि पर्वत के पास कायोत्सर्ग ध्यान में लीन विराजते थे। एक बार राजदूत के मुख से निकले हुए अशुभाचरण वाले शब्द उनके सुनने में आये और उनके हृदय में बहने वाली शुभ परिणाम की धारा कुंठित हो गई और युद्धादि करने के अशुभ परिणाम की धारा बहने लगी। वे इसी अवस्था में इतने दुर्ध्यान तक बढ गये कि सातवें नरक के योग्य कर्म बँध गये। बाद में सिर पर जरा हाथ फेरा। सिर पर राज मुकुट नहीं था, केवल मुंडित मस्तक! तुरन्त उनको ज्ञान हुआ कि अरे, मैं तो साधु हूँ और मैंने मनमें यह युद्ध करने और चक्रव्यूह रचने की इच्छाएँ कहाँ से करलीं? अपना अशुभ कर्म उनकी समझ में आ गया। पश्चात्ताप हुआ। पुनः भाव निर्मल होने लगे और परिणाम स्वरूप निर्मल ध्यान करते हुए केवल ज्ञान प्राप्त किया। श्री महावीर स्वामी से, प्रसन्नचन्द्र के मरण और अन्य गति में

अवतार के विषय में, राजा श्रेणिक ने पूछा, इतनी ही देर में तो राजर्षि प्रसन्नचन्द्र केवल ज्ञानी हो गये थे। यह केवल शुभ ध्यान का ही प्रभाव है। (२०१)

[अब यह बतलाया जाता है कि ध्यान के लिए कैसा स्थान पसन्द करना चाहिए ।]

ध्यान के योग्य स्थान ॥२०२॥

उद्यानं कदलीगृहं गिरिगुहा द्वीपं सरित्सङ्गमो।
ग्रामैकान्तगृहं च शैलशिखरं वृक्षस्तटं तोयधेः॥
यत्र स्त्रीपशुपण्डकाद्यगमनं कश्चिन्न कोलाहलः।
स्थानं तादृशमुत्तमं यमभृतां ध्यानस्य संसिद्धये॥

भावार्थ—उद्यान, कदलीगृह, पर्वत की गुफा, द्वीप, दो नदियों या नदी और समुद्र का संगम स्थान, गाँव का एकान्त घर, पर्वत शिखर, वृक्ष, समुद्रतट आदि स्थान, कि जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक बालक आदि का आवागमन न हो और किसी प्रकार का कोलाहल न होता हो, ऐसा शान्त स्थान संयमी मुनियों के ध्यान की सिद्धि के लिए उत्तम है। (२०२)

विवेचन—ध्यान का स्थान पवित्र और किसी भी प्रकार के उपद्रव से रहित होना चाहिए। कारण कि ऐसे अनुकूल स्थान के न मिलने से यदि प्रतिकूल स्थान पर ध्यान किया जाता है, तो ध्यान का भंग हो जाता है। कई संयोग ध्यानादि योग क्रियाओं के लिए प्रतिकूल और कई अनुकूल होते हैं। हठयोग-प्रदीपिका में कहा है कि अत्यन्त आहार, परिश्रम, बकवाद, नियम का अनादर, मनुष्यों का समागम और चंचलता—इन छः दोषों से योग का विनाश होता है। और, उत्साह, साहस,

धैर्य, तत्त्वज्ञान, निश्चय तथा जन समागम का परित्याग—इन छः नियमों से योग की सिद्धि होती है। इस त्याज्य और ग्राह्य परिस्थिति में, उपद्रव रहित एकान्त स्थान की भी महिमा प्रकट की गई है। 'गोरक्ष-शतक' में कहा है कि—

> वर्जयेद्दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
> प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशविधिं तथा ॥
> एकान्ते विजने देशे पवित्रे निरुपद्रवे ।
> कंबलाजिनवस्त्राणामुपर्यासनमभ्यसेत् ॥

अर्थात्—दुर्जन के समीप वास, अग्नि का तापना, स्त्री-संसर्ग, तीर्थ यात्रा गमन, प्रातःस्नान उपवासादि तथा शरीर को क्लेश देनेवाली क्रियाएँ—इन सबका योगाभ्यासकाल में त्याग कर देना चाहिए। उपद्रव हीन, पवित्र तथा निर्जन एकान्त स्थान में केवल, मृगचर्म या वस्त्र के ऊपर आसन का अभ्यास करना चाहिए।

योग क्रिया के लिए प्रतिकूल स्थान तथा संयोगों का त्याग करके अनुकूल स्थान तथा संयोगों को विचार पूर्वक इस श्लोक में ध्यान के लिए उपयुक्त बतलाया गया है। उद्यान—बगीचा—कि जहाँ मनुष्यों का आवागमन अधिक न हो, और जो सार्वजनिक बाग न हो, कदलीगृह यानी केले का कुंज, पर्वतों की गुफा कि जहाँ बिल्कुल नीरवता हो, शान्त तथा एकान्त द्वीप-स्थान दो नदियों या नदी और समुद्र का संगमस्थान कि जो शान्त हो और जहाँ बहते जल की मन्द कल-कल ध्वनि के सिवा और कोई कोलाहल न हो, नगर का एकान्त घर, पर्वत का शिखर, वृक्ष समुद्रतट आदि स्थान शान्तिपूर्ण और एकान्त वाले होते हैं; अतएव ध्यान के लिए उपयोगी हैं। और यदि ध्यान के लिए नगर का कोई घर पसन्द किया जाय, तो चित्त को चलित करने

वाले स्त्री, पशु; नपुंसकादि—जो स्थान के लिए उपद्रव कारक हैं—का आवागमन न होना चाहिए। यहाँ नदियों के संगम स्थान को कोलाहल रहित माना गया है; कारण कि बहते जल की ध्वनि मन्द-मन्द और कर्ण प्रिय होती है। परन्तु कोई-कोई योगी तो ऐसे स्थान को भी कोलाहल-पूर्ण और उपद्रवकारक समझकर उसके त्यागने के लिए कहते हैं। श्वेताम्बर उपनिषद् में योगाभ्यास के लिए अनुकूल स्थान नीचे लिखे अनुसार बतलाया है—

समे शुचौ शर्करवह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाशयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीड़ने गुहानि वाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

अर्थात्—सब ओर से समान, पवित्र, कंकड़ अग्नि रेती कोलाहल और जलाशय से रहित, मनके अनुकूल; मच्छर से रहित, अत्यन्त वायु से रहित, गुफा आदि स्थान में साधक को योगाभ्यास करना चाहिए। मतलब यह कि सब प्रकार अनुकूल और निरुपद्रवस्थान ध्यान के लिए पसन्द करना चाहिए। (२०२)

[अब यह बतलाया जाता है कि कैसी स्थिति में ध्यान करने के लिए बैठना चाहिए।]

ध्यान की स्थिति ॥ २०३ ॥

श्लाघ्या पूर्वदिशाऽथवोत्तरदिशा ध्यानाय शास्त्रे मता।
तत्काष्ठाभिमुखो यथोक्तसमये स्थित्वा यथाऽर्हासने॥
नासाग्रे नयनद्वयं स्थिरतरं कृत्वाऽथ शान्ताननो।
ध्याताऽक्षिप्तमनाः प्रमादरहितो ध्याने च तिष्ठेन्मुनिः

भावार्थ—ध्यान के लिए, शास्त्र में पूर्व या उत्तर दिशा को उत्तम माना गया है। इसलिए इन दिशाओं की ओर मुख करके, यथोचित समय, योग्य आसन लगाकर, शान्त मुख, विक्षेप और

प्रमाद से रहित मनवाले मुनि को नासिका के अग्रभाग पर दोनों नेत्रों को अत्यन्त स्थिर करके ध्यान के लिए बैठना चाहिए। (२०३)

विवेचन—ध्यान के लिए पूर्व या उत्तराभिमुख, योग्य समय और योग्य आसन लगा कर बैठना चाहिए। और योग्य समय के सम्बन्ध में यह कि पहले साधु की दिनचर्या-विषय पर कहते हुए ध्यान के समय निश्चित कर दिये हैं। और योग्य आसन के सम्बन्ध में यह कि पहले जो नौ सुखासन बतलाये गये हैं, उनमें से कोई एक आसन चुन लेना चाहिए। बाद में जो धारणा के स्थान बताये गये हैं, उनमें एक स्थान पर जो नासिका का अग्रभाग है, दृष्टि स्थिर करके ध्यान का आरंभ करना चाहिए। परन्तु, ध्यान में ध्याता को अपना मन विक्षेप तथा प्रमादयुक्त न बनने देना चाहिए। ध्यानस्थिति के इन सब लक्षणों पर से समझ में आ जायगा कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, इन पाँचों का योग जब सुष्ठु रीति से होता है, तभी ध्यान सफल होता या यथार्थ ध्यान हुआ समझा जाता है। थियोसोफीस्ट लोग भी ध्यान की विधि, लगभग इसी प्रकार की योग्य समझते हैं। मि० लेडबीटर कहते हैं कि—'Choose a certain fixed time for yourself when you can be undisturbed; the early morning is in many ways the best, if that can be managed......Sit down comfortably where you will not be disturbed, and turn your mind with all its newly-developed power of concentration, upon some selected subject demeding high and useful thought. We in our Theosophical studies have no lack of such

subjects, combining deepest interest with greatest profit. अर्थात्—अपने लिए तुम एक ऐसा सही टाइम—सच्चा समय पसन्द करलो या चुन लो कि जिसमें तुम्हें किसी भी प्रकार का मानसिक या शारीरिक कष्ट न हो या कोई अड़चन न आये। अनेक दृष्टियों से बहुत करके प्रातःकाल ही सर्वोत्तम समय है; इसलिए यदि हो सके, तो यही समय ध्यान के लिए निश्चित करना चाहिए……इस समय तुमको ऐसे स्थान पर सुख पूर्वक बैठना चाहिए कि जहाँ तुम्हें किसी प्रकार का विघ्न न हो। फिर एकाग्रता से विकसित चित्त को अपने किसी पसन्द किये हुए विषय की ओर लगाओ। यह विषय ऐसा होना चाहिए कि जिसमें उच्च और उपयोगी विचारों की आवश्यकता हो। अपने थियासोफी के अध्ययन में हमें ऐसे विषयों की कमी नहीं मालूम होती, कि जो खूब सरस हों और जिनके विचार लाभदायक हों।'

ध्यान साधने की रीतियों में न्यूनाधिक परिवर्त्तन होने पर भी, जैन तथा जैनेतर शास्त्र इस प्रकार उसकी पद्धति का साम्य ही प्रकट करता है। (२०३)

[ध्यान के विषय में साधारण विवेचन करने के बाद, अब ग्रन्थकार दो प्रकार के प्रशस्त शुभ ध्यानों के विषय में विवेचन करते हैं। नीचे के दो श्लोकों में पहले धर्म ध्यान के विषय में चार प्रकार का निदर्शन किया जाता है।]

धर्मध्यान के प्रकार: आज्ञा विचय और अपायविचय ॥२०४॥

आज्ञाऽपायविपाकरूपविचयैर्धर्म्यं चतुर्धा मतं।
सार्वाज्ञाऽऽदरपूर्वचिन्तनमलं ध्यानं तदाज्ञात्मकम्॥

रागद्वेषकषायदोषजनिता हानिर्यदा मृश्यते।
शुद्ध्यर्थं निपुणैरपायविचयध्यानं द्वितीयं तु तत्॥

भावार्थ—धर्म ध्यान के कुल चार प्रकार हैं—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। आत्मा के उद्धार के लिए तीर्थंकर की क्या-क्या आज्ञाएँ हैं जब आदर पूर्वक इसका पूर्ण रीत्या चिन्तन किया जाय और इस पर मन को एकाग्र कर लिया जाय, तब धर्मध्यान के प्रथम प्रकार 'आज्ञा विचय' की निष्पत्ति होती है। राग, द्वेष और कषाय के दोषों से क्या-क्या हानियाँ होती हैं, जब इनका चिंतन किया जाय और इन दोषों की शुद्धि के लिए दृढ़ विचार करते हुए उन पर मन को एकाग्र कर लिया जाय, तो 'अपाय विचय' नामक धर्मध्यान का दूसरा प्रकार सिद्ध होता है। (२०४)

विपाक विचय और संस्थान विचय॥ २०५॥

प्राग्जन्मार्जितपुण्यपापजनितं सर्वं च दुःखं सुखं।
यत्रेत्थं परिभाव्यते तदनघं ध्यानं विपाकाभिधम्॥
संस्थानं जगतः सपादशिखरं गत्यागती तद्भवे।
चिन्त्यन्ते स्थिरमानसे यदमले ध्यानं चतुर्थं तु तत्॥

भावार्थ—संसार की सर्व सम्पत्ति या विपत्ति, सुख या दुःख, संयोग या वियोग, पूर्व जन्म के उपार्जित अपने पुण्य या पाप के ही फल हैं, जब यह विचार किया जाय और इस पर अपने मन को एकाग्र कर लिया जाय, तब 'विपाक विचय' नामक धर्मध्यान के तीसरे प्रकार की सिद्धि होती है। और, जब इस लोक-जगत् के नख से शिख तक के आकार और

उसमें जीव का जाना और आना जन्म और मरण या परिभ्रमण का, अपने एकाग्र हुए निर्मल मन में चिंतन किया जाय, तो संस्थान विचय नामक धर्मध्यान का चौथा प्रकार सिद्ध होता है। (२०५)

विवेचन—जिस प्रकार पतंजलि अपने योग सूत्र में सगुण और निर्गुण के रूप में ध्यान के दो प्रकार बतलाते हैं, उसी प्रकार जैन-शास्त्र में धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान के रूप में प्रशस्त ध्यान के दो प्रकार कर दिये गये हैं। तो भी यह दोनों वर्गीकरण एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं, यानी यह वर्गीकरण एक ही दृष्टि से नहीं हुआ है। सगुण ध्यान, आलम्बन-सहित ध्यान है और निर्गुण, आलम्बन-रहित। और धर्मध्यान आलम्बन सहित तथा शुक्ल ध्यान कुछ आलम्बन सहित और कुछ रहित है। इसके विषय में आगे चलकर विवेचन किया जायगा। धर्मध्यान या सगुण ध्यान, दोनों में दृष्टि बिन्दु एक समान है और वह यह कि चित्त की परम उच्च दशा प्राप्त करने के लिए उच्च भावना से चित्त का पोषण करना चाहिए। सगुण ध्यान है सूर्य, विष्णु, अग्नि आदि देव-स्वरूपों को मनमें धारण करके उन्हें अपना ही स्वरूप समझना, 'सोऽहं' का अवधारण करना। और धर्मध्यान उन देवों के मूर्त्त स्वरूपों का नहीं; बल्कि उनके जीवनगुणों की न्यूनता का चित्त में ध्यान करके उच्च श्रेणी पर पहुँचने का ध्यान करता है। थियोसोफिस्ट लोग, चित्त को स्थूल पदार्थों के मानसिक ध्यान का अभ्यास कराने के पश्चात् जीवन के उच्च गुणों के विकास के प्रति ध्यान करने की पद्धति बतलाते हैं। पंडित लेडबीटर कहते हैं कि—If you prefer it you can take some moral quality, as is advised by the Cotholic Church when it prescribes this exercise. In that case,

you would turn that quality over in your mind, see how it was an essential quality in the Devine order, how it was manifested in Nature about you, how it had been shown forth by great men of old, how you yourself could manifest it in your daily life, how (perhaps). you have failed to display it in the past and so on. Such meditation upon a high moral quality is a very good exercise in many ways, for it not only trains the mind, but keeps the good thought constantly before you.'

अर्थात्—यदि तुम ध्यान करना पसन्द करो, तो ध्यान के व्यायाम के लिए, कैथोलिक ईसाई धर्मगुरु के कथनानुसार तुम किसी नैतिक गुण को ग्रहण कर सकते हो। यदि तुम ऐसे किसी गुण का चित्त में धारण करो, तो उसी गुण के विषय में पुनः पुनः विचार करते रहो, देवांशी मनुष्यों ने उसे किसी प्रकार एक महत्त्व पूर्ण गुण समझा है-इस का निरीक्षण करो। अपने आस पास फैली हुई प्रवृत्ति में यह गुण किस प्रकार दृष्टि पड़ रहा है—इस का विचार करो। प्राचीन काल के महापुरुप इस गुण को किस प्रकार बता रहे हैं—इस का स्मरण करो। और भूतकाल में तुम उस गुण को प्रकट करने में क्यों असफल हुए हो—इस का भी आत्म निरीक्षण करो। उच्च नैतिक गुणों पर ऐसा ध्यान, कई प्रकार से ध्यान का अच्छा व्यायाम बन जाता है। कारण कि इस से मस्तिष्क शिक्षित होता है और तुम्हारे सामने निरन्तर एक उच्च और उत्तम विचार रहा करता है। यह निर्गुण ध्यान या धर्म ध्यान का ही एक प्रकार है। इस में जैसा आलम्बन है, वैसा आलम्बन धर्म ध्यान में भी हो सकता है, जैन शास्त्र ऐसा कहते हैं।

जैन शास्त्र में ध्यान के चिंतन विषय का अनुसरण करके धर्म ध्यान के चार भेद कर दिये गये हैं और इन भेदों की व्याख्या ऊपर के दोनों श्लोकों में की गई है। उववाई सूत्र में धर्म ध्यान के जो भेद–आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए और संठाणविजए–कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) श्री तीर्थंकर भगवान् ने आत्मा के उद्धार के लिए क्या क्या आज्ञाएं की हैं; उन्होंने धर्म का पालन किस प्रकार किया था, और उस के आधार पर वे मनुष्यों को क्या उपदेश दे गये हैं–इस का आदर और श्रद्धापूर्वक चिंतन करना और इस में चित्त को एकाग्रता से लगा रखना—इसे आज्ञा विचय नामक प्रकार समझना चाहिए। मि० लेडबीटर ने ध्यान के विषय में जो कुछ ऊपर कहा है, उस में देवांशी मनुष्यों के द्वारा बताये हुए महत्त्व पूर्ण गुणों और ऐसे गुणों से युक्त चारित्र्य को उन्होंने किस प्रकार आचरित करके दिखलाया था, उस के विषय में उल्लेख है। वास्तव में ऐसा चिंतन आज्ञाविचय के अन्दर ही समा जाता है। हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि—'तदाज्ञारूपमादेयं न मृषाभाषिणो जिनाः' सर्वज्ञ की बात को आज्ञा के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि जिनेश्वर कभी असत्य नहीं बोलते। (२) आज्ञाविचय में जहां कर्तव्य का विचार आता है, वहाँ दूसरे अपायविचय में अकर्त्तव्य का विचार आता है। राग, द्वेष, कषायादि दोषों से आत्मा को क्या क्या हानियाँ होती हैं, इन से आत्मा कैसे कैसे नये नये कर्म बन्धनों में जकड़ती जाती है, इन बन्धनों को तोड़ने तथा नये बन्धनों को रोकने के लिए अब क्या करना चाहिए? आदि विषयों का चिंतन दूसरे अपायविचय में गिना जाता है। सदा जागरुक रहने वाला मुमुक्षु त्याज्य दोषों से जब तक सर्वथा मुक्त नहीं हो जाय तब तक उन दोषों से होने वाली हानि का भी विचार करना चाहिए (३) राग और द्वेषादिकषाय

कब दूर होते हैं ? जब कि सुख के प्रति हर्ष और दुःख के प्रति द्वेष उत्पन्न न हो। बल्कि, सुख और दुःख में, तथा विपत्ति मे संयोग तथा वियोग में चित्त की सम स्थिति रहे, तब यह कषाय दूर हुए समझे जा सकते हैं। चित्त की यह सम स्थिति, कर्म विपाक के चिन्तन के विना नहीं प्राप्त होती। इस जन्म में जो सुख होता है, वह पूर्व जन्म के उपार्जित पुण्य का फल है; इस जन्म में जो दुःख हो रहा है, वह भी पूर्व के पापों का फल है। इस में हर्ष या शोक की वात ही क्या है ? इन सुख दुःखों के द्वारा पुण्य और पाप रूपी कर्म की निर्जरा हो रही है - इस प्रकार के चिंतन से विपाकविचय नामक ध्यान का तीसरा प्रकार होता है (४) चित्त वैराग्य के जल से तभी भली भांति सरावोर होता है, जब कि जीव को जन्म-जरा-मरण रूपी परिभ्रमण का चिन्तन करते हुए उसे सच्चा आत्मभान होता है। इस चिन्तन के लिए जगत् का स्वरूप भली भाँति चित्त में लाना चाहिए और उस में इस जीव ने अनेक योनियों में अवतार लिया था, प्रत्येक अवतार मे जन्म, जरा, मरण के दुःख उठाने पड़े थे और पुनः पुनः ऐसे परिभ्रमण करने पड़ेंगे, इस परिभ्रमण क्रम को किसी प्रकार कम करने के लिये कर्मवन्धनों को तोड़ने और नये कर्मों को रोकने के सिवा कोई चारा नहीं है। ऐसे विशुद्ध परिणाम के लिए संस्थानविचय नामक ध्यान की आवश्यकता है। श्री हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि—

नानाद्रव्यगतानन्तपर्यायपरिवर्त्तनात् ॥
सदासक्तं मनो नैव रागाद्याकुलतां व्रजेत् ॥

अर्थात्—इस लोक-स्वरूप पर विचार करने से, द्रव्यों के अनन्त पर्यायों के परावर्त्तन करने से, (द्रव्यगत पर्याय के सम्बन्ध में विचार करने से) निरंतर उसमें आसक्त रहने वाला

मन, रागादि की आकुलता नहीं प्राप्त करता। इस प्रकार धर्म ध्यान के चारों प्रकार आत्मा के निर्मल करने में साधन रूप हैं। (२०४-२०५)

[धर्म ध्यान के आलम्बन और भावना के विषय में ग्रन्थकार नीचे के श्लोक में वर्णन करते हैं।]

धर्म ध्यान के आलम्बन और भावना ।२०६॥

धर्मध्याननगाधिरोहणकृते शास्त्रोक्तमालम्बनं ।
आद्यं वाचनप्रच्छनोहनकथेत्येवं चतुर्भेदकम् ॥
संसाराशरणैकताक्षणिकतारूपाश्चतुर्भावना ।
भाव्या ध्यानविशुद्धये समुदियाद्यावत्प्रकृष्टा रुचिः ॥

भावार्थ—धर्म ध्यान रूपी पर्वत पर चढ़ने के लिए, शास्त्र में चार प्रकर से आलम्बन—सहारे—बताये गये हैं—आध्यात्मिक और तात्विक शास्त्रों का पठन; शंका हो, तो गुर्वादिक से पूछ कर समधान कर लेना; परियट्टणा—मनन—करने योग्य विषय पर ऊहापोह करना और अभ्यस्त तत्त्वों पर कथा कहना। यह चार आलम्बन ध्यान के इच्छुक को ग्रहण करना चाहिये। ध्यान की विशुद्धि के लिए अनित्य भावना, अशरण भावना, संसार भावना और एकत्व भावना—यह चार भावनायें तब तक करते रहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रुचि उत्पन्न न हो जाए। (२०६)

विवेचन—धर्मध्यान को ग्रन्थकार एक पर्वत की तुलना में रखते हैं और वह यथार्थ है। जिस प्रकार पर्वत को नग (स्थिर) कहा है, उसी प्रकार धर्मध्यान स्थिर और अचल हो सकता है,

परन्तु उस पर मनुष्य पक्षी की तरह उड़कर नहीं पहुँच सकता, उसे तो उस पर क्रमशः ही चढ़ना पड़ता है। और फिर भी एक-एक कदम सँभाल कर रखना पड़ता है, वर्ना कहीं एक पैर ही चूका कि गिरकर नीचे तलहटी में पहुँच जाने का भय रहता है। ऐसे ऊँचे पर्वत पर चढ़ने के लिए आलम्बन—सहारा—भी चाहिए। और वे आलम्बन यहाँ शास्त्र के आधार पर बताये गये हैं। उववाई सूत्र में 'वायणा' 'पुच्छणा', 'परियट्टणा' और 'धम्मकहा' यह चार आलम्बन बताये गये हैं। शास्त्र में, स्वाध्याय के जो पाँच प्रकार बताये गये हैं, उन्हीं में के इन चार प्रकारों को धर्म ध्यान का आलम्बन बतलाया गया है। कारण कि पहले धर्मध्यान के चार प्रकार बतलाये हैं, उनका अनुशीलन, स्वाध्याय तप के इन आलम्बनों के बिना संभव नहीं है। शास्त्रों को पढ़ लिया जाय, अध्ययन किये हुए विषय का पुनः पुनः रटन या मन में पुनरावर्तन कर लिया जाय, और आध्यात्मिक विषय पर पुनः पुनः कथा कही जाय—या व्याख्यान दिया जावे; पर तभी तीर्थंकरों की आज्ञाओं का चिंतन धर्मध्यान के समय हो सकता है, तभी राग-द्वेष के कर्म को समझ कर चित्त उसके त्याग के लिए आरूढ़ होता है, तभी कर्मों के विपाक का रहस्य समझ में आ सकता और श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है, और तभी चौरासी लाख जीव योनियों के परिभ्रमण के कारण तथा उन कारणों के निवारण के मार्ग में चित्त एकाकार हो सकता है। अतएव, धर्मध्यान के भी आलम्बन हैं और उनको यदि यथार्थ ग्रहण किया जाय, तो धर्मध्यान का अनुशीलन सुगम तथा शीघ्र साध्य हो जाय। धर्म-ध्यान के आलम्बन रूप में, स्वाध्याय तप के जो चार प्रकार बताये गये हैं, उनके सिवा एक बाकी रहा हुआ प्रकार 'अनुप्रेक्षा' है। इस अनुप्रेक्षा—विचारणा—के चार प्रकार शास्त्र में बतलाये

गये हैं और वे ये हैं—अनित्य, अशरण, संसार और एकत्व-भावना। बारह भावनाओं में से यह आरम्भ की चार भावनायें हैं। इस जगत् की प्रत्येक वस्तु अनित्य है, लक्ष्मी, शरीर, यौवन आदि कोई भी चीज नित्य या शाश्वत नहीं है—यह भावना करना और उससे चित्त का पोषण करना अनित्य भावना है। इस जगत् में सगे-संबंधी, प्रेमिका स्त्री या वत्सल माता-पिता, राजा या सम्राट् कोई भी जीव को शरण देने वाला नहीं है; प्रत्येक जीव अशरण है, अनाथ है। केवल धर्माचरण ही शरण है—इस प्रकार जीव की अशरणता का चिन्तन करना अशरण भावना है। जगत अनित्य है, और जीव अशरण है, धर्म की शरण न लेने पर उसे संसारमें जो परिभ्रमण करना होगा, वह संसार कैसा है? चौदह राजु ऊँचे लोक के असंख्यात प्रदेश हैं, उनमें से प्रत्येक प्रदेश में अनन्तानन्त बार जन्म-मरण करके जीव ने अनन्त पुद्गल परावर्त्तन किये, तो भी उनका अन्त नहीं आया। ऐसा अपार यह संसार है, इस प्रकार का चिन्तन, तीसरो संसार भावना है। इस अशाश्वत जगत् में मैं ही एक अशरण हूँ, मेरा कोई नहीं है, कुछ नहीं है—मैं असहाय हूँ—केवल धर्म ही मेरी सहायता करेगा, मेरा साथ देगा—इस प्रकार की भावना, चोथी एकत्व भावना है। यह चारों भावनाएँ पूर्वोक्त धर्मध्यान के चारों प्रकारों का भली-भाँति पोषण करने वाली हैं और इसी से शास्त्रों में इनका सम्बन्ध भावनाओं के साथ सुसंघटित रूप से योजित किया गया है। जब तक ध्यान में उत्तम से उत्तम रुचि न उत्पन्न हो जाय, तब तक इन भावनाओं को मानना चाहिए। (२०६)

[अब नीचे के तीन श्लोकों में, चार प्रकार के ध्येयों के लक्षण बतलाये जाते हैं।]

ध्येय के चार प्रकार पिंडस्थ ॥ २०७ ॥

पिंडस्थं प्रथमं पदस्थमपरं रूपस्थरूपोज्झिते ।
ध्येयं ध्यानविधौ चतुर्विधमिदं शास्त्रेषु संलक्ष्यते ॥
पार्थिव्यादिकधारणात्मकतया यच्चिन्तनं स्वात्मन ।
ऐकाग्र्येण तदुच्यते मुनिवरैः पिण्डस्थनामादिमम् ॥

भावार्थ—ध्यान की विधि मे ध्येय के चार प्रकार शास्त्रों में मिलते हैं—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इनमें पार्थिवी आदि धारणा के रूप में एकाग्रता से आत्मा का चिंतन किया जाय, उसे मुनिगण ध्येय के चार प्रकारों में से प्रथम पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं। (२०७)

पदस्थ ध्येय ॥ २०८ ॥

नाभौ चित्तमुखे च षोडश चतुर्विंशाष्टपत्राम्बुजं ।
संस्थाप्याक्षरमातृकाः प्रतिदलं संकल्प्य यच्चिन्तनम् ॥
यद्वा सत्परमेष्ठिमंत्रवचनं चित्ते स्थिरं चिन्त्यते ।
ध्येयं तद्धि पदस्थमाप्तपुरुषैरुक्तं द्वितीयं शुभम् ॥

भावार्थ—नाभि में सोलह पँखुड़ियों वाले, चित्त में चौबीस पँखुड़ियों वाले और मुख में आठ पँखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके, उस पर प्रत्येक पँखुड़ी पर कोई अक्षर बना कर, एकाग्रता पूर्वक उसका या पाँच परमेष्ठि मंत्र के शब्दों का एकाग्र मनसे स्थिरतापूर्वक चिंतन करने को आप्त जन दूसरा पदस्थ ध्येय या ध्यान कहते हैं। (२०८)

रूपस्थ और रूपातीत ॥ २०६ ॥

अर्हच्छान्तदशास्वरूपममलं संस्थाप्य चित्ते स्थिरे।
वैशद्येन विचिन्त्यते चिरतरं रूपस्थमेतन्मतम् ॥
रूपातीत-निरञ्जनाऽघरहितं सिद्धं समालम्ब्य यत्।
तेनैक्यं परिभाव्यते स्वहृदये रूपोज्झितं तन्मतम् ॥

भावार्थ—अरिहंत भगवान् की शान्त अवस्था का निर्मल स्वरूप, स्थिर और एकाग्र चित्त में स्थापित करके अति निर्मलता से अमुक समय उसका चिन्तन किया जाय, तो वह रूपस्थ नामक तीसरे प्रकार का ध्येय कहलाता है। रूप से अतीत हुए, निरंजन निराकार मलरहित सिद्ध भगवान् का आश्रय लेकर उनके साथ अपनी आत्मा के ऐक्य का अपने हृदय में एकाग्रता पूर्वक चिन्तन किया जाय, तो उसे रूपातीत नामक चौथे प्रकार का ध्येय समझना चाहिए। (२०६)

विवेचन—उपर्युक्त तीनों श्लोकों में ध्येय के चार प्रकारों को समझाया गया है। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, इन चार भेदों या प्रकारों को वैदिक और जैन योग-ग्रन्थ भी स्वीकार करते हैं, केवल इन ध्येयों में ध्यान करने की विधियों की परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न दीख पड़ती हैं। हम यहाँ इन चारों प्रकार के ध्येयों को यथाक्रम समझायेंगे कि जिन्हें उपर्युक्त तीनों श्लोकों में संक्षेप से समझाया गया है।

(१) पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और आकाश—यह पाँच तत्त्व हैं। इन पाँचों तत्त्वों का प्रत्येक पदार्थ-पिंड बना है। इस पंचतत्त्व का ध्यान ही पिंडस्थ ध्यान है। वेदशास्त्रों में इन पंच-तत्त्वों के ध्यान की विधि है। इसी का अनुसरण करने वाली;

परन्तु परिभाषा में भिन्न विधि जैन शास्त्र में भी वर्णित है। जैन शास्त्रानुसार पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी और तत्त्वभू, इन पाँच धारणाओं के रूप में एकाग्रता से आत्मा का चिंतन करना है। हेमचन्द्राचार्य, निम्नलिखित श्लोक के द्वारा इन पाँचों धारणाओं के नाम बतलाते हैं—

> पार्थिवी स्यादथाग्नेयी मारुती वारुणी तथा।
> तत्त्वभूः पंचमी चेति पिंडस्थे पंच धारणाः॥

पार्थिवी धारणा और उसका ध्यान इस प्रकार करना चाहिए—यह मध्यलोक एक राजु लंबा चौड़ा है। इसमें पहले क्षीरसमुद्र की कल्पना करना चाहिए। उस समुद्र के बीच जंबू द्वीप की तरह एक लाख योजन विस्तार और एक हजार पँखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करनी चाहिए। कमल के बीच केसर हैं, उसके बीच देदीप्यमान पीली प्रभा वाली, और मेरु पर्वत के समान आकार वाली कर्णिका की कल्पना करना चाहिए। उस कर्णिका पर एक उज्ज्वल सिंहासन है और उस पर बैठकर मैं सर्व कर्मों का उच्छेद कर रहा हूँ—यह कल्पना करना और उसमें स्थिर हो जाना चाहिए। आठ कर्मों की प्रकृतियों के पुद्गल स्कन्धों को आत्मा के प्रदेशों से पृथक् करके चौदह राज लोकों में फेंक देने के लिए सोचना चाहिए। फिर अपनी आत्मा अनन्त कोटि सूर्य के तेज से भी अनन्त ज्ञान के प्रकाश से सब लोकालोकों को प्रकाशमान कर रहा है, यह चिन्तवन करना चाहिए। इसके बाद यह सोचना चाहिए कि चौदह राज लोकों में उद्भूत कर्म पुद्गल स्थिर होगये और मुझे देवतागण और इन्द्र स्वर्ग के सिंहासन पर बिठाकर उपदेश सुन रहे हैं। लाखों जीव भी तत्त्व का श्रवण कर रहे हैं और मैं साक्षी के रूप में उनके आचरण तथा विचार देख रहा

हूँ। मुझे उनसे हर्ष या शोक नहीं होता। स्फटिक रत्न के समान निर्मल असंख्य प्रदेशों में समय समय पर सब कुछ भास होता है। और असंख्यात प्रदेश स्थिर और एक रूप हैं—यह सब विचारना पार्थिवी धारणा है। आग्नेयी धारणा के लिए नाभि में सोलह पंखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करना और कमल की कर्णिका में 'अर्हं' यंत्र स्थापित करना चाहिए। कमल की प्रत्येक पँखुड़ी में क्रमशः अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः इन १६ स्वरों को स्थापित करके उस कमल में एकाग्र चित्त से लीन हो जाना चाहिए। यहाँ तक कि कमल के सिवा और किसी वस्तु का स्मरण तक न रहे। फिर हृदय में आठ पँखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके प्रत्येक पँखुड़ी में क्रमशः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन आठ कर्मों का एक-एक पँखुड़ी में स्थापन करना चाहिए। इस कमल का मुख इस प्रकार नीचे रखना चाहिए कि जिससे उक्त सोलह पँखुड़ियों वाले कमल पर यह कमल अधोमुख होकर झूलता रहे। फिर सोलह पँखुड़ियों वाले कमल में स्थापित 'अर्हं' के 'हं' वाले रेफ बिन्दु से धूम्रशिखा निकलने की कल्पना करके धीरे-धीरे उसमें से अग्निकण और बाद में ज्वालाओं के निकलने की कल्पना करनी चाहिए। इन ज्वालाओं से हृदयान्तर्गत अष्टकर्मों की पँखुड़ियों वाला कर्म-कमल जल रहा है और महामंत्र 'अर्हं' के ध्यान से उत्पन्न हुई अग्नि के द्वारा अष्ट कर्मों की पँखुड़ियों वाला कमल जल कर भस्म हो रहा है—यह भावना करनी चाहिए। फिर, शरीर के बाहर त्रिकोण के रूप में जलता हुआ अग्नि का समूह मनमें लाना चाहिए और उस अग्नि-समूह तथा शरीर में महामंत्र के ध्यान से उत्पन्न हुई अग्नि ज्वालाओं से देह और अष्ट कर्मों का कमल, दोनों जलकर भस्म हो रहे

है—यह कल्पना करके शान्त हो जाना चाहिए। यह आग्नेयी धारणा का स्वरूप है। तीसरी वायवी धारणा का ध्यान इस प्रकार करना चाहिए—तीनों भुवनों के विस्तार को पूर्ण करने वाली प्रचंड वायु है; आग्नेयी धारणा से शरीर और कर्म की जो भस्म हो गई है, उसको यह वायु उड़ा देती है, और फिर वायु शान्त हो जाती है। वारुणी धारणा का ध्यान इस प्रकार करना चाहिए—अमृत के समान वर्षा करने वाली मेघमाला से पूर्ण आकाश है; आकाश से होने वाली जल-वृष्टि, वायु से उड़ गई देह तथा कर्म की भस्म—राख—को शान्त कर देती और धो डालती है, अन्त में वरुणमंडल शान्त हो जाता है—यह वारुणी धारणा है। अन्तिम तत्त्वभू धारणा यह है—मेरी आत्मा, सातों धातुओं से रहित पूर्णचन्द्रकान्ति के समान निर्मल, सर्वज्ञ के समान है; सिंहासन पर बैठे, सब कर्मों का नाश करने वाले, शरीर के अन्तरस्थ निराकार आत्मा का स्मरण कर रहा हूँ। यह तत्त्वभू धारणा है जो समस्त कर्मों का नाश करती है, आत्मा को परमात्मस्वरूप—ब्रह्मस्वरूप बनाती है। यह पाँच धारणाएँ भी वैदिक मतानुसार योग के पाँच तत्त्वों की धारणाओं की तरह आत्मा को 'अहं ब्रह्मास्मि' का साक्षात्कार कराती हैं।

पिण्डस्थ ध्यान करने वाला अपने को औदारिक, वैक्रिय, आहारिक, तैजस और कार्मण आदि पांचों प्रकार के शरीरों से पृथक् समझता है और इस से देहादि अङ्गों के कार्यों में आत्मा अहं तथा ममत्व के परिणाम से नहीं बँधता। वह योग्य पदार्थों की इच्छाओं में भी नहीं बँधता और न अनेक जीवों को दुःख देने के लिये प्रेरित होता है। कर्म के योग से वस्त्र के समान शरीर तो अनेक मिलते हैं और छूटते हैं तथापि वह इस से जरा भी हर्षित या शोकान्वित नहीं होता। पिंडस्थ ध्यान वाला योगी

प्रारब्ध कर्मों के योग से अनेक कार्य करता हुआ भी आत्मा के स्वरूप में ध्यान रखता है। शरीरस्थ आत्मा शरीर से भिन्न है, ऐसा निश्चयात्मकज्ञान होने पर, बाह्य संयोगों में रहते हुए भी वह उन में फँसते नहीं हैं। आत्म प्रदेश में लगा हुआ मन निर्विकल्प हो जाता है और आत्मा की शक्तियाँ विकसित होने लगती हैं। वचनसिद्धि और संकल्पसिद्धि सरल हो जाती है। जो लोग आत्मा के असंख्यात प्रदेशों का ध्यान करते हैं परन्तु जगत् का उपकार करने की प्रशस्त इच्छा रखते हैं, वे तीर्थंकरादि पद को प्राप्त कर लेते हैं और जो उपकार करने की इच्छा को भी त्याग कर पिंडस्थ ध्यान करते हैं, वे मूककेवली होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं। शरीर के किसी भी भाग में आत्मा के प्रदेशों का ध्यान हो सकता है। नाभिचक्र में ध्यान करने से कायव्यूह का ज्ञान होता है, यानी शरीर की नाड़ियों और उनके कार्यों का ज्ञान होता है और मन में संकल्प विकल्पों का विलय भी हो जाता है। कंठकूप में ध्यान करने से क्षुधा-तृषा का शमन होता और वाणी भलीभाँति प्रकट होने लगती है। कूर्म नाड़ी में ध्यान करने से स्थिरता बढ़ती और चंचलता नष्ट होती है। ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करने से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं, पापों का नाश होता और धर्म श्रद्धा बढ़ती है। हृदय में ध्यान करने से हृदय-शुद्धि होती है, ज्ञान का भास होता जाता है सत्य की प्रतीति होनी और दूसरे के हृदय को पढ़ा जा सकता है। मनोवर्गणा में ध्यान करने से, मनोवर्गणा के साथ लेश्या के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। और इसमें विशेषसंयम करने से मनःपर्यवज्ञान प्रकट होता है। इसी प्रकार कान, नाक, आँख, जीभ और स्पर्शेन्द्रिय में ध्यान करने से, उन उन इन्द्रियों की शक्तियों का विकास होता है। कायबल, वाणीबल और मनोबल में ध्यान करने से,

उनके बल बढ़ते हैं। मस्तक में ध्यान करने से मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं की पुष्टि होती है और तर्कशक्ति अधिकाधिक विकसित होती है इस प्रकार स्व पिंड यानी अपने शरीर के किसी भी अंग में पिंडस्थ ध्यान किया जा सकता है, और उससे शारीरिक तथा आध्यात्मिक लाभ होते हैं। परन्तु ब्रह्मरन्ध्र में आत्म प्रदेशों का ध्यान करना ही सर्वश्रेष्ठ है। जिस समय ब्रह्मरन्ध्र में आत्मा के असंख्य प्रदेशों का ध्यान किया जाता है उस समय श्वासोच्छ्वास की गति मन्द पड़ जाती है। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में तन्मयता आ जाने से श्वासोच्छ्वास की गति बिल्कुल धीमी हो जाती और आनन्द ही आनन्द भास होने लगता है, आत्मा की अनन्त शक्तियों का अनुभव होता है. सब जीवों पर समतारूपी अमृत मेघवृष्टि होने लगती है, उस समय ऐसा मालूम होने लगता है कि सर्वदा इसी अवस्था में रहा जाय, तो बड़ा अच्छा ! यह अवस्था क्षयोपशम भाव में अधिक देर नहीं रह पाती, तो भी पुनः पिंडस्थ ध्यान करके यह अवस्था प्राप्त करने के लिए ध्यानी लोग प्रयत्न करते हैं और फिर वही आनन्द प्राप्त कर लेते हैं। अन्य छाद्मस्थिक कार्यों में लगकर, वे उपाधि की विकल्प अवस्था का अनुभव करते हैं, पर उसमें उन्हें आनन्द नहीं मिलता, इसलिए किसी भी प्रकार फिर ध्यान में प्रविष्ट होते हैं। इस सहज सुख की अवस्था का अनुभव होने पर, बाह्य सुख की सब प्रकार की अभिलाषाएँ दूर हो जाती हैं।

(२) पदस्थ ध्येय में अनेक प्रकार से ध्यान किया जाता है. उनमें से कुछ प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ प्रकट किये हैं। चित्त को स्थिर करके अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच पदों का ध्यान करना 'पदस्थ ध्येय का ध्यान' कहा जाता है। दूसरा प्रकार यह है कि नाभि प्रदेश में सोलह पँखु-

ड़ियों के कमल की कल्पना करके उसमें 'अ' से 'अः' तक सोलह स्वरों को स्थापित कर क्रमशः उनका ध्यान करना। तीसरा प्रकार यह है कि हृदय-कमल में चौबीस पँखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके 'क' से 'म' तक के अक्षर क्रमशः चौबीसों पँखुड़ियों में स्थापित करना और 'म' को कमल की कर्णिका में स्थापित करके प्रत्येक पद का क्रमशः ध्यान करना चाहिए। चौथा प्रकार यह है कि मुख में आठ पँखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके उसमें 'य' से 'ह' तक के अक्षर स्थापित करना और उसका ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार 'ॐ' कार का, 'अर्हं' मंत्र का, ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः' आदि मंत्र तथा अन्य मंत्रों का भी ध्यान किया जा सकता है। इस प्रकार अक्षरों और पदों का ध्यान करता हुआ योगी चित्त की चंचलता का शमन कर देता और श्रुतज्ञान का परिणामी हो जाता है। पदस्थ ध्यान का साधक, निमित्त ज्ञान को भी प्राप्त कर सकता है, तो भी सच्चा योगी पदस्थ ध्येय के आलम्बन से किये हुए ध्यान के द्वारा, आत्मा को निर्मल करने वाले शुक्ल ध्यान में ही गति करने के लिए उद्योगशील रहता है।

(३) समवसरण में बैठे तीर्थंकर भगवान् का स्वरूप 'रूपस्थ ध्येय' है और उसमें ध्यान करना, ध्यान का तीसरा प्रकार है। भगवान् की शान्त अवस्था का चित्त में अवधारण करना, उनके मस्तक में से प्रकट होने वाली तेज धाराओं को चित्त-प्रदेश में झेलना, उनके अनन्त गुणों का स्मरण करना और वैसे ही गुण हमारी आत्मा में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं, इनको प्रकट करने का ध्यान करना इसी प्रकार का ध्यान है। आठ कर्म रूपी हैं और मेरी आत्मा अनादि काल से उनसे सम्बद्ध रही है। रूप में स्थित मेरी आत्मा वास्तव में रूप से अलग है, सिद्ध के समान अनन्त गुणमय है—आदि भावना

करना, रूपस्थ ध्येय का ध्यान है। इस ध्यान में ऐसे विचार करना चाहिए कि मेरी आत्मा गुणों से पंचपरमेष्ठिरूप है और इन गुणों को प्रकट करना मेरा प्रयत्न है; तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य गुणों से मेरी आत्मा दीप्तिमान् है, आदि। आत्मा में ही परमात्म-अवस्था स्थित है, परन्तु ध्यान के बिना वह प्रकट नहीं होती, इसलिए रूपस्थ ध्येय में ध्यान करने की योजना है। इससे संकल्प-विकल्पवाली चित्तावस्था का निरोध होता है, मोह की तरंगें आप ही आप शान्त हो जाती हैं, अनेक शक्तियाँ प्रकट होती हैं और मन की निर्मलता सहज ही साध्य हो जाती है।

(४) रूप से अतीत—आकाररहित, ज्ञानानन्द-स्वरूप, निरंजन सिद्ध परमात्मा का आश्रय ग्रहण करके उनके साथ, शक्ति की अपेक्षा सिद्ध के समान सत्ता वाली अपनी आत्मा का, चित्त में एकत्व धारण करना रूपातीत ध्येय का ध्यान समझना चाहिए। पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्येय का अवलम्बन करके मुमुक्षु योगी को रूपातीत ध्येय पर पहुँचना और स्थूल में सूक्ष्म आत्मा तक पहुँचते हुए आत्मा के गुण पर्यायों की शुद्धता का चिंतन करना चाहिए। आत्मा का उपयोग एक ही जगह रखना और मन को बाहर न जाने देना चाहिए। ऐसा करने से रूपातीत ध्येय में प्रवेश होगा और अहर्निश उसका अभ्यास करने से रूपातीत ध्येय में ध्यान स्थिर हो जायगा। रूपातीत ध्यान के जिज्ञासु को द्रव्यानुयोग तथा अध्यात्म शास्त्रों का ज्ञान भली भाँति प्राप्त करना चाहिए; कारण कि इसके बिना जड़ चेतन की भिन्नता का ध्यान भली भाँति चित्त में नहीं रहता। चारों ध्यानों में रूपातीत ध्यान सर्वोपरि है। इस ध्यान का करने वाला योगी, कर्म रूपी ईंधन को जलाकर भस्म कर देता है और वह अपनी शक्ति को प्रकट करने में समर्थ बन

जाता है। ज्यों-ज्यों रूपातीत ध्येय में ध्यान की प्रगति तथा वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों वर्णादिविशिष्ट पदार्थों में होने वाला अहं तथा ममत्व विलय हो जाता है। 'मैं' और 'तू' की कल्पना का जोर नष्ट हो जाता है। अब निश्चय के साथ योगी को यह भान होता है कि मेरी आत्मा निराकार है, वह भान तीनों कालों में अखंड रहता है। रूपातीत ध्येय का ध्याता, दुनिया के जंजाल से मुक्त होकर सहज ही आनन्द को प्राप्त कर लेता है और बाह्य अवस्था के नाम, शरीर के आकार तथा हर्ष-शोक को बिल्कुल भूल जाता है। मन अपनी आत्मा का ही आलम्बन करके रहे और शुद्ध उपयोग में स्थिर हो, जड़ तथा चेतन समान भासते हों—इसे समरस भाव कहते हैं। इस समरस भाव को योगी रूपातीत ध्येय के ध्यान से प्राप्त करता है। (२०७—२०८—२०९)

[धर्मध्यान का उपसंहार करते हुए, नीचे के श्लोक में ग्रन्थकार उसके फल का बोध कराते हैं।]

धर्मध्यान का फल ॥२१०॥

धर्मध्यानमिदं वदन्ति मुनयो वैराग्यसंजीवनं।
लेश्याशुद्धिकरं कुकर्मदहनं कामानलाम्भोधरम् ॥
सालम्बं प्रथमं तथापि सतताभ्यासेन शुद्धं भव—
च्छुक्लं प्रापयितुं क्रमेण विशदं शुक्लं निरालम्बनम् ॥

भावार्थ—प्राचीन मुनिगण यह कह गये हैं कि यह धर्म-ध्यान वैराग्य को सजीव करने वाला है, लेश्या की शुद्धि करने वाला है, अशुभ कर्मों के ईंधन को जला कर भस्म करने वाला है, काम विकार रूपी अग्नि को बुझाने के लिए अंभोधर-मेघ

के समान है, प्रथम आलम्बन सहित है, तो भी निरन्तर के अभ्यास से ज्यों-ज्यों विशुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों ध्यान को आलम्बन रहित और निर्मल शुक्लध्यान की सीमा में क्रमशः पहुँचा देता है। (२१०)

विवेचन—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के समान धर्मध्यान के भेदों और ध्येय का अनुसरण करके पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत आदि के रूप में किये हुए उपभेदों पर से यह समझा जा सकता है कि यह ध्यान सालम्बन है और इसमें क्षायोपशमिक आदि भाव होते हैं और ज्यों-ज्यों ध्याता आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लेश्या का विशुद्धीकरण होने पर पीत, पद्म, और शुक्ललेश्या का उद्भव होता है—इस कारण, प्राचीन काल में मुनियों ने धर्मध्यान की जो स्तुति की है और अब यह ग्रन्थकार भी करते हैं, वह योग्य ही है। श्रीहेमचन्द्राचार्य धर्मध्यान के फल के विषय में कहते हैं—

अस्मिन्नितान्तवैराग्यव्यतिषङ्गतरंङ्गिते ।
जायते देहिनां सौख्यं स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम् ॥

अर्थात्—इस ध्यान में, अत्यन्त वैराग्य-रस के संयोग से तरंगित हुए योगियों को स्वतः अनुभव में आने वाला अतीन्द्रिय आत्मिक सुख प्राप्त होता है। यह आत्मिक सुख ही चित्त की राग-द्वेष रहित समस्थिति का पर्यायवाचक है। सालंबन ध्यान में, धर्म ध्यान उच्चशिखर पर विराजमान है और निरालंब ध्यान में प्रवेश करने का वह अन्तिम सोपान है। योगीजन यह कहते हैं कि शुक्ल ध्यान के योग्य इस समय मनुष्यों का शारीरिक संगठन नहीं रह गया है। कारण कि शरीर के टुकड़े हो जाने पर भी चित्त की समस्थिति में क्षेप-विक्षेप उत्पन्न न हो,

ऐसा शरीरसंस्थान होना चाहिए। और, वह इस काल में नहीं होता; अतएव धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान का प्रवेश-मार्ग होने पर भी आधुनिक काल में धर्म ध्यान ही सर्वथा उपयोगी और अभ्यास करने और ग्रहण करने योग्य ध्यान है। शास्त्रीय दृष्टि से शुक्लध्यान का स्पर्श कराने वाला धर्मध्यान ही है।

दृष्टान्त—इस श्लोक में धर्मध्यान के जो फल बतलाये गये हैं, उनका स्वाद लेने वाले दृढ़प्रहारी का दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त होगा। दृढ़प्रहारी ब्राह्मण पुत्र था। परन्तु उसकी प्रकृति बड़ी उद्धत थी, और इसीसे वह चोरों की टोली का नायक बनकर वन में रहता था। एक बार उसकी टोली ने कुशस्थल नामक गाँव में चोरी करने का विचार किया और वे लोग चोरी करते हुए एक गरीब ब्राह्मण के घर में जा घुसे। ब्राह्मण के स्त्री और छोटे छोटे बच्चे थे और बच्चे बहुत दिनों से खीर खाने को आतुर थे; इसलिए ब्राह्मण, खीर की सब सामग्री लाकर नदी पर नहाने को गया था, खीर तैयार हो गई थी, इसी समय चोर घुस आये। घर में कोई भी चीज लेने लायक उन्हें न मिली, इसलिए चोरों ने खीर का बर्तन ही उठा लिया। बेचारे बालक अपनी प्यारी खीर को लुटते देखकर परम दुखी हो गये। इसी समय ब्राह्मण को चोरी का हाल मालूम हुआ। वह बड़ा क्रुद्ध होकर घर पहुँचा और एक बड़ी लाठी लेकर चोरों को मारने के लिए दौड़ा, कुछ चोर भाग खड़े हुए और कुछ मर भी गये। दृढ़प्रहारी को इसका पता लगा और वह हाथ में तलवार लेकर दौड़ा हुआ आ पहुँचा। ब्राह्मण के घर में प्रवेश करते ही एक गाय से सामना हुआ, उसने एक वार में उसे मार डाला। दृढ़प्रहारी का वार इतना कठोर और अचूक था कि वह कभी खाली न जाता था। गाय को मार कर आगे बढ़ते हुए, ब्राह्मण

की गर्भवती स्त्री उसे रोकने के लिए आई। दृढ़प्रहारी ने उसे भी एक ही वार में साफ कर दिया, स्त्री का गर्भ तड़फता हुआ ज़मीन पर गिर गया। कोठरी में घुस कर उसने ब्राह्मण को देखा और उसे भी काट डाला। इस प्रकार गो हत्या, स्त्री हत्या, भ्रूण हत्या और ब्रह्म हत्या करके उसने देखा कि ब्राह्मण के बालक रो रहे हैं, आक्रन्द कर रहे हैं। क्रूर स्वभाव के चोर में दया की प्रेरणा हुई और अपने अविचार पूर्ण जघन्य कर्मों के लिए उसे पश्चात्ताप होने लगा। इन बालकों को उसने निराधार कर दिया है, इस पाप से वह कब छूटेगा! यह विचार करता हुआ, अपने बल के दुरुपयोग के लिए वह अपने को धिक्कारने लगा। पाप से ग्लान हुआ दृढ़प्रहारी अपनी टोली का साथ छोड़ कर नगर के बाहर चला गया और एक वृक्ष के तले जा बैठा। उसका वैराग्य बढ़ रहा था, इसी समय चारणमुनियों को उसने दूर से जाते हुए देखा। वह उनकी शरण में गया और अपने पापों को प्रकट करके पापों से मुक्त होने का उपाय पूछने लगा। मुनियों ने उसकी योग्यता देखकर, संक्षेप में उसे शरीर और आत्मा की भिन्नता, कर्मों के आने का कारण तथा रोकने के हेतु तथा उपाय इत्यादि समझाकर समभाव का उपदेश किया। दृढ़ प्रहारी की आत्मा को विवेक से बसा हुआ देखकर मुनियों ने उसे दीक्षा दे दी और उसी समय दृढ़प्रहारी ने गुरु के निकट अभिग्रह धारण किया कि 'जब तक कि यह मुझे स्मरण होता रहेगा, या लोग स्मरण कराते रहेंगे, तब तक मैं यहाँ, इसी जगह, आहारादिका त्याग करके कायोत्सर्ग मुद्रा से ध्यान करूँगा।' मुनिगण उसे वहाँ छोड़ कर चले गये। दृढ़प्रहारी नगर के उत्तर द्वार पर कायोत्सर्ग मुद्रा से ध्यान करने लगा। लोग दृढ़प्रहारी को साधु के वेष में देखकर, उसे ढोंगी कहकर दुत्कारने, गालियाँ देने और मारने लगे। दृढ़प्रहारी ने बहुत

लोगों को मारा पीटा था, बहुतों का धन लूटा था, वे सब अब बदला लेने लगे, परन्तु दृढ़प्रहारी को इससे जरा भी उद्वेग न हुआ। क्षमा और धैर्य को उसने न छोड़ा। क्रोध को बिल्कुल संथभित कर लिया। तन और मन के कष्टों को सहन करता, अपने कर्मों का स्मरण करता, कष्टों को कर्म का फल समझता और अपने गुरु का ही ध्यान रखता हुआ वह डेढ़ मास तक उत्तर द्वार पर रहा फिर डेढ़ मास दक्षिण द्वार पर रहा। इस प्रकार चारों द्वारों पर रह कर उसने छः मास ध्यानस्थ अवस्था में व्यतीत कर दिये और लोगों के उपद्रव को सहन किया। यह विचार करता—'हे आत्मन्! न्याय की कामना करने वाले जीवों को आक्रोश—क्रोध, ताड़न, तर्जन, बंधन, प्रहार आदि सब कुछ सहन करना चाहिए, बल्कि निर्ममत्व होकर शरीर से भी निरपेक्ष होना चाहिए। समय बीतने पर दृढ़प्रहारी का धैर्य, क्षमा, विवेक और ध्यान पराकाष्ठा को पहुँच गये। अन्त में देहासक्ति का भी लोप हो गया और आत्मरमणता में ही वह लीन रहने लगा। उसका कोई शत्रु या मित्र नहीं रह गया। इस प्रकार कर्म के ईंधन को जलाते हुए छः मास के पश्चात् उसने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया। आयुष्यादिक कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष पद पा गया। (२१०)

[अब शुक्लध्यान के विषय में चर्चा की जाती है।]

शुक्लध्यान ।२११॥

चित्तं यत्र बहिर्न याति विषयासङ्गेऽपि वैराग्यतः।
देहच्छेदनभेदनेऽपि नितरामेति प्रकम्पं न तत् ॥
शुक्लध्यानमुदाहृतं किल चतुर्भेदं स्वरूपोन्मुखं।
रागद्वेषलयात् कषायविजयादेतत्परं मोक्षदम् ॥

भावार्थ—जिस ध्यान में इन्द्रियों को विषय की समीपता प्राप्त होते हुए भी, वैराग्य बल से चित्तवृत्ति बिल्कुल बहिर्मुख न हो, किसी शस्त्र से शरीर का छेदन करने या काटने पर भी स्थिर हुआ चित्त ज़रा भी न कम्पित हो, उस ध्यान को शुक्ल ध्यान कहा जाता है। इसके भी चार प्रकार या चार पाद हैं। यह ध्यान स्वरूपाभिमुख है और रागद्वेष तथा कषाय का सर्वथा विलय कराके, साक्षात् परम मोक्ष का देने वाला है। (२११)

विवेचन—क्रमानुसार धर्मध्यान से शुक्लध्यान एक सीढ़ी ऊँचा गिना जाता है। तो भी वास्तव में धर्मध्यान के ध्याता तथा शुक्लध्यान के ध्याता की योग्यता में विशाल अन्तर है। इन्द्रियाँ विषयों से आकर्षित होकर, तनिक भी बहिर्मुख न हों, शुक्लध्यान के ध्याता की यह मुख्य योग्यता है। ऐसी ही योग्यता धर्मध्यान के ध्याता की भी बतलाई गई है, परन्तु धर्मध्यान में धारणा है और शुक्लध्यान में ध्याता की इन्द्रियाँ केवल विषयातीत और चित्त धारणा-रहित रहना चाहिये, यानी इस ध्यान का ध्याता चित्त की रमणता में इतना मग्न रहे कि उसे देखने, सुनने, सूँघने, स्पर्श करने आदि इन्द्रिय के कार्यों का खयाल भी न रह जाय और मानो वह पत्थर की मूर्ति ही हो—इस प्रकार स्थिरता पूर्वक मस्त हालत में रहे। श्लोक की पहिली पंक्ति में जो इन्द्रियों के बहिर्मुख न होने की ध्याता की योग्यता के विषय में कहा गया है, उसमें दूसरी पंक्ति के द्वारा विशेष स्पष्ट कर दिया है और वह इस प्रकार, कि—किसी ऐसे ध्याता के शरीर को शस्त्र से काटा जाय, तब भी उसकी चित्त की स्थिरता अटल रहे, तभी शुक्लध्यान हुआ कहला सकता है। इन दोनों पंक्तियों के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्त की बहिर्मुखता का त्याग या इन्द्रियों की विषयातीतता के द्वारा ग्रंथकार क्या कहना

चाहते हैं। ऐसा ध्याता कौन हो सकता है, इसके विषय में श्री हेमाचार्य कहते हैं कि—'शुक्लध्याने तस्मान्नास्त्यधिकारोऽल्पसाराणाम् ॥' अर्थात्—शुक्लध्यान करने का अधिकार अल्प-सत्त्व जीवों को नहीं होता। यदि पहिला संहनन, यानी देह का वज्र-ऋषभनाराच संहनन हो, तभी वह देह के छेदन-भेदन जैसे उपसर्गों तथा परिषहों का सहन कर सकता और पूर्व के ज्ञान का जानकार हो तभी वह चित्त तथा इंद्रियों को बिल्कुल विषयातीत रख सकता है। ऐसे उच्चतम शुक्लध्यान से रागद्वेष का लय होता है और कषायों पर विजय प्राप्त किया जा सकता है, यानी परम वीतराग अवस्था का सूचक शुक्लध्यान मोक्षदायी हो जाता है। इस शुक्लध्यान के चार भेद या पाद हैं। (२११)

[शास्त्र में शुक्लध्यान के जो चार प्रकार या चार पाद बतलाये गए हैं वे इस प्रकार हैं—(१) सविचार—सवितर्क, (२) अविचार—अवितर्क, (३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति और (४) उच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति। अब अनुक्रम से इन पर विवेचन किया जाता है।]

शुक्लध्यान का प्रथम पाद ।२१२॥

आद्यौ द्वौ श्रुतयोगयोश्च कुरुतः किञ्चित्समालम्बनं।
द्वावन्यौ भवतोऽर्हतोऽन्त्यसमये शुद्धौ निरालम्बनौ॥
स्याद्योगश्रुतसंक्रमो बहुविधो यत्र त्रियोगान्विते।
शुक्लं तत्प्रथमं विचारसहितं नानावितर्काश्रितम् ॥

शब्द अर्थ और योग का संक्रमण ॥ २१३ ॥

उक्तं संक्रमणं त्रिधा जिनवरैः शब्दार्थयोगाश्रया—
दालोच्यैकवचो वचोऽन्तरगतिः शब्दाभिधः संक्रमः।

एवं योगपदार्थयोरपि पुनर्ज्ञेयोऽन्यगत्यात्मकः।
सोऽयं संक्रमणार्थकोऽत्र गदितः शब्दो विचारात्मकः॥

भावार्थ—शुक्ल ध्यान के चार पादों में से आदि के दो पाद श्रुत, शब्द तथा अर्थ और योग—मन वचन काय के व्यापार का आलम्बन करते हैं। यानी प्रथम के दो पाद सालम्बन हैं और अन्त के दो पाद निरालम्बन हैं। अर्थात् प्रथम पाद सवितर्क और सविचार है। वितर्क नाम श्रुत का है और विचार, शब्द अर्थ और योग के संक्रमण-परिवर्त्तन को कहते हैं। दूसरा पाद सवितर्क और अविचार है। इसमें श्रुत की एक ही अर्थ की एक ही पर्याय का एक योग द्वारा ध्यान होता है। ये दो पाद ८ वें गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान तक होते हैं तथा तीसरा पाद तेरहवें गुणस्थान में और चौथा पाद चौदहवें गुणस्थान में होता है।

शब्द अर्थ और योग का संक्रमण।

शब्द अर्थ और योग का आश्रय लेकर, जिनेश्वरों ने तीन प्रकार का संक्रमण बतलाया है। एक शब्द की आलोचना करके दूसरे शब्द की ओर बढ़ना, शब्द संक्रमण है; इसी प्रकार एक योग का आश्रय लेकर एक योग से दूसरे योग में प्रवेश करना, योग संक्रमण है। और एक अर्थ का विचार करके, दूसरे अर्थ की ओर जाना, अर्थ संक्रमण है। यानी—शब्द संक्रमण, योग-संक्रमण, तथा अर्थ-संक्रमण—यह तीन प्रकार के संक्रमण हैं। शुक्ल ध्यान के प्रकार में जो सविचार शब्द आता है, उसमें विचार शब्द उक्त संक्रमण के अर्थ में व्यवहार किया गया है। सविचार यानी संक्रमण-सहित—यह अर्थ होता है। (२१२).

विवेचन—सविचार (सवितर्क) और अविचार (अवि-

तर्क) इन दो शुक्ल ध्यान के पादों में श्रुत (शब्द तथा अर्थ) का, और योग (मन-वचन-काया) का आलम्बन रहता है, इसलिए यह दो पाद आलम्बन सहित हैं और सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति तथा उच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति, यह दो केवल आलम्बन से रहित हैं। ध्यान में यह आलम्बनसहितता तथा आलम्बन रहितता किस प्रकार हो सकती है, यह चारों पादों के विवेचन पर से आगे जाकर समझ में आ जायगी। श्रुतोपदेश में से किसी बार एक पदार्थ या उसका कोई पर्याय लेकर उस पर विचार करना चाहिए, फिर दूसरे पदार्थ अथवा दूसरे पर्याय लेकर विचार करना चाहिए। एक पदार्थ पर इस प्रकार विचार करके भली भाँति निरीक्षण करना, पदार्थ संक्रमण कहलाता है। इसी प्रकार एक शब्द पर विचार करके दूसरे शब्द पर संक्रमण करना, शब्द-संक्रमण कहा जाता है। मन-वचन तथा काया के योगों में से किसी एक योग पर कुछ समय स्थिर रह कर, दूसरे की ओर संक्रमण करना, योग संक्रमण है। इस प्रकार शुक्ल ध्यान के प्रथम पाद में, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर और एक योग से दूसरे योग में संक्रमण हुआ करते हैं। धर्म ध्यान में बाहर की वस्तु का जो आलम्बन था, वह शुक्ल ध्यान में अलग हो जाता है और उसके बदले अब ज्ञान द्वारा पदार्थ का आलम्बन होता है, विशुद्ध अवलोकन पूर्वक उसकी आलोचना होती है और उसमे कुछ समय तक स्थिरता आजाती है। इस प्रकार योग के तीनों योगों पर लौटपलट कर संक्रमण हुआ करते हैं। नित्य एक वस्तु का पर्याय लिया जाय, तो उस पर स्थिर रूप में बहुत समय तक ध्यान होता रहता है, फिर दूसरे पर्याय पर विचार होता रहता है। इस प्रकार अमुक द्रव्य के पर्यायों पर एक के बाद एक विचार हुआ करते हैं। इस ध्यान को सवितर्क और

सविचार कहने का कारण यह है कि यहाँ एक के बाद एक वितर्क तथा श्रुतोपदेश के अवलम्बन होते हैं. एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर विचार होता रहता है और पर्याय भेद से शब्द संक्रमण भी हुआ करता है। और इस प्रकार का संक्रमण सिद्ध होने पर, शब्द संक्रमण या अर्थ संक्रमण में से योग संक्रमण और योग संक्रमण में से शब्द-अर्थ संक्रमण भी हुआ करते हैं। यह तीन प्रकार का संक्रमण ही शुक्ल ध्यान की सविचारता अथवा वितर्काश्रितता है। इस प्रकार के शुक्ल ध्यान से—सविचार से—जड़ की अनित्यता और आत्मा की नित्यता या जड़ और चेतन के बीच की पृथक्ता का निर्मल ज्ञान होता है। इसलिए इस ध्यान का प्रथम पाद पृथक्त्ववितर्क के नाम से भी पुकारा जाता है। चित्त की सविचार या सवितर्क अवस्था पर से चित्त की चंचलता का अर्थ नहीं समझना चाहिए। एक ही द्रव्य के सम्बन्ध में चित्त की स्थिरता होने से, वहाँ चित्त में चंचलता नहीं होती; परन्तु स्थिर ध्यानावस्था होती है। संक्रमण से ध्यानी की चित्तावस्था चंचल नहीं होती। ८, ९, १० और ग्यारहवें गुणस्थान में यह ध्यान मुनि को होता है। इससे चित्त शान्त होता है, आत्मा आभ्यन्तर दृष्टि को प्राप्त करती है। इन्द्रियाँ निर्विकार हो जाती हैं और मोह का क्षयोपशम या उपशम हो जाता है। (२१२-२१३)

[अब ग्रन्थकार शुक्ल ध्यान के दूसरे पाद के विषय में ज्ञान कराते हैं।]

शुक्लध्यान का दूसरा पाद ॥ २१४ ॥

न स्यात्संक्रमणं बहुत्वविरहाद्यत्रैकयोगाश्रिते ।
तत्र स्यादविचारनामकमिदं शुक्लं द्वितीयं शुभम् ॥

स्यादत्राखिलघातिकर्मविलयो मोहस्य निर्मूलनात् ।
कैवल्यं प्रकटीभवेदतिशयैः सर्वैः समं निर्मलम् ॥

भावार्थ—शुक्ल ध्यानी की जिस अवस्था में तीन योगों में से एक ही योग होता है, उस समय बहुत्व के अभाव से संक्रमण नहीं होता, इसलिए उस समय अविचार नामक शुक्ल ध्यान का दूसरा पाद संभव हो सकता है। इस अवस्था में मोहनीय कर्म का सर्वथा उच्छेदन होने पर चारों घाति कर्मों का विलय हो जाता है और चौंतीस अतिशयों के साथ निर्मल केवल ज्ञान प्रकट होता है। (२१४)

विवेचन—ध्याता जब श्रुत से योग में और योग से श्रुत में संक्रमण करते-करते स्थिर हो जाता है और मन की शुद्धता तथा निश्चलता का अनुभव करता है, तब उसकी सविचार-सवितर्क अवस्था का लोप हो जाता है और एक ही योग से एकत्व विचारणा में शृंखलित हो जाता है। यह ध्यान की 'अविचार' किंवा निर्विकल्प अवस्था कही जा सकती है। इस अवस्था में, योग में संक्रमण करने की आवश्यकता नहीं रहती। एक द्रव्य, एक पर्याय और एक पुद्गल का यह दर्शन करता है; अर्थात्—द्रव्य के पर्याय में भिन्नता होते हुए भी, उसकी अंतिम एकता का अनुभव करता है और इस विशिष्ट ध्यान से, ध्याता में बुद्धि की इतनी निर्मलता आ जाती है कि, सब वस्तुओं का बोध कराने वाले ज्ञान को आवृत कर लेने वाला आवरण इस ध्यान से अलग हो जाता है। को अन्तिम अर्थात्—मोहनीय कर्म का नाश हो जाने के बाद अन्त में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तथा अन्तराय इन घातिकर्मों का भी विलय हो जाता है; यानी जैसे बादलों का आवरण दूर होने पर सूर्य प्रकाशित हो उठता है, वैसे ही

ध्याता का निर्मल केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन प्रकट होता है। इसमें श्रुत विचार का अवलम्बन होता है, परन्तु अन्त में निरालम्बन दशा आ पहुँचती है। केवल ज्ञानी सब लोकालोक, बाह्याभ्यन्तर, सूक्ष्म-स्थूल सब पदार्थों को हस्तामलकवत् देखता और जानता है और अनेक प्रकार की लब्धियों को प्राप्त करता है। देवेन्द्र और मुनीन्द्र उसे नमस्कार करते हैं। केवली की वाणी में अनेक प्रकार के गुण प्रकाशित हो उठते हैं। उस वाणी से मिथ्यात्व का अन्धकार दूर भागता है और अनेक जीवों का आत्म-कल्याण सिद्ध होता है। (२१४)

[केवली ज्ञान प्राप्त होने के बाद केवल जगत् की सेवा करने में लग जाते हैं। ग्रन्थकार अब केवली की जगत्—सेवा पर ही विवेचन करते हैं।]

केवली की जगत्-सेवा ॥ २१५ ॥

कैवल्येऽधिगते जिनस्य तु जगत्कल्याणमार्गे स्वयं।
वृत्तिःस्याज्जिननामकर्मवशगाऽऽनन्त्याद्दयास्रोतसः॥
सत्तत्त्वामृतवर्षणेन वसुधां कृत्वा परां शीतलां।
मुक्तेर्मार्गनिदर्शनेन जगतः सेवां विदध्यादयम्॥

भावार्थ—वीतराग को केवल ज्ञान प्राप्त होने पर अपना निज का कल्याण तो हुआ, परन्तु जिन—तीर्थंकर नाम कर्म के उदय और अनन्तभाव दया के प्रवाह से जगत् का कल्याण करने की ओर अपने आप ही उनकी वृत्ति हो जाती है। इसलिए केवली भगवान् सत्य-तत्त्व-रूपी अमृत की वर्षा करके इस पृथ्वी को परम शीतल बना कर जगत् को मुक्ति का मार्ग दिखला कर जगत् सेवा करते हैं। (२१५)

विवेचन—छद्मस्थ अवस्था में ध्यान के द्वारा उच्च गति करके वीतराग जब केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मल और कर्मबन्धन से रहित ही होती है। उनकी वाणी में निरवद्यता ही होती है, यानी उनके उपदेश में एक भी वचन अपायकारक नहीं होता। यदि उन केवली के तीर्थंकरनाम-कर्म का उदय हो, तो तीर्थंकर रूप से अन्यथा साधारण केवली के रूप से वह जगत् के जीवों को उपदेश देकर सत्यतत्त्व का ज्ञान कराकर मुक्ति का मार्ग दिखलाकर सेवा करते हैं और इस प्रकार वेदनीय नाम, गोत्र और आयुष्य इन बाकी रहे हुए चार अघाति कर्मों का भी क्षय करने की स्थिति पैदा कर लेते हैं। उस समय उनके चित्त में समस्त जगत् के जीवों के प्रति ऐसी भावदया बहने लगती है कि उन्हें अपनी और दूसरों की आत्मा के बीच भेद ही नहीं प्रतीत होता। जगत् के मनुष्य और तिर्यंच—पशु—भी उनके उपदेश को सुन और समझ सकते और अपना कल्याण-साधन कर सकते हैं। इस स्थिति में देवता लोग भी केवली की पूजा करते हैं, सम्मान करते हैं। और किसी समय कोई कष्ट सहने का समय भी आ जाता है; परन्तु इस पूजा या कष्ट का उनके मन पर कोई प्रभाव नहीं होता। चित्त की ऐसी उदास स्थिति में केवली भगवान् अपने वचनामृत की वृष्टि से पृथ्वी को शीतल करते हुए विचरण करते हैं और तीर्थंकर नामकर्म का उदय हो जाने पर अनेक विभूतियाँ होती हैं, उनसे भी केवली भगवान् अलिप्त रहते हैं। केवली ही शुक्लध्यान के तीसरे पाद को प्राप्त करने में समर्थ हैं। (२१५)

[अब नीचे के दो श्लोकों में ग्रन्थकार शुक्लध्यान के तीसरे और चौथे पाद की परमोच्च स्थिति का निदर्शन करते हैं।]

शुक्लध्यान का तीसरा पाद ॥२१६॥

स्थित्वा स्थूलशरीरयोगसरणौ सूक्ष्मं विधत्ते जिनो ।
वाणीमानसयोगमन्त्यसमये स्थित्वा ततस्तद्युगे ॥
स्थूलं कायिकचेष्टितं पुनरिदं सूक्ष्मं विधायेतरद् ।
रुन्ध्याद्योगयुगं तदेव कथितं सूक्ष्मक्रियाख्यं पदम् ॥

शुक्ल ध्यान का चौथा पाद ॥२१७॥

अर्हन्मुक्तिपदप्रयाणसमये पञ्चस्वरोच्चारणा ।
कालं तिष्ठति सूक्ष्मयोगविलये शैलेशवन्निश्चलः ॥
एतच्चैव मतं चतुर्थचरणं ध्यानस्य शुक्लस्य वै ।
व्युच्छिन्नक्रियनामकं शिवपदासन्नं समाप्तार्थकम् ॥

भावार्थ—जिस अवस्था में शुक्ल ध्यानी केवली भगवान् अन्त समय में स्थूलकाययोग में रहकर वचनयोग और मनोयोग को सूक्ष्म बना लेते हैं और मन-वचन-योग में रहकर स्थूलकाययोग को सूक्ष्म बना लेते हैं, और उसमें रहकर भी मनवचनयोग को रोकते हैं, उस समय केवल सूक्ष्मकाययोग की सूक्ष्म क्रिया रहती है। इससे सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्ल ध्यान का तीसरा पाद निष्पन्न होता है। (२१६)

शुक्ल ध्यान का चौथा पाद

अरिहन्त भगवान् जब मुक्तिपद में प्रयाण करते हैं, तब सूक्ष्मकाययोग का भी निरोध करके पाँच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने के समय तक मेरुपर्वत की तरह निश्चल अयोग अवस्था में—शैलेशी अवस्था में—रहना ही व्युच्छिन्नक्रिय नामक शुक्ल

ध्यान का चौथा पाद है। इस पाद में सकल अर्थों की समाप्ति हो जाती है और शिवपद का सामीप्य प्राप्त हो जाता है। (२१७)

विवेचन—सूक्ष्मक्रिया अर्थात् अत्यन्त अल्पक्रिया। इस अवस्था में केवली को स्वल्प कर्म-रज लगी रह जाती है; परन्तु वह रज कैसी होती है? जैसे भुना हुआ अन्न खाने से पेट भर जाता है, परन्तु बोने से वह उगता नहीं, वैसे ही अघाती कर्म की सत्ता से केवली चलनादि क्रियाएँ करते हैं। परन्तु यह क्रिया भवांकुर उत्पन्न नहीं कर सकती। इस कारण केवल सूक्ष्मकर्म ही उसे लगता है। शुक्ल ध्यान के तीसरे पाद में केवली भगवान् कर्म को किस प्रकार सूक्ष्म करते हैं? वे योग निरोध करते हैं; अर्थात्, प्रथम स्थूलकाययोग में स्थिति करते और स्थूलवचनयोग और मनोयोग को सूक्ष्म कर डालते हैं। फिर सूक्ष्म वचनयोग और मनोयोग में स्थिति करके स्थूलकाययोग को भी सूक्ष्म कर डालते हैं। अन्त में सूक्ष्मकाययोग में स्थिति करके केवली सूक्ष्मवचनयोग और सूक्ष्म मनोयोग का भी निग्रह करते—रोकते हैं। इस प्रकार तेरहवें गुण-स्थान में केवली को केवल सूक्ष्मकाययोग रह जाता है, और ऐसी स्थिति को सूक्ष्मक्रियध्यान के नाम से पुकारा जाता है। इसके बाद केवली ध्यान के चौथे पाद में प्रविष्ट होते हैं और यह पाद चौदहवें गुण स्थान में ही प्राप्त होता है। तीसरे पाद में जो सूक्ष्मकाययोग बाक़ी रह गया है, उसकाभी निरोध करना व्युच्छिन्नक्रिय नामक शुक्लध्यान का अन्तिम पाद है। इस अवस्था में इतना समय बाकी रह जाने पर कि जिसमें अ इ उ ऋ लृ इन पाँच स्वरों का उच्चारण हो जाय, केवली को अयोगी गुण स्थान प्राप्त हो जाता है। वहाँ समस्त योगों का निरोध हो जाता है, यानी केवली मेरुपर्वत की तरह निश्चल—शैलेशी—अवस्था में रहते हैं। यही

व्युच्छिन्नक्रिय पाद है। इस पाद में क्रिया नहीं रह जाती, यानी अक्रियावस्था प्राप्त हो जाती है और अघाती कर्मों का बिलकुल नाश हो जाता है। गुणस्थानक का काल पूर्ण होने तक यह अवस्था रहती है और इसके बाद मुक्तावस्था प्राप्त होती है; अतएव इस पाद को 'शिवपदासन्न' अर्थात् मुक्ति पद के सन्निकट कहते हैं। (२१६-२१७)

[नीचे के श्लोक में ग्रन्थकार शुक्ल ध्यान के शास्त्रोक्त आलम्बनों तथा भावनाओं का निदर्शन करते हैं।]

शुक्लध्यान के आलम्बन और भावना ॥ २१८ ॥

क्षान्तिर्मार्दवमार्जवं च यमिनां निर्लोभवृत्तिश्चतु—
रालम्बा अधिरोहणे निगदिता ध्याने तु शुक्लाभिधे॥
एवं पापमपायकारणमयं देहोऽशुभः पुद्गला—
वर्त्तानन्त्यमिदं जगच्चलमिति ध्येयाश्चतुर्भावनाः॥

भावार्थ—संयमियों को शुक्ल ध्यान में बढ़ने के लिए क्षमा, निर्लोभता, ऋजुता-सरलता और मृदुता—यह चार आलम्बन बतलाये गये हैं। इसी प्रकार शुक्ल ध्यान की विशुद्धि के लिए पाप मात्र अपायकारक—हानि कारक है; यह देह अशुभ-अशुचि मय है, यह जीव अनन्त पुद्गलपरावर्त्तन द्वारा संसार में भ्रमण करता है और यह जगत् नश्वर-चलायमान है—यह चार भावनाएँ भानी चाहिएँ। (२१८)

विवेचन—शुक्ल ध्यान के आरंभिक दो पादों में सक्रियता का अस्तित्व है; अतएव योग का (पहले में तीन और दूसरे में एक का) भी अस्तित्व है; यानी वहाँ तक संयमी के चित्तको उच्चश्रेणी पर चढ़ते जाने के लिए आलम्बन होना स्वाभाविक है। यह

आलम्बन चार हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'निगदिता:'—'कहे हुए' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि आलम्बन शास्त्र-कथित हैं। उववाई सूत्र में इन आलम्बनों का विधान है। क्षमा, मृदुता, ऋजुता और निर्लोभता रूपी आलम्बनों के द्वारा शुक्ल ध्यान में स्थिर रहा जा सकता है और प्रथम से दूसरे पाद में और दूसरे से तीसरे पाद में चढ़ा जा सकता है। इसके सिवा शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ या भावनाएँ बतलाई गई हैं। प्राणातिपातादि प्रत्येक पाप अपाय-हानि का कारण है—ऐसा विचारना पहली भावना है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, और योग—यह पाँच आश्रव के भेद या प्रकार हैं और आश्रवों को भगवान् ने अपाय का कारण रूप बतलाया है। ऐसे श्रुत के चिन्तन से संक्रमण द्वारा योग में, और योग से संक्रमण द्वारा श्रुत में, उत्तरोत्तर जुदी-जुदी भावनाएँ भाते हुए, ध्याता शुक्ल ध्यान में आगे ही आगे बढ़ता जाता है। इसी प्रकार तीन भावनाओं के विषय में भी समझना चाहिए। अशुचि भावना, यानी ऐसा विचार करना कि यह देह अशुभ—अशुचि परमाणुओं की बनी हुई है, इसलिए उस पर राग कैसा? अनन्त पुद्गलपरावर्त्तन, तीसरी भावना है, यानी यह जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त पुद्गलपरावर्त्तन कर चुका है, अब इस संसार से राग कैसा?—यह चिन्तन शुक्ल ध्यान की तीसरी भावना है। और वस्तु के परिणाम को पलटने, यानी जगत् की चंचलता के स्वभाव का चिंतन करना, चौथी भावना है। इससे आत्मा को जगत् की नश्वरता अनित्यता का भान होने पर वीतराग अवस्था की शिक्षा उसे मिलती है। यह आलम्बन और भावनाएँ वास्तव ध्यान के उच्चतम शिखर पर चढ़ने की सीढ़ियाँ हैं। इन सीढ़ियों पर पैर रखते हुए, ध्याता आत्मा को निर्मल करता हुआ ऊँचा चढ़ता जाता है। (२१८)

[शुक्ल ध्यान, आत्मा को निर्मल करने का उच्च शिखर अवश्य है; परन्तु उस पर चढ़ना इस युग में अति दुष्कर—कठिन—है। यही निदर्शन कराते हुए, ग्रन्थकार मुमुक्षु को ध्यान का उच्च मनोभाव रखने के लिए सूचना करते हैं।]

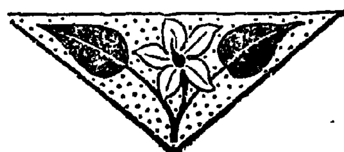
शुक्ल ध्यान की दुष्करता ॥ २१६ ॥

शुक्लध्यानमपेक्षतेऽपरिमितं वीर्यं च चित्तात्मनो—
राद्यं संहननं स्थिरं दृढतरं वैराग्यभावं पुनः ॥
नैतेषां यदि संभवोऽत्र समये भाव्या तदा भावना ।
भाव्याशा नियता न साधनबलं यावत्समापद्यते ॥

भावार्थ—शुक्लध्यान की अवस्था प्राप्त करने के लिए आत्मा की पूर्ण दृढ़ता और आत्मा का अपरिमित वीर्य—सामर्थ्य चाहिये। छः संघयणों में से पहला वज्रऋषभनाराच संघयण—संहनन चाहिए। और अत्यन्त दृढ़ वैराग्यभाव चाहिए। इस समय यदि वह सम्भव न हो, तो भावी की आशा रख कर तब तक उपर्युक्त शुक्लध्यान की भावना भानी चाहिए, जब तक कि अपरिमित वीर्य आदि साधन सामग्री पूर्णरूप से प्राप्त न हो जाय। (२१६)

विवेचन—पहले, २११ वें श्लोक में 'शुक्लध्यान' के विषय में विवेचन करते हुए कहा गया है कि अल्पसत्त्व वाले जीवों को शुक्ल ध्यान का अधिकार नहीं है। इस अधिकार के न होने का कारण यह है कि यह ध्यान अत्यन्त कठिन है। इसमें चित्त और आत्मा के अपरिमित सामर्थ्य और सुदृढ़ शरीर की आवश्यकता होती है। 'आद्यं संहननं' यानी पहला वज्रऋषभनाराच संघयण-संहनन कि जिसमें वज्र के समान मजबूत

हड्डियों वाला शरीर और भली भाँति दृढ़ वैराग्य वासित चित्त होता है, वही शुक्लध्यान का अधिकारी है, और इस समय ऐसी योग्यता किसी में होना सम्भव नहीं है, इसलिए शुक्लध्यान की भावना माना, यानी शुक्लध्यान को अपने अन्तिम आदर्श की भाँति स्थापित करके, उसकी ओर बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहना उचित है। जब तक अपरिमित वीर्य और देहादि रूप साधन सामग्री प्राप्त न हो जाय, ऐसा अपूर्व अवसर न आजाय, तब तक शुक्लध्यान को केवल आदर्श समझकर, उससे निम्न-कोटि के धर्मध्यान में आगे बढ़ते रहना, चित्त की वीतराग अवस्था तथा आत्मा की निर्मलता प्राप्त करने का व्यावहारिक मार्ग है। और हेमचन्द्राचार्य भी आधुनिक समय के लोगों के लिए शास्त्र-कथित शुक्लध्यान कठिन समझते हुए कहते हैं— 'दुष्करमप्याधुनिकैः शुक्लध्यानं यथाशास्त्रम्।' धर्मध्यान का अविचल स्थिति काल अंतर्मुहूर्त है, और इसमें क्षायोपशमिक भाव है, इसलिए अवस्थान्तर हुआ करता है। यह शुक्लध्यान की अपेक्षा भी अल्प है; परन्तु आर्त—रौद्र ध्यान से इसकी अवस्था बहुत उच्च है; अतएव आधुनिक समय के लिए धर्म-ध्यान ही इष्ट-शुभ—है। (२१६)



बारहवाँ परिच्छेद

तपश्चर्या—व्युत्सर्ग

[अब तप का अन्तिम प्रकार 'व्युत्सर्ग तप' का विवेचन किया जा रहा है।]

व्युत्सर्ग तप अथवा विवेक ।२२०॥

देहादौ परवस्तुनि प्रथमतो जाताऽऽत्मबुद्धिश्च या।
सम्पन्नं जलदुग्धवत्तदुभयोरैक्यं तथाऽनादितः॥
निश्चित्योभयलक्षणानि सततं बुद्ध्या विविच्योभयं।
भेदाभ्यासबलेन हंसवदिदं त्याज्यं परं स्वग्रहे॥

भावार्थ—देहादि पौद्‌गलिक वस्तुओं में बहुत समय से जो आत्मभाव हो गया है और अनादि काल से पानी तथा दूध के माफिक जड़ और चेतन—पुद्‌गल तथा आत्मा—इन दोनों की एकता हो गई है, उन दोनों के पृथक्-पृथक् लक्षणों का निश्चय करके मुमुक्षुओं को निरन्तर भेद अभ्यास के बल से उन दोनों पदार्थों को हंस की तरह अलग-अलग करके स्ववस्तु आत्मतत्व का ग्रहण तथा परवस्तु—पौद्‌गलिक तत्त्व का त्याग करना चाहिये। (२२०)

विवेचन—'स्व' और 'पर' के भेद को जानने का विवेक ही 'व्युत्सर्ग' है साधारण प्रकार से मनुष्य बहिर्मुख वृत्ति वाला बहिरात्मा होता है; कारण कि शरीरादि जड़—पौद्‌गलिक

वस्तुओं के दीर्घकाल के सहवास से उसे शरीर के प्रति ही आत्मभाव उत्पन्न हो जाता है; पर वास्तव में यह आत्म-विभ्रम है। 'ज्ञानार्णव' में कहा है कि—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥

अर्थात्—आत्म विभ्रम के कारण जो मनुष्य शरीरादि जड़ वस्तुओं में आत्मभाव धारण कर लेते हैं और मोहनिद्रा से जिसका चैतन्य अस्त हो गया है, वह बहिरात्मा है। ऐसे बहिरात्म भाव का विलय होकर अन्तरात्म भाव तब जागृत होता है कि जब जड़ को जड़ रूप में और चेतन को चेतन रूप में पहचानने का; चेतन आत्मा है, अतएव 'स्व' है तथा देह जड़ है; अतएव 'पर' है—इस प्रकार स्व-पर का भेद जानने का विवेक मनुष्य में जागृत होता है। इस कारण जड़ और चेतन, अथवा पुद्गल और आत्मा के लक्षणों का मुमुक्षु को अभ्यास करना चाहिये और ऐसा निश्चयवान् हो जाना चाहिये कि 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य, अर्थात्—आत्मा ही दुख और सुख का कर्त्ता तथा अकर्त्ता है। जड़-चेतन का यह भेद जानने के बाद मुमुक्षु को आत्म रूप चेतन, जो 'स्व' है और जड़, जो 'पर' है, इनमें से 'स्व' का ग्रहण करके 'पर' का त्याग करने में प्रयत्नशील होना चाहिए।' यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैः' अर्थात्—आत्मा का ही जिसने आत्म भाव में निश्चय किया है, उसे ज्ञानी पुरुषों ने अन्तरात्मा बतलाया है जब ऐसा अन्तरात्म भाव किंवा स्वरूप का विवेक प्रकट होता है, तब व्युत्सर्ग तप सहज ही सिद्ध हो जाता है। (२२०)

[ऐसा विवेक प्रकट होने पर जड़-चेतन के बीच के भेद का जो

ज्ञान उत्पन्न होता है, नीचे के श्लोक में उसी का दिग्दर्शन कराया गया है।]

भेद ज्ञान ॥ १२१ ॥

देहो नास्ति ममाहमस्मि न पुनर्देहस्य काले क्वचित्।
स्थूलोऽयं क्षणभङ्गुरः पुनरहं चैतन्यरूपः स्थिरः॥
दुःखं जन्मजराऽवसानजनितं रोगाद्युपाध्युद्भवं।
देहस्यैव न चास्ति मेऽथ सहजानन्दस्वरूपोऽस्म्यहम्॥

भावार्थ—यह देह मेरा नहीं है, मैं किसी भी काल में इस देह का न बनूँगा, यह देह स्थूल रूप तथा क्षण भंगुर है और मैं स्थिर और चैतन्य रूप हूँ; जन्म, जरा, मृत्यु से उत्पन्न होने वाला और रोग, आधि, उपाधि से पैदा होने वाला दुःख और क्लेश इस देह को ही होता है, मुझे नहीं; कारण कि मैं तो सहज आनन्द-स्वरूप हूँ-इस प्रकार भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। (२२१)

विवेचन—जब देह में से 'अहं' भाव का लोप हो जाता है, तब चित्त की ऐसी सम अवस्था होती है कि देह की पीड़ा तुच्छ मालूम होने लगती है, और आत्मा तो क्षणभंगुर देह की परवा किये बिना ही 'अहं ब्रह्मास्मि' समझ कर आनन्द स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। देह एक नहीं है या किसी का अपना नहीं है, वह तो केवल स्थूल और अनित्य पदार्थ है—जो 'मैं' हूँ, वह निर्मल - चैतन्य स्वरूप आत्मा है, उसे आधि-व्याधि या उपाधि; जन्म, जरा, या मृत्यु से दुःख नहीं होता, केवल देह को ही दुःख होता है-ऐसा भेद ज्ञान जब प्रकट हो जाता है, तब-आत्मा के लिए जो भगवद्गीता में कहा है कि—

अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः॥

अर्थात्—आत्मा अछेद्य (न कट सकने वाली), अदाह्य (न जलने वाली) अक्लेद्य (न भीगने वाली) अशोष्य (न सूखने वाली), नित्य, सर्वत्र पहुँचने वाली, स्थिर, अचल और सनातन है—इस तत्त्व का साक्षात्कार होता है। देह और आत्मा के बीच का भेद समझाने वाला जो ज्ञान है, वह भेदज्ञान है। इस भेद का अभ्यास करने से वैराग्य सुदृढ़ होता है और व्युत्सर्ग तप की सिद्धि सहज हो जाती है।

दृष्टान्त—भेदज्ञान के कारण केवल ज्ञान पाने वाले गज सुकुमाल का दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त होगा। गज सुकुमाल कृष्ण महाराज का छोटा भाई था। माता देवकी का उस पर बड़ा प्रेम था। जब वह जवान हुआ, तब एक बार बाईसवें तीर्थंकर नेमि नाथ प्रभु द्वारकानगरी के बाहर एक उद्यान में पधारे, और कृष्ण महाराज, गज सुकुमाल को साथ लेकर प्रभु के दर्शन के लिए जाने लगे। रास्ते में सोमिल नामक ब्राह्मण का घर आया। उस घर की छत पर सोमा नाम की, ब्राह्मण की सौन्दर्यवती कन्या सखियों के साथ खेल रही थी, कृष्णजी ने उसे देखा और उसके साथ गज सुकुमाल का विवाह कर देने का विचार उन्हें हुआ। कृष्णजी ने सोमिल को बुलाकर, सोमा के विवाह के विषय में बातचीत की और सोमा को कुँआरे अन्तःपुर में भेज दिया। फिर दोनों भाई उद्यान की ओर प्रभु के दर्शनों के लिये जाने को आगे बढ़े। प्रभु का उपदेश सुन कर गजसुकुमाल को वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने दीक्षा लेने के लिए माता से आज्ञा माँगी, तो माता को मूर्च्छा आगई। बहुत-बहुत समझाने पर भी गजसुकुमाल ने दीक्षा लेने का विचार

नहीं छोड़ा, और दीक्षा ले ही ली। दीक्षा लेकर तुरन्त प्रभु से बारहवीं भिक्खु की पड़िमा ग्रहण करने की आज्ञा ली और श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग करके अचल रूप में खड़ा होगया। शाम होने पर सोमिल ब्राह्मण, हवन के लिए जंगल से समिधा लेकर गाँव की ओर लौट रहा था, उसकी दृष्टि गजसुकुमाल पर पड़ी। उसे देखते ही सोमिल का क्रोध उत्पन्न हो गया और वह बोला—'अरे! जिसके साथ सोमा का विवाह होने वाला था, वह गजसुकुमाल तो साधु बन कर यहाँ खड़ा है! अरे दुष्ट! तुझे यदि साधु ही बनना था, तो मेरी कन्या को कुँवारे अन्तःपुर में भेज कर क्यों विधवा बना दिया? उस क्रोधी ब्राह्मण ने गज-सुकुमाल को कठोर दण्ड देने की ठानी। उसने ध्यानस्थ खड़े हुए गजसुकुमाल के सिर पर गीली मिट्टी से ओट बनाई और उसमें चिता से लाकर आग भरदी। ताजी मुँडी हुई खोपड़ी की चमड़ी चर्र चर्र करके जलने लगी, इसके बाद मांस जलने लगा। इस पीड़ा का क्या ठिकाना है? परन्तु गजसुकुमाल ने सिर या शरीर का कोई अंग जरा भी नहीं सिकोड़ा या नहीं हिलाया। सोमिल के प्रति उसने द्वेष भी पैदा नहीं किया। किसी का ससुर पाँच पचीस की पगड़ी बँधवाता है और मुझे मेरा ससुर मोक्ष की पगड़ी बँधवा रहा है—यह भाव गजसुकु-माल मुनि के शुभ ध्यान में स्फुरित हो रहा था। यह सब प्रभाव यह सब शूरवीरता, यह निश्चलता, उस भेद ज्ञान का ही परि-णाम था। इस समय गजसुकुमाल की आत्मा जैसे शरीर से बाहर निकल कर कर्मों को पराजित करने के लिए रणक्षेत्र में आगई थी और शरीर के साथ कोई भी सम्बन्ध न मान कर दुःख वेदना के बिना आत्मभाव में लीन होगई थी। उसके बहि-रात्म भाव का तो कभी का ध्वंस हो गया था और इस समय अन्तरात्मभाव में से परमात्मभाव में जाने की तैयारी कर

रहा था। क्षपक श्रेणी में चढ़कर, अन्त में केवली होकर शुक्ल ध्यान के अंतिम पाद का स्पर्श करके, सकल कर्मों का नाश करके, गजसुकुमाल मुनि मोक्ष को प्राप्त हो गये। (२२१)

[अब व्युत्सर्ग तप के दो भेदों में से प्रथम द्रव्यव्युत्सर्ग तप के विषय में कहा जाता है।]

द्रव्यव्युत्सर्ग तप ॥ २२२ ॥

व्युत्सर्गो द्विविधो मतो जिनवरैर्द्रव्येण भावेन वा।
गच्छाङ्गोपधिभोजनादिविधया ख्यातश्चतुर्धाऽऽदिमः॥
आसन्ने मरणे विहाय ममतां गच्छे तनौ चोपधौ।
त्याज्यंभोजनपानकं च निखिलंनिष्कामबुद्ध्या बुधैः॥

भावार्थ—जिनवरों ने व्युत्सर्ग तप के दो भेद बताये हैं—एक द्रव्यव्युत्सर्ग और दूसरा भावव्युत्सर्ग। गच्छ, शरीर, उपकरण और भोजन आदि भेद से पहला द्रव्य व्युत्सर्ग तप चार प्रकार का है। जब मृत्यु निकट आजाय तब गच्छ, शरीर और उपकरण-उपाधि पर से ममता हटा कर अन्त में निष्काम वृत्ति से अन्न जल त्याग कर भी विबुधों को चार प्रकार का, संस्तार व्रत ग्रहण करना चाहिए। (२२२)

विवेचन—व्युत्सर्ग के दो प्रकार शास्त्र में बतलाये गए हैं—द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। वि उत्सर्ग=विशेष त्याग, यानी उत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं—गच्छ—सम्प्रदाय के ममत्व का त्याग, शरीर के ममत्व का त्याग, उपकरण—देह या धर्मचर्यादि के साधनों के ममत्व का त्याग, और अन्न जल के ममत्व का त्याग। यह सब निष्काम बुद्धि से—कामना-रहित

वृत्ति से करना ही 'द्रव्य व्युत्सर्ग' तप की सिद्धि है। मैं अमुक गच्छ का साधु हूँ, मैं अमुक सम्प्रदाय को मानता हूँ-यह ममता भाव चित्त में से विलय हो जाय, और केवल यही भाव रह जाय कि मैं निर्मल आत्मा हूँ, मुझे अब गच्छ या सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं है—इस चित्तवृत्ति से गच्छ-सम्प्रदाय के प्रति ममत्व का या उसके चिह्नों का त्याग करदे। देह के प्रति मोह को दूर करदे, यानी कार्योत्सर्ग करे—काया से ममत्व का भाव त्याग दे जीव-जन्तु इस काया को खा जायँ या डसलें, हवा से सुख पैदा हो या गर्मी से शरीर झुलस जाय—ऐसे किसी भी सुख दुःख की परवा न करे और केवल त्याग भाव में ही लीन रहे—कायोत्सर्ग है। जो कुछ दुःख या सुख होते हैं, वह शरीर को होते हैं, मुझे—मेरी निर्मल आत्मा को उससे कोई भी सुख दुःख नहीं होते, जब ऐसा भाव प्रकट होता है, तब चित्त को जरा भी खेद या ग्लानि नहीं होती, वह अटल रहती है, दुःख से शरीर के अंगों को बचाने की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती और ऐसे कायोत्सर्ग में ही तपस्वी देह के ममत्व को त्याग देता है, मृत्यु का समभाव से आलिंगन करता है। 'ण मे देहे परिसहा'—मेरे शरीर में परिषह है ही नहीं—ऐसी ही प्रबल भावना उसे होती रहती है। जब तपस्वी उपधि-उपकरणों का उत्सर्ग करता है, तब वह गच्छ या शरीर पर के ममत्व का पूर्ण रूप से त्याग कर देता है। उपकरण, या तो धर्मचर्या के लिए, या सम्प्रदाय की विशिष्टता—पृथकता सूचित करने के बाह्य साधन होते हैं। गच्छ और शरीर के प्रति ममत्व का त्याग किया कि सब उपकरणों का ममत्व दूर हो जाता है। रजोहरण या अमुक रंग के वस्त्र आदि मुझे क्यों चाहिएँ? आत्मा को विशिष्ट रूप में परिचित करने या शरीर की रक्षा करने की क्या आवश्यकता है?—ऐसे ही भाव तपस्वी के हृदय

में सदोदित होते रहते हैं। उस प्रकार के उत्सर्गों का साधन करने के पश्चात्, शरीर का निर्वाह करने के लिए अन्न-जल ग्रहण करने की भी वृत्ति नहीं रह जाती। इस वृत्ति में रमण करने वाली आत्मा क्या विचार करती है ?—

जावज्जीवं परीसहा उवसग्गा इति संखया।
संवुडे देहभेयाए इतिपन्ने धियासए॥

अर्थात्—जब तक जीना है, तब तक परिषहों और उपसर्गों को सहना है—यह विचारकर 'मैंने शरीर से अलग होने के लिए ही शरीर का त्याग किया है'—यह सोच कर मुनि को सब परिषहों और उपसर्गों को सहना चाहिए। शरीर से जुदा होने के लिए, शरीर का पोषण भी बन्द करके, उसका त्याग करने की वृत्ति जब तपस्वी में पैदा हो, तब उसे संथारा—संस्तारव्रत ग्रहण करना चहिए। अर्थात्—विशुद्ध स्थान पर बैठकर, सब योगों का निरोध करके, अन्न-जल का त्याग करके शरीर को छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार सर्वांश में व्युसर्ग तप सिद्ध होता है। (२२२)

[अब भाव व्युत्सर्ग तप के विषय में कहा जाता है।]

भाव व्युत्सर्ग तप ॥ २२३ ॥

स्यात्संसारकषायकर्मभिदया भावात्मकोऽपि त्रिधा।
व्युत्सर्गः प्रथमं कषायविलयः कार्यः क्षयश्रेणिके॥
जातेऽस्मिन् घनघातिकर्मविरहः संसारनाशस्ततो।
व्युत्सर्गे परिनिष्ठिते च सकले सर्वं हि निष्ठां गतम्॥

भावार्थ—भाव व्युत्सर्ग तप भी संसार कषाय और कर्म के भेद से तीन प्रकार का है। इसमें पहले क्षपक श्रेणी पर

आरुढ़ होकर कषाय का विलय करना चाहिए। कषाय का विलय होने पर घनघाति कर्म का नाश हो जायगा और कर्म का नाश होने पर संसार का भी नाश हुआ समझना चाहिए। यानी, व्युत्सर्ग तप की सिद्धि होने पर सकल कार्यों की सिद्धि हुई समझनी चाहिए। (२२३)

विवेचन—भाव व्युत्सर्ग तप के तीन प्रकार निम्नोक्त यह हैं—कषाय व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग, और कर्म व्युत्सर्ग। क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों कषायों को त्यागना कषाय व्युत्सर्ग है। नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्यगति या देवगति में जाने के कारण का त्याग करना, अर्थात्—सब प्रकार के संसार के कारणों को निवारण करना संसार व्युत्सर्ग है। आठ प्रकार के जो कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय—हैं, उनके बन्धनों के कारणों से निवृत्त होना, कर्मव्युत्सर्ग है। भाव व्युत्सर्ग तप के साथ जब द्रव्य व्युत्सर्ग तप होता है, तभी वह सार्थक होता है। और जब द्रव्य पर से देह का ममत्व दूर हुआ तथा भावसे, शुभकर्म बन्धन पर से भी ममत्व दूर हुआ तब सब कार्यों की सिद्ध हुई ही समझनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं। पुराने कर्म-बन्धनों को तोड़ना और नये बन्धनों को रोक कर, भाव से, कर्मबंधन के कारणों को भी काट डालना, आत्मकल्याण की सिद्धि ही है, कारण कि नये संसार का बनना वहाँ से रुक जाता है और आत्मा मुक्ति का ही वरण करती है। (२२३)

[एक ओर ध्यान और दूसरी ओर तपश्चर्या यह दोनों आत्म-कल्याण के साधन हैं। इसलिए दोनों के फल की एकता के विषय में उपसंहार करके ग्रन्थकार ग्रन्थ की पूर्णाहुति करते हैं।]

ध्यान और तप के फल की एकता ॥२२४॥

ध्यानं ध्यानिजनस्य पाकसमये दत्ते शुभं यत्फलं ।
दद्यादत्र फलं तदेव शमिनः पक्वा तपस्या ध्रुवम् ॥
मध्ये यद्यपि भाति साधनविधौ भेदः कथञ्चित्तयो-
र्निष्ठायां तु तयोः फलैक्यकलनान्नास्त्येव भेदो मनाक् ॥

भावार्थ—परिपाक के समय ध्यानी पुरुष को ध्यान जो शुभ फल देता है, वही फल शान्त तपस्वी को परिपक्व हुई तपस्या भी देती है। बीच में यद्यपि साधन विधि में किसी प्रकार भेद प्रतीत होता है, तथापि परिणाम-स्वरूप दोनों का एक ही फल मालूम होने से परिणाम में जरा भी भेद नहीं है। इसलिए ज्ञान के अधिकारी को स्वाध्याय और ध्यान से अपनी दिनचर्या पूर्ण करनी चाहिए और तप के अधिकारियों को तपस्या से समाप्त करनी चाहिए। (२२४)

विवेचन—जिस प्रकार हठयोगी और राजयोगी दोनों समाधि के साधक होते हैं, फिर भी दोनों की क्रिया-विधि में अन्तर होता है, उसी प्रकार ध्यानी और तपस्वी दोनों की साधन-विधि में अन्तर होने पर भी दोनों को समान फल की प्राप्ति होती है। पहले बतलाया गया है कि ज्ञान और भक्ति के संगम से आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त करती है; कारण कि सच्चा ज्ञानी अन्त में श्रद्धावान्-भक्त बन जाता है और सच्चे भक्त को ज्ञान प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। इसी प्रकार सच्चा तपस्वी, कि जिसने बाह्य तथा आभ्यन्तर तप का अनुष्ठान कर लिया है, वह कषायों को जीर्ण करके वस्तुतः ज्ञान-भक्ति का स्पर्श किये बिना नहीं रहता। ज्ञानी वह भी अन्त में 'पाक समये' वीतराग दशा

को प्राप्त कर सकता है। स्वाध्यायशील और ध्यानशील को जो फल प्राप्त होता है, वही फल प्राप्ति इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर तपस्वी को होती है। इसलिये यह दोनों मार्ग एक ही गिरि-शिखर पर चढ़ने के जुदे-जुदे मार्ग हैं। इस कारण पहले मुनि की जो दिनचर्या बतलाई गई है, उसमें अधिकारी को स्वाध्याय तथा ध्यान में और स्वाध्याय के अधिकारी को तपश्चर्या में अपनी प्रव्रज्या का समय बिताना चाहिए। उस दिनचर्या का यहाँ से उपसंहार होता है ध्यान और तप के फल की एकता दो जुदी-जुदी सीढ़ियों पर एक ही मंजिल पर पहुँचने के समान हैं। और चतुर्थ आश्रम-धर्म यानी सन्यास को ग्रहण किये हुए मुमुक्षु को जो सीढ़ियाँ अनुकूल प्रतीत हों, उनका उपयोग करने के लिए कहकर इस अन्तिम खण्ड की पूर्णाहुति करते हैं। (२२४)

ग्रन्थ-प्रशस्तिः ॥२२५।२२६॥

गच्छे स्वाम्यजरामरो दिनमणिर्लोकाभिधे विश्रुत—
स्तत्पट्टे मुनिदेवराजविबुधः श्रीमौनसिंहस्ततः ॥
सूरिर्देवजिदाह्वयः श्रुतधरः पट्टे तदीयेऽभव—
त्स्वामिश्रीनथुजिद्गणी गुणखनिः शिष्यस्तदीयः पुनः।
ख्यातः स्वामिगुलाबचन्द्रविबुधः श्रीवीरचन्द्राग्रज—
स्तच्छिष्येण तु रत्नचन्द्रमुनिना कर्त्तव्यमार्गावहः ॥
ग्रन्थोऽयं ख-गजाऽङ्क-भू-परिमिते वर्षे शरत्पूर्णिमा—
सौम्याह्नि प्रथितोऽथ राजनगरे पूर्णीकृतः श्रेयसे ॥

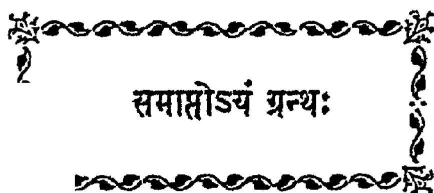
भावार्थ तथा विवेचन—लोंकाशाह नामक महापुरुष द्वारा

सं० १५३१ में स्थापित लोंका-गच्छ की एक शाखा लींबड़ी सम्प्रदाय है। यह सम्प्रदाय भी बहुत पुरानी है; परन्तु वर्त्तमान लींबड़ी-सम्प्रदाय के योजक श्री अजरामर जी स्वामी थे। लींबड़ी-सम्प्रदाय की ७-८ और भी शाखाएँ होकर काठियावाड़ में जुदे-जुदे सम्प्रदायों के नाम से फैल गई थीं। इसलिए ग्रन्थकार की दृष्टि में इस सम्प्रदाय के योजक श्री अजरामर जी स्वामी ही हैं और इसलिए उन्हें यहाँ आदि पुरुष समझा गया है। लींवड़ी-सम्प्रदाय में उन्होंने सूर्य की तरह प्रख्याति प्राप्त की थी, क्योंकि उनके पूर्व साधुओं में जो कुछ आचरण स्खलना थी, उसे दूर करने के लिए श्री अजरामर जी स्वामी ने गच्छ के कितने ही नियम बनाये थे और उनके अनुसार वर्त्ताव करने के लिए साधुओं को बाध्य किया था। इसी दिनमणि-सूर्य के प्रकाश को लिम्बड़ी सम्प्रदाय के साधु अद्यावधि धारण किये हुए हैं। उनके पट्ट पर उनके शिष्य पूज्य श्री देवराज जी स्वामी हुए। उनके पश्चात् पूज्य श्री मौनसिंह जी स्वामी पट्ट पर बैठे। उनके पीछे शास्त्र निष्णात पूज्य श्री देव जी स्वामी आचार्य हुए। उनके पट्ट पर उनके शिष्य गुणगणमण्डित पूज्य श्री नाथू जी स्वामी विराजे। उनके प्रख्यात शिष्य श्री गुलाबचंद्र जी स्वामी जिन्होंने अपने लघु भ्राता महाराज श्री वीर जी स्वामी के साथ दीक्षा धारण की थी (और जो विवेचन के लेखन काल में लिम्बड़ी सम्प्रदाय की पूज्य पदवी पर विराज रहे हैं) उनके शिष्य मुनि श्री रत्नचंद्र जी ने कर्त्तव्य मार्ग दर्शक 'कर्त्तव्य कौमुदी' का यह दूसरा ग्रन्थ विक्रम सम्वत् १९८० (ख=०, गज=८, अङ्क=९, भू=१) में आश्विन शुक्ला १५—शरद् पूर्णिमा बुधवार के दिन गुजरात देश में प्रसिद्ध राजनगर अर्थात् अहमदाबाद में चातुर्मास करके स्व तथा पर के कल्याण के लिए पूर्ण किया है। प्रथम ग्रंथ १९७० में लिखा गया और द्वितीय ग्रंथ १९८० में पूर्ण हुआ।

अर्थात् इतने महान् काल का अंतर इन दो ग्रन्थों के मध्य हुआ, उसका कारण यह है कि इस मध्य काल में मुनि 'श्री अर्धमागधी भाषा के कोश' की रचना में व्यस्त थे। उस कार्य के पूर्ण होते ही इस ग्रंथ की रचना का कार्य हाथ में लिया। इस प्रकार ग्रंथकार ने १० वर्ष के अंतर काल के पश्चात् द्वितीय ग्रंथ लिखा। इसके पश्चात् विवेचनकार ने अन्य ६ वर्ष के अंतरकाल के बाद विवेचन पूर्ण किया। अर्थात् यह द्वितीय ग्रंथ प्रथम ग्रन्थ को १६ वर्ष हुए पश्चात् समाप्त हुआ है। 'कालाय तस्मै नमः' (२२५-२२६)

ॐ शान्तिः शान्तिः।

॥ इति द्वितीय खण्ड समाप्त ॥



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१०	योग्य	योग
७	११	ओर	और
६	१	आइन्त	आइन्तु
६	१	अम्मं	धम्मं
१०	१३	निमल	निर्मल
१०	१५	मिच्छदिट्ठिस'''चेव	०
१३	६	वाके	वाले
१३	१३	कहा	कहा है
१३	१४	धमा	धर्मो
१३	१४	उवसपन्ति	उपसर्पन्ति
१४	१६	सम्मग्	सम्यग्
१५	२	कीत्यंते	कीर्त्यंते
१६	१३	त	तं
२१	४	शास्त्रार्थवेत्तमुने	शास्त्रार्थवेत्तुर्मुने
२६	१	व्रतों की	व्रतों को
३१	१७	रह	कर
३१	२०	अत्रादिरोश्चा-	अत्रादिरोभश्चा-
३६	२३	इतना ही	इतना ही नहीं
४०	७	स्त्रीपुसो	स्त्रीपुंसो
४०	१०	स्वादर	स्वदार
४१	४	सांगोपांग	सब अङ्गोपाङ्ग
४४	२२	अनन्त	अनङ्ग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१	१३	पद्यादि	वाद्यादि
५१	१६	मृगालवती	मृणालवती
५१	२५	,,	,,
५१	२६	,,	,,
६८	२४	स्वधीनता	स्वाधीनता
८३	६	भाग्नाशः	भग्नाशः
८७	६	करने	०
८६	४	विनियम	विनिमय
६४	८	परापकार	परोपकार
१०१	२	भानहीनता	भावहीनता
१०३	१८	खींचना	सींचना
१०७	१४	समवभन्	समभवन्
११०	१२	त्वन्त्रो	त्वत्तो
१२४	२६	सनुष्य	मनुष्य
१२८	२१	प्रकन्न	प्रसन्न
१२६	२	एकार	प्रकार
१४३	२०	श्लोकाधन	श्लोकार्द्धेन
१६४	१	'वतथै'	'तथैव'
१६६	२१	त्रिथार्थियों	विद्यार्थियों
१८६	७	के	में
१६२	८	दैहिक आयुषिक	ऐहिक आमुष्मिक
१६३	३	तोड़-मराड़	तोड़-मरोड़
२०५	११	रागी	रोगी
२०८	२४	लोगों से	लोगों को
२१८	१५	मिखारीपन	भिखारीपन
२१६	१०	Respecially	especially

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२१	१३	करके	करने
२२६	२०	ऐते	एते
२३७	५	था	थी
२५३	५	पोपरण	पोपरण
२५८	१०	ह्रद्य	हृदय
२८६	१६	परधीन	पराधीन
३४३	६	त्तियां	वृत्तियां
४००	१७	धम	धर्म
४००	२४	वा चालता	वाचालता
४१७	२२	शिक्षा	भिक्षा
४८३	७	उपनासादि	उपवासादि
४८५	१५	ध्चान	ध्यान
५२४	७	एकार	प्रकार
५२४	१५	श्थिति	स्थिति
५३८	१२	प्राप्त	व्याप्त
५४०	७	थियोफिस्ट	थियोसोफिस्ट
५४८	६	न करें	करें
५५५	१३	महादेवी	मरुदेवी
५५५	१४	मालूस	मालूम
५५६	१४	वैनारगिरि	वैभारगिरि
५५६	६	श्वेताम्बर	श्वेताश्वतर
५६०	२५	Demeding	Demanding
५६१	३	कर्मधन्धन	कर्मबन्धन
५६५	२४	वास्तव	वास्तविक
५६७	५	माना	भाना
६०७	७	तरस्वी	तपस्वी

समिति से प्राप्त उत्तम पुस्तकें

१ अर्द्धमागधी कोप (सचित्र) प्राकृत, संस्कृत, इङ्गलिश, हिन्दी, गुजराती भाषा में (भा० १,२,३,४,५)
पाँचों भागों का मूल्य ४०) रु०
एक भाग का ,, १०) रु०

२ जैन सिद्धान्त कौमुदी (अर्द्धमागधी व्याकरण) मूल्य ५) रु०

३ भावना शतक हिन्दी भावार्थ और विवेचन सहित ,, १।) रु०

४ भावना शतक हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ ,, ।)

५ कर्त्तव्य कौमुदी हिन्दी भावार्थ और विवेचन सहित—
प्रथम भाग ,, १) रु०

६ ,, ,, द्वितीय भाग ,, १) रु०

७ कर्त्तव्य कौमुदी दि० भाग मूल व भावार्थ ,, १) रु०

८ ,, पद्यानुवाद प्रथम, द्वि० भाग ,, ।।)

९ कारण संवाद हिन्दी ,, =)

१० ,, ,, गुजराती ,, –)।।

११ रेवतीदान समालोचना ,, ≡)

१२ साहित्य संशोधन की आवश्यकता ,, –)

प्राप्तिस्थान

(१) श्री धीरजलाल केशवलाल तुरखिया जैन गुरुकुल, ब्यावर।

(२) गणेशमल सरदारमल नया बाजार, अजमेर।

समिति के स्तम्भ और आजीवन सदस्यों की शुभ नामावली

स्तम्भ

१ दानवीर सेठ अगरचंद जी भैरोंदान जी सेठिया, बीकानेर।
२ लाला केदारनाथ जी रुगनाथ जी जैन, रोहतकवाले, दिल्ली।

आजीवन सदस्य

१ श्री तखतसिंह जी वौहरा	आगरा
२ श्री चुन्नीलाल भाईचंद मेहता	बम्बई
३ श्री चुन्नीलाल फूलचंद मेहता	मोरवी
४ श्री लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद	कलकत्ता
५ श्री मुंशीलाल जी जैन	स्यालकोट
६ श्री जौंहरीलाल जी पन्नालाल जी नाहर	अजमेर
७ श्री घेवरचंद जी चोपड़ा	,,
८ श्री रंगरूपमल जी श्रीमाल	,,
९ श्री दीपचंद जी पल्लीवाल जैन,	,,
१० श्री भँवरलाल जी चाँदमल जी नाहर	,,
११ श्री मूलचंद जी सेठी	,,

प्रकाशक—
जैन साहित्य प्रचारक समिति,
अजमेर, ब्यावर

प्राप्ति-स्थान—
१ जैन गुरुकुल, ब्यावर (राजपूताना)
२ गणेशमल सरदारमल
नया बाजार, अजमेर
३ अगरचन्द भैरोंदान सेठिया जैन
लायब्रेरी, बीकानेर (राजपूताना)